वैदिक विनय



आचार्य अभयदेव

4.2 Va

॥ ओ३म्॥

वैदिक विनय

ACC. MO-1032

आर्थ समाज एक-5 बार्य समाज बशोक विद्वाप केव-1 दिल्ली—110052

दैनिक स्वाध्याय के लिए ३६५ मन्त्रों का अर्थ-प्रार्थना-सहित अपूर्व संग्रह

> लेखक आचार्य अभयदेव शर्मा

> > -प्रकाशक--

समर्पण शोध-संस्थान

४/४२, सेक्टर ५, राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद, ग़ाज़ियाबाद (उ० प्र०)

सम्पादकः दीक्षानन्द् सरस्वती अध्यक्ष समर्पण शोध-संस्थान

प्रकाशक:

समर्पण शोध-संस्थान ४/४२ सै० ५,राजेन्द्रनगर साहिबाबाद ग़ाज़ियाबाद (उ० प्र०) २०१००५ दूरभाष :८,७६३०२६

© :प्रकाशकाधीन

मूल्य:१२५ रुपये

प्राप्ति स्थान :

१—समर्पण शोध-संस्थान
४/४२ सै० ५,राजेन्द्र नगर,साहिबाबाद (ग़ाज़ियाबाद)
२—गोविन्दराम हासानन्द
४४०८,नई सड़क,दिल्ली-११०००६

मुद्रक:

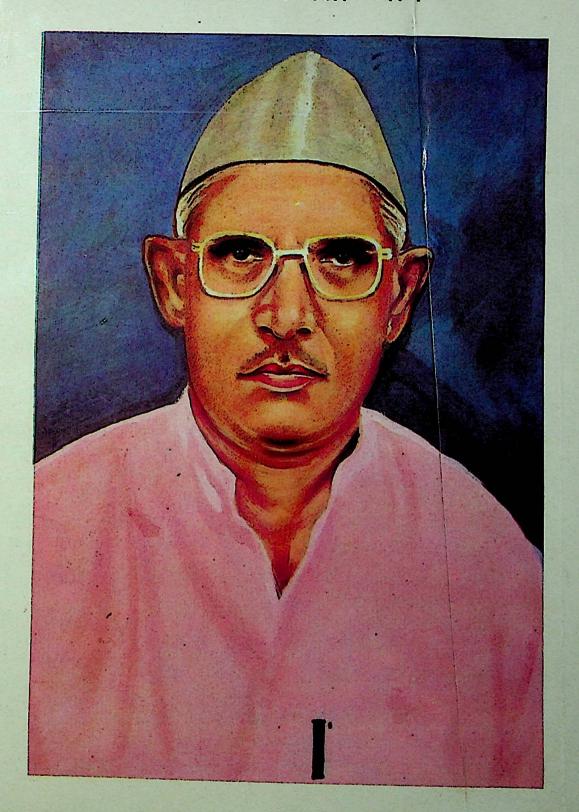
पण्डित कम्पोर्जिंग एजेंसी एवं प्रिन्टर्स सुभाष पार्क एक्स० नवीन शाहदरा दिल्ली-११००३२

लेज़र टाईपसैटिंग : दि बिज़नेस शॉपी, 15/19,डी.डी.ए. शॉपिंग कॉम्प्लेक्स नांगल राया,नई दिल्ली-110046

फोन: 5530453

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri प्राणनात्मन्वतां जीव

SEL



श्रीमान् हरिश्चन्द्र जी आर्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

प्रकाशकीय

पिछले चालीस वर्षों से अहर्निश वेदों का प्रचार करते हुए यह बात सुनने में आती रही, िक वैदिक मन्त्रों का ऐसा संग्रह तैयार िकया जाय िक जिसे उपहाररूप में अपने बन्धु-बान्धवों, िहतीषियों, वेद-प्रेमियों, मित्रों, पड़ौसियों, जिज्ञासुओं को भेंट िकया जा सके। समर्पण-शोध-संस्थान ने इसी बात को लक्ष्य में रखकर १९८३ में ऋषि-निर्वाण शताब्दी पर १.वेदमक्षरी, २.श्रुति-सौरभ एवं वैदिक उपदेशमाला का प्रकाशन िकया। पिछले वर्ष जब नागपुर जाने का अवसर मिला तो वहां की वैद्यनाथ कम्पनी के प्रबन्धकर्ता श्रीमान् राव हरिश्चन्द्र जी ने इच्छा प्रकट की िक क्यों न आपका संस्थान 'वैदिक विनय' ग्रन्थ का ऐसा संस्करण निकाल जो उपहार संस्करण बने, आकर्षक भी हो। इसके लिए उन्होंने न केवल मौखिक सहयोग ही दिया, अपितु अपने ट्रस्ट से तीस सहस्र की राशि भी प्रदान की एवं वैद्यनाथ कम्पनी के स्वामी श्री सुरेश कुमार जी शर्मा से ग्यारह सहस्र की राशि दिलवाकर संस्थान को अनुगृहीत किया। इसके फलस्वरूप ही यह उपहार संस्करण तैयार किया गया है। एक ही पृष्ठ में मन्त्र, उसका पदार्थ एवं विनय आ गये हैं और उसे सुन्दर हाशिये में बांधा गया है। हर मन्त्र पर जहां स्वर लगा दिये गये हैं, वहीं उसके ऋषि, देवता और छन्द भी अङ्कित कर दिये गये हैं। आशा है कि संस्थान के प्रिय पाठकगण इस उपहार को स्वीकार करेंगे और उपहार रूप में बन्धु-बान्धवों और मित्रों को देकर स्वयं को कृतार्थ करेंगे।

श्री राव जी ने इस पुण्य कार्य में सहयोग दिया है मैं उनका हृदय से धन्यवाद करता हूं तथा उदारमना उस दानी महानुभाव का संक्षिप्त परिचय देना अपना कर्तव्य समझता हूं।

श्री धन्नाराम यादव तथा श्रीमती शृंगारी देवी के स्वनामधन्य पुत्र श्रीराव हरिश्चन्द्र आर्य का जन्म १५.४.१९३४ में प्राम बीगोपुर पो॰ धौलेड़ा, त॰ नारनौल, जिला महेन्द्रगढ़ (हरियाणा) में हुआ; जहां आप १९४२ तक रहे। १९४२ से ५२ तक गुरुजनों के सान्निध्य में रहकर अध्ययन किया, जिसमें लेख तथा गणित का अध्ययन विशिष्ट था। १९.५.५८ को आपका विवाह धार्मिक तथा सेवा परायण घाजका नांगल (सीकर) निवासिनी सुश्री शान्ति देवी के साथ हुआ। उनके सहयोग से वैवाहिक जीवन अत्यधिक सुखमय तथा शान्तिमय व्यतीत हो रहा है। आपके दो पुत्र हैं—चिं० महिपाल तथा चिं० यशपाल। दोनों का विवाह व्यवहार-कुशल मृदुभाषिणी शिक्षित, धार्मिक तथा आज्ञाकारिणी कन्याओं के साथ हुआ।

आपने अपनी आजीविका के लिये १९५४ में सेवाकार्य श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि॰ ,झांसी में लिपिक के रूप में आरम्भ किया तथा १९५५ से १९८३ तक नागपुर में कई पदों पर रहे। आप मेनेजर एकाउण्ट्स तथा फायनेन्स के पद पर प्रतिष्ठित हैं। नागपुर में दवाओं की एक थोक व दो खुदरा दुकानें भी हैं जिन्हें आपके दोनों पुत्र चला रहे हैं।

आर्यभजनोपदेशकों से प्रभावित हो १९५२ से आपकी अटूट श्रद्धा व निष्ठा आर्य सिद्धान्तों के प्रति हो गयी। उसकी परिणित यह है कि वर्तमान में आप आर्यसमाज हंसापुरी के उप्रपद्मान व आर्यप्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ के कोषाध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे हैं। इसके साथ ही आप चैरिटेबल ट्रस्ट द्वारा तथा व्यक्तिगत रूप से भी सामाजिक, शैक्षणिक एवं परोपकारी संस्थाओं का सहयोग करते रहते हैं।

मैं दानवीर, याज्ञिक, स्वाध्यायशील राव जी को अपना आशीर्वाद देता हूं कि वे इसी प्रकार निष्ठावान् बने रहें तथा उनकी धर्म तथा धनवृद्धि हो।

मैं नहीं कह सकता कि वैदिक-विनय का यह उपहार संस्करण चित्ताकर्षक भी बन पाया है कि नहीं। मैंने जो चाहा था, जैसा चाहा था,वैसा तो नहीं बन पाया। इसमें मुद्रणालय ने सहयोग नहीं दिया,यदि सहयोग दिया होता तो इसका और ही रूप होता। ईक्षवाचन में श्री सुनील जी शर्मा का अपूर्व सहयोग रहा,तदर्थ घन्यवाद।

दीक्षानन्द

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ	, शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
अकर्मादस्यु	३४६	अभ्यूर्णोति य	३८१	आरुद्रास इ	२११	उत त्वं मघ	३६१
अकामोधीरो	१२२	अभ्रातृत्यो अ	६४	आवात वाहि	२१६	उतदेवा अ	२२१
अक्षैर्मादीव्य:	१४२	अयं कविर	१८५	आवोधियंय	१८९	उत नः सुभ	48
अग्नये समि	२७२	अयं होताप्र	३१९	आ संयतमि	२९३	उ त्तिष्ठताव	२६१
मग्निमन्द्रं	.344	अयुद्धइत्यु	३६०	आ हिष्मा सू	88	उतयोद्याम्	११६
अग्निमिन्धानो	६९	अरण्योर्निहि	२०७	इच्छन्तिदेवा:	79	उतस्वयात	800
अग्नि:शुचिव्र	346	अवधीत्कामो	१७८	इदमुच्छ्रेयो	१२६	उसेऽय भूमि:	१२५
अग्नेयंयज्ञम्	१९	अवमापाप्म	२६२	इन्द्र आशाभ्य:	२७	उद्गादयम्	२१७
अग्नेव्रतपते	३७६	अवयत्स्वेस	२६५	इन्द्र इन्नो म	७६	उदीर्ध्वं असुर्न	२७९
अग्ने समिध	२७२	अवानोवाज	७ ८६	इन्द्रश्च मृळ	७८	उदुत्तमं व	१०२
अजीतयेअ	१४५	अव्यचसश्च	२६९	इन्द्रतुभ्यमि	333	उद्यानंतेपु	१३४
अज्येष्ठासोअ	98	अश्मन्वतीरी	११४	इन्द्र प्र णोर	३८५	उद्वयं तम	२१४
अतितृष्टं व	३७४	अश्विनासार	२७३	इन्द्रो अङ्गम	७७	उपत्वाग्ने दि	१८
अतोविश्वान्य	४२	असद्भूम्या	२२६	इन्द्र शुद्धोहि	२६४	उपक्षेत्तार:	३२०
अदाभ्यो वन	१८७	अस्मेतात इ	386	इन्द्रं मित्रं व	१०६	उहं नो लोक	८३
अध्यक्षो वाजी	१७७	अहमस्मि स	२५१	इन्द्रं वृत्राय	३६३	उपस्थास्ते अ	१२९
अनुत्तमाते	१०३	अहमिद्धिपि	५६	इमं मे वरु	७१	उपह्वये सु	८६
अनुव्रताय	१६७	अहमिन्द्रो न	१४९	इमे त इन्द्र	१५९	उलूक यातुं	१८१
अनृणाअस्मि	११८	अहमेतान्	१८२	इमे हितेइ	२९०	ऋवं वाचं प्र	३०४
अन्तिसन्तम्	२४१	अहस्तायद	३६९	इमौ ते पक्षा	२०७	ऋचो अक्षरे	८९
अपक्रामन्	२३६	अहं च त्वं च	३२६	इयं कल्याण्य	२४४	त्रज्ञस्य हि शु	68
अपाङ्प्राङ	२८३	आकूतिं देवीं	१८३	इयं या पर	२५२	त्रऽतस्यर्तेना	२३३
अपाम सोम	१४०	आधागमद्	६२	इयं वेदिप	३६७	त्रइतं शसन्तं	१३१
अपांमध्येत	86	आतएतुम	२६	इयं समित्	११०	त्रस्तावान त्रस	३७८
अप्रतीतोज	८७	आतेवत्सोय	90	ईजानश्चि	१२४	एक: सुषर्ण:	१८८
अभयं मित्रा	१२७	आत्वारम्भम्	२८	ईर्घ्यायाधाजि	२३२	एता एना व्य	२३८
अभिप्रगोप	६८	आनोभद्रा क्र	१५०	ईशावास्यमि	२५३	एतो न्विन्द्रम्	३८९
अभ्यादधामि	३९३	आ पवस्व दि	330	ईशेह्याग्निर	२९६	एवा स्व इ	३१७

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
कथं वातो ने	580	तुंजे तुंजे य	74	देवानामति	388	नाहमतो नि	323
कदु प्रचेत	६१	तेजोऽसि तेजो	300	देवान् यन्ना	२७४	निषसाद धृ	80
का ते अस्य	799	तं पृच्छता स	२०३	देवो देवानां	१५४	नूष्टुत इन्द्र	३१६
का त उपेति	94	त्रातारमिन्द्र	१३२	द्यामिन्द्रो ह	३७९	नृचक्षसो अ	१९४
काले तपः का	२६८	त्रातारो देवा	१४१	द्यौ: शान्ति:	४०३	पदं देवस्य	64
कालो अश्वो व	र ८१	त्र्यम्बकं यजा	२२९	द्वादश: प्रघ	808	परीत्यभूता	४०१
ं कुर्वनेवेह क	२५४	त्वद् विश्वा	३१०	द्वाविमौ वा	784	पर्यावर्तेदु	२३५
केतुं कृण्वन्	३६	त्वमग्ने व्रत	386	धृतव्रता:	१९२	पवमानस्य	६३
को नाव	३२१	त्वं बलस्य गो	२७१	निकर्देवा	३३७	पवित्रं ते प्र	१६३
क्रत्वः समह		त्वंभी अग्ने	३०१	नकीरेवन्तं	२८२	पाश्वा न तायुं	268
क्रतूयन्ति ऋ	१९३	त्वं न: सोम	30	न घात्वद्रिग्	१७५	पुनरेहि वा	२६७
क्वस्ते	३११	त्वं महीमव	388	न घेमन्यत्	७४	पूर्णात् पूर्णं	२४३
गायन्ति त्वा	२२१	त्वं विश्वस्य	थण्ड	न तं विदाथ	99	पृच्छे तदेनो	96
गूहतां गुह्यं	38	त्वयेदिन्द्रयु	398	न ता नशन्ति	१९८	पृणीयादिन्ना	१३९
चित्र इद्राजा	२८६	त्वं ह्यग्ने अ	३५३	न त्वा रासीया	२८७	पृथक् प्राय	१४६
चोदयित्री सू	३५	त्वां च सोम	४३	न दक्षिणा वि	90	प्रजापतेरा	२०९
जिह्वायाअ	२१८	त्वां जना मन	८२	न पापासो म	384	प्रजाभ्य: पुष्टि	396
जीवानो अ	३०	त्वामग्ने मनी	३५७	नमस्ते अस्तु	246	प्र ते पूर्वाणि	384
जुहुरे विचि	६०	त्वमिद्धित्वा	397	नमोऽस्तु ते	१७६	प्रलान् माना	१९९
तच्चक्षुर्देव	३७१	त्वां वर्धन्ति	३२२	नयसीद्वति	32	प्र मंहिष्ठाय	१६२
तत्सवितुर्व	१७	त्वावतोहीन्द्र	२९८	न वा उदे	१८६	प्र वो महेम	२०५
तन्तुं तन्वन्	१९५	दिते: पुराण	१६६	न वा उ सोमो	१००	प्राग्नये वा	२३
तमध्वरेषु	48	दिवो नु मां	११९	न वि जानामि	१३३	प्रियोनो अस्तु	36
तमित्पृच्छन्ति	२०४	दूराच्चकमा	388	नहि ते शू	360	प्रियं माकृणु	२७०
तमीशानम्	१५९	दृते दृहं मा	७३	न हि नु ते	340	प्रेह्मभीहि धृ	337
तस्य वयं यु	300	दृष्ट्वा रूपे	२३०	न ह्यंग नृ	३६४	बह्विद्णज	244
तस्मा अग्नि	३१८	देवस्य वयं	१५१	न ह्यन्यं ब	363	बालादेकम	२६०
तस्माद्वै वि	२५०	देवानां भद्रा	१५७	नामानि तेश	40	बृवदुक्थं ह	38

शब्द पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
बृहन्तित् इ ३५९	य एक इत्तमु	42	यस्मिन्नृच: सा	१३६	विजेष कृदि	१०१
ब्रह्मचर्येणत २४८	यच्चिद्धि शश्व	४५,	अस्मिन् सर्वा	२७६	विद्मा हि त्वा	366
ब्रह्मचर्येण रा २४९		३६२	यस्मैत्वं समु	२८१	विधु दद्राणं	१४३
ब्रह्मचारीष्णं १७२	यच्चिद्धि सत्य	334	यस्यास्ते आस	१६८	वि में कर्णा प	९७
ब्रह्म सूर्यसमं ३६६	यज्जायतो दू	३६८	यस्येमे हि	३०३	विविश्चिते	१७३
भद्रं कर्णभिः ९२	यज्ञस्य चक्षुः	१०९	यानि चकार	१७४	विशं विशं म	१९६
	यतो यतः स	३६५	या मा लक्ष्मी प	१२१	स पर्यगात्	२१०
	यत्किं चेदं व	१६०	यास्ते शिवास्त	१२३	सप्त ऋषय:	१५५
मधुमन्मेनि २४२	यत्र ज्योतिर	338	युञ्जते मन	१६१	समस्य मन्य	40
मन्ये त्वा य ३०६	यत्रा सुपर्णा	१५६	ये ग्रामायद	२५६	समेत विश्वे	२०१
महिमहे तवसे २९१	यथा प्राण ब	246	से ते पवित्र भू	६५	ससन्तुत्या	३३६
महीरस्य प्र ५३		ξ 9	ये त्वा देवा स्नि	२८०	सहस्र धारे	200
महे चन त्वा ३९९	यदग्ने स्याम्		ये देवा देवे	१५३	सहस्राहण्य	१२०
महे नो अद्य ३९६	यदङ्ग दाशु	२०	ये नदीनां सं	१८०	सा मा सत्यो	१८७
महो अर्ण: स ४१	यदचरस	१३०	ये भक्षयन्तो	१०८	सुत्रामाणम्	१६४
मा चिदन्यत् ३७५	यदाकूतात्	२०९	ये रूपाणि प्र	२९५	सुपर्णोऽसि	374
माता रुद्राणां १४४	यदाशसा व	१६६	यो अग्नितत्त्वे	३५६	सुशेवो नो	३८२
मा त्वा मूरा ७५	यदि जाग्रद्	२३४	यो अस्मै घ्रसं	२२०	सुदक्षोदक्षै:	१९१
मा प्रगाम प २२	यद् द्याव इन्द्र	388	यो जागार त	१०७	सुविज्ञानम्	९६
मा चिदन्यत् ३७५	यद् वचीं हि	२६६	यो नः शश्वत्	368	सोम गीभिष्	२४
मूषो न शिश्ना ३४२	यद् वीडाविन्द्र	६६	यो भूतानाम	336	सोम रारन्धि	33
मृत्योः पदं या ३९५	यन्मन्यसे व	२१९	यो मत्र्येष्वमृत	388	सं गच्छध्वम्	२३१
मेगमहं प्रा ८८	यन्ये छिद्रं च	३०५	रथे तिष्ठनः	१८४	सं जानामहै	२०२
मोघंमन्नं वि १३८	यमग्ने पृत्सु	४६	वयं घा तें त्वे	३४३		338
यं स्मा पृच्छन्ति १०५	यमग्ने मन्यसे	३२८	वयं सोम व	44	स्वर्यन्तो ना	२२८
यः सपत्नो यो ३६३	यश्चकार न	२२७	वय: सुपर्णा	97	हन्तो नु किम्	३८६
य आत्मदा ब १११	यस्तिष्ठति	११५	वसन्त इनु	२८९		
य आपिर्नित्यो ९९		40	वाजस्य नु प्र	२०६	हिरण्य गर्भम्	
य ई चकार न १०१		१०५	विग्राम्यायश	224	हृदि स्पशस्ते	
14 1911 1 101						

आमुख

बीसवीं शती ने जिस वैज्ञानिक क्रान्ति को जन्म दिया है वह प्राणियों के लिये वरदान की अपेक्षा अभिशाप अधिक सिद्ध हो रही है। इस क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जो संस्कृति उभर कर आ रही है वह विलासिता, नर-नारी के स्वच्छन्द विहार, खाओ, पीओ और मौज करो इस के साथ पुरुषार्थहीनता तथा निष्कर्मण्यता को जन्म दे रही है। इस युग की महत्त्वपूर्ण देन कम्प्यूटर इसमें विशेष सहयोगी है। अनेक व्यक्तियों के कार्यों को वह अकेला करने में सक्षम है। जब उद्योगपित को कल्पतरु मिल रहा है तो वह श्रमतरु क्यों पूछेगा? मनुष्य द्वारा कई दिनों में किये जाने वाला काम कुछ क्षणों में कर डालता है। वहां तो केवल एक व्यक्ति की आवश्यकता है, जो की बोर्ड पर हाथ चलाता रहे।

यह वैज्ञानिक क्रान्ति न केवल मनुष्य के लिए ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के लिये अभिशाप सिद्ध हो रही है, विशेषकर ग्राम्य पशुओं (पुरुष, गौ, अश्व, अजा और अवि) को निकम्मा अर्थात् निष्कर्मण्य बना रही है। घर में बैठा व्यक्ति इलैक्ट्रोनिक्स उपकरणों से आकाश पाताल की सूचनाएं प्राप्त कर लेता है। यहीं बैठा वैज्ञानिक अन्य लोकों में यान भेज रहा है और उनका नियन्त्रण कर रहा है। यही स्थिति खेत-खिलयानों की होने वाली है। घर में बैठे ही वैज्ञानिक उपकरणों से भूमि जोती जाएगी, पानी दिया जायेगा और पकी फसल काटी जायेगी। अन्न भूसा भी पृथक् कर दिया जायेगा, अन्न भर दिया जायेगा और भोजन तैयार कर दिया जाएगा। मनुष्य को केवल ग्रास तोड़कर मुंह तक ले जाना होगा। मनुष्य को अन्न बोने से पकाने तक कुछ परिश्रम नहीं करना होगा सभी स्वयं होगा। पुरुषार्थ के लिए दश अंगुलियों वाले हाथ न लगेंगे वह निठल्ला हो जाएगा, पशुओं की आवश्यकता भी नहीं होगी वे भी निकम्मे हो जाएंगे। युद्ध-स्थल पर तो यह दृश्य आज भी देखा जा सकता है। हाथी घोड़ों का स्थान मशीने ले चुकी हैं और बैलों का स्थान ट्रेक्टर। सब पशु निकम्मे-निठल्ले हो गये। ऐसी अवस्था में उन्हें कौन खिलाये? वे अनावश्यक प्राणी हो गये; अतः उन्हें या तो जंगल में सिंह व्याघ्रादि हिंस पशुओं की दया पर छोड़ दिया जाएगा अथवा मनुष्य आसुरी संस्कृति को स्वीकार कर उन्हें अपना भोजन बना लेगा एक स्थिति आयेगी जब उन ग्राम्य पशुओं का अभाव हो जाएगा तब मांस-जिह्वा-लोलुप जन अपने से कमजोर साथी पर छुरी चलायेंगे। युद्ध, भय और आतंक का साम्राज्य सर्वत्र व्याप्त हो जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को शंका की दृष्टि से देखेगा। सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति होगी।

समाज दो भागों में बंट जायेगा एक अत्यधिक धनी दूसरा अत्यधिक निर्धन। एक अकर्मण्य दूसरा कर्मिनिष्ठ; एक अतिभोजी दूसरा अल्पभोजी; एक शोषक दूसरा शोषित; एक शासक दूसरा शासित। धनिक धन के बल पर शिश्नोदर-परायण होकर विषयासक्त होकर जीवन व्यतीत करेंगे। यह सब जानते हुये भी कि यह कृत्य नारकीय है, विनाश का हेतु है, वे उससे निवृत्त न हो सकेंगे। शिश्नोदर की तृष्ति ही उनका एक मात्र ध्येय होगा । भोगों के प्रति तृष्णा बढ़ती जायेगी और तृष्णा का कहीं अन्त न होगा ।

क्रान्ति के सम्भाव्य परिणाम के चिन्तन मात्र से ही दिल दहल जाता है। चिन्तन की धारा समाधानार्थ दूसरी और बह निकलती है कि विज्ञान के मनीषियों को क्या यही अभीष्ट था ? नहीं! कदापि नहीं! उनका ध्येय

१.शिश्नोदरकृते प्राज्ञः करोति विघसं बहुः महा० ३-२-६१

२. तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा। वै० शतक

रहा होगा कि अधिक श्रम से स्वल्प उपार्जन के कारण, जीविकोपार्जन में ही समय अधिक लगाना पड़ता है, यदि इसके विपरीत स्वल्प श्रम से उपार्जन अधिक हो जाए तो समय की बचत होगी। मनुष्य उस समय का उपयोग आध्यात्मिक उन्नित, ब्रह्मचिन्तन स्वाध्याय साहित्य, संगीत एवं कला की उन्नित में करेगा, जिससे आत्मोत्थान एवं धर्म की प्रतिष्ठा होगी। प्रजा परस्पर के सौहार्द के कारण एक दूसरे की रक्षा करेगी। पुमान् पुमांसम्परिपातु एवं धर्म की प्रतिष्ठा होगी। प्रजा परस्पर के सौहार्द के कारण एक दूसरे की रक्षा करेगी। पुमान् पुमांसम्परिपातु विश्वतः। का आदेश पालनीय होगा। सभी प्रसन्न, स्वस्थ, सत्यवादी, दया, दान, दमन, यम, नियम, उपवास, ब्रह्मचर्य-पालन, व्रतपरायण होंगे। वही सतयुग का दृश्य उपस्थित होगा। भिषगाचार्य चरक ने उस युग का अति सुन्दर वर्णन अपने कालजयी ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

आदिकाले ह्यदितिसुतसमौजसोऽतिविगलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविधिविधानाः शैलसारसंहतस्थिरशरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवनसमबलजवपराक्रमाञ्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृति-प्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनियमतप-उपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोध-शोकमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाञ्च पुरुषा बभूवुरिमतायुषः।

कालचक्र सदा घूमता रहता है, युग परिवर्तन हेतु आलस्यादि दुर्गुणों का पदार्पण हुआ जिसका परिणाम "वर्तमान युग" है। इस परिवर्तन का वर्णन आचार्य चरक ने क्रमशः कुछ इस प्रकार किया है— भ्रश्यित तु कृत-युगे केषाश्चिदत्यादानात् साम्पन्तिकानां शरीरगौरवमासीत्, शरीरगौरवाच्छ्रमः छ्रमादालस्यम् आलस्यात् संचयः संचयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुरासीत्, लोभ के प्रवेश करते ही पाप ने डेरा जमा लिया फिर क्या था लोभ के परिणाम स्वरूप समाज दुर्गित को प्राप्त हुआ, राष्ट्र में भय और आतंक का साम्राज्य आ गया, ऐसी स्थिति में वेदानुशासन की आवश्यकता पड़ी। बस उसी समय तप और दीक्षा में परितप्त स्वर्विद् जन-कल्याण की इच्छा वाले ऋषियों ने राष्ट्र को जन्म दिया, और ओज को जन्म दिया, इस का मनोहारी वर्णन अथर्वश्रुति में इस प्रकार है—भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु। भव्रकामी ऋषियों ने राष्ट्र में बल को जन्म देने के लिये क्षात्रशक्ति एवं ओज को जन्म देने के लिए ब्राह्मशक्तिरूप दो धाराएं बहाई। प्रजा को अनुशासित करने के लिये क्षात्रशक्ति एवं ओज को जन्म देने के लिए ब्राह्मशक्ति कर दिया और उनके हाथों में दण्ड थमा दिया। ओज को जन्म देने के लिये ब्रह्मशक्ति के प्रतीकभूत याज्ञवल्क्य ने घोषणा की कि प्रजाजनो ! मैं तुम्हें वह श्रम बताता हूं कि जिसे न कोई कम्प्यूटर न इलैक्ट्रोनिक्स उपकरण सम्पन्न कर सकेंगे और न कभी वह समाप्त ही होगा। उससे व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नित होगी। विनाश से निवृत्ति मिलेगी और पुरुषार्थ में प्रवृत्ति होगी। वह श्रम सभी श्रमों की पराकाष्ट्य है। सुनो सुनो । मेरी बात ध्यान से सुनो !

ये ह वे के च श्रमाः इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा इस द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य जितने भी श्रम हैं, स्वाध्याय उन सबकी पराकाष्ठा है। यह श्रमों की पराकाष्ठा एक तो इस लिए है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रतिदिन करना अनिवार्य है। किसी भी अवस्था में हों स्वाध्याय श्रम तो करना ही होगा—बिना स्वाध्याय श्रम किये आश्रम उपाधि के प्रयोग का अधिकारी न होगा दूसरे स्वाध्याय श्रम ही ऐसा श्रम होगा जो कभी समाप्त न होगा। तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः इसलिये स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

8. 70 年194.88

२.चरक संहिता विमानस्थान ३.२८

३.वही

४. अथर्व १९-४१-१

५. शतपथ ११.५.७.२

स्वाध्याय श्रम द्वारा व्यक्ति उन सभी अर्थों की उपलब्धि करता है जो उसके जीवन के लिये आवश्यक हैं, अपरिहार्य हैं। सामान्य दृष्टि से चाहे उसे स्वाध्याय श्रम का महत्त्व गौण दिखाई दे लेकिन उन सभी उपलब्धियों के मूल में स्वाध्याय श्रम वर्तमान है। स्वयं वेद ने पावमानी ऋचाओं में कहा कि—पावमानीयों अध्येत्यृषिभि: संभृतं रसं तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्। तभी भगवान् मनु को अपना अनुशासन देते हुये कहना पड़ा—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वम् आशु गच्छित सान्वयः। अर्थात् जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) स्वाध्याय श्रम न करके अन्यत्र श्रम में जा लगता है, वह बहुत शीघ्र ही शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

परिणामत: यदि व्यक्ति समाज में अपनी स्थायी स्थिति चाहता है, तो अन्य श्रमों को करते हुये स्वाध्याय श्रम के लिये समय अवश्य निकाले, उस में कभी व्यवधान ना आने पाये । उसमें आया हुआ व्यवधान भयङ्कर अनिष्ट का जनक होगा; इस पर पुन: याज्ञवल्क्य कहते हैं—

यन्ति वा आपः एत्यादित्यः एति चन्द्रमाः यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्यु एवं हैव तदहब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायो नाऽधीते । तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः । ३

भगवान् याज्ञवल्क्य ने तो स्वाध्यायश्रमी को सभी कुछ दे डाला है—युक्तमना भवित, अपरधीनोऽ हरहरर्थान्साधयते, सुखं स्विपित, परमचिकित्सक आत्मनो भवित, इन्द्रियसंयमञ्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोक-पिक्तः प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मण्यमभिनिष्पादयितः, ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशोलोकपिक्तं, लोकः पच्यमानञ्चतुर्भिर्धर्मैर्बाह्मणं भुनिक्तं, अर्चया च दानेन चाज्येयतया च।

स्वाध्यायश्रमी को भगवान् याज्ञवल्क्य के अनुसार यह लोक और परलोक के साधक उपर्युक्त दस लाभ प्राप्त होते हैं—

- १. युक्त मनवाला होता है।
- २. अपराधीन होता है।
- दिनों दिन अर्थों की सिद्धि करता है।
- ४. सुख से सोता है।
- ५. अपना परमचिकित्सक बन जाता है।
- ६. इन्द्रिय संयमी हो जाता है।
- ७. एकारामता को प्राप्त होता है।
- ८. त्रैकालिक बुद्धि प्राप्त होती है।
- ९. यश की प्राप्ति होती है।
- १०. लोक परिपाक हो जाता है।
- १. साम उ० प्रपा ५ सूक्त ८
- २. मनु॰ २-६८
- ३. शत० बा० ११-५-७-१
- ४. शतपथ ११-४-१-१

क्रांकाकर्मात कर्मान्य क्रांकाच भा क्रांचा है ने अक्रमायांच

स्वाध्याय के लाभ के रूप में जिन लाभों को गिनाया गया है उनकी प्राप्ति के लिये व्यक्ति भटकता रहता है। लेकिन स्वाध्याय से ये अनायास ही समुदित रूप में व्यक्ति को उपलब्ध हो जाते हैं। आइये एक-एक लाभ पर विचार करते हैं—

१- युक्त मनवाला होता है (युक्तमना भवति) :

लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी अर्थ की सिद्धि के लिये व्यक्ति के मन का एकाग्र होना अथवा मन लगाकर कार्य करना आवश्यक है। परन्तु व्यक्तियों की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मन एकाग्र नहीं हो पाता। क्योंकि मन का स्वभाव ही चञ्चलता है। स्वाध्यायश्रमी व्यक्ति को सर्व प्रथम उपलब्धि यह है कि वह एकाग्र मनवाला अथवा समाहित मनवाला हो जाता है। उसका चित्त स्थिर हो जाता है। परिणाम यह होता है कि जिस कार्य को करता है मन लगा कर करता है और मन लगाकर कार्य करना शीघ्र ही फलप्राप्ति करा देता है। इसलिए यह प्रथम लाभ अन्य सभी लाभों की नींव है इसलिए इसकी गणना सर्वप्रथम की गयी है।

इसके विपरीत जिसका मन अयुक्त है उसका तो कुछ भी नहीं श्रीकृष्ण के अनुसार—"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्" अयुक्त व्यक्ति की बुद्धि ही ठिकाने नहीं रहती और न अयुक्त की कोई भावना ही होती है, न संङ्कल्प ही बन पाता है। भावना नहीं तो शान्ति कहां? शान्ति नहीं तो सुख कहां। उसका तो सभी कुछ जाता रहता है। इसिलये स्वाध्याय का कोई अन्य फल मिले या न मिले मन को युक्त करने का अभ्यास तो हो ही जाता है। जो सब लाभों का लाभ है, सब सिद्धियों की सिद्धि है, सब सुखों का सुख है।

२- अपराधीन होता है (अपराधीनो भवति) :

स्वाध्याय का दूसरा फल यह होता है कि मनुष्य पराधीन नहीं रहता, स्वाधीन हो जाता है। वह किसी भी प्रकार की गुलामी सहन नहीं कर सकता, दासता उसे असहा हो जाती है। दासता के जुए को वह शीघ्रातिशीघ्र अपने कन्धे से उतारकर फेंक देता है, स्वाध्याय से उसे इतना विवेक तो हो ही जाता है वह जान लेता है कि "सर्वं परवशं दु:खम्", "सर्वात्मवशं सुखम्" (मनु० ४-१६०) परवश होना दु:ख है और आत्मवश होना सुख है। अतः स्वाध्यायशील व्यक्ति "अपराधीनो भवति" अपराधी न होता है।

३- दिनों दिन अर्थों की सिद्धि करता है (अहरहरर्थान् साधयते) :

स्वाध्याय के लाभ बताते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य तीसरा लाभ "अर्थ-लाभ" बताते हैं। सांसारिक साधारण व्यक्ति हर बात में सौदेबाजी करता है। लाभों में भी पैसे के लाभ को ही सच्चा लाभ मानता है। वह कहता है कि जिसमें चार पैसे का लाभ न हुआ वह भी कोई सौदा है? ऐसे व्यक्ति के लिए भी इसमें गुंजाइश है कि स्वाध्यायशील व्यक्ति को अर्थलाभ भी होता है। "अहरहरर्थान् साध्यते" दिनों-दिन वह अर्थों की सिद्धि करता है। ऐसे धन की जिसे कोई चुरा नहीं सकता— 'प्रच्छन्नगुप्तं धनम्'।

१. चञ्चलं हि मनः कृष्ण । गीता ६/३४

परन्तु यहां अर्थ से अभिप्राय केवल सूक्ष्म अर्थ ही न लेना चाहिए। वह भी एक अर्थ हो सकता है, परन्तु शतपथकार को जो वस्तु यहां अभीष्ट है, वह तो स्पष्ट है। (स्वाध्याय में आये हुए) किसी भी शब्द के पीछे जो-जो गहन अर्थ है उसकी सिद्धि कर लेना है।

४- सुख से स्रोता है (सुखं स्विपिति) :

स्वाध्यायशील व्यक्ति चैन की नींद सोता है। संसार के अनेकों सुख हैं, परन्तु नींद से बढ़कर अन्य सांसारिक सुख नहीं। इसके लिए सम्पित्तशील व्यक्ति पैसा बहाते देखे गये हैं, यह कहते सुने गये हैं कि कोई दो घड़ी चैन की नींद दे दे, हमें सोने की ओषि दे। लोग इस सोने के लिए सोने की अशरिफएं लुटाते देखे गये, परन्तु हा! हतभाग्य को नींद कहां? सारी रात करवटें बदलते गुजरती है। उसके भाग्य में नींद कहां? सोना (धन) है, पर सोना (नींद) नहीं।

आचार्य चरक शरीर के आधारस्तम्भों का वर्णन करते हुए कहते हैं, "अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः । आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यम्" (चरक संहिता ११. ३४-३५) इस शरीर के तीन आधारस्तम्भ हैं—भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य । दूसरा स्थान इनमें निद्रा का है । स्वास्थ्य का मुख्य आधार भी तो ये ही तीनों हैं । शायद 'स्वस्थ' और 'स्वप्न' दोनों शब्दों का मूलतः अर्थ एक ही हो । स्व में स्थित होना स्वस्थ है तो स्व को पा लेना स्वप्न है । स्वमाप्नेति इति स्वप्नः । जो स्वस्थ है उसे बढ़िया नींद आएगी, और जिसे स्वप्न = नींद अच्छी आएगी वह स्वस्थ होगा । स्वप्न का यहां अर्थ सपना नहीं है । स्वप्न का यहां अर्थ अटूट नींद है, जिसमें व्यक्ति अपनी वास्तविक दशा में होता है । जब इन्द्रियां और शरीर के अवयव थक जाते हैं, तो वे अपने-अपने स्थान में बैठ जाते हैं । उनकी बाह्यवृत्तियां समाप्त हो जाती हैं । बस, तब नींद आ जाती है । इसी को स्वप्न कहते हैं । मानो हर किसी इन्द्रिय ने अपने को पा लिया । हर इन्द्रिय ने अपना घर पा लिया और आराम करने चली गई, इसी का निद्रा नाम हो गया । स्वाध्यायशील व्यक्ति "सुखं स्विपिति" सुखपूर्वक सोता है, और स्वप्नशील व्यक्ति स्वस्थ होता है ।

५- अपना परम चिकित्सक होता है (परम चिकित्सक आत्मनो भवति) :

स्वाध्याय का पंचम लाभ बताते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्यायी परमचिकित्सक बन जाता है। उसे चिकित्सा सिद्ध हो जाती है। वह अन्यों की चिकित्सा ही नहीं करता, अपितु अपने-आपकी चिकित्सा करना जान जाता है। उसे अपने रोगों को झटककर परे हटा देने का अभ्यास हो जाता है। वह त्रि-रोगापनयन का माहिर बन जाता है। वह अपने रोग, उनका निदान और उनकी औषध सभी कुछ जान जाता है।

वास्तव में कोई भी शारीरिक रोग तभी होता है, जब कि मानसिक रोग हो। इसलिए कहा आत्मन: = आत्मा का चिकित्सक हो जाता है। वह रोग के मूल को जानता है और उसे वहीं से उखाड़ फेंकता है। खांसी, जुकाम, ज्वर आदि रोगों का अपनयन तो करता ही है, परन्तु इनके मूल मानसिक रोगादि विकरों की चिकित्सा भी कर सकता है, करता है। उसे किसी डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता नहीं रहती। मोहग्रस्त अर्जुन की भांति अन्य के पास अपनी चिकित्सा कराने नहीं जाता।

"परमचिकित्सक आत्मनो भवति" में एक और भाव भी अन्तर्हित है। स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः अपने-आपका अध्ययन भी स्वाध्याय है। प्रायः देखा गया है कि डाक्टर अपना इलाज स्वयं नहीं कर पाते। वे ऐसे घर जाते हैं कि उन्हें अपनी चिकित्सा समझ नहीं आ पाती, परन्तु स्वाध्यायशील व्यक्ति को यह कमाल हासिल होता है कि वह चाहे अन्य की चिकित्सा नहीं कर पायें, अपनी चिकित्सा वह कर ही लेता है।

६- इन्द्रियसंयमी हो जाता है (इन्द्रियसंयमो भवति) :

स्वाध्याय के अनेक लाभों में छठा लाभ इन्द्रियसंयम है। आज संसार के सामने यही समस्या है कि व्यक्ति इन्द्रियनिग्रह कैसे करे ? इन्द्रियनिग्रह के कृत्रिम उपाय अपनाये जा रहे हैं। स्वाभाविक निग्रह में संसार को विश्वास ही नहीं रहा। शतपथकार याज्ञवल्क्य कहते हैं स्वाध्याय से स्वाभाविक इन्द्रिय संयम होता है। मन जब स्वाध्याय के कारण तत्त्वार्थ चिन्तन में युक्त रहता है तो इन्द्रियों के विषयों से स्वाभाविक रूप से हटा रहता है। इन्द्रियासंयम तभी होता है जब मन इन्द्रियों के साथ लग कर सीमा का उल्लंघन कर लेता है। स्वाध्याययुक्त व्यक्ति के मन को इतना अवकाश ही नहीं कि वह अन्यत्र गमन करे वह तो तत्त्वचिन्तन करने वाली बुद्धि के साथ संयुक्त रहता है, अतः स्वाध्यायशील व्यक्ति को यह स्वाभाविक उपलब्धि हो जाती है। उसे इन्द्रिय निग्रह करना नहीं पड़ता स्वयं हो जाता है। इन्द्रियों के वशीकरण से जब और जितना चाहो उपभोग किया जा सकता है क्योंकि वे सदा अक्षीण शक्ति रहती हैं। क्षीण इन्द्रिय-शक्ति व्यक्ति को न सुख है न शान्ति।

इस प्रकार स्वाध्याय से व्यक्ति इन्द्रियजित्, इन्द्रियनिग्रही और इन्द्रिय संयमी हो जाता है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी, उनका राजा इन्द्र बन जाता है—इन्द्रियसंयमो भवति ।

७- एकारामता को प्राप्त होता है (एकारामता भवति) :

स्वाध्याय से होनेवाले लाभों में सातवां लाभ लिखा है—एकारामता भवित स्वाध्यायशील व्यक्ति को एकारामता प्राप्त होती है। उसे ऐसा आराम प्राप्त होता है जो अद्वितीय हो, जिसकी उपमा न हो, जिसका सानी ढूंढे न मिल सके—ऐसे आराम को एकारामता कहते हैं। आश्रम का फल आराम है और वह भी एकाराम, तब समझना चाहिए कि व्यक्ति का स्वाध्याय श्रम सफल हुआ। वैदिक-धर्मी के लिए आराम का उतना महत्त्व नहीं जितना कि आश्रम का महत्त्व है। आश्रम-पालन उसका कर्तव्य है, आराम की उपलब्धि उसे स्वतः है। वह भी न केवल आराम की, अपितु एकाराम की। श्रम और राम से पहले जुड़े आङ् उपसर्ग ने इनके महत्त्व को सहस्रगुणित कर दिया है। श्रम तो हो, परन्तु पूर्ण श्रम हो।

एकारामता में एक अन्य भाव निहित है । आराम शब्द जहां उस स्थिति का सूचक है, जहां सब ओर से हटकर एक में रम जाना है, पूर्णतया रम जाना है; वहां राम शब्द का एक अर्थ खिलाड़ी है । जिस धातु से यहं शब्द बना है उसका अर्थ है क्रीड़ा 'रमु क्रीडायाम्'। किसी वस्तु में रमने का अर्थ भी यही है कि उससे खुलकर खेलना।

बस, सामान्य व्यक्ति और स्वाध्यायशील व्यक्ति में यही अन्तर है। स्वाध्यायशील व्यक्ति यह सब जानकर भी अन्ततः उस परम अद्वितीय एक तत्त्व परमात्मा से खेलता है। यदि खिलौना बनता भी है, तो एक उसी के हाथ का खिलौना बनता है। ऐसे खिलाड़ी से खेल ठानता है जो अद्वितीय है, जो केवल एक ही है, जिसके तुल्य कोई नहीं। सामान्य व्यक्ति से खेलना उसे अच्छा नहीं लगता। इस खेल में जो आनन्द है वह सांसारिक खेलों में कहां? कभी उसे अपने हाथों में खिलाता है तो कभी उसके हाथों में खेलता है। दोनों सखा जो ठहरे!

इस सखा के साथ खेलने में जो आनन्द आता है, एक वही अद्वितीय आनन्द होता है, जिसकी तुलना में सांसारिक अन्य सभी सुख फीके पड़ जाते हैं।

८- त्रैकालिक बुद्धि प्राप्त होती है (प्रज्ञावृद्धिर्भवति) :

यदि मनुष्य स्वाध्याय-श्रम में जुटा रहे तो उसे जहां पहले सात लाभ होते हैं, वहां आठवां लाभ और संभवतः एक सर्वोपयोगी लाभ होता है प्रज्ञा-वृद्धि । उसे त्रैकालिकी बुद्धि प्राप्त हो जाती है । त्रैकालिकी बुद्धि का ही नाम प्रज्ञा है । इसके सिद्ध हो जाने से सभी सिद्धियां आ विराजती हैं । इसके चले जाने से सभी सिद्धियां स्वतः विदा हो जाती हैं, अपना आसन उठा लेती हैं । आचार्य चरक ने कितना यथार्थ कहा है, प्रज्ञापराधो हि मूलं सर्वरोगाणाम्—प्रज्ञा की की गयी भूल ही समस्त रोगों की मूल है । प्रज्ञा गई कि समस्त रोगों ने डेरा जमा लिया । प्रज्ञा को संस्कृत में पण्डा भी कहते हैं । प्रज्ञा शब्द ही प्राकृत में पज्ञा हो गया है । प्रज्ञा, पण्डा, बुद्धि, धी, मित और पज्ञा आदि समानार्थक शब्द हैं । वह व्यक्ति पण्डित है, बुद्धिमान्, धीमान् और मितमान् है जो प्रज्ञावान् है । इसका अभिप्राय हुआ कि स्वाध्यायशील पण्डित बन जाता है । स्वाध्याय से प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है ।

इस तथ्य को पुन: महामित चाणक्य ने अपनी मोहर लगाकर प्रमाणित कर दिया है, वे कहते हैं "श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते, प्रज्ञया योगो, योगादात्मवत्ता इति विद्यासामर्थ्यम् ।" कौ० अर्थशास्त्र (विनया० ५ । वृद्धसंयोगः)—'श्रुतात् श्रवणात् प्रज्ञा उपजायते त्रैकालिकी बुद्धिर् उपजायते ।"स्वाध्याय से प्रज्ञा, त्रैकालिकी बुद्धि उत्पन्न होती है ।

९- यश की प्राप्ति (यश:) :

स्वाध्याय से होने वाले आठ लाभों के अतिरिक्त नवां लाभ यश: प्राप्ति है। व्यक्ति की कामनाओं में यश की कामना बड़ी बलवती है, यहां तक देखा गया है कि व्यक्ति सब कुछ दांव पर लगाकर नाम की रक्षा करना चाहता है। नाम अमर हो जाए, तन रहे न रहे, धन रहे न रहे। याज्ञवल्क्य कहते हैं, स्वाध्याय से यश की प्राप्तिभी होती है। स्वाध्याय श्रमी व्यक्ति का आचरण पाण्डित्य के अनुकूल होकर उसे यशस्वी बना देता है। साथ ही स्वाध्यायजन्य उपर्युक्त आठ तत्त्वों का समावेश उसके यश: प्रसार में सहयोगी होता है। तभी याज्ञवल्क्य ने कहा—स्वाध्यायशील व्यक्ति लोगों के दिलों में घर कर लेता है। उसके यश की पुण्यगन्ध इतनी फैल जाती है कि अनायास ही वह लोक-हृदय पर अधिकार कर लेता है। उद्यान में खिले पुष्प की भांति उसका पुण्यगन्ध दिग्दिगन्त में फैल जाता है, अनायास लोगों के हृदय पर अधिकार कर लेता है। जैसे व्यक्ति दीर्घ श्वास लेकर पुण्यगन्ध को अपने हृदय में भर लेना चाहता है, यही उसका यशोलाभ है। इसिलए कहा—यशो भवति उसका यश-विस्तार होता है; पहले उसका आचरण दिलों पर व्याप जाता है, फिर उसका नाम जिह्ना से संशब्दित होता है, परन्तु व्यक्ति इतने लाभ से ही संतुष्ट नहीं रहता, वह कुछ और भी चाहता है।

१०- लोकपरिपाक हो जाता है (लोकपक्ति) :

एषणात्रय में लोकैषणा, अन्तिम एषणा है और कदाचित् व्यक्ति पहली दो एषणाओं, पुत्रैषणा और वित्तैषणा पर विजय पा ले, परन्तु लोकैषणा पर विजय पा सकना अत्यन्त कठिन है। यह एषणा तो बड़े से बड़े महात्माओं में भी देखी जाती है। इससे तो कोई विरला ही अछूता रह सकता है, यद्यपि इससे अलिप्त व्यक्ति को ही सचमुच अलिप्त कहा जा सकता है। परन्तु जिसे इसका लाभ ही नहीं हुआ, यदि वह कहे कि मैं अलिप्त हूं तो ऐसा कथन एक विडम्बनामात्र है। इसलिए पहले उसे पाना, पश्चात् उसका छोड़ना ही श्रेयस्कर है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्यायशील व्यक्ति की यह एषणा भी स्वभावत: पूर्ण हो जाती है। लोकपिक्तर्भवति-उसका लोक-परिपाक हो जाता है। उसे लोकसिद्धि हस्तगत हो जाती है।

इस प्रकार स्वाध्याय की महत्ता को देखते हुए यह ज्ञात हुआ कि यह वह जरामर्यसत्र है, जो कभी समाप्त नहीं होता तथा सभी आश्रमियों के लिये अपिरहार्य है। व्यक्ति जीवन के इस शाश्वत सत्य कि बुढ़ापे में क्या करे ? घर कैसे छोड़े ? कहां जाएं ? इत्यादि प्रश्नों से जूझने में भी समर्थ हो जाता है। और ये प्रश्न स्वाध्याय-श्रमी के सम्मुख मुंह बाये खड़े नहीं रहते। उसके स्वागत के लिये तो सर्वत्र आंखें बिछी रहती हैं। वह सर्वत्र आनन्द का ही अनुभव करता है। स्वाध्याय में किया गया श्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता। इस श्रम के कारण ही तो जीवन की चार अवस्थाओं का नाम आश्रम व्यवस्था पड़ा है। चतुर्थ आश्रमस्थ संन्यासी को भी इस श्रम से मुक्त नहीं किया गया। वह सभी श्रमों का न्यास कर सकता है लेकिन स्वाध्याय-श्रम का नहीं। मनु कहते हैं—संन्यसेत् सर्व कर्माण वेदमेकं न संन्यसेत्।

इस अपरिहार्यता के कारण स्वाध्याय = वेदाध्ययन व्यक्ति का परम धर्म है। मनु के अनुसार वेदमेवाभ्यसेन्तियं यथा कालमतन्द्रितः। तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते (४-१४७) अर्थात् सर्वदा आलस्य रहित होकर यथावसर वेद ही को पढे; क्योंकि यह इसका परम धर्म है और दूसरे धर्म इससे नीचे हैं। वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द ने भी मनु के स्वर में स्वर मिलाकर कहा—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है (आर्यसमाज के नियम-३)। इस परमधर्म का सामान्य जन भी निर्वाह कर सकें इसके लिये उन्होंने इस प्रकार का संग्रह आर्याभिविनय के रूप में आर्य-जनता के सम्मुख रखा जिसमें ईश्वरोपासना से सम्बद्ध वेद के चुने हुए मन्त्र थे। भक्तप्रवण हृदय के विनयोद्गार। ऋषि की भावाभिव्यक्ति आर्याभिविनय के प्रथम मन्त्र की विनय में उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

विनय—हे सिच्चिदान-दान-तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अद्वितीयानुपमजगदादिकारण, हे अज निराकार सर्वशिक्तमान् न्यायकारिन्, हे जगदीश सर्वजदुत्पादकाधार, हे सनातन, सकलदु:खिवनाशक, हे अविद्यान्धकारिन्मूल, विद्यार्कप्रकाशक, हे परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक, हे अधमोद्धारक पिततपावन, मान्यप्रद, हे विश्वविनोदक, विनयविधिप्रद, हे विश्वासिवलासक, हे निरञ्जन, नायक, शर्मद, नरेश, निर्विकार, हे सर्वान्तर्यामिन्, सदुपदेशक, मोक्षप्रद, हे सत्यगुणाकर, निर्मल, निरीह, निरामय, निरुपद्रव, दीनदयाकर, परमसुखदायक, हे दारिद्र्यविनाशक, निर्वेरविधायक, सुनीतिवर्धक, हे प्रीतिसाधक, राज्यविधायक, शत्रुविनाशक, हे सर्वबलदायक, निर्वलपालक, हे सुधर्मसुप्रापक, हे अर्थसुसाधक, सुकामवर्द्धक, ज्ञानप्रद, हे सन्तितपालक, धर्म्मसुशिक्षक, रोगविनाशक, हे पुरुषार्थ प्रापक, दुर्गुणनाशक, सिद्धिप्रद, हे सज्जनसुखद, दुष्टसुताइन, गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक, हे परमेश, परेश, परमात्मन्, परब्रह्मन्, हे जगदानन्दक, परमेश्वर, व्यापक, सूक्ष्मच्छेद्य, हे अजरामृताभयनिर्वन्धनादे, हे अप्रतिमप्रभाव, निर्गुणातुल, विश्वाद्य, विश्ववन्द्य, विद्वद्विलासक, इत्याद्यनन्तिवशेषणवाच्य, हे मङ्गलप्रदेश्वर! आप सर्वथा सबके निश्चित मित्र हो, हमको सत्यसुखदायक सर्वदा हो, हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर! आप वरुण अर्थात् सब से परमोत्तम हो, सो आप हमको परम सुखदायक ह्याद्यन सर्वदा हो, हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर! आप वरुण अर्थात् सब से परमोत्तम हो, सो आप हमको परम सुखदायक

हो, हे पक्षपातरिहत, धर्मन्यायकारिन् ! आप अर्य्यमा (यमराज) हो इससे हमारे लिये न्याययुक्त सुख देनेवाले आप ही हो, हे परमैश्वर्यवन्, इन्द्रेश्वर ! आप हम को परमैश्वर्ययुक्त शीघ्र स्थिर सुख दीजिये । हे महाविद्यावाचोधिपते, बृहस्पते, परमात्मन् ! हम लोगों को (बृहत्) सबसे बड़े सुख को देनेवाले आप ही हो, हे सर्वव्यापक, अनन्त पराक्रमेश्वर विष्णो ! आप हमको अनन्त सुख देओ, जो कुछ मांगेंगे सो आपसे ही हम लोग मांगेंगे, सब सुखों का देनेवाला आप के बिना कोई नहीं है, सर्वथा हम लोगों को आपका ही आश्रय है । अन्य किसी का नहीं क्योंकि सर्वशिक्तमान् न्यायकारी-दयामय सबसे बड़े पिता को छोड़ के नीच का आश्रय हम लोग कभी न करेंगे, आपका तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते, सो आप सदैव हमको सुख देंगे यह हमको दृढ़ निश्चय है ।

इसी प्रकार की आर्याभिविनय में वर्णित विनय पाठक भक्त को भिक्तरस से आप्लावित कर देती हैं। भक्तजनों को इस प्रकार के विनय-संग्रह से प्रभावित देखकर आर्यविद्वानों ने इसी शृंखला में शतश: प्रयास किये। उनमें से वैदिक विनय का स्थान सर्वोपिर है। विनय या प्रार्थना वही प्रभावकारी होती है जो भिक्तरस से संसिक्त हृदय से निकली हो। उसी प्रार्थना को प्रभु भी सुनते हैं। ज्ञान-भिक्त और कर्म के समन्वित व्यक्तित्व वाले आचार्य अभयदेव जी की प्रार्थनाएं तथा विनय भी इसी प्रकार की हैं। प्रार्थना विषयक उनके शब्द पठनीय हैं, तद्यथा—

'ओह! वह प्रार्थना'

'तुग शंका करते हो कि क्या परमेश्वर प्रार्थना सुनते हैं, पर मैं सोचता हूं कि सिवाय प्रार्थना सुनने के परमेश्वर को इस विश्व में और काम ही क्या है ? इस सब विश्व-ब्रह्माण्ड का संचालन तो उसके देव करते हैं, उसके ऋत नियम करते हैं। उसमें तो परमेश्वर को कुछ करना नहीं होता। वह सब स्वत: हो जाता है।

प्रार्थना उपजती पूरी होने के लिए ही है। तो हमारी कोई प्रार्थना क्यों पूरी न होगी? यदि कोई प्रार्थना पूर्ण नहीं होती है तो वह या तो सच्चे, पूरे हृदय से नहीं की जाती या फिर अज्ञानपूर्ण होती है। तीसरी बात भी और कुछ हो सकती है यह मैं नहीं जानता।

कोई प्रार्थना तुरन्त पूरी हो जाती है, छूटते ही तीर की तरह लक्ष्य पर पहुंचती है। मानो परमेश्वर तैयार बैठे होते हैं कि भक्त के अन्दर से प्रार्थना निकले और मैं उसे सफल कर दूं। केवल प्रार्थना उदित होने की देर होती है। पर किन्हीं प्रार्थनाओं में बहुत-बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ती है मानो कहीं कोई सुनने वाला ही नहीं है। तब भी हताश नहीं होना चाहिये। प्रार्थना चालू रखनी चाहिए। (परमेश्वर मानो अन्य अधिक आवश्यक कार्यों से निवृत्त से होकर) कभी हमारी भी अवश्य सुध लेंगे और बस क्षण भर में बेड़ा पार कर देंगे।

प्रार्थना कोई भीख मांगने वाले भिखारी और देने वाले दाता का सम्बन्ध नहीं है । यह तो पुत्र और उसकी जननी का सम्बन्ध है । वहां अपनी ही वस्तु अपने ही किसी से मांगी और चाही जाती है ।

जो परमैश्वर्यशाली महान् प्रदाता है, वह है जो नीचे हमारे हृदय में आकर अपने ही एक अकिंचन से अंश के लिए अभ्यर्थना करने लगता है, याचना करता है। जो मनुष्य यह बात समझता है, वही प्रार्थना के रहस्य को जानता है।

जो सच्चा प्रार्थी है, जिसकी प्रार्थना 'हदा तष्टा' है और ज्ञान में जागते हुए 'चितयत्' की गयी है, वह समय से नहीं घबराता। वह जानता है कि इसे तो अवश्य प्राप्त करना है, चाहे कुछ हो इसे सिद्ध करना ही है। उसके लिए काल कुछ वस्तु नहीं रहती । अनंत काल उसके हाथ में होता है ।

प्रार्थना कोई एकपक्षीय वस्तु भी नहीं है। परम देव से या देवों से हम प्रार्थना याचना करते हैं इतना ही नहीं है। पर दूसरी तरफ वह परम देव भी, उसके देव भी हमें चाहते हैं, हमारी तरफ से आयी प्रार्थनाओं की कामना करते हैं। तभी यह खेल बनता है। कहना तो यह चाहिये कि हमारे हृदय में प्रार्थना की पुकार उठती इसीलिए है कि परम देव उसमें आनन्द पाते हैं, उसे चाहते हैं, उसमें आकर्षण उत्पन्न करते हैं, जैसे पूर्ण चन्द्र के कारण समुद्र की लहरें ऊपर उठती हैं।

प्रार्थना हमारे हृदयतल से ऐसे उठनी चाहिये जैसे कि पवित्र यज्ञकुण्ड में से विशुद्ध घृत से प्रदीप्त की गयी अग्नि की ऊर्ध्वगामिनी निर्धूम, निर्मल, प्रचण्ड, उज्ज्वल ज्वाला । वहीं है जो अभिमत वस्तु की सहस्रश: वर्षा-धाराओं को ऊपर से उतार लाने में सक्षम होती है।'

एक भक्तहृदय की प्रार्थना और विनय भक्तजनों के सम्मुख प्रस्तुत कर मैं आज प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। मेरा प्रयास रहा है कि जैसी यह पुस्तक भावदृष्ट्या अन्दर से मधुर है वैसे ही बाहर से भी मनोहारी हो। में का है। है के का प्रत्येत में महिल है के महिल महिल महिल है। के देख कि है के कि

किया है कि वह का में मुक्त पूर्व हैंदेव में बात के किया का रिष्ट आजनवर्ष पूर्वी है। सेवारी कह क

是 100 · 有自 100 ·

黄星篇 前尾 中国南大麻羊 1 克 芳 芳 苏 苏 东 东 东 东 东 东 市 山 市 東 京 东 东 东 下 下 下 下 下

THE THE PARTY OF T

的复数 1. 中央设计 1. 中央 1.

रिस्का सीच के निकार हो है। को हमारी और पोर्ट्स की की की में हमारे के लिए

दीक्षानन्द

प्रारम्भिकं वचन

å blesel in the et it in that spain of nips for the first or or and

१. अनुकूल संयोग

कानपुर का जेल ठीक गंगा के तट पर बना हुआ है। गत वर्ष (संवत् १६८७) के शीतकाल के ६ महीने-भर मुझे इसी 'कृष्ण मन्दिर' में रहने का सौभाग्य रहा है। सौभाग्य इसलिए कहता हूँ क्योंकि यहाँ रहते हुए, जेल का स्वाभाविक कठोर जीवन बिताते हुए और जेल के स्वाभाविक एकान्त का सेवन करते हुए मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं इस गंगा-तट की तपोभूमि में तप करने आया हुआ हुँ, परमात्मा ने मुझे यहाँ इसीलिए भेजा है। और इस अनुकूल स्थिति में जब एक दिन मेरे पैरों में महीने-भर के लिए बेडियाँ देनेवाले मेरे कानपुर-जेल के खान बहादुर जेलर साहिब ने तथा सुपरिन्टेंडेण्ट 'करनल ओनील' साहिब ने मेरे हाथों में लेखन-सामग्री भी दे दी, तब उन्होंने मुझ पर जो कृपा की उसके लिए मैं उन दोनों का सदा कृतज्ञ रहुँगा। क्योंकि इसी का परिणाम यह 'वैदिक विनय' पुस्तक है। ऐसी एक प्रार्थना-पुस्तक, जिसमें वर्ष के प्रत्येक दिन के लिए एक वैदिक प्रार्थना हो, लिखने का संकल्प तो चार-पाँच वर्ष से था। तब से था, जब से कि पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा की अन्तरंग सभा ने ऐसी एक पुस्तक निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव की थी और उसकी रचना के लिए मुझे कहा गया था। परन्तु अब कानपुर-जेल में दो महीने तक यत्न करने के पश्चात् जब मुझे जेल में कुछ लिख सकने की अनुमित मिली और मुझे लेखन-सामग्री दी गई तो, चुंकि तब तक सहारनपुर-जेल में लिखनी प्रारम्भ की गई 'अग्निहोत्र रहस्य' नामक पुस्तक के कागजात मुझे वापस नहीं किए गये थे और न किए जाने की आशा थी, इसलिये तब मैंने अपने ऐसी प्रार्थना-पुस्तक लिखने के ही संकल्प को पूरा कर डालने का निश्चय कर लिया। और इस '१६ नम्बर की बैरक' में रहते हुए ही अगले चार महीनों में इस 'वैदिक विनय' का आधे से अधिक भाग लिख भी डाला, अर्थात् वर्ष-भर के सम्पूर्ण मन्त्रों का संग्रह कर लिया तथा लगभग ६ महीने तक के मन्त्रों का अर्थ-लेखन भी समाप्त कर लिया।

२. तैयारी

पाठकों को यह विदित होना ही चाहिए कि ये प्रार्थनायें आपके लेखक ने कितने यत्न और कितने प्रेम से तैयार की हैं।

इसके लिए पहले तो अथौं पर दृष्टि रखते हुए और अर्थ-चिन्तन करते हुए चारों वेदों का एक बार पाठ किया गया है और इस तरह ३६५ वेदमन्त्रों का उनके छन्दों के अनुसार चुनाव तथा संग्रह किया गया है। और अर्थ लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व यास्क के सम्पूर्ण

3

निहक्त का दो बार अच्छी तरह बड़े ध्यान से अध्ययन किया गया है। लेखक का विश्वास है कि तपस्या तथा अध्ययन की कमी, पूर्व-आग्रह व पक्षपात अथवा जल्दबाजी आदि किन्हीं भी कारणों से वेद-मन्त्रों का अशुद्ध अर्थ किया जाना पाप करना है, इसलिये मन्त्र का सत्य अर्थ पाने के लिए उसने अपनी शक्ति-भर पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। जिस मन्त्र का अर्थ लिखना हो उसे पहले कण्ठाग्र करके उसका चलते-फिरते देर तक मनन किया गया है। मन्त्र को कण्ठाग्र करके उसे वार-बार मन में पढ़ते, बोलते और गाते हुए सो जाना तथा अगले दिन प्रात:काल अपने नित्य के सन्ध्या, भजन और अग्निहोत्र कर लेने के बाद उसका अर्थ लिखना, बहुत बार यह कम रखा गया है। जब तक कि अर्थ इतना स्पष्ट नहीं हो गया कि अपना मन सन्तुष्ट हो जाय, तब तक अर्थ नहीं लिखा गया। कई बार सन्देह रह जाने के कारण अर्थ लिखना स्थिगत भी कर दिया गया है। अपनी तरफ से निःसंशय कहा जा सकता है कि मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को जान लेने के लिए यथाशक्ति विकारशून्य और निर्मल मन से पहुँच की गई है तथा इन मन्त्रों में से एक-एक मन्त्र का अर्थ सर्वप्रेरक प्रभु से सच्चे अर्थ का प्रकाश पाने की प्रार्थना करके, मानसिक पवित्रता की अवस्था लाकर ही लिखा गया है। इसलिये पाठकों से भी प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे भी यदि ऐसे ही कुछ निर्मल भाव से इन प्रार्थनाओं का पाठ करेंगे, इनका स्वाध्याय व मनन करेंगे तो अच्छा होगा।

३. पाठ की विधि

लेखक की इच्छा है—स्वाध्यायप्रेमी पाठकों के पास न जाने इतना समय होगा कि नहीं किन्तु लेखक की इच्छा है—कि पाठक निम्न प्रकार से इन मन्त्रों का स्वाध्याय करें—

१. स्वाध्याय प्रतिदिन किया जाय, इसमें कभी नाग़ा न किया जाय।

प्रत्येक मन्त्र के ऊपर तिथियाँ इसलिये नहीं लिखी गई हैं कि उन तिथियों के दिन ही उन मन्त्रों के पढ़ने का कुछ माहात्म्य है, किन्तु इसलिये लिखी गई हैं कि पाठक प्रत्येक दिन जुरूर एक-न-एक वैदिक प्रार्थना में से गुजर जाया करें। स्वाध्याय में एक दिन भी नागा न हो; स्वाध्याय लगातार प्रतिदिन जारी रहे; यह तो सबसे पहला प्रयोजन है जिसके लिए कि यह प्रार्थना-पुस्तक रची गई है।

२. यदि सम्भव हो तो स्वाध्याय के मन्त्र को पहले दिन कण्ठाग्र कर लिया जाय।

पहले दिन का सन्ध्या-समय इस कार्य के लिए अच्छा रहेगा।

लेखक का अभिप्राय यह है कि पाठक वेदमन्त्रों द्वारा (वेदमन्त्रों के शब्दों में) प्रार्थना करने के अभ्यासी बनें। वेद में प्राय: सब उपदेश व ज्ञान प्रार्थना-रूप में ही कहे गये हैं। अतः लेखक की समझ में किसी समय वेद के प्रचार होने का यही अर्थ है कि उस समय के लोग वेदमन्त्रों द्वारा प्रार्थनां कर सकें; वेदमन्त्रों के सहारे अपने संकल्प-बल को संगृहीत करने और उसका सफल प्रयोग करने में समर्थ हो सकें। अतः हम वेद का प्रचार चाहनेवालों को समाज में यह अवस्था लानी ही चाहिए कि लोग वेद के शब्दों में ही ईश्वर-स्तुति कर सकें। अस्तु, तात्पर्य यह है कि यदि पाठकों ने मन्त्र कण्ठस्थ कर रखा होगा, तभी वे वेदमन्त्रों के शब्दों में प्रार्थना कर सकने में सफल होंगे। यदि उन्होंने मन्त्र पहले से कण्ठस्थ कर रखा होगा तो इससे उस मन्त्र

का आशय समझने में और उसके आशय का आनन्द लेने में अर्थात् ठीक तरह स्वाध्याय करने में उन्हें बड़ी सहायता मिलेगी।

३. अगले दिन प्रातःकाल अपने स्वाध्याय के समय में पुस्तक द्वारा वह वेदमन्त्र पढ़कर तथा उसकी विनय पढ़कर स्वाध्याय करना चाहिए।

यह कहने की जरूरत नहीं कि यह दैनिक स्वाध्याय जहाँ तक हो सके पित-पत्नी तथा अन्य सब परिवार के सदस्य मिलकर किया करें। यदि उस परिवार में अग्निहोत्र भी हुआ करता हो तो यह प्रतिदिन का स्वाध्याय अग्निहोत्र के बाद अग्निकुण्ड के चारों तरफ बैठकर ही करना चाहिए। एक पढ़ता जाये तथा दूसरे उसे सुनें। इस प्रकार परस्पर अर्थ समझने-समझाने में भी सहायता प्राप्त होती रहेगी।

४. विनय-पाठ कर लेने के अनन्तर मन्त्र के शब्दार्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। शब्दार्थ देख लेने द्वारा यह अच्छी तरह देख लेना—समझ लेना—चाहिए कि मन्त्र के इन थोड़े-से शब्दों में किस तरह पूर्वपठित विनय का सम्पूर्ण भाव आया हुआ है।

विनय में विस्तार से दिखलाये हुए सब विचारों और भावों को अन्त में हम मन्त्र-शब्दों में रखे हुए पा लेवें, इसीलिये इस पुस्तक में शब्दार्थ विनय के पीछे दिखाये गये हैं। बहुत सम्भव है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए पाठकों को फिर एक-दो बार मन में विनय को पढ़ लेना पड़ा करेगा, कम-से-कम एक बार तो विनय को फिर पढ़ ही लेना चाहिए; तभी मन्त्र का अर्थ स्पष्ट होगा।

विनय के शब्द बड़े यत्न से इस ढंग से लिखे गये हैं कि पाठकों के लिए मन्त्र के सब शब्दों का अर्थ और उनका पूरा-पूरा अभिप्राय इसकी प्रार्थनामय भाषा में ही अच्छी तरह खुल जाय। विनय के शब्दों द्वारा प्रार्थना भी की गई है और मन्त्र के एक-एक शब्द का अर्थ और अभिप्राय भी स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इन विनयों की रचना में अनेक जगह इसके प्रार्थना-रूप को और इसकी भाषा को भी बिगड़ जाने दिया गया है, परन्तु मन्त्र के शब्दों का अर्थ तथा उनका पूरा आशय इन दोनों का स्पष्टीकरण ठीक हो जाय इस असली उद्देश्य को कहीं भी नहीं भूलने दिया गया है। अतः पाठकों को उचित है कि चाहे उन्हें विनय के शब्द कई वार देखने पड़ें पर वे तब तक स्वाध्याय को समाप्त न करें जब तक कि वे मन्त्र के आशय को मन्त्र के शब्दों में पूरी तरह न देख लेवें। और ऐसा कर लेने के बाद—

५. उस मन्त्र को—केवल वेदमन्त्र को—बार-बार आनन्द से गा-गाकर पढ़ें, कम-से-कम सात बार जरूर दोहरावें, और मन्त्रार्थं को इतनी अच्छी तरह अनुभव करते हुए यह मन्त्र गान करें कि मानो वह वेदमन्त्र हमारे हो हृदय से निकल रहा है—हम ही उस मन्त्र के ऋषि हैं। विनय में प्रदिशत वे सब भाव, भावावेश और भिक्त आदि रस उस समय मन में पूरी तरह उठ रहे हों।

हमने यदि वेदमन्त्र के आशय को पूरी तरह ले लिया होगा तो इसकी पहचान ही यह है कि तब हमारा स्वयं जी करेगा कि हम उस वेदमन्त्र को बार-बार पढ़ें, गावें, गाते जायें। मन्त्र के बार-बार दोहराने में बड़ा आनन्द मिलेगा।

आर्यसमाज में भिवत के बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है। वेदवर्णित भगवद्भवित का

वैदिक विवयः

की प्रसीर करने के लिए—इस दिशा में कुछ तुच्छ सेवा कर सकने के लिए—ही यह पुस्तक लिखी गई है। सच तो यह है कि लेखक को स्वयं इस पुस्तक के मन्त्रों का मनन करते समय बड़ा आनन्द मिला है। उसे ये अपने '१६ नम्बर की बैरक' के उच्च सात्त्विक सुख के दिन कभी न भूलेंगे। उन दिनों इन मन्त्रों का अर्थ जानने के लिए मन्त्रों का विचार और मनन करते-करते मन मन्न हो जाया करता था। मन्न होकर इन मन्त्रों को गाते हुए मानसिक स्थिति उस समय के लिए एकदम ऊँची उठ जाती थी। अतः यदि अन्य भी किन्हीं सहृदय भाइयों को इन वेदमन्त्रों का स्वाध्याय उनकी आत्मा को ऊँचा कर देनेवाला हो, उन्हें भिक्त-प्रेमरस से नहला देनेवाला हो, तो क्या ही अच्छा हो! असल में इसी आशा से और इसी प्रार्थना के साथ, लेखक ने यह संग्रह प्रकाशित करवाने की—छपवाकर कुछ स्थिर कर रखने की—इच्छा की है। क्या कहीं यह आशा और यह प्रार्थना सुनी जायेगी?

४. छन्द

ऊपर मन्त्रों के गाने का वर्णन आया है। यद्यपि लेखक को स्वर तथा गान-विद्या के विषय में कुछ ज्ञान नहीं है, तो भी इस संग्रह में छन्दों का ध्यान रखा गया है। इस पुस्तक के उस ऋतु के सब मन्त्र उस-उस ऋतु के अनुकूल छन्दों में ही संगृहीत किए गये हैं। निरुक्त के दैवतकाण्ड में ऋतुओं के साथ छन्दों का सम्बन्ध निम्न प्रकार कहा है—

१ वसंतो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथंतरं साम ।	नि० दैवत ७.३.१ ॥
२—ग्रीब्मः विष्टुप् पंचदशस्तोमो बृहत्सामः	नि० दैवत ७.३.३॥
३—वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम	नि० दैवत ७.३.४॥
४-शरदनुष्टुप् एकविशस्तोमो वैराजं साम	territore de la constitución de
५—हेमंतः पंक्तिः व्रिणवस्तोमः शाक्वरं साम इति ॥	ng by meis ispitels
६-शिशिरोऽतिच्छंदाः त्रयस्त्रिशो सोमो रैवतं साम ॥	नि० दैवत ७.३.४॥

स्वयं वेद में भी कई जगह ऋतुओं के साथ छन्दों का यही सम्बन्ध विणित है। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र देखिए—

१—अयं पुरोः वसंतः प्राणायनो गायन्नी वासंती ःःः।	
1 44 31	यजुः० १३.५४॥
२-अयं दक्षिणा'''ग्रीब्मो मानसःस्त्रिष्टुब् ग्रैब्मी'''''।	
What has been seen and the party between the billion and the best of the best	यजुः० १३.५५॥
३-अयं पश्चात् '''वर्षाः चाक्षुष्यो जगती वार्षी '''।	
	यजुः० १३.५६ ॥
४—इदमुत्तरात्…शरत् श्रोह्यनुष्टुप् शारदी…।	
	यजु:० १३.५७॥
५—इदमुपरिः हेमंतो वाच्यः पंक्तिहेंमंतीः।	
A STATE OF THE REAL PROPERTY OF THE PARTY OF	यजुः० १३.५८ ॥

वैदिक विनय

ईन मन्त्रों में तथा निरुक्त-वचन में एक ही समान ऋतुओं और छन्दों का सम्बन्ध कहा है। अन्तर केवल इतना है कि निरुक्त में छठी ऋतु के साथ 'अतिच्छन्दा' छन्द कहा है और वेद-वाक्य में पाँच ऋतुओं का ही वर्णन है। इसलिये हमने भी वसन्तादि पहली पाँच ऋतुओं में तो कमशः गायत्री आदि पाँच छन्दों का ही कम रखा है, परन्तु छठी (शिशिर) ऋतु को विविध छन्दोंवाला बना दिया है। निम्न कोष्ठक देखिये—

ऋतु	छन्द	पद अक्षर	कुल अक्षर
वसन्त	गायत्री) ३ द	२४
ग्रीष्म	त्रिष्टुप्	8 66	48 h = 121
वर्षा	जगती	४ १२	85
शरद्	अनुष्टुप्	४ ५	1 1 1 1 1 3 7 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
हेमन्त	पंक्ति	8 80	80
शिशिर	विविध	५ ५	र क्षेत्रीकी रहका

प्र. सौर वर्ष

इस पुस्तक की दैनंदिनी (Diary) के लिए 'सौर वर्ष' चुना गया है, अर्थात् सूर्यं की एक राशि से दूसरी राशि में संक्रान्ति से जो महीने बनते हैं उन बारह महीनों का वर्ष गिना गया है। यद्यपि हमारे देश में कई कार्यों में चान्द्रतिथियों का भी उपयोग बहुतायत से होता है, परन्तु चूँकि चान्द्र महीनों की तिथियाँ नियत नहीं होती हैं, बिना किसी क्रम के कभी द्विगुणित और कभी लुप्त होती रहती हैं, इसलिए उन तिथियों के अनुसार प्रतिदिन के स्वाध्याय की पुस्तक को चलाना किसी तरह व्यवहार्य्य नहीं हो सकता। अतः सौर तिथियों के अनुसार यह पुस्तक चलाई गई है। यद्यपि अभी तक देश में प्रचलित सौर तिथियों के अनुसार भी प्रतिवर्ष प्रत्येक मास में निश्चित दिन नहीं होते हैं (जैसे कि पाश्चात्य जनवरी, फरवरी आदि महीनों में होते हैं) पर सौर महीनों की इस तुटि को काशी के ज्ञानमण्डल से प्रकाशित होनेवाले 'पंचाङ्ग' और 'सौर रोजनामचे' में जिस तरह दूर किया गया है, उससे सब समस्या हल हो जाती है।

उन्होंने प्रत्येक राशि व सौर मास के दिन नियत कर दिये हैं और प्रत्येक मास की घटती-बढ़ती को अगले मास से मिलाकर पूर्णाङ्क कर दिये हैं। इस तरह सौर तिथियों की एकता सारे देश में (और संसार में) हो सकती है। और यदि हमें यह अभीष्ट हो कि सौर तिथियों का चलन हो जाय तो इन तिथियों को व्यवहार्य्य बनाने के लिए यह करना पड़ेगा। अस्तु। इस पुस्तक में लेखक ने इसी के अनुसार प्रत्येक मास के दिस निश्चित कर दिये हैं। प्रत्येक सौर मास

में ये नियत दिन कितने-कितने होते हैं यह याद रखने के लिए पाठक निम्न दोहा याद कर सकते हैं—

मार्ग पौष उनतीस के, का मा फा चै तीस। आ बत्तीस, फा चौथ सन, औ बाकी इकतीस।।

[मार्गशीर्ष और पौष २६ दिन के होते हैं, कार्तिक, माघ, फाल्गुन और चैत्र ३० दिन के होते हैं। आषाढ़ महीना बत्तीस दिन का होता है। और चौथे साल में फाल्गुन महीना तथा शोष सब महीने (अर्थात् वैशाख, ज्येष्ठ, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन) ३१ दिन के होते हैं]।

यद्यपि पंजाब, बंगाल, गढ़वाल आदि प्रदेशों में सौर तिथियों का चलन है, पर उनमें संक्रमण-काल के मान में भेद रहने के कारण जो एक-दो दिन का अन्तर रहता है वह इस ज्ञान-

मण्डल के 'पंचाङ्ग' की विधि से हट जाता है।

यद्यपि सौर वर्ष वैशाख मास से प्रारम्भ होता है, पर इस पुस्तक में यह चैत्र मास से प्रारम्भ कर दिया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने पूर्वोल्लिखित ऋतुक्रम ठीक रखना था और प्रथम ऋतु वसन्त ऋतु ही होनी चाहिए, इसलिये चैत्र मास को भी वैशाख मास के साथ जुड़ा रखना आवश्यक समझा गया।

आशा है इस पुस्तक द्वारा सौर तिथियों के व्यापी प्रचार में भी यह जरा-सी अप्रत्यक्ष सहायता मिलेगी।

६. ऋतुचर्या

प्रत्येक ऋतु के स्वाध्याय-मन्त्रों को प्रारम्भ करने से पूर्व इस पुस्तक में यह बात भी दिखला दी गई है कि आयुर्वेद के प्रन्थों के अनुसार उस ऋतु में कैसी चर्या रखनी चाहिए, उस ऋतु में क्या पथ्य है और क्या अपथ्य। परन्तु इन ऋतुचर्याओं के अनुसार आचरण करनेवालों का ध्यान एक बात की तरफ आकृष्ट कर देना उचित है। वह यह है कि ऋतुचर्या दिखाते हुए प्रारम्भ में उस ऋतु के जो लक्षण दिए हैं वे लक्षण जिन दिनों में घटते हों उन्हीं दिनों के लिए वह ऋतुचर्या है। इसीलिये प्रत्येक ऋतुचर्या के प्रारम्भ में उस ऋतु के लक्षण भी लिख दिए गये हैं। तात्पर्य यह है कि वसन्त-महीनों (चैत्र, वैशाख) में यदि ये वसन्त के लक्षण न हों तो तब तक यह चर्या नहीं करनी चाहिए, अथवा यदि ये लक्षण फाल्गुन में ही प्रकट हों तो तभी से यह वसन्तचर्या करनी चाहिए। अर्थात् इन ऋतुचर्याओं को किन्हीं निश्चित महीनों के लिए नहीं समझना चाहिए, किन्तु जिन भी किन्हीं दिनों उस ऋतु के लक्षण प्रकट हों तो तभी उस ऋतुचर्या का अनुसरण करना चाहिए। सुश्रुत महाराज ने तो प्रत्येक अहोरात्र में भी छओं ऋतुचर्या का अनुसरण करना चाहिए। सुश्रुत महाराज ने तो प्रत्येक अहोरात्र में भी छओं ऋतुचर्या का अनुसरण करना चाहिए। सुश्रुत महाराज ने तो प्रत्येक अहोरात्र में भी छओं ऋतुचर्या का यह है कि प्रत्येक ब्यक्ति को बहुत बार ऋतु से भी अधिक अपनी निजी प्रकृति का ध्यान रखने की आवश्यकता होगी। अतः (उदाहरणार्थ) पित्त प्रकृतिवाले को चाहिए कि वह वसन्त और वर्षा में भी पित्तकारक वस्तुओं से सावधान रहे। अस्तु।

प्रत्येक महीने में क्या वस्तु निषद्ध है, त्याज्य है, यह जो प्रत्येक ऋतुचर्या के अन्त में

वैदिक विनय

उसके दोनों महीनों के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है वह जिस हिन्दी कहावत के अनुसार है वह निम्नलिखित है.—

चैते गुड़, वैसाखे तेल। जेठे पन्थ, असाढ़े बेल।। सावन दूध (साग), न भादों मही। असौज करेला, न कातिक दही।। मगसिर जीरा, पूसे धना। माघे मिसरी, न फागुने चना।।

७. बारह सौर महीने या बारह आदित्य

सौर वर्ष के पक्ष में मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि सौर बारह महीने ही प्रसिद्ध तेतीस देवताओं में से बारह आदित्य देवता हैं। ये देवता क्यों हैं यह बात पाठकों को विदित होना आवश्यक है; क्योंकि यह समझाकर पाठकों को मैं यह भी कुछ निर्देश कर सक्रूंगा कि प्रत्येक मास के लिए जो मैंने एक-एक प्राणायामपूर्वक व्यायाम लिखा है उसका उस-उस महीने से क्या सम्बन्ध है।

यद्यपि आदित्य (सूर्य) पृथिवी के चारों तरफ घूमता नहीं है, तो भी वर्ष-भर में जो पृथिवी उसका एक चक्कर पूरा करती है उससे आदित्य ही हमें आकाश में एक गोलाकार चक्र में वर्ष-भर घूमता प्रतीत होता है। यह सूर्य-मार्ग "ज्योतिर्मण्डल" या "राशिचक्र" कहलाता है। इस मार्ग के बारह भाग किए गये हैं, और इसमें दीखनेवाले आकाश के बारह नक्षत्र-समूहों के कारण ये भाग ही बारह (मीन, मेष, वृष आदि) राशि कहलाते हैं। एक (जैसे मीन) राशि में जब तक सूर्य रहता है तब तक एक (जैसे चैत्र) सौर महीना रहता है। जब इस राशि से संकान्त कर सूर्य दूसरी राशि (जैसे मेष) में आता है तो दूसरा (जैसे वैशाख) सौर महीना हो जाता है। अब यहाँ वह बात देखिए जिसके कारण कि ये बारह सौर महीने बारह आदित्य देवता कहलाते हैं। आदित्य तो बेशक इस बारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है, परन्तु तो भी पृथिवी के आदित्य तो बेशक इस बारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है, परन्तु तो भी पृथिवी के आदित्य तो बेशक इस वारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है, परन्तु तो भी पृथिवी के आदित्य तो बेशक इस वारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है, परन्तु तो भी पृथिवी के आदित्य तो बेशक इस वारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है, परन्तु तो भी पृथिवी के आदित्य तो बेशक इस वारह प्रकार का आदित्य का प्राण (जीवनशक्ति, प्रकाश आदि) हम पृथिवीवासियों को इन राशियों से चिह्नित भिन्त-भिन्न बारह विभागों में से गुजरकर पहुँचता है, अतः यह भिन्त-भिन्न बारह प्रकार का प्रभाव रखता है। एवं भिन्त-भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण ही एक आदित्य बारह प्रकार का आदित्य हो जाता है। इसीलिये ये बारह महीने बारह आदित्य कहलाते हैं, दुस्थानीय बारह आदित्यदेव कहलाते हैं।

देवताओं में आदित्य सर्वोच्च देवता है। शरीर में जैसे जीवातमा है वैसे इस सौर-मण्डल का आत्मा आदित्य है। यह बात निरुक्त के परिशिष्ट में अच्छी तरह स्पष्ट की गई है। वेद में स्पष्ट कहा है—

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥" —ऋ० १.११५.१ ॥

"सब स्थावर और जंगम जगत् का आत्मा सूर्य है" यह इस सूर्यदेवताक मन्त्र का आधिदैविक अर्थ है।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ — प्रश्नोपनिषद् १.८॥

"सब प्राणियों का, सब उत्पन्न वस्तुओं का, प्राण होकर यह सूर्य उदय होता है।"

वैदिक विनय

प्रश्नोपनिषद् में यह मन्त्र ऋग्वेद का वचन कहकर उपदेश किया गया है। वास्तव में इस संसार के सब प्रकार के जीवन का, सब प्रकार की चें ब्टा, गित व किया का तथा सब प्रकार की शक्ति का केन्द्र सूर्य ही है। भौतिक विद्या के ज्ञाता भी प्रकाश, ताप, विद्युत, चुम्बक आदि सब बलों का तथा वनस्पति, पशु, मनुष्यों में रूपान्तरित सब बलों का भी आधार आदित्य को ही मानते हैं। पर आदित्य का यह प्राण ही हमें देश, काल, अवस्था आदि नाना भेदों से भिन्न-भिन्न प्रकार का मिलता है और यही प्राण के प्रकार का भेद है जिसके कारण दुस्थानीय देवता भिन्न-भिन्न बहुत-से हुए हैं तथा एक आदित्य की जगह नाना आदित्य बने हैं। इन प्रसिद्ध १२ आदित्यों के अतिरिक्त ७ आदित्यों का वर्णन निम्न वेदमन्त्र में देखिए—

"सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त तेभिः ।।"

一雅0 6.998.3

इस मन्त्र में नाना सूर्यवाली (भिन्न-भिन्न प्रकार के सूर्यवाली, भिन्न-भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के सूर्यवाली) सात दिशाओं का वर्णन है और इसी के अनुसार सात आदित्यों का वर्णन है। एक ही आदित्य भिन्न-भिन्न सात दिशाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण सात आदित्य हो गया है। इस बात का स्पष्टीकरण प्रश्नोपनिषद् के निम्न वाक्य से हो जाता है—

"अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रिश्मषु संनिधत्ते। यद् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यद्द्वीचीं यद्धो यदूष्वं यदंतरा दिशो यत्सवं प्रकाशयित, तेन सर्वान् प्राणान् रिश्मषु संनिधत्ते।।"
—प्रश्नोपनिषद् १.६॥

अर्थात् सूर्यं प्राची (सामने की) दिशा में उदय होता हुआ अपनी रिहमयों में, १. प्राच्य प्राणों को धारित करता है, दिक्षणा (दायीं) दिशा में उदय होता हुआ, २. दिक्षण प्राणों को रिहमयों द्वारा देता है, इसी तरह, ३. पीछे, ४. वायें, ५. नीचे, ६. ऊपर तथा ७. अन्तराल के प्राणों को देता है—और एवं सब प्रकार के प्राणों को अपनी किरणों में देता है। ये ही सात (नाना) सूर्य दिशाओं के सात आदित्य हैं। पर यह तो दिशा-भेद से प्राणभेद हुआ। जो काल या अवस्था-भेद से १२ प्राणभेद हैं उन्हीं के कारण प्रसिद्ध बारह महीनों के बारह आदित्य बने हैं।

"कतमे आदित्या इति ? द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य एते आदित्याः ।"

—बृहदारण्यक उप० ३.E.X

"आदित्य कौन-से हैं ? संवत्सर के वारह महीने ही बारह आदित्य हैं।"

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक महीने में सूर्य भिन्न-भिन्न प्रकार का प्राण देता हुआ भिन्न-भिन्न आदित्य कहलाता है। प्रत्येक महीने में आदित्य की किरणें हम पर अपना जरा-जरा भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती हुई पड़ रही हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार इस पुस्तक में प्रत्येक महीने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का एक-एक प्राणबर्धक व्यायाम बतलाया गया है।

,5

८. बारह अंगों के लिए बारह प्रकार का प्राणदायक व्यायाम

यह तो कहा ही जा चुका है कि सूर्य प्राण-भण्डार है। सूर्य का पृथिवी के प्रत्येक जीव के प्राणमय शरीर पर सीधा प्रभाव पड़ता है, और सूक्ष्मदर्शी योगियों के कथनानुसार सूर्यप्राण के इन उपर्युक्त बारह विभागों का, इन बारह आदित्यों का, मनुष्य के निम्नलिखित बारह अङ्गों पर विशेष प्रभाव पड़ता है, अथवा यूँ कहना चाहिए कि सूर्य-शरीर के इन बारह अङ्गों का मनुष्य के निम्न अङ्गों से सम्बन्ध है, आकर्षण है, मेल है, एकता है—

आदित्य	राशि	महीना	अंग
पहला आदित्य	मीन	चैत्र	सिर और मुख
दूसरा "	मेष	वैशाख	गर्दन और गला
तीसरा "	वृष	ज्येष्ठ	भुजायें, कन्धे, फेफड़े
चौथा "	मिथुन	आषाढ़	छाती और आमाशय
पाँचवाँ "	कर्क	श्रावण	हृदय, पीठ और रीढ़
छठा "	सिंह	भाद्रपद	अन्तड़ियाँ और पेट
सातवाँ "	कन्या	आदिवन	गुर्दे और कटि
आठवाँ ,,	तुला	कार्त्तिक	उत्पादक अंग
नवाँ "	वृश्चिक	मार्गशीर्ष	कूल्हे और जांघें
दसवाँ "	धनु	पौष	घुटने, टाँगें
ग्यारहवाँ "	मकर	माघ	गिट्टे (Shin)
बारहवाँ "	कुंभ	फाल्गुन	पैर और अँगूठे

इसी प्राकृतिक अनुकूलता को लेकर योगियों ने इन अंगों के प्राणायाम (प्राणदायक व्यायाम) निकाले हैं जिन्हें कि इन महीनों में करने से विशेष लाभ होता है। पर यहाँ भी कोई इस अन्धविश्वास में न पड़े कि चैत्र में लिखे व्यायाम केवल चैत्र मास में ही करने चाहिए। एक तो संक्रान्ति के मान में कुछ दिनों का हेर-फेर सम्भावित है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पहला आदित्य बिल्कुल ठीक-ठीक चैत्र मास में ही पूरा-पूरा पड़ता है। पर यह तो निश्चित बात है कि मास की अपेक्षा शरीर के अंगों के साथ इन व्यायामों का अधिक सम्बन्ध है। अर्थात्

जिसे शिर के विशेष आरोग्य पाने की आवश्यकता है वह इस चैत्र मास में लिखे शिर के व्यायाम को बारहों महीने करे तो अच्छा है। बल्कि उसे तो चैत्र-व्यायाम के अन्त में उल्लिखित शिर के तीनों गौण व्यायामों को भी बारहों महीने करना चाहिए। इसी प्रयोजन के लिए उस अंग के लिए तीन-तीन गौण व्यायाम भी प्रत्येक महीने के व्यायाम के अन्त में दिखला दिए गए हैं। पर फिर भी यह सत्य है कि मनुष्य को अपने शिर पर इस व्यायाम से चैत्र मास में बहुत अधिक लाभ मिलेगा, क्योंकि चैत्र मास के आदित्य का (इस महीने में आनेवाले सूर्यप्राण का) मनुष्य के प्राणमय शरीर के उस भाग पर सीधा प्रभाव पड़ता है जो कि स्थूल शरीर में शिर और मुख से सम्बन्धित है। इसी तरह प्रत्येक मास के प्राणायाम के विषय में समझ लीजिये।

ह. प्राणायामों (न्यायामों) की विधि

देखने में ये प्राणायाम, ये प्राणदायक व्यायाम बहुत सादा लगेंगे। पर यदि ये विधि के साथ किए जायें तो इनका प्रभाव बहुत अधिक है। कोई इनकी सादगी के कारण इनको तुच्छ न समझे।

इन प्राणदायक व्यायामों का सब रहस्य, सब महत्त्व निम्न तीन बातों में है। यदि इन तीन बातों पर ध्यान रखा जायगा तो ये मामूली दिखाई देनेवाले व्यायाम अत्यन्त गुणदायक और बड़ी अद्भुत साबित होंगे---

१. प्रत्येक व्यायाम में यथास्थान मांसपेशियों का तानना और ढीला छोड़ना।

२. प्रत्येक व्यायाम में ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास लेना व रोकना तथा ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास को बाहिर निकालना।

३. प्रत्येक व्यायाम मानसिक ध्यानपूर्वक करना, मन को निर्दिष्ट प्रकार से यथास्थान लगाना।

इन तीनों बातों के विषय में पाठकों को कुछ अधिक जान लेना चाहिए, इसलिये इन तीनों विषयों पर ऋमशः कुछ पंक्तियाँ लिखता हूँ—

- १. जो व्यायाम मांसपेशियों को खीं वने द्वारा इन्हें तानकर किया जाता है, ऐसे कुछ मिनटों के व्यायाम ही ढीली मांसपेशियों के साथ किये गए आध घंटे के व्यायाम से भी बहुत अधिक गुणकारी होते हैं। व्यायाम-कला के अच्छे ज्ञाता लोग बहुत बार बिना शरीर को हिलाये-डुलाये बैठे-बैठे ही, केवल मांसपेशियों को तानने-खींचने और फिर ढीला छोड़ने द्वारा, सब व्यायाम कुछ मिनटों में कर लिया करते हैं। बात यह है कि जब हम मांसपेशियाँ तानते हैं तो इस द्वारा अपनी नसों के असंख्यात घटक अणुओं को समाकृष्ट करते हैं और इनके मलों को वाहिर निकाल फेंकते हैं और इस तरह उस अंग में निर्वाध प्राणसंचरण कर लेते हैं। जिस व्यायाम-पद्धित में केवल अंगों का बढ़ाना होता है, मलों का निकालना नहीं होता, तो उससे अंगों का स्थूल अंश बेशक बढ़ जाता है पर उनमें बल, प्राण, जीवनीशक्ति नहीं होती; उनमें प्राण व रिधर का संचरण रुकने से रोगोत्पत्ति जुरूर होती है।
- २. ये व्यायाम सदा शुद्ध-से-शुद्ध वायु में करने चाहिएँ। सूर्य द्वारा आनेवाला प्राण हमारे शरीरों को वायु द्वारा ही सबसे अधिक मिलता है, अतः ठीक प्रकार से क्वास लेने में ही

प्राण की प्राप्ति हो जाती है। हमें गहरा, दीर्घ, पूर्ण क्वास लेना चाहिए। यदि क्वास दीर्घ और गहरा होगा तो वह पेट तक पहुँचता अनुभव होगा और उससे पहले पेट फूलेगा, पीछे छाती तनेगी; बाहिर निकालते समय पहले छाती खाली होगी और अन्त में पेट पिचकेगा। ऐसे गम्भीर क्वास का लेना दृढ़तापूर्वक और काबू के साथ होना चाहिए तथा क्वास का छोड़ना एकरस और आसानी से होना चाहिए। इस प्रकार के पूर्ण श्वास लेने का, ठीक तरह श्वास-प्रश्वास करने का, अभ्यास करना चाहिए। शरीर में बल और आरोग्य बढ़ानेवाली यह ठीक प्रकार की श्वसन-क्रिया ही है; व्यायाम अर्थात् अंगों का हिलाना-डुलाना उतना नहीं है। मांस-पेशियाँ बनानेवाले लोग शरीर की प्राणशक्ति और नीरोगता पर ध्यान नहीं देते। असल में तो प्राण की जीवनी शक्ति (नीरोगता और कार्यक्षमता) ही पहली वस्तु है; शरीर की दृढ़ता और सुडौलता आदि सर्वथा गौण हैं। इसलिए प्रतिमास के उन भिन्न-भिन्न व्यायामों को भी कोई बेशक न करे, किन्तु ठीक प्रकार से दीर्घ श्वास-प्रश्वास दिन में ५-७ बार कर लें तो यह पर्याप्त है। हमें ठीक प्रकार के प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को शुद्ध और बलवान् (प्राण-पूर्ण) बनाना चाहिए। जब हम श्वास अन्दर लेवें तो हमारे शरीर का एक-एक अणु प्राण से उज्जीवित और परिपूर्ण हो जाय, तथा जब हम स्वास बाहिर छोड़ें तो हमारे अंगों के मल बाहिर निकलें और नवीन प्राण के लिए शरीर शुद्ध हो जाय। व्यायाम करते हुए जब हम कोई ऊपर की तरफ चेष्टा कर रहे हों तो इवास का अन्दर लेना तथा जब अपने अंग को नीचे की तरफ ले जा रहे हों तो क्वास को बाहिर निकालना चाहिए; ऐसा करने से बल-प्राप्ति और शुद्धि की किया में बड़ी सहायता और अनुकूलता मिलती है। अतः व्यायामों में श्वास लेने और छोड़ने का यही सामान्य नियम है।

३. पर 'मन' प्राण से भी ऊँची वस्तु है। हम जो कुछ बने हुए हैं वह अपने विचारों के ही परिणामरूप हैं। यदि हमारी मनःशवित जागृत हो, तब तो हम व्यायाम का सब काम मन द्वारा ही कर सकते हैं; और इसके विपरीत यदि मनःशिवत न लगायी जाय तो घंटा-भर भी किया व्यायाम व्यथं है। इसीलिये इन मासिक व्यायामों के साथ कुछ महीनों तक ध्यान व संकल्प भी अच्छे शब्दों में प्रदिश्तत कर दिए गये हैं और पाठकों को आगे भी इसी तरह संकल्प व ध्यान स्वयं अपने शब्दों में बना लेने चाहिएँ और इन संकल्पों के साथ मनोयोगपूर्वक ये व्यायाम करने चाहिएँ। पाठकों को धीरे-धीरे अनुभव होगा कि ध्यानों का कितना प्रभाव है। यदि बीमारी आदि के कारण इन प्राण-व्यायामों का करना कभी सम्भव न हो, तो भी इन ध्यानों को नहीं छोड़ना चाहिए; केवल इन ध्यानों-संकल्पों ही से बड़ा लाभ होगा। याद रिखये कि आखिरकार हमारे शरीर का एक-एक अंग और कुछ नहीं है, यह भौतिकरूप में दृढ़ हुआ। मनस्तत्त्व ही है। अतः यदि हम में मनःशक्ति प्रबल हो तो हम शरीर में जो चाहें वही परिवर्तन कर सकते हैं। अथवंवेद के बहुत-से सूक्त संकल्प-शक्ति द्वारा रोगों को निर्मूल करने के लिए ही हैं। वेद से वास्तिवक लाभ तो हम तभी उठा सकते हैं जबिक हमने अपने मन को जागृत और बलरूप बना लिया हो। अस्तु।

यह फिर दोहराने की आवश्यकता है कि मुख्य वस्तु स्वास्थ्य है, प्राणशक्तिपूर्ण स्वास्थ्य है। हमारा शरीर पुष्ट हो रहा है या नहीं, इसकी अपेक्षा हमें इस पर बहुत ध्यान देने की

वैदिक विनय

अंविश्यकता है कि हमारे शरीर की पुष्टि कैसे (किस प्रकार के) अणुओं से हो रही है। यदि हमारा रुधिर अशुद्ध होगा तो उससे बने अंग भी मिलन होंगे। और यह स्वास्थ्य भी दान-आदान (हवन) के सिद्धान्त पर अशुद्ध अणुओं के छोड़ने तथा नये शुद्ध अणुओं के लेने के सिद्धान्त पर आश्रित है। पर ये अणु किस प्रकार के आकृष्ट होंगे, यह सबसे पहले हमारे विचारों पर (मन पर) निर्भर है और फिर इस बात पर निर्भर है कि हमारे अंग ठीक प्राणाभ्यासों द्वारा अभीष्ट अणुओं के खींचने के अभ्यासी हो गये हैं या नहीं। अतः हमें अपने विचारों को बहुत प्रबल, उत्साहमय और शुद्ध बनाना चाहिए, मन को आज्ञा देने वाला बनाना चाहिए और प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को संसारव्यापक महाप्राण से एकस्वर (In tune) रखना चाहिए। अपनी मनः-शक्ति से प्राणायामों (ठीक प्रकार स्वसन के अभ्यास) के साधन द्वारा शरीर को शुद्ध और नित्य नव प्राणान्वित करना यही वास्तव में सच्ची शरीर-साधना (Physical Culture) है। इस ही प्रयोजन के लिए ये व्यायाम हैं।

ये व्यायाम प्राणाभ्यासपूर्वक मनोयोग के साथ प्रतिदिन दो बार कर लेने चाहिएँ— प्रातः उठते ही, यदि शौच व लघुशंका का वेग हो तो उससे निवृत्त होकर, तथा रात्रि में सोने से पूर्व (यदि उस समय पेट भारी हो जो कि होना नहीं चाहिए, तो सायं भोजन से पूर्व) करने चाहिएँ। व्यायाम शुरू करने से पूर्व ५-७ बार उपरिनिर्दिष्ट पूर्ण क्वास-प्रक्वास कर लेना चाहिए, और अपने मन को स्वास्थ्य, शक्ति, पवित्रता आदि भावों से भरकर पूरे मनोयोग के साथ इन अभ्यासों को करना चाहिए।

११. धन्यवाद

अन्त में मैं अपने मित्र पं० देवनाथ जी विद्याल द्वार को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने कि न केवल छपाने के लिए बड़ी समझदारी और बड़े यत्न से इस पुस्तक की एक दूसरी ठीक-ठीक प्रतिलिप कर देने की कृपा की है, किन्तु इसके छपाने के सम्पूर्ण अतिकठिन कार्य-भार को ही अपने स्वाभाविक बिल्कुल अनन्यभाव से सम्पन्न किया है।

इस पुस्तक के स्वाध्याय से लाभ उठानेवाले सज्जनों को वर्त्तमान वेदभाष्यकारों में से पं० श्री पा० दा० सातवलेकर जी तथा श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार को भी हृदय से धन्यवाद देना चाहिए, क्योंकि मन्त्रों के चुनाव में तथा अर्थों के निश्चय करने में मुझे उक्त दोनों महानुभावों के भाष्यों से बड़ी सहायता मिली है।

गुरुकुल कांगड़ी १ माघ १९८९

स्वाध्यायशील जनों का सेवक 'अभय'

के लिए भी एस असे की मजरी अवता पावते हैं। वे चीम हमें में वी वाट स्वीत जगहा और

अरह के पांचाओं के हुए बार्ग क्राना कार्य करोह को सपार्थ अनुस्थ कर नियम करते हैं।

मित्र कि राज्य के एक विसन्त ऋतुं कुल कर रोग क्षेत्रिक के लिए

इंडकोकी क्षेत्र पहलकी (केवि, क्षेत्रों, करती अर्ताद कर्या) द्वारा अरोर की ज्यांत करते

करण हो। विकास की छात्री के गायत्री छन्द काम विवास हो।

वसन्त की ऋतुचर्या

लक्षण साधारणतः चैत्र और वैशाख मास की ऋतु वसन्त ऋतु मानी जाती है। कई फाल्गुन और चैत्र मास की ऋतु को वसन्त ऋतु कहते हैं। पूरे जाड़े (शीत) की ऋतु से पूरी गर्मी की ऋतु में पहुँचने में मध्य में दो ऋतुएँ पड़ती हैं। इनमें से एक जाड़े को समाप्त करनेवाली है, और दूसरी गर्मी का प्रारम्भ करनेवाली है। यह दूसरी ऋतु वसन्त ऋतु है। इस ऋतु में गर्मी प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु अपने पूर्ण रूप में नहीं आती।

महिमा—वसन्त ऋतु में नये जीवन का प्रारम्भ होता है। शिशिर ऋतु की रूक्षता से शीणं हुई वनस्पितयां फिर नये अंकुरों, नये पत्तों, नये पुष्पों से नया जीवन प्रारम्भ करंती हैं। शिशिर में सब वृक्ष-वनस्पितयों की रूक्षता के कारण जब पुराने पत्ते झड़ चुकते हैं तब उनके नये पत्ते, फूल, अंकुर आदि वसन्त ऋतु में फूटते हैं। इस ऋतु में वनस्पितयों तथा स्थावर, अस्थावर जगत् का नवीन जीवन शुरू होता है। हमें भी अपना नवीन जीवन इस ऋतु में शुरू करना चाहिए। इसिलये वसन्त ऋतु ही सबसे पहली ऋतु समझी जाती है और 'ऋतुराज' कहलाती है। श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है—"ऋतूनां कुसुमाकरः—" अर्थात् सब ऋतुओं में से सबसे अधिक दिव्यता, सबसे अधिक परमात्मा के वैभव का प्रकाश इस ऋतु में ही होता है। इस ऋतु में जैसा जीवन प्रारम्भ किया जायगा, उसका असर शेष सारे वर्ष पर पड़ेगा। इस ऋतु में हमें खूब अच्छी तरह से—सावधानी से—अपना खान-पान, व्यवहार-विचार आदि पवित्र और सुन्दर बनाने चाहिए।

योगसाधन करनेवाले वसन्त में (या शरद् में) ही अपना साधन प्रारम्भ करते हैं। प्राणायाम के नये अभ्यास का प्रारम्भ भी वसन्त या शरद् में किया जाता है। अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से नाना रोग होने की सम्भावना होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास छोड़ देना चाहिए। प्राणायाम को वसन्त या शरद् में प्रारम्भ करके जारी तो हमेशा रखना चाहिए, परन्तु जो पुरुष प्राणायाम पहले से न करता हो उसे प्राणायाम का या प्राण-सम्बन्धी किसी भी किया का प्रारम्भ वसन्त या शरद् में ही करना चाहिए। इसका कारण यह है कि प्राण की कियाओं का सम्बन्ध वात से है। अतः इसे यदि हम कफ और पित्त की अधिकता के समय में प्रारम्भ करें तो किसी प्रकार के वात-विकार होने का डर नहीं होता।

वैदिक विनय

हठयोगी लोग 'षट्कमें' (नेति, घोती, वस्ती आदि कमें) द्वारा शरीर की शुद्धि करने के लिए भी इस ऋतु को सबसे अच्छा मानते हैं। वे लोग वर्ष में दो बार अर्थात् वसन्त और शरद् के प्रारम्भ में इन कमों द्वारा अपने शरीर की सफाई अवश्य कर लिया करते हैं।

इस ऋतु में जहाँ नये पत्ते-अंकुर आदि फूटते हैं वहाँ शरीर के दोष-मल (Foreign matter) भी फूटता है, इसलिये यदि इस ऋतु का हम ठीक उपयोग उठाएँ तो हम अपने शरीर को दोषों से रहित और निर्मल एवं पवित्र कर सकते हैं।

गुण--यह ऋतु पदार्थों में मधुरता उत्पन्न करनेवाली, स्निग्ध और कफ की वृद्धि करने-वाली है। जाड़ों (शीत) में संचित कफ इस ऋतु में प्रकुपित होता है।

पथ्यापथ्य — वसन्त ऋतु में कफ प्रकुपित होता है, इसलिये कफ को दूर करने के सब उपाय इस ऋतु में करने चाहिएँ। शिशिर में स्निग्ध तथा शीत पदार्थों के सेवन के कारण शरीर में जो श्लेष्मा (कफ) संचित हुई होती है वह वसन्त में सहसा गर्मी के पड़ने से प्रकुपित हो जाती है और कफजन्य रोग यथा जुकाम, खाँसी, गले की खराबी, अरुचि, भूख न लगना, भारीपन आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इस ऋतु के प्रारम्भ में ही श्लेष्मा के क्षय के लिए यत्न करना चाहिए। कोई अच्छे प्रकार का अपनी प्रकृति के अनुसार उचित ढंग से एक बार वमन कर लेना चाहिए। वमन कर लेने से आमाशय की श्लेष्मा क्षीण होती है। इसी प्रकार गले की कफनाशक गरारों द्वारा, आँखों की कफनाशक अंजनों द्वारा तथा नासिका की कफनाशक नस्यों द्वारा एवं आँतों की हल्के विरेचन द्वारा कफ दूर कर लेनी चाहिए।

इस ऋतु में हल्के, रूक्ष, तीक्ष्ण, गरम पदार्थ खाने हितकर हैं; गेहूँ, मूँग, चित्रक, शहद, सोंठ, अदरक आदि का सेवन अत्यन्त लाभकर है।

इंसके विरुद्ध इस ऋतु में कफवर्धक वस्तुएँ नहीं खानी चाहिएँ, अर्थात् खट्टे, भारी, मीठे, चिकने तथा शीतवीर्य भोजन तथा दही-भल्ले-पकवान आदि गरिष्ठ भोजन कफवर्धक होने से खाने उचित नहीं हैं।

इन दिनों कभी-कभी उपवास कर लेना लाभदायक होगा।

व्यायाम द्वारा भी क्लेष्मा दूर कर देनी चाहिए। इस ऋतु में भ्रमण करना बहुत अच्छा समझा जाता है—'वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्।'

दिन में सोना कफवर्धक होने से वर्जनीय है।

उक्त कहावत के अनुसार चैत्र में गुड़ खाना और वैशाख में तैल खाना या तैल-मर्दन निषद्ध है।

चैत्र मास (मीन)

प्राणदायक व्यायाम

सिर को नीरोगता और स्वास्थ्य देनेवाला

एड़ियाँ मिलाकर, पंजों को एड़ियों से ३०-३५ अंश के कोण पर रखकर सीधे खड़े होइये। खड़े होकर अपनी दोनों भुजाओं को दायें-बायें पूरा खोलकर फैला दीजिए, ऐसी सीधी फैलाइये कि ये कन्धों के साथ समतल फैली हों। हथेली ऊपर की तरफ रहे। छाती जरा-सी आगे बढ़ी हुई हो। अब हाथों की मुट्ठी इतनी जोर से किसये कि भुजाओं की सब मांसपेशियाँ (Muscles) कस जायें और साथ ही सारे शरीर की मांसपेशियाँ तन जायें। इस अवस्था में भुजाओं को धीरे-धीरे ऊपर उठाते जाइये जब तक कि ऊपर दोनों मुट्ठियाँ मिल न जायें। जब ये भुजायें ऊपर उठायी जा रही हों तब एक दीर्घश्वास अन्दर भरिये। जिस समय हाथों को नीचे ला रहे हों तब श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालिये। यह कर चुकने पर हाथों की मुट्ठी और मांसपेशियों को ढीला कर दीजिये और पूर्वस्थिति में हो जाइये। इस प्रकार व्यायाम द-१० मिनट तक बार-बार कीजिये। इस प्राणायाम के समय मन को सिर में लगाइये, मन द्वारा यह चित्रित कीजिये कि प्राणवायु मेरे मिस्तष्क में, मेरे सिर में, मेरे एक-एक घटक (Cell) में पहुँच कर उसे अनुप्राणित कर रहा है। ऐसा ध्यान करने से सिर की तरफ रिधर-संचरण (Circulation) बढ़ेगा और वास्तव में सिर में प्राण पहुँचने में सहायता करेगा।

ध्यान—यह प्राणायाम मुझे लाभ पहुँचा रहा है। रुधिर मेरे सिर में, मेरे मस्तिष्क में भली प्रकार संचरण कर रहा है। यहाँ के सब दूषित मल निकल रहे हैं और प्राणशक्ति निर्वाध—बे-रोकटोक—ऊपर पहुँच रही है। मेरा शीर्ष निर्मल है और उसका एक-एक घटक स्वास्थ्य से जीवनपूर्ण हुआ-हुआ है।

सिर के लिए गौणतया आषाढ़, आश्विन और पौष के प्राणदायक व्यायाम भी लाभ पहुँचायेंगे।

नंत मास (मीन)

जाणवायक व्यावास

termés pours via confrib és veil

प्रति । यह हो कि प्रकार के की प्रति प्रति । यह के की प्रति । यह के की प्रति । यह हो कि विश्व विभिन्न के की विश्व की प्रति । यह के कि प्रति विभिन्न की विश्व की प्रति । यह के कि विभिन्न की प्रति की कि प्रति के कि विभिन्न की प्रति की प्रति

र्थात पर अवस्था कर महा है। यहां रहा है। वहां कर विश्व महा विहें में बहितक में भूकी महार संबर्ध कर महा है। यहां कर वर्ध होंग्र सब दूर्णिय महा निक्र रहे हैं और आग प्रश्न महक्त रिक्रीय के स्टेश्न के स्टेश्न के महार है। वहां और क्षेत्र के अंद्र क्षेत्र प्रकृत प्रकृत स्टब्स रिक्रिय संजीवनाओं हमान्त्रमा है।

ि । हिराहरूप

ह तज रूवरूप। नगप हमारी बुद्धि की.

9 चेत्र

तत्सं<u>वितु</u>र्वरेण्यं भर्गी <u>दे</u>वस्यं घीमहि । घि<u>यो</u> यो नंः प्र<u>चो</u>दयात् ॥

ऋषिः गाथिनो विश्वामितः । देवता सविता । छन्दः गायत्री ।

विनय —मुझे क्या करना चाहिए क्या नहीं,—यह मैं नहीं जानता। किस समय क्या कर्त्तंव्य है क्या अकर्त्तंव्य, क्या धर्म है क्या अधर्म, यह मैं नहीं जान पाता। सुना है कि वड़े-बड़े ज्ञानी भी बहुत बार इस तरह किंकर्त्तंव्यिवमूढ़ रहते है। पर क्या इसका कोई इलाज नहीं है ? हे सवितः देव ! हमारे उत्पादक देव ! क्या तूने हमें उत्पन्न करके इस अँधेरे संसार में यों ही छोड़ दिया है ? कोई निर्भ्रान्त (निश्चित) प्रकाश हमारे लिए तुमने नहीं दिया है, यह कैसे हो सकता है ? नहीं, तुम अपने अनन्त प्रकाश के साथ सदा हमारे हो। यदि हम चाहें और यत्न करें, तो तुम हमें अपने प्रकाश से आप्लावित कर सकते हो। इसके लिए हम आज से ही यत्न करेंगे और तेरे उस 'भर्ग' (विशुद्ध तेज) को अपने में घारण करने लगेंगे जो कि वरणीय है, जिसे कि हर किसी को लेना चाहिए जिसे कि प्रत्येक मनुष्य-जन्म पानेवाले को अपने अन्दर स्वीकार करने की जरूरत है। इस तेरे वरणीय शुद्ध स्वरूप का हम जितना श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेंगे अर्थात् जितना तेरा कीर्त्तन सुनेंगे, तेरा विचार करेंगे, तेरे में मन एकाग्र करेंगे, तेरा जप करेंगे, तुझमें अपना प्रेम समर्पित करेंगे उतना ही तेरा गुद्ध स्वरूप हमारे अन्दर धारण होता जायगा। बस, यहं ऊपर से आता हुआ तुम्हारा तेज ही हमारी बुद्धि को और फिर हमारे कमों को ठीक दिशा में प्रेरित करता रहेगा। इस शुद्ध स्वरूप के साथ तुम ही मेरे हृदय में बस जाओंगे और तुम ही मेरे बुद्धि, मन आदि सहित इस शरीर के संचालक हो जाओंगे। फिर धर्म-अधर्म की उलझन कहाँ रहेगी ! तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इस शरीर की एक-एक चेष्टा में शुद्ध धर्म की ही वर्षा होगी। इसलिए हे प्रभो ! हम आज से सदा तुम्हारे शुद्ध तेज को अपने में धारण करने में लगते हैं। एक-एक मानसिक विचार के साथ, एक-एक जर्प के साथ इस तेज का अपने अन्दर आह्वान करेंगे और इस तरह प्रतिदिन इस तेज को अपने में अधिक-अधिक एकत्र करते जायेंगे। निश्चय है कि इस 'भर्ग' की प्राप्ति के साथ-साथ धर्म के निश्चय में पटु होती हुई हमारी बुद्धि एक दिन तुम्हारी सर्वज्ञता के कारण पूरी तरह बिल्कुल ठीक मार्ग पर ही चलनेवाली हो जायगी।

शब्दार्थ सिवतुः प्रेरक उत्पादक देवस्य परमात्मदेव के तत् उस वरेण्यं वरने योग्य भगः शुद्ध तेज को धीमहि हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं यः जो धारण किया हुआ तेज नः हमारी धियः बुद्धियों को, कर्मों को प्रचोदयात् सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।

रूवार्शि त्याग कर पवित्रान्तः करण के नित्य आपनी वन्दना कर

> उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषांवस्तर्धिया ब्यम् । नमो भर्रन्त एमेसि ।। —ऋ० १।१।७ ; साम० पू० १।१।४ ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामितः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय जब से हम उत्पन्न हुए हैं, दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन आता-जाता है। प्रतिदिन एक नया-नया दिन और एक नयी-नयी रात आती-जाती है। इस तरह यह अनवरत अविश्रान्त काल-चक चल रहा है। इस काल-चक्र में हम कहाँ जा रहे हैं? हें मेरे प्रभु अग्निदेव ! तुमने तो ये अहोरात्र इसलिए रचे हैं कि प्रत्येक अहोरात्र के साथ अपनी आत्मिक उन्नति का दायाँ और बायाँ पैर आगे बढ़ाते हुए हम प्रतिदिन तुम्हारे निकट-निकट पहुँचते जायें। यदि हम प्रत्येक अहोरात्र के आरम्भों में अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल के समय में अपनी बृद्धि द्वारा तुम्हारे आगे झुकते हुए, नमन करते हुए तथा कर्म द्वारा भी अपने "नमः" की भेंट तुम्हारे प्रति लाते हुए, तुम्हारे लिए स्वार्थ-त्याग करते हुए चलेंगे तो यह दिन-रात का चक्र हमें एक दिन तुम्हारे चरणों में पहुँचा देगा। इसलिए, हे अग्निरूप परमदेव ! हम आज से निश्चय करते हैं कि हम प्रत्येक अहोरात्र को (प्रात:काल और सायंकाल) अपनी बुद्धि तथा कर्म द्वारा तुम्हें नमस्कार की भेंट चढ़ाते हुए (आत्म-समर्पण व स्वार्थ-त्याग करते हुए) ही अब जीयोंने और इस तरह जहाँ प्रत्येक दिन के श्रममय काल में हमारा दायाँ पैर तुम्हारी तरफ बढ़ेगा, वहाँ प्रत्येक रात्रिकाल में हमारी उन्नति का बायाँ पैर उस उन्नति को स्थिर करता जायगा। हे प्रभो ! ये दिन-रात इसीलिए प्रतिदिन आते हैं। निश्चय ही आज से प्रत्येक अहोरात्र हमें तुम्हारे समीप लाता जायगा। आज से प्रतिदिन हम स्वार्थ-त्याग द्वारा पवित्रान्तः करण होते हुए और पवित्रान्त:करण से प्रात:-सायं तुम्हारी वन्दना करते हुए प्रतिदिन तुम्हारी तरफ आने लगे हैं, हे प्रभो ! प्रतिदिन तुम्हारे समीप आते जा रहे हैं।

शब्दार्थ अग्ने हे अग्ने ! वयं हम दिवे दिवे प्रतिदिन दोषावस्तः रात और दिन के समय धिया बुद्धि व कमं से नमो भरंतः नमस्कार की भेंट लाते हुए त्वा तेरे उप समीप एमसि आ रहे हैं।

कि क्षेत्रकार के उप किन करने कार है कि उस के प्राप्त के कार के किन कर है।

and a marked his wife allow active the gree, and all a more in the feet

बैदिक विनय

त्रिम, हमार भीतर विदिक सत्य की जान्यत कर दें इसे

त्राग्ने यं युज्ञमध्<u>वरं वि</u>श्वतः प<u>रिभूरसि ।</u> स इद् देवेषुं गच्छति ॥ —ऋ० १।१।४

ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामितः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।

उम् । विनय हम कई शुभ अभिलाषाओं से कुछ यज्ञों को प्रारम्भ करते हैं और चाहते हैं कि यज्ञ सफल हो जायँ। परन्तु हे देवों के देव अग्निदेव ! कोई भी यज्ञ तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उस यज्ञ में तुम पूरी तरह न व्याप रहे हो, चूँकि जगत् में तुम्हारे अटल-नियमों व तुम्हारी दिव्य-शक्तियों के अर्थात् देवों के द्वारा ही सब-कुछ सम्पन्न होता है। तुम्हारे बिना हमारा कोई यज्ञ कैसे सफल हो सकता है ? और जिस यज्ञ में तुम व्याप्त हो वह यज्ञ अध्वर (ध्वरा अर्थात् कुटिलता और हिंसा से रहित) तो जरूर होना चाहिए। पर जब हम यज्ञ प्रारम्भ करते हैं, कोई शुभ कर्म करते हैं, किसी संघ-संगठन में लगते हैं, परोपकार का कार्य करने लगते हैं तो मोहवश तुम्हें भूल जाते हैं। उसकी जल्दी सफलता के लिए हिंसा और कुटिलता से भी काम लेने को उतारू हो जाते हैं। तभी तुम्हारा हाथ हमारे ऊपर से उठ जाता है। ऐसा यज्ञ तुम्हारे देवों को स्वीकृत नहीं होता, उन्हें नहीं पहुँचता—सफल नहीं होता। हे प्रभो ! अब जब कभी हम निर्बलता के वश अपने यज्ञों में कुटिलता व हिंसा का प्रवेश करने लगें और तुझे भूल जाय तो हे प्रकाशक देव ! हमारे अन्तरात्मा में एक बार इस वैदिक सत्य को जगा देना; हमारा अन्तरात्मा बोल उठे कि "हे अग्ने ! जिस कुटिलता व हिंसा-रहित यज्ञ को तुम सब तरफ से घेर लेते हो, व्याप लेते हो, केवल वही यज्ञ देवों में पहुँचता है अर्थात् दिव्य फल लाता है सफल होता है।" सचमुच तुम्हें भुलाकर, तुम्हें हटाकर यदि किसी संगठन-शक्ति द्वारा कुटिलता व हिंसा के जोर पर कुछ करना चाहेंगे तो चाहे कितना घोर उद्योग करें पर हमें कभी सफलता न होगी।

शब्दार्थ — अग्ने हे परमात्मन् ! त्वं तुम यं जिस अध्वरं यज्ञं कुटिलता तथा हिंसा से रहित यज्ञ को विश्वतः परि भूः असि सब तरफ से व्याप लेते हो स इत् केवल वही यज्ञ देवेषु गच्छित विव्य फल लाता है।

प्राणी से व्यार। हमारा सदित कल्याण कररो

४ चंत्र

यद् <u>श्रं</u>ग <u>दाशुषे</u> त्वमग्नें <u>भद्रं</u> केरिष्यसि । तवेत् तत् सत्यमंगिरः ॥ —ऋ० १।१।६

ऋषिः मधुच्छन्दा । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय है प्रकाशमय देव ! यह सच है कि स्वार्थत्यागी का कल्याण ही होता है । पर दुनिया में ऐसा दिखाई नहीं देता। दुनिया में तो दीखता है कि स्वार्थमग्न लोग ही आनन्द-मौज उड़ा रहे हैं और स्वार्थत्यागी दुःख भोग रहे हैं । स्वार्थी विजय-पर-विजय पा रहे हैं, दूसरों पर जुल्म कर रहे हैं और स्वार्थत्यागी पुरुष सताये जा रहे हैं । परन्तु हे मेरे प्यारे देव ! हे मेरे जीवनसार ! आज मैं तेरी परम कृपा से सूर्य की तरह यह साफ देख रहा हूँ कि आत्म-बिलदान करनेवाले का तो सदा कल्याण ही होता है । इसमें कुछ संशय नहीं रहा; यह अटल है, बिल्कुल स्पष्ट है । दुनिया की ये प्रतिदिन की उल्टी दिखाई देने वाली घटनायें भी आज मेरी खुली आंखों के सामने से इस प्रकाशमान सत्य को छिपा नहीं सकती हैं कि आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए कल्याण-ही-कल्याण है । मैं देखता हूँ कि दुनिया में चाहे कभी सूर्य टल जाय, ऋतुएँ वदल जायँ, पृथिवी उलटी घूमने लग जाय और सब असम्भव सम्भव हो जाय, पर यह तेरा सत्य अटल है कि आत्म-विलदान करनेवाले का अकल्याण कभी नहीं हो सकता—"नहि कल्याणकृत् किश्चत् दुर्गीत तात गच्छिति" ["हे प्यारे ! कल्याण करनेवाला कभी दुर्गीत को नहीं प्राप्त होता"] —कृष्ण भगवान के गाये हुए ये सान्त्वनामय शब्द परम सच्चे हैं।

हे जीवन के जीवन ! जब मनुष्य स्वार्थ को त्यागता है, आत्म-बिलदान करता है तो उस त्याग व बिलदान द्वारा हे कल्याणस्वरूप ! वह केवल तेरे और अपने वीच की हकावट का ही त्याग करता है, निवारण करता है और तेरे कल्याणस्वरूप को पाता है। भला, आत्म-बिलदान में अकल्याण की गुंजाइश हो कहाँ है ? सचमुच, स्वार्थशून्य पवित्र पुरुषों पर आये हुए कृष्ट, दु:ख, आपत् सब क्षणिक होते हैं। उनके सम्बन्ध में जो अक्षणिक है, सत्य है, अटल है, वह

तौ उनका कल्याण है।

शब्दार्थं—अंग हे प्यारे ! अंगिरः मेरे जीवनसार अग्ने प्रकाशक देव ! यत् त्वं जो तूँ दाशुंषे आत्म-बलिदान करनेवाले का भद्रं कल्याण करिष्यसि करता है तत् वह तव तेरा सत्यं इत् सच्चा, न टलनेवाला नियम है।

वैदिक विनय

हम भावीय वालकों की सदा रहा करें

५ चंत

स नः <u>पि</u>तेवं सूनवेऽग्ने सूपायनो सव । सर्चस्वा नः स्वस्तये ॥ —ऋ० १।१।६

ऋषिः मधुच्छन्दा । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय—संसार में हमारा जिन द्वारा जन्म होता है उन्हें हम पिता कहते हैं; और भी जो वृद्ध पुरुष, गुरु आदि होते हैं वे भी हमारा उत्कृष्ट पालन करनेवाले होने से पिता कहलाते हैं। परन्तु हे प्रभो अग्ने! हम सभी को कभी-न-कभी अनुभव हो जाता है कि हमारे असली पालक पिता तो तुम्हीं एकमात्र हो। एक समय आता है जब कि सांसारिक पिता भी वैसे ही रोते खड़े रह जाते हैं और हमारी पालना, रक्षा नहीं कर सकते। सचमुच संसार के हम सब वासी—सांसारिक पिता व पुत्र सब-के-सब—तेरे एक-समान पुत्र हैं। हे हम सबके पिता! है परम पिता! जब हम सब तेरे पुत्र हैं तो हमारी तेरे तक हमेशा पहुँच क्यों नहीं होती है? पुत्र का तो यह अधिकार है कि वह जब चाहे पिता के पास पहुँच सके। जब इस संसार में और कोई हमारी रक्षा कर सकनेवाला है ही नहीं, हमारा दुखड़ा सुन सकनेवाला है ही नहीं, तो हे पिता! हम और कहाँ जायें? तू तो हमारे लिए 'सु उपायन' रह, सुगमता से पहुँच सकनेवाला हो। हे एक-मात्र पिता! हम जिस समय चाहें, जिस जगह चाहें तुझे मिल सकें—अपना दुःख सुना सकें—अपनी बाल-कामनायें पूरी करा सकें। हम बच्चों की तुमसे यही प्रार्थना है, यही याचना है।

और हमारा कल्याण किसमें है, यह भी हम अबोध बालक क्या जानें ! जो हमें अकल्याण दिखाई देता है वही पीछे पता लगता है कि वह कल्याण था। हे पिता ! तुम्हीं जानते हो कि हम बच्चों का कल्याण किसमें है। बस, तुम्हीं हमारी स्वस्ति के लिए, कल्याण के लिए हमें—अपने बच्चों को—सेवित करो, पालो-पोसो। हम तुम्हारे बच्चे हैं ! हम तुम्हारे बच्चे हैं !

मिसियः दिवसंत्रपत्र होते हुए वर्त यसात् (भा भवाम) हम यज को छोड़कर मत चर्ने । हारामध सहायभाव ये. अन्ते. साहबुद्ध हमारे अन्तर व छहरे ।

शासायं कृत में प्रशेष्ट्य ! वर्ष प्रथ पत्री या प्रणाम सम्मार्ग को शोषक यस गर्भ

शब्दार्थ अग्ने हे प्रभो अग्ने ! सः वह तुम पिता सूनवे इव पिता की तरह मुझ पुत्र के लिए सु उपायनः सुगमता से पहुँचने योग्य भव होओ और स्वस्तये कल्याण के लिए तः हमें सचस्व सेवित करो।

वैदिक विनय

SKISIES OFFE ISIN

हिमारा जीवन यउम्य हो

६ चैत

मा प्रगाम प्रयो व्यं मा युक्कादिन्द्र सोमिनेः ।

मान्तः स्थुन्ते अरातयः ॥ —ऋ० १०।४७।१; अथर्व० १३।१।४६
ऋषिः बन्धु-सुबन्धु । देवता विश्वे देवाः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे इन्द्रं, परमैश्वर्यवान् ! हम तुमसे ऐश्वर्यं नहीं माँगते हैं। हमारी तुमसे याचना तो यह है कि हम सदा सन्मार्ग पर चलते जायें, इसको कभी न छोड़ें। सन्मार्ग पर चलते हुए हमें जो कुछ ऐश्वर्य मिलेगा वही सच्चा ऐश्वर्य होगा। जिस किसी तरह मिला हुआ 'ऐश्वर्य' ऐश्वर्य नहीं होता—उसमें ईश्वरत्व नहीं होता—सामर्थ्य नहीं होता। सन्मार्ग से जो कुछ ऐश्वर्य मुझे मिलेगा, उस ऐश्वर्य को तुझसे पाकर हे इन्द्र! मेरी प्रार्थना है कि मैं यज्ञ से कभी विचलित व होऊँ। यज्ञ करता हुआ—उपकार करता हुआ ही मैं उस तेरे दिये ऐश्वर्य को भोगूँ। जो कुछ तुम्हारे द्वारा (तुम्हारे देवों द्वारा) मुझे मिला है, उसे तुम्हें (देवों को) बिना दिये भोगना चोरी' है। ऐसा पाप स्वार्थवश हम कभी न करें। यज्ञ को, आत्मत्याग को, परार्थ में आत्म-विसर्जन को कभी न छोड़ें।

हमारी तुमसे यह प्रार्थना नहीं है कि तुम हमारे शवुओं का नाश कर दो। हमारी याचना तो यह है कि हमारे अपने अन्दर 'अराति'' न ठहरें। हमारे अन्दर अराति न हों तो बाहर हमारा अराति कोई कैसे हो सकता है! अराति अर्थात् अदानभाव हमारे अन्दर क्षण-भर को न ठहरे, क्षण-भर के लिए न आये। अदानभाव होते हुए यज्ञ असम्भव है। अतः हमारा एक-मात्र शत्रु अदानभाव हो है। यह अन्दर का शत्रु ही हमारा शत्रु है। हे प्रभो! इससे हमारी रक्षा करो। फिर बाहर के किसी शत्र की हमें परवाह नहीं।

शास्त्रार्थ इन्द्र है परमेश्वर ! वर्ष हम पर्थो मा प्रगाम सन्मार्ग को छोड़कर मत चलें सोमिनः ऐश्वर्ययुक्त होते हुए वयं यज्ञात् [मा प्रगाम] हम यज्ञ को छोड़कर मत चलें। अरात्यः अदानभाव नः अन्तः मा स्थुः हमारे अन्दर न ठहरें।

[&]quot;१. देखो गीता ३.१२।

अराति का अर्थ शत्रु प्रसिद्ध है; इसका शब्दार्थ 'दान न देना' है।

काराणास्पात । देवा की ज्वाला वकारे

७ चैव

प्राप्त<u>ये वार्चमीरय वृष्</u>भायं क्<u>षितीनाम् ।</u> सन्दः पर्षद् ग्र<u>ति द्विषः ॥ —</u>ऋ० १०।१८७।१ ; अथवं० ६।३४।१

ऋषिः वत्सः आग्नेयः । देवता अग्निः । छन्दः निचृष् गायत्री ।

विनय-हें मनुष्य ! क्या तू अब ,चाहता है कि तू द्वेष से पार हो जाय ? क्या तू अपने मनुष्य भाइयों से द्वेष कर-करके, और बदले में उनके द्वेष को पा-पाकर अब तंग आ चुका है ? तूने अपने सुख में बाधक समझ न जाने कितनों से द्वेष किया है, पर जितना ही तूने उनसे द्वेष किया है - वैर का बदला वैर से दिया है क्या उतना ही वह द्वेष बढ़ता नहीं गया है ? ओह ! इस बदले की, प्रतिद्वेष की प्रक्रिया से द्वेष इतना बढ़ता गया है कि तू आज अपने ही बनाये एक द्वेष-सागर में घिर गया है। यदि तू अब पूरा व्याकुल हो चुका है और चाहता है इस द्वेष-चक से पार हो जाय तो तू उठ और जगत् में व्यापक अपने उस अग्निदेव तक अपनी वाणी को पहुँचा, जो कि सब मनुष्यों की कामनाओं को पूरा करनेवाला है। अरे, वह तो 'वृषभ' है, हम पर करणा करके अभीष्टों को बरसा रहा है। केवल उस तक अपनी आवाज पहुँचानें की देर है कि वह तेरी कामना पूरी कर देगा। यदि यह तेरी इच्छा हार्दिक है तो निश्चय से तेरी प्रार्थना, तेरी पुकार, वेग से, प्रकृष्टता से वहाँ पहुँचेगी। यदि वाणी की प्रकृष्टता से प्रेरित करने का हममें सामर्थ्य हो तो प्रार्थना की वाणी उस अग्निदेव को पहुँचकर उससे क्या नहीं करा सकती, किस कामना की पूर्ति नहीं करा सकती ! पर हमारी कामना को पूरी करने की सामर्थ्य उसी में है - केवल उसी में है। वही हमें द्वेष-सागर से पार करेगा। इसलिये तू अपने सुंख में बाधक समझकर अब किसी से द्वेष न कर, किन्तु सुख के बरसानेवाले उस प्रभु से प्रार्थना कर और फिर देख कि द्वेष कहाँ है। प्रार्थना द्वारा उस प्रभु के सम्मुख पहुँचते ही सब द्वेष समाप्त हो जायगा।

शब्दार्थ शितीनां मनुष्यों के वृषभाय अभीष्टों को बरसानेवाले अग्नये अग्नि प्रभु के लिए वाचम् अपनी वाणी को प्र ईर्य प्रकृष्टता से प्रेरित कर । स वह नः हमें दिषः देषों से अति पर्षत् पार लगायेगा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

postage was a not avenue with the givens been such inter-

डमार अन्याकाता स साम रायावर वर्ष (या)

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द चैत्र सोम <u>गी</u>र्भिष्ट्वा <u>वयं वर्</u>द्यामो व<u>चो</u>विदेः । सुमूळीको न ब्राविशः॥ व्यक्तिः ११९१११

ऋषिः रहुगणपुत्रो गोतमः । देवता सोमः । छन्दः निचृद् गायत्री ।

विनय-हे प्रशान्तस्वरूप सोमदेव ! तुम सब जगत् के सार हो, जीवन-रस हो, तो भी प्रकृति के विषयों में फैंसा हुआ मनूष्य-संसार तुम्हें नहीं जानता; तुम कुछ हो यह कभी अनुभव नहीं करता। इसलिये हम लोग जिन्होंने तुम्हारी दया से तुम्हारी थोड़ी-बहुत अनुभूति का सुख पाया है, अपना यही कार्य समझते हैं कि पागलों की तरह सब जगह तुम्हारे गुण गाते फिरें— गाते फिरा करें। तुम्हारी भिवत ने ही हमें "वचोविद्" भी बना दिया है—तुम्हारी भिवत से हम वाणी की शक्ति को, रहस्य को जान गये हैं और इस शक्ति का प्रयोग करना भी जान गये हैं, अतः अपनी वाणियों से हम सदा तुम्हारा कीर्त्तन करते हैं, तुम्हारा यश गाते हैं, तुम्हारे स्वरूप का वर्णन करते हैं। जहाँ विषयग्रस्त मानवी हृदयों ने तुम्हें निकाल रखा है या जहाँ प्रकृतिवाद ने तुम्हारे लिए जगह नहीं रखी है, वहाँ भी तुम्हारा नाम फैलातें हैं, तुम्हें पहुँचाते हैं। मानो तुम्हारे सैनिक वनकर सांसारिक दृष्टि से तुम्हारा राज्य बढाने का यत्न करते हैं। पर, हे देव ! तुम इतना करो कि हमारे अन्दर सात्त्विक सूख के दाता होते हुए सदा प्रविष्ट रहो, वस हम यही चाहते हैं। हम तुच्छ लोग तुझे कहाँ से बढ़ा सकते हैं! हम तुझे फैलाते हैं, तुम्हारा राज्य फैलाते हैं यह कहना कितनी धृष्टता का वचन है ! हे सर्वशक्तिमान् ! हे अनन्त अपार ! असल में तुम ही हमारे अन्दर जितना प्रविष्ट होते हो उतना ही हममें वह तुम्हारा अवर्णनीय सात्त्विक सुख अनुभूत होता है और उस आनन्द में मस्त होकर हम तम्हारे गुण गाते फिरते हैं। बल्कि तब हमारे एक-एक अङ्ग से, हमारी एक-एक हरकत से, तुम्हारा प्रकाश होता है। अतः हमारी प्रार्थना तो यही है कि तुम हमारे अन्दर प्रविष्ट होओ, तुम हमारे में आविष्ट होओ। जितनी मात्रा में तुम हमारे में प्रविष्ट होगे, उतनी ही मात्रा में हमारे द्वारा जगत् में तुम्हारा प्रचार व प्रकाश होगा। हे प्रभो ! इस सात्त्विक सुख से हमें अनुप्राणित करते हुए हममें आविष्ट होओ।

शब्दार्थ सोमं हे सोमदेव ! वयं वचोविदः वाणी के वेत्ता हम लोग त्वा तुझे गीभिः वपनी वाणियों द्वारा वर्द्धयामः वढ़ाते हैं। सुमृळीकः अच्छे सुख देनेवाले होते हुए तुम नः आविश हममें प्रविष्ट होओ।

:48

परमेश्वर्वातार्मी Ar Teal Rundarth Chertal Ar e प्राचा रायम् अव

६ चेत

तुंजे तुंजे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वृज्जिणीः ।

न विन्धे ग्रस्य सुष्टुतिम् ॥ —ऋ० १।७।७ ; अथर्व० २०।७०।१३
ऋषिः मधुच्छन्दा। देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय—भगवान ने मुझ पर कितनी कृपा की है, इसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। जब जिस वस्तु की आवश्यकता मेरे कल्याण के लिए हुई तभी वह वस्तु कहीं से आ मिली। वह कल्याण-स्वरूपिणी माता पुत्र की एक-एक जरूरत को पूरी तरह जानती हुई चिन्ता-पूर्वक देती जाती है। ओह, उसकी करुणा अपार है। भगवान के इस जगत में रहनेवाले बहुत से मनुष्य न जाने क्यों सन्तोष का परित्याग किए रहते हैं और घबराते हैं। वे या तो प्रत्येक प्राणी को दी गई भगवान की स्वाभाविक देन का मूल्य नहीं समझते या वे अकृतज्ञ हैं। पहली बात ही ठीक समझी जा सकती है। पर मैं तो यही कहूँगा और बिना थके कहता जाऊँगा कि पाप से हटाने वाले उस परमैश्वयंयुक्त इन्द्र भगवान ने मुझे निहाल कर दिया है, मुझे पाप और दुःख के गंत्रं से उबारा है। एक के बाद एक ऐसा आंतरिक सुख मिलता गया है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। जब-जब उसकी ये देनें याद आती हैं तो आनन्दाश्रुओं से मैं गद्गद हो जाता हूँ भर तृष्ति नहीं होती। ओह, यह अपूर्ण वाणी हृदय के अनुभूत भाव को पूर्णतया कहाँ प्रकट कर सकती है! फिर भी मैं पूर्णता की आशा में बार-बार गाता जाता हूँ पर तृष्ति कभी पूरी नहीं होती। यह कभी अनुभव नहीं हो पाता कि उसकी दिल भरके स्तुति हो गयी। ओह, उसकी स्तुति का कौन पार पा सकता है! "अपार तेरी दया, अपार तेरी दया!"

शब्दार्थ — तुंजे तुंजे एक-एक दान पर मैं विष्ठिणः इन्द्रस्य पापवर्जक इन्द्र की ये उत्तरे स्तोमाः अधिक-अधिक स्तुति करता जाता हूँ उन सबसे भी अस्य सु स्तुति उसकी स्तुति का पार न विन्धे नहीं पाता हूँ।

विदिक्त विनंय

मन की अपार शक्ति की रोतन्य कर

१० चैत्र

त्रातं एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षांय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे ।। —ऋ०१०।५७।४

ऋषिः बन्धु-सुबन्धु । देवता विश्वे देवाः । छन्दः निचृद् गायत्री ।

विनय हे मनुष्य ! जो तू इतना निर्वल, हतोत्साह और शिथिल हो गया है, इसका कारण तेरे मन की निर्जीवता है। तेरा मन निर्जीव हो गया है, मानो तुझमें मन रहा ही नहीं है। तेरे रोग का और कोई कारण नहीं है। तू अपनी इस मन्दता को निर्वलता को दूर करने के लिए यों ही अप्राकृतिक दवायें खाता फिरता है; इनसे कुछ नहीं बनेगा। "वहम का इलाज कुक्रमान के पास भी नहीं है।" जरा वहम को छोड़कर अपने अन्दर उस जगद्व्यापक मन की धारा को प्रविद्ध होने दे जो कि सब संसार में व्यापक है और सब संसार को चला रही है प्रत्येक मनुष्य के मन को हिला रही है। उस मनोमय धारा को तू जितना अपने अन्दर ग्रहण करेगा उतना तेरा मन सजीव होता जायगा। तब तू फिर से ठीक तरह "कतु" कर्म कर सकेगा, तेरे अन्दर "दक्ष" बल आ जायगा और तुझमें एक नये जीवन का संचार हो जायगा। और जगत् को प्राण देनेवाले जो सूर्यदेव हैं उनका दर्शन करता हुआ उनसे प्राण लेता हुआ तु दीर्घ आयु तक जीवित रहेगा। यह सब मनःशक्ति के प्रवेश का चमत्कार है। अतः हमारी तो परमात्मा से यही प्रार्थना है कि तुझमें मनःशक्ति का प्रवेश हो। इसी में तेरा कल्याण है। मनःशक्ति के बिना तो अन्य भी किसी उपचार से लाभ नहीं उठाया जा सकता। अतः मन ही को जगा, मन ही को चैतन्य कर।

शब्दार्थ मनः मन का ते तुझमें पुनः फिर आ एतु प्रवेश हो जाये, जिससे कि तू अत्वे कर्म करने लगे दक्षाय तुझमें बल आ जाय जीवसे जीवन आ जाय ज्योक् च और तू चिरंजीवी होता हुआ सूर्य दृशे निरन्तर सूर्यदर्शन करता रहे।

दैदिक विनय

है परमेयवर। मुझे सर्वटा कामय जना द

११ चंत्र

इन्द्र आश्रीभ्यस्परि सर्वीभ्यो अभयं करत्।

जेता शत्रुन् विचेर्षणिः॥ -ऋ० रा४श्वरः अथर्वं० २०।५७।१०

ऋषिः शौनको गृत्समदः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृद् गायत्री ।

विनय—मैं डरता क्यों हूँ ? इस परमेश्वर की (इन्द्र की) सृष्टि में रहते हुए तो किसी भी काल में, किसी भी देश में भय का कुछ भी कारण नहीं है। क्या मैं अपने शत्रुओं से डरता हुँ ? मेरा तो इस इन्द्र की सृष्टि में कोई शत्रु नहीं होना चाहिए। मेरा कोई शत्रु है ही नहीं। हाँ, एक अर्थ में पाप करनेवाले मनुष्यों को शत्र कहा जा सकता है, क्योंकि पाप करना परमात्मा से शत्रता करना है -पाप करना ईश्वरीय शासन का विद्रोह करना है। पर ऐसे पाप करने वाले भाई से भी मुझे डरने की क्या जरूरत है ? यह ठीक है कि ऐसे पाप करनेवाले भाई तब मुझे अपना शत्रु समझ लेंगे जब कभी उनके पाप का विरोध करना मेरा कर्तव्य हो जायगा और तब वे मुझे अपना शत्रु मानकर नाना प्रकार से सताने —कष्ट देने —को भी उद्यत होंगे। पर उस पापी भाई के सताने से भी मेरा क्या बिगड़ेगा! वह तो बेचारा स्वयं परमात्मदेव का मारा हुआ है। परमात्मा तो स्वभावतः 'शत्रून् विजेता' है। उससे शत्रुता करके, अर्थात् पाप करके कौन बचा रह सकता है ? यदि यह विश्वास पक्का हो जाय कि परमात्मा 'शत्रून जेता' है तो अज्ञानी पापी पुरुषों की तरफ से आये हुए बड़े-से-वड़े सन्तापों का, घोर-से-घोर अत्याचारों का भी भय हट जाय। ऐसा विचार थोड़ी देर के लिए आने पर ही एकदम निभयता हो जाती है। और फिर उसे सचमुच 'विचर्षणि' समझ लेने पर तो कोई भय रहता ही नहीं। देखो, वह "विचर्षणि" परमेश्वर सब प्राणियों के सब कर्मों को ठीक-ठीक देखता हुआ पाप और पुण्य का फल दे रहा है। वह ठीक ढंग से ठीक समय हरेक पाप का विनाश कर रहा है-पाप को परास्त कर रहा है। तब मुझे डरने की क्या जरूरत है ? मुझे तो कोई दु:ख-क्लेश तभी मिलेगा यदि मेरा ही कोई पापकर्म उदय होगा। नहीं तो किसी अन्य मनुष्य की चाहना से मुझे क्लेश कभी नहीं हो सकता। और यदि मेरे अपने ही पाप-कर्मों के कारण कोई क्लेश आता है तो वह तो आना ही चाहिए। उसे मैं खुशो से सह-सहकर निष्पाप और उऋण होता जाऊँगा। वह क्लेश उस 'शत्रु' का भेजा हुआ नहीं है, किन्तु मेरे प्यारे परमेश्वर का भेजा है, उसका तो मुझे स्वागत करना चाहिए। एवं इस संसार में चारों दिशाओं में, मेरा अब कोई दु:ख दे सकनेवाला शत्र नहीं रहा है। जब से प्रभु को 'विचर्षणि' और 'शत्रून् जेता' जान लिया है, तब से मैं अभय हो गया हुँ—सब तरफ से अभय हो गया हुँ—िकसी दिशा से कोई भय नहीं। अभय, अभय !

शब्दार्थ — इन्द्रं इन्द्रं परमेश्वरं, मुझे सर्वाभ्य आशाभ्यः परि सब दिशाओं से अभयं करत् अभय कर दे। शतून् जेता जो कि परमेश्वरं शत्रुओं को जीतनेवाला है, विचर्षणः और सब-अभय कर प्राणी के हर-एक कमें को] पूरी तरह देखनेवाला है।

वैदिक विनय

वहां का लाहा प्रभव्य

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२ चैत्र

श्चा त्वां र्म्मं न जिब्रयो रहम्मा श्वसस्पते। जुश्मासी त्वा सधस्य श्चा॥ —ऋ० ८।४४।२०

ऋषिः विशोकः काण्वः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे भगवन् ! मैं बुड्ढा हूँ और तुम मेरी लाठी हो । तुम मेरे सहारे हो । मेरा इस जन्म का यह देह चाहे वृद्ध न दीखता हो, पर मैं सच्चे अर्थ में जीण हूँ, पुराना हूँ, अतएव अनुभवी हैं। मैं न जाने कितनी योनियों में फिरा हूँ सब संसार भोग चुका हैं। पर अब मैं तुम्हें "शवसस्पते" करके सम्बोधन करता हूँ, क्योंकि मैंने सुदीर्घ अनुभव से जान लिया है कि सब बलों के स्वामी तुम्हीं हो। मैंने कभी बड़ा धनाढ्य होकर धनबल का अभियान किया है, किसी समय यह समझा है कि मेरे साथ इतना बड़ा भारी दल है, सो जो मैं चाह कर सकता हैं; इस तरह दलवन्दी के बल को भी आजमाया है; कभी अपने बुद्धि-बल, चतुराई-बल के मुकाविले में सब दुनिया को हेच समझा है। शरीर-बलों और शस्त्र-बलों का तो कहना ही क्या हैं ! पर इतने लम्बे, अनिगनत योनियों के सुदीर्घ अमुभवों के बाद जीर्ण होकर - पुराना होकर अब समझा है कि सब बलों के स्वामी तो तुम हो। इसलिये अब और सब बलों का सहारा छोड़कर एक तुम्हारा सहारा पकड़ लिया है। है मेरे एक-मात्र बल ! तुम मुझसे अब क्षणभर के लिए भी मत दूर होओ। अब मैं यदि क्षणभर के लिए भी तुमको भूल जाता हूँ अपने मानसिक विचार-नेत्र के सामने से क्षणभर के लिए भी तुम्हें ओझल पाता हूँ, तो मैं व्याकुल हो जाता हूँ एकदम निस्सहाय हो जाता हूँ। अतः अब तो यही सतत कामना है कि तुम सदा ही मेरे सामने और मेरे साथ ही बने रहा । बुड्ढ की लाठी जब आँखों के सामने पड़ी हो, पर उसकी पहुँच के परे पड़ी हो, तब तो उसका सहारा न पा सकते हुए उसका दीखना बुड्ढे के लिए और भी दु:खदायक हो जाता है। इसलिये हे मुझ वृद्ध की लाठी ! हे मुझ निर्वल के बल ! हे मेरे एकमात्र सहारे! तुम अब सदा मेरे साथ रहो सधस्थ बने रहो। तुमसे जरा भी दूर होकर अब मैं नहीं रह सकता।

शब्दार्थ शवसः पते हे सब बलों के स्वामी ! जिन्नयः बुड्ढा पुरुष रम्भं न जैसे डंडे को त्वा उस तरह तुझको मैंने आरम्भ अवलम्बन कर लिया है। और अब मैं त्वा तुझे सधस्थे अपने समान स्थान में आ आमने-सामने आँखों के सामने उश्मिस चाहता हूँ देखना चाहता हूँ।

IN NAME OF SECURITIES OF THE PER' STR. PURPOSE OF THE PER A PER A PER ASSESSED.

रड़

देव याजाशील के प्रेम करते हैं कात्स्त में नहीं

१३ चैत

इच्छन्ति <u>देवाः सुन्वन्तं</u> न स्वप्नाय स्पृह्यन्ति । यन्ति <u>प्रमादं</u> ऋतेन्द्रा ॥ —ऋ० ८।२।१८ ; अथर्वं० २०।१८।३

ः, ऋषिः मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेधश्चाङ्किरसः। देवता इन्द्रः। छन्दः आर्षी गायत्री। हा

विनय-आलस्य मनुष्य का बहत बड़ा शत्र है। हम जो नित्य पाप करते हैं उनमें से बहतों का कारण मन की कृटिलता नहीं होता, किन्तु बहत बार केवल हम आलस्य व सुस्ती के कारण पापी बनते हैं। एवं बहुत-से अत्यन्त लाभकारी कार्यों को शुरू करके केवल आलस्य से हम उन्हें छोड देते हैं और आत्मकल्याण से वंचित हो जाते हैं। अतः आलस्य करनेवाले लोग कृभी परमात्मा के प्यारे नहीं हो सकते । यों कहना चाहिए कि परमात्मा के देवता आलसियों को नहीं चाहते, क्योंकि आलसी लोग देवों के चलाये इस संसार-यज्ञ में उनको सहयोग नहीं दे सकते। परमात्मा अपने इन देवों द्वारा जगत् में परिपूर्ण व्यवस्था रखते हैं--इन द्वारा पूरा नियमन, अनुशासन (Discipline) चला रहे हैं। भूल, ग़लती, अनुचितता, अपराध और पाप का ठीक नियमानुसार हमें दण्ड मिलता रहता है-बेचैनी, रोग, व्यथा, वेदना, क्लेश, मृत्यू आदि द्वारा हमें शिक्षा दी जाती रहती है कि हम परमात्मा की आजाओं का उल्लंघन न करें। ये देवता इस अनुशासन को बिल्कुल अतन्द्र होकर-बिल्कुल भूल-चूक से रहित होकर-कर रहे हैं। ये सृष्टि के देव उस सत्त्वगुण के बने हुए हैं जो कि तमः को जीतकर रजः को अपने वश में किए हुए हैं । अतः आलस्य-प्रमाद करनेवाले तमोगुणी (तमोगुण से दबे हुए) मनुष्य देवों के प्यारे कैसे हो सकते हैं ? अत: उन्हें देव बार-बार प्रमादों के लिए दण्ड दे-देकर - उन्हें पुन:-पुन: ठोकरें मारते हुए जगाते रहते हैं। परमात्मा के देव जो यह जगत्-रूपी यज्ञ चला रहे हैं उसी के अनुसार उसकी अनुकूलता में जो भी कुछ कर्म मनुष्य करता है वह सब यज्ञ-कर्म ही है। मनुष्य को इस यथार्थ-कर्म के सिवाय और कोई कर्म नहीं करना चाहिए। वही कर्म शुभ है, पुण्य है, यज्ञिय है, जिस द्वारा इस संसार के कुछ अच्छे, ऊँचे और पवित्र बनने में सहायता व सहयोग मिलता है। इस तरह का कोई भी कर्म करना इस संसार-यज्ञ के लिए सोम-रस का सेवन करना है। जरा देखो-इन देवों के प्यारे लोगों को देखो-जो कि अपने प्रत्येक कर्म द्वारा संसार-यज्ञ के संवर्द्धक, पोषक इस सोम-रस को पैदा करते हुए और अपने इस कर्त्तव्य में सदा जागत, कटिबद्ध, संनद्ध रहते हुए देव-तुल्य जीवन बिता रहे हैं।

शब्दार्थ—देवाः देव लोग सुन्वन्तं यज्ञ कर्म करते हुए की इच्छन्ति इच्छा करते हैं। सि स्वप्नाय स्पृहयन्ति निद्राशील सुस्तों को नहीं चाहते। अतन्त्राः स्वयं आलस्यरहित ये देव लोगः प्रमादं ग़लती, भूल करनेवाले का यन्ति नियमन करते हैं।

वैदिक विनय

हे अति त्यो । अरमे मेपूर्व मुक्त छेन्या (M)

१४ चेत्र

जीवाशी श्रमिधेतन श्रादित्यासः पुरा इथात । कर्षु स्य इवनश्रुतः ॥ —ऋ० दा६७।५॥

ऋषिः मत्स्यः साम्मदः, मैनावरुणिर्मान्यः, बहुवी वा मत्स्या जालनद्धाः । देवता आदित्यः । छन्दः गायवी ।

विनय हे आदित्य देवों ! दौड़ो ! हमें बचाओ ! मौत हमारे सामने मुँह खोले खड़ी है। अगले ही क्षण में हम उसके ग्रास होनेवाले हैं। भोगों को भोगते हुए तो हमें मालूम न था कि ये आसानी से भोगे जाते हुए भोग एक दिन भोक्ता बनकर हमें खाने के लिए आयेंगे। उस समय हम खुशी से अपने को इन विषयों के बन्धन-जाल में बाँधते गये; यह न अनुभव किया कि हम मृत्यु के जाल में बँध रहे हैं। पर अब इस समय का - यह मृत्यु-मुख में जाने का - एक क्षण, पश्चात्तापमय यह एक क्षण, शेष सारे बीते हुए जीवनकाल के मुकाबिले में खड़ा है। बस यह हो एक क्षण है इस बीच, हे आदित्यो ! मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। सुना है तुम जगदीश्वर की अखण्डनीय शक्तियाँ हो, तुम बन्धन-जाल से छुड़ानेवाली शक्तियाँ हो, तुम प्रकाश देनेवाली शक्तियाँ हो । वो तुम कहाँ हो ? मेरी पुकार क्यों नहीं सुनते ? क्षणभर में दम निकलना चाहता है। तुम तो 'पुकार सुननेवाले' (हवनश्रुत्) प्रसिद्ध हो। तुमने बड़े-बड़े पापियों के हार्दिक ः पश्चात्ताप के करुण-ऋन्दनों को सुना है और उन्हें अन्तिम समय में भी उबारा है। क्या यह मेरा इस समय का पश्चात्तापमय रुदन भी हृदय से निकला रुदन नहीं है ? तो फिर तुम क्यों नहीं सुनते ? क्यों नहीं दौड़कर मुझे बचाते ? क्या अगले क्षण जब मैं मर चुकूँगा, मेरा विनाश पूर्ण हो चुका होगा, मेरी ही समाप्ति हो चुकी होगी, तब आओगे ? तब क्या बनेगा ? ओह ! यदि मेरा उबारना अभीष्ट है तो ये जो जीवन के दो-चार पल शेष हैं, इन्हीं में आ पहुँचो। दौड़ो, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ !

शब्दार्थ आदित्यासः हे आदित्यो ! अभिधेतन दौड़ो जीवान् नः हम जीते रहतों के पास हथात् पुरः हमारे मारे जाने से पहले ही दौड़ो । हवनश्रुतः हे पुकार सुननेवालो ! कद्ध स्थ तुम कहाँ हो ?

प्रम भन्त रहिं। महस्रामा के तर्जति हैं

१५ चेत

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
तरत् स मन्दी धावति ॥ —ऋ० ९।४८।१; साम० पू० ६।१।२।४

ऋषिः कश्यपो वत्सारः। देवता पवमान सोमः। छन्दः गायत्री।

विनय है दु:ख और पाप से तरना चाहनेवाले भाइयो ! देखो, कोई हैं, जो कि तर गये हैं। इस दुस्तर दीखनेवाले संसार-महासागर से तरा जा सकता है—सचमुच तरा जा सकता है। पर तरता वह है जो कि "मन्दी" है। क्या तुम भगवान की भिक्त-स्तुति में रमनेवाले हो ? क्या इस भजनरस से तुम्हारा अन्तःकरण तृष्त हो गया है ? क्या तुम्हारा अपना आन्तर (अन्दर) आनन्द से परिपूर्ण हो गया है अर्थात् तृष्त होकर तुम्हें संसार की अब अन्य किसी वस्तु की किसी भी वस्तु की—कामना नहीं रही है ? क्या तुम ऐसे मस्त हो गये हो ? ऐसे आत्माराम ही गये हो ? "मन्दी" होने के लक्षण तो ये ही हैं। देखो, ऐसे "मन्दी" तरते जा रहे हैं और तर गये हैं।

यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? जब भजन करने से अन्दर सोई पड़ी हुई शक्ति जागती है तो वह प्राण, वाणी और मन को उज्जीवित करती हुई ऊपर की तरफ चढ़ने लगती है । हठ-योगियों की परिभाषा में इसे कुण्डिलिनी का जागरण और प्राणोत्थान कहते हैं । इस कुण्डिलिनी का वास्तिविक जागरण ही 'तरना' शुरू करना है । प्राण की धारा मूलाधार से उठकर उसर चढ़ने लगती है, हैमवती शक्ति नाचती-कूदती हुई, भजन-स्तुति करती हुई—मार्ग में प्राण, वाणी, मन के अद्भृत चमत्कार दिखाती हुई—ऊपर, अपने शिवरूप स्वामी की तरफ चढ़ने लगती है । यह आध्यान अर्थात् मानसिक चेतना से युक्त प्राणधारा के रूप में क्रमशः उपर जाती हुई अनुभूत होती है । यही उत्पन्न किए "अन्धस्" (सोम) की धारा है जिसके साथ-साथ आत्मा उँचा होता जाता है । इसी धारा के साथ 'मन्दी' नामक भक्त की उध्वंगित होती है । प्रसिद्ध सात लोक सब अन्दर हैं । उन्नत होता हुआ आत्मा इन सब लोकों को पार करता हुआ सत्य-सात लोक सब अन्दर हैं । उन्नत होता हुआ आत्मा इन सब लोकों को पार करता हुआ सत्य-सात लोक सब अन्दर हैं । उन्नत होता हुआ आत्मा इन सब लोकों को पार करता हुआ सत्य-सात लोक में पहुँचकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है—बिल्कुल पार तर जाता है । शिर के सत्यलोक में प्राण, वाणी, मन आदि शक्ति जाकर ठहर जाती है और समाधि हो जाती है । इस प्रकार देखों ! "मन्दी" (भगवान का भक्त) दुःख-सागर को तर जाता है—उपर पहुँच जाता है । अहो ! इस पुण्य घटना का विचार करना—इसे कल्पना की आँखों से देखना—भी कितना ऊँचा उठानेवाला है ! "तरत् स मन्दी धावति", "तरत् स मन्दी धावित ।"

शब्दार्थ मन्दी जो भनित-स्तुति करनेवाला, स्वयं तृप्त, आनन्दमग्न पुरुष होता है स वह तरत् तर जाता है स वह सुतस्य उत्पन्न की गई अन्ध्रसः आध्यानयुक्त प्राण व वाणी की धारमा धारा के साथ धावति ऊपर वेग से उठता जाता है। स मन्दी वह आनन्द-तृप्त तरत् तर भाता है, धावति ऊर्ध्वंगित द्वारा ऊपर चढ़ जाता है।

देशी की अपनाप्रशास लनाने वाला भवीर

यह नापा है

१६ चैव

नयंसीद्<u>वति द्विषः कृष्णोष्युक्थशं</u>सिनः । नृभिः सुवीरं उच्यते ॥ —ऋ० ६।४५।६

ऋषिः बार्हस्पत्य शंयुः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय—''सुवीर''—सर्वश्रेष्ठ वीर—िकसे कहना चाहिए ? अन्त में तो प्रत्येक ही गुण की पराकाष्ठा भगवान् में है; परिपूर्ण वीरता का निवास भी उन्हीं में है। उनकी वीरता का अनुकरण करनेवाले मनुष्य, नर लोग, सच्चे पुरुष उन भगवान् को ही 'सुवीर' नाम से पुकारते हैं। पर उनकी वीरता कैसी है ?

अज्ञानी लोग समझते हैं कि अपने शत्रु, द्वेषी को नुकसान पहुँचाने में सफल हो जाना ही बहादूरी है। यह निरा अज्ञान है। क्रोध के वश में आ जाना तो हार जाना है। क्रोधवश हों कर मनुष्य केवल अपने को विषयुक्त करता है और जलाता है। एवं कोधी अपने शत्रु का नाश क्या करेगा ? वह तो अपना नाश पहले कर लेता है। ज्यों-ज्यों हम अपने द्वेषी के लिए अनिष्ट-चिन्तन करते हैं, त्यों-त्यों उसमें हमारे प्रति द्वेष और बढ़ता जाता है; उसका द्वेष, उसका शंत्रुपना बढ़ता जाता है। शत्रु को हानि पहुँचा लेने पर, उसके शरीर को चोट दे लेने पर, यहाँ तक कि उसे मार डालने पर भी उसकी शत्रुता नष्ट नहीं होती; वह तो और-और बढ़ती जाती है। शत्रु के शरीर का, धन का, मान का एवं उसकी अन्य सब चीजों का हम बेशक नाश करने में सफल हो जायें, पर उतना ही उतना वह शत्रु (असली शत्रु) बढ़ता जाता है, उसका शत्रुपना बढ़ता जाता है। यह क्या हुआ ? अतः वीरता (परमात्मदेव से अनुकरणीय सच्ची वीरता) इसमें है कि हम उसकी बाहरी किसी चीज का नाश न करें (और क्रोध से हम अपना भी नाश नं करें) किन्तु किसी तरह उसका - उसकी शत्रुता का - नाश कर दें। उसके अन्दर हम ऐसे घुसें कि वह हमारा शत्रु न रहे; वह मित्र हो जाय। बहादुरी इसमें है कि हम कोध को जीतकर धैर्यं रखकर अपने द्वेषी के द्वेषभाव को बिल्कुल निकाल डालें, ऐसा निकाल डालें कि वह हमारी निन्दा करना तो दूर रहा, वह हमारी प्रशंसा के गीत गाने लगे। यह है शत्रु पर विजय पाना। पर ऐसी विजय पाने के लिए अपने में बड़ा भारी बल चाहिए-अपने में बलिदान की न खत्म होनेवाली शक्ति चाहिए-बड़ा धैर्य चाहिए, बडी भारी वीरता चाहिए। हम भी परिमित अर्थ में बोला करते हैं कि वीर वह है जिसकी शत्रु भी प्रशंसा करें, पर हमें तो अपरिमित अर्थ में उस भगवान् की सुवीरता का आदर्श अपने सामने रखना चाहिए जिनके विषय में भक्त लोग समझते हैं कि आज संसार में जो लोग बिल्कुल उल्टे रास्ते जा रहे हैं वे भी एक दिन लौटकर भगवद्भक्त-भगवान् के प्रशंसक-बनेंगे और मुक्त होंगे। भगवान् की उस अपरिमित वीरता में से, हृदय-परिवर्तन करने की उनकी इस अनन्त शक्ति में से और उनके अनन्त धैर्य में से हम भी कुछ ले लेवें, हम भी वीर वनें।

शब्दार्थ हे इन्द्र ! तू द्विषः द्वेष करनेवाले के द्वेषभाव को इत् उ निश्चय से अति नयसि निकाल डालता है। तान् तू उन्हें उक्थशंसिनः अपना प्रशंसक कृणोषि बना देता है। नृभिः सच्चे मनुष्यों से तू सुवीर उच्यते सुवीर कहाता है।

प्रमा। त हमारे हृद्य - मान्डे भी रम ता अम्जा

१७ चैव

सोम रार् निध नी हुदि गावो न यवं से ह्वा। मर्य हुव स्व ब्रोक्ये॥ —ऋ० १।६१।१३

ऋषिः राहूगणो गोतमः । देवता सोमः । छन्दः गायत्री ।

विनय-हे देव ! तुम मेरे हृदयं में आ विराजो, इसी में रमण करो। कहने को तो पहले वहत बार ऐसी प्रार्थना मैंने की है तथा औरों को करते सना है, पर शायद तब मैं न तो अपने हृदय को जानता था और न तुम्हें जानता था। तुम तो मुझमें तभी विराज सकते हो जब कि मेरा हृदय स्वार्थ से विल्कुल साफ हो, सर्वथा निर्मल हो। इसीलिये अब मैंने अपने जीवन के लिए भगीरथ-यत्न से हृदय को पवित्र किया है। मैंने झठ, हिंसा, कूटिलता, असंयम आदि विकारों के मैल को ही नहीं निकाला है अपित बड़े यत्न से क्षण-क्षण आत्मनिरीक्षण करते हुए राग और द्वेष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मल को भी खुरच-खुरचकर निकाला है और अतएव अब इसमें भिवत-स्रोत भी खुल गया है। इसीलिये मैं अब तुम्हें बुलाने की हिम्मत करता हैं। हे मेरे जीवत-सार ! मैं कहता हूँ कि तुम मेरे हृदय में ऐसे आ जाओ जैसे कि गौवें जौ के हरे खेत में प्रसन्तता से आकर खाने का आनन्द लेती हैं, क्योंकि मैंने भी न केवल अपने हृदय को तुम्हारे योग्य स्वच्छ बनाया है किन्तु इसमें यह भिनत का रस भी जुटा रखा है। मेरे इस हार्दिक प्रेम का रसास्वादन करने के लिए तुम यहाँ आओ। मेरा प्रेम देखता है कि अब तुम ही मेरे प्राणों के प्राण हो, तुम्हारा स्पर्श मेरा जीना है और तुम्हारा हट जाना मेरी मौत है। इसलिए मेरा हृदय पुकारता है कि तूम मुझमें आकर सदा रमण करो। क्या मेरा सच्चा ज्ञानमय प्रेम तुम्हें यहाँ नहीं खींच लायगा ? नहीं, मैं भूल करता हूँ, तुम मेरे हृदय में न केवल आओ किन्तु आकर इस तरह बस जाओ जैसे मनुष्य अपने घर में रहता है व रमण करता है। मेरी भिक्त आत्तं, जिज्ञासु व अर्थार्थी की भिक्त नहीं है, क्योंकि मैंने अपने हृदय से अब 'अहंकार' को भी सर्वथा निकाल दिया है। अब यह शरीर तेरा है, यह हृदय अब तेरा अपना घर है। 'मैं'-'मम' सब यहाँ से लोप हो गया है। हे आत्मा की आत्मा सोम ! सर्वथा विश्व इस हृदय में अपना यथेच्छ रमण करो। यह तुम्हारा घर हो गया।

शब्दार्थ गावः न यवसेषु जैसे जौओं के बीच में गायें आकर रमण करती हैं, आनिन्दत होती हैं और मर्यः स्व ओक्ये इव जैसे मनुष्य अपने निजी घर में बसता है वैसे ही त्वं तू नः हृदि हुमारे हृदय में आ आकर रारन्धि सदा रमण करो व बस जाओ।

वेदिक वितय

विशाल बाडानारी के किए पुरारी देश के लिए पुरारी है

१द चैत्र

वृबद्धेक्थं हवामहे, स्प्रकरस्नमृतये ।
साधु कृण्वन्तं ग्रवंसे ॥ — ऋ० वा३२।१०

ऋषिः काण्वो मैद्यातिथि । देवता इन्द्रः । छन्दः गायती ।

विनय है परमेश्वर ! हम तुम्हें रक्षा के लिए पुकारते हैं। इस संसार में बहुत-से क्लेश, दु:खं और आपत्तियाँ हम पर आती हैं, बहुत-से भय उपस्थित होते रहते हैं; उस समय में हे परमेश्वर ! हम तुम्हें ही याद करते हैं। तुम्हारे सिवा वलेश में हम और किसे पुकारें ? क्योंकि हम जानते हैं कि तुम ही एकमात्र रक्षक हो। जब तुम रक्षा करना चाहते हो तो सैकड़ों विपत्तियों के बादलों को क्षण-भर में उड़ा देते हो, सैकड़ों बन्धन एकदम में काट देते हो। जहाँ कोई भी रक्षा का उपाय नहीं नजर आता, अन्तिम नाश ही दीख रहा होता है, बच जाने की जहाँ हम कोई कल्पना तक नहीं कर सकते, वहाँ पर भी तुम्हारे अदृश्य हाथ पहुँचे हुए हमारी रक्षा कर देते हैं। तुम्हारे रक्षा करनेवाले हाथ हर जगह और हर वक्त पहुँचे हुए हैं। इसलिए हे सृप्रकरस्न ! हम कभी भी आशा नहीं छोड़ते कि तुम हमें बचा न लोगे। अतः हम तुम्हें पुकारते जाते हैं। आखिर तुम यदि नहीं भी रक्षा करते तो भी हम अशान्त नहीं होते, क्योंकि हम जानते हैं कि तुम्हारी अरक्षा में भी रक्षा छिपी होती है। हे देव ! हमें अटल विश्वास है कि तुम कल्याण ही करनेवाले हो। तुमसे अकल्याण कभी हो ही नहीं सकता। हम नहीं समझ पाते हैं कि स्पष्ट दीखनेवाली अमुक आपत्ति किस तरह कल्याण के रूप में बदल जायगी, कैसे हमारा विनाश भलाई के लानेवाला होगा, पर अनुभवों द्वारा अन्तस्तल पर यह विश्वास निहित है कि तुम अपनी हर एक घटना द्वारा हम लोगों का भला ही कर रहे हो और आखिर तुम हमारी पालना करोगे, हमें वचा लोगे। हमारा अत्यन्त विनाश तुम कभी नहीं होने दे सकते। अतः हम तुम्हें ही रक्षा के लिए पुकारते हैं। सदा ऐसे विलक्षण ढंग से सबका कल्याण करते हुए तुम हमारी निश्चित रक्षा करनेवाले हो; हमारे कल्याण के लिए अपने रक्षक बाहुओं को प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक स्थान में फैलाए बैठे हो; तुम्हारे सिवाय मनुष्य के लिए और कौन स्तुत्य है ? मनुष्य और किसके गीत गावे ? तुम्हारी ही स्तुति कर वह अपनी वाणी को कृतकृत्य कर सकता है।

शब्दार्थ बृबदुक्थं स्तुति करने योग्य इन्द्र को ऊतयें रक्षा के लिए हवामहे हम पुकारते हैं जो इन्द्र सृप्रकरस्नं सब जगह फैली हुई भुजाओंवाला है अवसे जो पालन-पोषण के लिए साधु कृण्यन्तम् कल्याण ही करनेवाला है,।

स्तर्पाप्य द्वापा का प्रीरत की बाद का मिणन वाली स्तर्पार की Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६ चैत्र

चोटायित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। युज्ञं देधे सरस्वती।। —ऋ० १।३।११

ऋषिः वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा । देवता सरस्वती । छन्दः गायत्री ।

विनय-जिन्होंने अपने जीवन को यज्ञ बनाया है वे जानते हैं कि इस जीवन-यज्ञ को जहाँ अन्य (परमेश्वर के शक्तिरूप) देवों ने धारण कर रखा है वहाँ सरस्वती देवी ने भी इसे धारण किया हुआ है। यह देवी दो कार्य कर रही है। यह एक तो 'सूनता' वाणी को प्रेरित करती है: और दूसरी, सुमतियों को जगाती रहती है। सुनता उस वाणी का नाम है कि जो सच्ची और प्यारी होती है। केवल प्रिय वाणी तो किसी काम की है ही नहीं, किन्तु केवल सच्ची वाणीं बोलना भी अधूरा है। सत्य के साथ वाणी में अहिंसा भी रहे तभी वाणी पूरी होती है और तब वाणी में प्रेम भी आ जाता है। सरस्वती देवी हम लोगों में ऐसी सत्यमयी और मध्र वाणी को प्रेरित करती रहती है। इस कारण हमारा जीवन-यज अभग्न चलता है। इसके अतिरिक्त यह सरस्वती देवी इस यज्ञ के एक ऐसे अन्य गहरे और सूक्ष्म अंग को भी निवाहती है, जबकि यह हममें निरन्तर श्रेष्ठ, सुन्दर, कल्याणकर बृद्धि (ज्ञान) को जगाती है। जब जीवन-यज्ञ ठीक चल रहा होता है तो अन्दर सरस्वती देवी हममें शुभ, सबकी कल्याणकारी, हितकारी बुद्धियों को ही उत्पन्न करती हुई और हमारी वाणी से सच्चे और प्रेममय वचनों का ही प्रवाह बहाती हुई होती है। अतः जब कभी हमारे मन में कोई दुर्मति उत्पन्न होवे, हमारा मन किसी के लिए अहित व अनिष्ट सोचे तो समझ लो कि सरस्वती देवी ने हमें छोड़ दिया है। जब कशी हम अनुत या कठोर (हिंसक) वचन बोलें तो समझ लो कि सरस्वती देवी हमारे जीवन की यज्ञशालाः से उठ गई है। हमें फिर सुमति और सुनृता वाणी का संकल्प करके अपने हृदयासन में सरस्वती देवी को बिठलाना चाहिए और इस यज्ञ-भंग के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

हम प्रायः समझते हैं कि सरस्वती देवी का प्रसाद पढ़ना-लिखना आ जाना है। पर यह, नहीं है। यदि किसी के हृदय में निरन्तर सुमित की ही धारा बहती हो और उसकी वाणी से सत्यमय और मधुर वचनों का ही अमृत झरता हो तो वह मनुष्य चाहे बिल्कुल निरक्षर हो, तो भी उसमें निरचय से सरस्वती का वास है, जो कि उसके जीवन-यज्ञ को धारे हुए चला रही है।

up of the but have a country that it are not be under the first by the first

शहदार्थ स्नृतानां सच्ची और प्यारी वाणी को चोदियत्नी प्रेरित करती हुई सुमतीनां और अच्छी बुद्धियों को चेतन्ती चेताती हुई सरस्वती सरस्वती यत्रं यज्ञ को दघे धारण किये हुए है।

वैदिक विनय

34.

I WANT THE IS NOT AN

आत्मा जान देते भेटर में के आज खेरा देंगाड़े

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२० चैव

केतुं कृष्यन् अकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिः अजायथाः॥

一ऋ०१।६।३ ; साम० उ० ६।३।१४ ; अ० २०।६६।११

ऋषिः वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय—यह शरीर तो मर्य है, मुर्दा है। इस समय भी मुर्दा है। जब अर्थी पर उठाकर इस शरीर को जलाने के लिए ले-जाया जाता है, उस समय यह शरीर जैसा मुर्दा होता है वैसा ही यह अब भी है। पर इस समय यह मुर्दा इसलिये नहीं दीखता चूँकि इन्द्र (आत्मा) ने अपनी

चेतनता, अपनी सुन्दरता इसमें बसा रखी है।

हे इन्द्र आत्मन् ! जब यह शरीर सुषुप्तावस्था में होता है तब तुम ही इसमें से अपनी जागरण-शक्तियों को समेट लेते हो, अपने में खींच लेते हो । अतः तुरन्त हमारा चलना-फिरना, बोलना आदि सब व्यापार बन्द हो जाता है। सदा चलनेवाले मन के भी सब संकल्प-विकल्प बन्द हो जाते हैं। यह शरीर जड़वत् हो जाता है। और जब तुम फिर अपनी जागरण-रिश्मयों को शरीर में फैला देते हो तो फिर मनुष्य उठ बैठता है, सोचना-विचारना शुरू हो जाता है; मनुष्य फिर चलने-वोलने लगता है। इस "अकेतु" शरीर में फिर चेतना दीखने लगती है— उसका खोया हुआ जागृत-रूप फिर उसमें आ जाता है। हे इन्द्र ! सुषुप्ति में तो तुम अपनी जागरण-शक्तियों को केवल समेट लेते हो, पर जब तुम इस शरीर को छोड़ ही देते हो तब क्या होता है ? तब यह शरीर अपने असली रूप में - मिट्टी के ढेर के रूप में - दीख जाता है। न इसमें ज्ञान है और न रूप है। हे इन्द्र! इस मिट्टी के बर्त्तन में अमृत होकर तुम ही भरे हुए हो। इस मिट्टी में जो रूप, सुडौलता आ गई है, सुन्दर अवयव-संनिवेश हो गया है यह तुम्हारे व्यापने से हुआ है, और इस मिट्टी की मूर्ति में शव की अपेक्षा जो इतनी चेतनता दिखाई देती है वह तुम्हारे समाने से ही हुई है। यह शरीर जो मुर्दा होने पर इतना अपवित्र समझा जाता है कि इसे छू लेने से स्नानादि शौच करना पड़ता है वही असल में मुर्दा शरीर, हे परम-पावन इन्द्र! इस समय तुम्हारे समाये रहने के कारण, तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इतना पवित्र हुआ-हुआ है। तुम्हारा इतना अद्भूत माहातम्य है। मनुष्य तुम्हारे इस माहात्म्य को क्यों नहीं देखता ?

आज हम स्पष्ट देख रहे हैं कि इन सब मुर्दा जड़ शरीरों में चेतनता लाते हुए और इन अरूपों में रूप-सौन्दर्य प्रदान करते हुए तुम ही अपनी जागृति-शक्तियों के साथ उदय हुए-हुए

हो, तुम ही आये हुए हो।

शब्दार्थ —हे इन्द्र आत्मा ! तू मर्याः इस मरण-शील अकेतवे और ज्ञानरहित अवस्था वाले शरीर में केतुं कृण्वन् ज्ञान और जीवन लाता हुआ तथा अपेशसे इस अरूप असुन्दर शरीर में पेशं कृण्वन् रूप-सीन्दर्य लाता हुआ उषद्भिः अपनी जागरण-शक्तियों के साथ सं अजायथाः उदय होता है —पुनर्जागरण और पुनर्जन्म में —उदय होता है।

II-10 TO THE OFF IS PID HE I HIFE

Digitized by Arva Samai Foundation Chennai and eGangotri

रं१ चैत

त्वं नेः सोम <u>विश्वतो रक्षां राजन्</u>त्रयायतः। न रिष्येत् त्वावेतः सर्खा ॥ —ऋ० १।६१।व

ऋषिः राहूगणो गोतमः । देवता सोमः । छन्दः गायत्री ।

विनय-हे सोमदेव ! तुम्हीं वास्तव में हमारे राजा हो । यद्यपि संसार के मनुष्य-राजा भी जान-माल आदि की रक्षा करने के लिए ही होते हैं, पर वे अल्पशक्ति राजा चाहे जितनी हुकूमत की शक्ति रखते हों, तो भी हमारी पूरी तरह रक्षा नहीं कर सकते। पर मुझे अपने जान-माल की ऐसी परवाह नहीं है; इनको तो मैं धर्म के लिए खुशी से जाने दुंगा। अतः हत्यारों और लुटेरों के आक्रमण से रक्षा पाने की मुझे कोई चिन्ता नहीं होती। मुझे तो चिन्ता है पाप के आक्रमण से रक्षा पाने की। इस पाप के आक्रमण से ही बचने की मुझे सख्त जरूरत है और इस आक्रमण से तो, हे मेरे अन्तर्तम के राजा ! मुझमें अन्दर से हुक्मत करनेवाले स्वामी ! हे असली राजा! तुम्हीं चारों तरफ से मुझे बचा सकते हो। बड़े-से-बड़ा श्रेष्ठ राजा भी अपने बाहरी सुप्रबन्ध से हमें पाप के आक्रमण से सर्वथा सुरक्षित नहीं कर सकता। इसीलिए हे राजाओं के राजा परमेश्वर ! तुमसे हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें पाप चाहनेवालों से सब तरफ से रक्षित करो । हे सर्वशक्तिमान् ! मैं तो अन्दर तुम्हीं से सम्बन्ध जोड़ चुका हुँ, मुझे अब किसका डर है ? तुझ-जैसे से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाला-तुझ सर्वशक्तिमान् राजा की मैत्री पाया हुआ तेरा संखा -- कभी नष्ट नहीं हो सकता । तेरी सर्वशक्तिमान् शरण में पहुँचे हुए को नाश कर सकनेवाली वस्तु कहाँ से आयेगी ? पर ऐसा तेरा सिखत्व पाने के लिए और ऐसा अमुल्य सिखत्व पाकर उसको कायम रखने के लिए-बस, पाप से सुरक्षित रहने की जरूरत है। इसलिए हमारी बारम्बार यही प्रार्थना है कि हमें पाप से चारों तरफ से बचाइये— हमें पाप से सब तरफ से बचाइये।

शब्दार्थ—सोम हे सोम ! राजन् हे राजा ! है असली राजा ! त्वं नः तू हमें अवायतः पाप चाहनेवालों से विश्वतः चारों तरफ से रक्षा रक्षा कर । त्वावतः सखा तेरे-जैसे से मित्रता रखनेवाला न रिष्येत् कभी नष्ट नहीं होता ।

वैदिक्त विनय

स्मिन्द्र परमात्मा हमारा द्वीर सम परमात्मा के प्यार

ही जार

रेर चैत

प्रियो नो अस्तु विश्वप्रतिहोता मन्द्रो वरेण्यः।

प्रियाः स्वरनयो वयम्।। ... -ऋ० १।२६।७ ; सा० उ० ८।१।१
ऋषिः आजीर्गातः शुनःशेषः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।

विनय है मनुष्य भाइयो ! हम अपने परम आत्मा को, परम अग्नि को भूल गए हैं। हम यह भी भूल गए हैं कि हम स्वयं भी वास्तव में आत्मा-रूप हैं, आत्माग्नि हैं। इसीलिए हम इस संसार की परम तुच्छ धन-दौलत, माल-असबाब, पुत्र, वधू, सुख-आराम, शरीर तथा सौन्दर्य आदि विनश्वर वस्तुओं से तो इतना प्रेम करने लग गए हैं, इनमें इतने आसक्त, लिप्त और अनुरक्त हो गए हैं कि हमें इस गन्दी दलदल में से अब ऊपर उठना असम्भव-सा हो गया है। पर जो हमारा असली स्वामी, सखा और सब-कुछ है, परम पवित्र प्रभु है, उसे हम दिन-रात के चौबीसों घण्टों में से कुछ क्षणों के लिए भी स्मरण नहीं करते। अब तो हम होश सँभालें, जागें और अपने परम प्यारे अग्नि प्रभु को अपना लें। वही हम सब प्रजाओं का एक-मात्र पित है, स्वामी है, वही हमें सब सुखों का देनेवाला 'मन्द्र' है, वही एकमात्र है जो कि हम सबका वरणीय है और वही है जो कि अपने परम यज्ञ द्वारा हम प्रजाओं को सब-कुछ दे रहा है। अरे प्यारो! हम उसे छोड़कर कहाँ प्रेम करने लगे ? सचमुच हमने अपनी प्रेमशक्ति का अभी तक घोर दुरुपयोग किया है। क्या प्रेम-जैसी पितत्र वस्तु हमें इन अशुचि, तुच्छ, अनित्य वस्तुओं में रखने के लिए ही दी गई थी ? आओ, अब तो हम अपने प्रेम के लक्ष्य को पा लेवें और उस मन्द्र 'विश्पति' को, वरेण्य 'होता' को अपना प्यारा बना लेवें, अपना प्रेम समर्पण कर देवें।

किन्तु इस तरह प्रेमपथ पर चल देने पर हे भाइयो ! हमें भी उसे रिझाना होगा, उसे प्रसन्न करना होगा, उसके प्रेम को अपने प्रति आकर्षित करना होगा, अर्थात् हमें भी उसका प्यारा बनना होगा; और उसके प्यारे तो हम तभी बन सकते हैं जब कि हम "स्विग्न" बन जायें, उत्तम प्रकार की आत्मायें बन जायें। अतः आओ, हम सब मनुष्य अपने उस परम प्यारे के लिए अपनी आत्माओं को शुद्ध करें। उस बृहद् अग्नि के लिए अपनी अग्नियों को उत्तम प्रकार की बना लेवें। अब हमारी आत्माग्नि से विश्वप्रेम की सुन्दर किरणें ही प्रसारित होवें, हमारी बुद्ध-अग्नि में से सत्य की ज्योति ही निकले, हमारी मानसिक अग्नि सर्वकल्याण के उत्तम विचारों में ही प्रकाशित हुआ करे, और हमारी चित्ताग्नि से पवित्र इच्छायें व भावनायें ही उठें। इस प्रकार हम उत्तम अग्निवाले हो जायें, क्योंकि इसी प्रकार वह हमारा प्यारा हमसे प्रसन्न होगा। इसी प्रकार हमने अपने प्यारे को रिझाना है।

शब्दार्थ — वह विश्पतिः हम प्रजाओं का स्वामी मन्द्रः आनन्द देनेवाला वरेण्यः और वरणीय होता दाता अग्नि नः हमें प्रियं अस्तु प्यारा हो जाय तथा वयं हम भी स्वग्नयः उत्तम अग्नियोंवाले होकर प्रियः उसके प्यारे हो जायें।

THE SERVER SERVED TO THE PERSON

भारता की भूमाशित करें

Digitized by Arva Samai Foundation Chennal and eGangotri

र्वं वंत

गूहेता गु<u>ष</u>्ठं तमा, वियात विश्वमात्रिणम्। ज्योतिषकर्ता यदुश्मसि ॥ —ऋ० १।८६।१०

ऋषिः राहुगणो गोतमः । देवता मरुतः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे महत देवो ! हे प्राणो ! हम अँधेरी गुफा में पड़े हुए हैं। चारों तरफ अँधेरा-हीं-अँधेरा है। इस अँधेरे में खा जानेवाले राक्षस हमें सता रहे हैं, हमें खाये जा रहे हैं; इन्हें भगाओ। इन सब "अत्रियों" को हमसे दूर कर दो । हमें जो कुछ चाहिए वह प्रकाश है। हमें प्रकाश दो, इस गुफा में चारों तरफ प्रकाश फैला दो।

मैं पंचकोशों की अँधेरी गुफा में रह रहा हूँ शरीर, प्राण, मन आदि के पाँच शरीरों में बन्द पड़ा हुआ हूँ-अपने-आपको भूलके इन श्रीरों को आत्मा समझ रहा हूँ। इसलिए काम, क्रोध, लोभ आदि राक्षस मुझे खाये जा रहे हैं। ये काम, क्रोध आदि अज्ञान में ही रह सकते हैं। आत्मान्धकार में ही ये फलते-फूलते हैं। इसलिए हे प्राणो ! तुम मेरे गुहा के अधकार को विलीन कर दो, अंधकार के हटने पर ये 'अत्रि' अपने-आप ही यहाँ से भाग जायेंगे। जब हम में आत्म-ज्योति फैल जायगी, सब भूतों, सब प्राणियों में, फिर आत्मा दिखाई देने लगेगा तो हम किसके प्रति कोध करेंगे ? जब हमारा प्रेम सर्वव्यापक हो जायगा तो हम किस एक में कामा-सक्त होंगे ? लोभ किसलिए करेंगे ? ओह, आत्म-ज्योति का प्रकाश हो जाने पर ये खुद्र "अत्रि" कहाँ ठहर सकते हैं ! आत्म-ज्योति वह ज्योति है जिससे कि सहस्रों सूर्य, चन्द्र और विद्युतें प्रकाशित हो रही हैं, जिस परमोज्ज्वल ज्योति के सामने हजारों सूर्यों की इकट्ठी ज्योति भी फीकी है वह प्रकाश हमें दो। हम उस प्रकाश के पाने के लिए तड़प रहे हैं। उस प्रकाश के पा जाने पर तो सब-कुछ हो जायगा, हृदय का अंधकार मिट जायगा और इनं खा जाने वालों से हमारी रक्षा हो जायगी। हे प्राणों! तुम प्रकाश के लानेवाले हो। हम जानते हैं कि तुम्हारे जागने पर प्रकाशावरण का क्षय हो जाता है। इस सत्य में हमें विश्वास है। इसलिए हे प्राणो ! हम तुमसे विनय कर रहे हैं। तुम हममें समाकर हमारे प्रकाश का द्वार खोल दो। रशेन होते हुए सब करता और तम देशों के इस सहापद को प्राप्त व

शब्दार्थ मरुतः हे प्राणो ! गुह्यं तमः गुहा के अँधेरे को गूहत विलीन कर दो विश्वं अद्मिणम् सब खा जाने वालों को वि यात भगा दो । यत् उश्मिस जिसे हम चाह रहे हैं उस ज्योतिः ज्योति को कर्ता हमारे लिए कर दो ।

the, ale "press, to bothibies he no not take this then

हैं . मेरे की पाना पर बह पर निवार, में बादबाह हो गया", "में को असल

इस शो का लेवें, प्रवालिए में कहा हमारे अन्तर मेंड हए में और प्रशाक्ष हर रहे हैं।

बैदिक विनय

१. योगदर्शन में प्राणायाम का फल बतलाते हुए कहा है "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" अर्थात् प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाश का आवरण हट जाता है—अनन्त प्रकाश खुल जाता है।

है वर्तणा। हमें क्रात्मसामाज्य स्वराज्य प्रदान करी

२४ चेत्र

निषंसाद धृतवं<u>तो</u> वर्रणः प्रस्त्या । साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ —ऋ० १।२४।१०

ऋषिः आजीर्गात शुनःशेषः । देवता वरुणः । छन्दः गायत्री ।

विनय—वरुण सम्राट् हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठा हुआ है। यह कितनी विचित्र बात लगती है! पर यह उतनी ही सच्ची है। असली साम्राज्य अन्दर ही है। बाहर भी सच्चा सम्राट् वही हो सकता है जिसने पहले अपनी प्रजाओं के हृदयों में सिहासन प्राप्त कर लिया है। प्रजाओं के हृदयों में बिना घुसे कोई सच्चा सम्राट् नहीं वन सकता। ठीक-ठीक सच्चा शासन अन्दर घुसकर ही किया जा सकता है। इसीलिए इस सब ब्रह्माण्ड के एक-मात्र अखण्ड सम्राट् जो वरुण देव हैं, वे हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठे हुए हैं। उस असली सम्राट् के दर्शन के लिए यदि हम निकलें तो हमें बाहिरी सम्राटों के पास पहुँचने की तरह, उनके पास पहुँचने के लिए कहीं बाहिर नहीं फिरना होगा। वे तो स्वयं हमारे अन्दर आकर बैठे हुए हैं और इसलिए आकर बैठे हैं कि हमें साम्राज्य दे दें—'साम्राज्याय'। पर हम ऐसे मूर्ख हैं कि हमें कुछ खबर ही नहीं है! हम छोटी-छोटी बातों पर हुकूमत पाने के लिए —राज्य पाने के लिए बाहिर घूमते-फिरते हैं, लड़ते-झगड़ते, सत्यादि नियमों को भंग करते, मार-काट करते फिरते हैं। पर यह नहीं जानते कि सर्वश्रेष्ठ (वरुण) राजा तो स्वयं हमें सारे संसार का बादशाह बनाने के लिए, विश्व का साम्राज्य देने के लिए अन्दर आकर बैठा हुआ है और प्रतीक्षा कर रहा है। हम उधर देखते ही नहीं।

पर जो उधर देखते हैं वे देखते हैं कि वे वरुण प्रभु "धृतव्रत" हैं—वे व्रतों को धारे हुए हैं, उनके व्रत अटल हैं, उनके नियम कभी टूट नहीं सकते; और वे "सुक्रतु" हैं—शोभन कमें ही करनेवाले हैं, उनसे कभी बुरा कमें हो ही नहीं सकता। हम भी यदि सत्य नियमों का कभी भंग न करनेवाले और सदा शोभन कमें करनेवाले हो जायेंगे तो उसी क्षण हमें वह सच्चा साम्राज्य मिल जायगा। वे महात्मा उस साम्राज्य को भोग रहे हैं जिनके लिए सत्य व्रतों का उल्लंघन और बुरा काम होना असंभव हो गया है। यह वह साम्राज्य है जिसके प्रथम दर्शन होने पर सब कालों और सब देशों के इस महापद को प्राप्त महापुरुष चिल्ला उठते रहें हैं—"मैंने जो पाना था वह पा लिया," मैं बादशाह हो गया", "मैं तो अमृत हूँ।"

सन्तों द्वारा प्राप्त किए गए इस महासाम्राज्य को "धृतव्रत" और "सुऋतु" बनकर हम भी पा लेवें, इसीलिए वे वरुण हमारे अन्दर बैठे हुए हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं।

शब्दार्थ वरणः वरुण धृतवतः अटल वर्तों के धारणकर्ता और सुक्रतुः सदा शोभन कर्म ही करनेवाले होकर साम्राज्याय साम्राज्य के लिए पस्त्यासु आ प्रजाओं के अन्दर आकर निषसाद बैठा हुआ है।

१. योगदर्शन १।१६ व्यास-भाष्य।

२. तै॰ उपनिषद्, शिक्षाच्याय १०।१

रार्रेशन-माता- यानदवा का मारा यान-समद्रभा

Diginged प्रभाव Sama Found Hou Channai and Gangotri

महो अर्णः सरस्वती म चैतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजिति ॥ —ऋ० १।३।१२

ऋषिः वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा । देवता सरस्वती । छन्दः गायत्री ।

विनय - ज्ञान की सच्ची जिज्ञासा होते ही यह अनुभव होने लगता है कि अरे, संसार में तो बड़ा ज्ञातन्य है; एक-से-एक अद्भुत विद्या है; जिस विषय में देखो उसी विषय में ज्ञान पाने का इतना क्षेत्र है कि मनुष्य कई जन्मों में भी उसका पार नहीं पा सकता। तब दीखता है कि मनुष्य के सामने न जाने हुए ज्ञान का एक अनन्त समुद्र भरा पड़ा है। यह देखनेवाले मनुष्य नम्र हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान का अभिमान नहीं रहता। ऐसे ही मनुष्य सरस्वती देवी की शरण में जाते हैं। सरस्वती देवी के झण्डे के नीचे आनेवालों को सबसे पहले तो यही पता लगा करता है कि ज्ञेय अनन्त है, हमारे ज्ञातव्य संसार का पार नहीं है और हम तुच्छ लोग तो अपनी क्षुद्र इन्द्रियों और बुद्धि को लिये हुए इसके एक किनारे खड़े हैं। विद्या देवी पहले तो इस बड़े भारी समुद्र को ही हमारे लिए प्रकाशित करती है; इसके पार तो पीछे पहुँचाती है। पहले हमें यह अनुभव होना चाहिए कि ज्ञेय अनन्त है। ज्ञान की अनन्तता तो हमें पीछे दीखेगी। सरस्वती देवी जिधर-जिधर अपने "केतु" को -अपने झण्डे को -ले जाती है अर्थात जिधर-जिधर अपनी प्रज्ञापक शक्ति को फिराती है, वहाँ-वहाँ पता लगता जाता है कि अरे, यह भी एक बड़ा उत्तम ज्ञेय-क्षेत्र है, यह भी एक वड़ा भारी ज्ञेय-क्षेत्र है। एवं हरेक क्षेत्र को हमारे लिए जगाती जाती है और फिर सब बुद्धियों को विशेष रूप से दीषित भी करती जाती है, अर्थात् जिस-जिस वस्तु की गहराई में जाकर हम जानना नाहते हैं, उस-उस वस्तु के तत्त्व को, उसके सच्चे स्वरूप को भी हमारे लिए चमका देती है। तब हम जिस विषयक बुद्धि पाना चाहें उसी विषय के ज्ञान को यह देवी हमारे लिए प्रदीप्त कर देती है। तभी अनुभव होता है कि सभी बुद्धियों में वही देवी प्रदीप्त हो रही है, वही चमक रही है, सर्वत्र उसी का राज्य है। सरस्वती देवी के सच्चे स्वरूप का या ज्ञान के आनन्त्य का (जिसके कि सामने ज्ञेय कुछ भी नहीं होता) अनुभव उसी अवस्था में पहुँचने पर होता है।

अतः वे मनुष्य जिन्हें अभी तक यह भी प्रकट नहीं हुआ है कि हमें ज्ञान का एक बड़ा भारी समुद्र पार करना है, वे समझ लें कि उन पर सरस्वती देवी की कुछ भी कृपा नहीं हुई है और उनके लिए वह दिन तो बहुत दूर है जब कि सरस्वती देवी उनके लिए सब बुद्धियों को

THE PURSULA OF HE I SHIWELD ST

दीपित कर देगी।

शब्दार्थ सरस्वती ज्ञान देवी केतुना ज्ञान द्वारा, प्रज्ञापक शक्ति द्वारा महः अणीः बड़े भारी ज्ञान-समुद्र को प्रचेतयित प्रकाशित करती है और विश्वा धियः सब प्रकाशित बुद्धियों को विराजित विशेषतया दीपित करती है।

१. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् । —योगसूत्र ३।३१

ZNOLL SOL राव देने रे रे ये दे ते के व स्त वाता की Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२६ चैवं

<u>त्रतो</u> विश<u>्वा</u>न्यद्धुता चिकित्वां श्राभ पश्यति। कृतानि या च कत्त्वी ॥ 一ऋ० शर्या११

ऋषिः आजीर्गातः शुनःशेपः । देवता वरुणः । छन्दः गायत्री ।

विनय इस संसार में हम बहुधा आश्चर्यचिकत कर देनेवाली घटनाएँ होते देखा करते हैं। इनका करनेवाला कौन है ? वैसे तो प्रतिदिन होने वाली बातों को भी यदि हम ह्यान से देखें तो हमको उनमें बड़ी अद्भुतता दीखेगी। ये अन्धकार और प्रकाश कितनी अद्भुत वस्तु हैं जिनका परिवर्तन हम रोज सायं-प्रातः देखते हैं! नन्हे-से बीज से बड़ा भारी वृक्ष बन जाना; अभी चलते-फिरते, हँसते-खेलते दीखते मनुष्य का एकदम ऐसा सो जाना कि फिर वह कभी न जग सकेगा; जीव से जीव पैदा हो जाना --ये सब भी वास्तव में कितनी अद्भृत बातें हैं ! परन्तु जब पृथिवी आग बरसाने लगती है और ज्वालामुखी फटने से सैकड़ों शहर बरबाद हो जाते हैं, भूकंप आते हैं, बड़े-बड़े साम्राज्य देखते-देखते मिट जाते हैं, थोड़े ही दिनों में एक मनुष्य, सितारे की तरह ऊँचा, यशस्वी हो जाता है या राजा रंक हो जाता है, तो इनमें अद्भूतता सभी अनुभव करते हैं। विज्ञान के आजकल के अद्भुत चमत्कारों को देखो ! सिद्ध साधु-सन्तों द्वारा हुई चिकत कर देनेवाली बातों को देखो ! ये सब संसार के एक-से-एक बढ़ करके अद्भुत हैं। इन सब अद्भुतों का करनेवाला कौन है ? हम लोग समझते हैं कि इनके करनेवाले मनुष्य हैं, मनुष्य की वैज्ञानिक शक्ति या संघशक्ति है; या कुछ भी नहीं है केवल प्रकृति का खेल है। पर जो "चिकित्वान्" (जाननेवाले) हैं उन्हें तो सब तरफ इन अद्भुतों का करनेवाला वही इन्द्र (परमेश्वर) दीखता है। उसी से ये सब संसार के आश्चर्य निकलते दीखते हैं। इन सब विविध आश्चर्यों को देखते हुए उनकी दृष्टि सदा उस एक इन्द्र पर ही रहती है। उनके लिए फिर ये आश्चर्य कुछ आश्चर्य नहीं रहते। प्रभु तो "गूँग को वाचाल करनेवाले और लँगड़े को भी पहाड़ लँघानेवाले" हैं ही। संसार में जो अद्भुत बातें हो चुकी हैं वे सब प्रभु की ही की हुई थीं; कल जो अद्भुत घटना होने वाली है, कोई तख्ता पलटने वाला है, वह भी उसी प्रभ की सहज लीला से ही होने वाला है। प्रभ की अपार लीला देखनेवाले ज्ञानी इसमें कुछ आइचर्य नहीं करते। वे अद्भुत से अद्भुत घटना में भी कार्य-कारण-भाव को देखते हैं।

अतः हे मनुष्य ! संसार के इन आश्चर्यों को देखकर चिकत होना छोड़ दो, किन्तु इनको देखकर इनके कर्त्ता को पहचानो । उस नट को पहचानो जो कि संसार को यह अद्भुत नाच

नचा रहा है।

शब्दार्थ - चिकित्वान् ज्ञानी पुरुष कृतानि या च कर्त्वा जो की जा चुकी हैं और जो की जायेंगी विश्वानि अद्भुतानि उन सब अद्भुत बातों को अतः इस परमेश्वर से हुई अभिपश्यित सब तरफ देखता है।

४२

त्रभाभवत की की भार यानाता है

रैं७ चैंत्र त्वं चे सोम <u>नो</u> वशो <u>जी</u>वातुं, न मेरामहे। <u>भि</u>यस्तो<u>त्रो</u> वनस्पतिः॥

ऋषिः राहूगणो गोतमः । देवता सोमः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे हृदयेश ! हे देव ! हे सोम ! जब तुम्हारी इच्छा हमें जीवित रखने की है तब हमें कोई मार नहीं सकता । यह अन्धा, अज्ञानी संसार बहुत बार तेरे भक्तों से द्वेष करने लगता है और उन्हें सताता है और उन्हें मारना तक चाहता है। भक्त प्रह्लाद को मारने की कितनी चेष्टायें की गई ! भक्त मीरा की जान लेने के लिए राजा ने कई बार यतन किया: भक्त दयानन्द को लोगों ने कई बार जहर दिया। पर तेरी इच्छा बिना कौन मर सकता है ? भक्त लोग इस तत्त्व को जानते होते हैं अतः वे आनन्दित रहते हैं। मरने से डरनेवाला यह संसार-तेरे ईश्वरत्व को न जाननेवाला यह संसार-यों ही भय-त्रास और मरणाशंका से मरा जाता है। पर भक्त देखते हैं कि जब तक तेरी इच्छा नहीं है तब तक उन्हें कोई मार नहीं सकता; और जब तेरी इच्छा होगी तब तो मरना भी उनके लिए उतना ही आनन्ददायक होगा जितना कि तेरी इच्छा से जीना आनन्ददायक है। ओह, इस ज्ञान के कारण वे भक्त जीवित ही अमर हो जाते हैं, अभिनिवेश के क्लेश से पार हो जाते हैं। वे संसार की किसी भयंकर से भयंकर वस्तू से भी न डरते हुए, तेरे स्तोत्र गाते हुए निर्भय फिरते हैं। प्यारे स्तोत्रों से तूझे रिझाना या तेरे स्तुतिगान से जगत् में भिक्त का प्रसार करना, यही उनका कार्य होता है। अपनी रक्षा व अरक्षा की चिन्ता वे तूझ पर छोड़ बेफ़िक हो जाते हैं। तू तो संभजन करनेवालों की रक्षा करनेवाला मौजूद ही है, तो उन्हें क्या चिन्ता ? अहा ! कैसी वैफ़िकी और निरापदता की अवस्था है ! कैसी अमृत्युता (अमरता) का आनन्द है !

शब्दार्थ—सोम हे सोम ! त्वं च तुम यदि नः हमारे जीवातं जीवित रहने की वशः इच्छा करते हो तो न मरामहे हम मर नहीं सकते । प्रियस्तोत्रः तुम प्रियस्तोत्रवाले हो और वनस्पतिः संभजन करनेवालों के रक्षक हो ।

प्रमा। में तो बत तरा ह

Mass py Ava Samar Foundation Chennal and eGangotri

श्द चैत्र श्रा हि व्या सूनवे <u>पि</u>तापियेर्जत्<u>या</u>पर्ये । स<u>खा</u> सख्ये वरेण्यः ॥ —ऋ० १।२६।३

ऋषिः आजीर्गातः शुनःशेपः । देवता अग्निः । छन्दः गायस्री ।

विनय संसार में पिता पुत्र-वात्सल्य से प्रेरित होकर पुत्र के लिए क्या नहीं करता ! बन्धु, बन्धु के लिए जी-जान से पूरी सहायता करता है, श्रेष्ठ मित्र अपने मित्र के लिए सब-कुछ अर्पण करने को उद्यत रहता है। पर हे प्रभो ! तुम मेरे सब-कुछ हो। तुम्हारे होते हुए मुझे किसी चीज की क्यों कमी रहनी चाहिए। तुमसे मेरा जो सम्बन्ध है वह घनिष्ठ, अटूट सम्बन्ध है; उसे मैं किस नाम से पुकारूँ? उस परिपूर्ण सम्बन्ध का वर्णन नहीं हो सकता। मैं संसार की भाषा में तुझे कभी पिता, कभी बन्धु, कभी सखा पुकारता हूँ। पर हे प्यारे ! हे मेरी आत्मा ! इन शब्दों से मेरा-तेरा वह सम्बन्ध व्यक्त नहीं हो सकता। जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे पैदा करनेवाले और लगातार पालनेवाले हो, तब मैं अपनी भिनत और प्रेम को प्रकट करने के लिए तुम्हें 'पिता-पिता' पुकारने लगता हूँ और तुमसे पुत्र-वात्सल्य पाने के लिए रोने लगता हुँ। जब मुझे तुम्हारे घनिष्ठ सम्बन्ध की याद आती है - उस अटूट सम्बन्ध की जो कि मेरा संसार में और किसी से भी नहीं है, तब मैं बन्धु-भाव में होकर तुमसे बातें करने लगता हूँ। और जब देखता हूँ कि मैं भी तुम्हारी तरह आत्मा हूँ और चेतन हूँ, तुम भले ही मुझसे बहुत बड़े 'वरेण्य' होओ, तो मैं सखा बनकर तुम्हें 'वरेण्य सखा' नाम से सम्बोधन करता हूँ । हे प्रभो ! तुम मुझे पुत्र-मानो, बन्धु या सखा मानो, कुछ मानो, हर तरह मैं तेरा हूँ और तुम मेरे हो । हे मेरे ! तो मुझ अपने को तुम कैसे छोड़ सकते हो ? मैं अपूर्ण अशक्त बालक तेरा हूँ इसलिए मेरी सहायता किये विना तुम कैसे रह सकते हो ? तुम परिपूर्ण हो, तुम्हें सदा मुझे देते रहने के सिवा और कार्य ही क्या है ? यही मेरे लिए तुम्हारा यजन है - तुम मुझे देते रही और मैं लेता रहूँ, यही तुम्हारी तरफ से मेरा यजन है। तुमसे मेरा सम्बन्ध इसी रूप में कायम है। वड़ा छोटे क़ी दिया ही करता है, इसलिए मैं क्या माँगूँ ? मेरी ज़रूरत को समझना और पूरी तरह पूर्ण करना; तुम स्वयं ही करोगे हे मेरे ! तुम स्बयं ही करोगे । बस, मैं तेरा हूँ, मैं तेरा हूँ, और क्या कहाँ ! हे मेरे सर्वस्व ! हे मेरे सब-कूछ ! मैं तेरा हाँ।

शब्दार्थ — पिता सूनवे पिता पुत्र के लिए हि स्म आयजित सर्वथा सहायता प्रदान करती है; कमी पूरी करता है आपिः आपये वन्धु, बन्धु के लिए वरेण्यः सखा सख्ये श्रेष्ठ मित्र, मित्र के लिए सर्वथा सहायता प्रदान करता है।

वैदिक विनय

-राव हिवियां परमात्मा को पर्वाती है

Diditizeo loviarva Samali Foundation Unennal anote Gandelin

रेह चैत्र

यच्चिद्धि शश्वता तनां देवं देवं यजामहे। त्वे इद्धूयते ह्वि:।। —ऋ० १।२६।६; साम० उ० ७।३।१

ऋषिः आजीर्गातः शुनःशेषः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय-हे देवाधिदेव, एक देव ! इस जगत् में दो प्रकार के नियम काम कर रहे हैं। एक शक्वत सनातन नियम हैं जो कि सब काल और सब देशों में सत्य हैं, सदा लागू हो रहे हैं। दूसरे वे नियम हैं जो कि भिन्त-भिन्त अवस्थाओं में ही सत्य हैं, जो कि स्थानिक हैं, स्वल्प-कालिक होते हैं। शब्वत् नियमों के अनुसार चलने से हे प्रभो ! तुम्हारा पूजन होता है और अशस्वत् अविस्तृत नियमों के अनुसार चलने से केवल उस-उस देव की तृष्ति होती है, उस-उस देव का यजन होता है। पर हे प्रभो ! इस परिमित अशाब्वत संसार में रहनेवाले हम परिमित अशाश्वत शरीरधारी प्राणी तुम्हारा यजन भी सीधा कैसे कर सकते हैं ? हम तुम्हारा यजन इन देवों द्वारा ही कर पाते हैं। फिर तुम्हारे यजन में और इन देवों के यजन में भेद यह है कि हम जी यज्ञ विस्तृत और सनातन दृष्टि से (भावना से) करते हैं वह तो इन देवों द्वारा तुम्हें पहुँच जाता है, और जो यज्ञ परिमित भावना से करते हैं वह इन देवों तक ही पहुँचता है। यदि हम अग्नि-होत्र अपनी वायुश्द्धि के लिए करते हैं तो यह अग्नि व वायुदेवता का यजन है, पर यदि हम यही अग्नि-होत्र संसार-चक्र को चलाने में अंगभूता बनकर करते हैं तो इस अग्नि-होत्र से तुम्हारा यजन होता है। यदि हम विद्या का संग्रह अपने सुख के लिए करते हैं तो यह सरस्वती देवी का यजन है, पर यदि यह हमारा ज्ञान तुम्हारी ही प्राप्ति के प्रयोजन से है तो यह सरस्वती . देवी द्वारा तुम्हारा पूजन है । इसी तरह अपनी मातृभूमि देवी का पूजन भी केवल स्वदेशोद्धार के लिए या जगत्-हित के लिए दोनों तरह का हो सकता है। यहाँ तक कि यदि हमारे अपने देह की रक्षा, हमारा नित्य का भोजन खाना भी सचमुच तुम्हारे ही लिए है तो यह दीखने वाली देह-पूजा भी असल में तुम्हारा ही यजन है। इसलिये सब बात भाव की है, हिव के प्रकार की है। हम सनातन और विस्तृत भावना से जिस भी किसी देव का यजन करते हैं, उन सब देवों के नाम से दी हुई हमारी हिव तुम्हें ही जा पहुँचती है। तब हमारा लक्ष्य तुम्हारी तरफ हो जाता है। अतएव जब हमारा एक-एक कार्य शक्वत् दृष्टि से सनातन नियमों के अनुसार होता है तब हमारे कमें से जिस किसी भी देव की पूजा होती दीखती है, वह सब पूजा असल में तुम्हारे ही चरणों में पहुँच जाती है।

शब्दार्थ शश्वता तना सनातन और विस्तृत हिव से यत् चित् हि देवं देवं यद्यपि हम भिन्न-भिन्न देवों का यजामहे यजन करते हैं हिवः पर वह हिव त्वे इत् तुझमें ही ह्रयते हुत होती ,है, तुझे ही पहुँचती है।

विकिध यहाँ में मुख्य रहार देती। सहिएक प्रश्री वर

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

वैत्र यमग्ने पृत्सु मत्र्ये त्रावा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः॥ —ऋ०१।२७।७

ऋषिः आजीर्गातः शुनःशेषः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय-इस संसार में मनुष्य को प्रत्येक अभीष्ट फल पाने के लिए लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं। संसार में नाना प्रकार के संघर्ष चल रहे हैं। हे प्रभो ! जिस मनुष्य की तुम इन संग्रामों में रक्षा करते हो अर्थात् जिस तुम्हारे अनन्य भक्त को सदा तुम्हारी सहायता मिलती रहती है, उस मनुष्य को नित्य अक्षय अन्न प्राप्त होते हैं। उसे रोटी के सवाल के लिए कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ती। वह इससे निश्चिन्त हो जाता है, क्योंकि उसे नित्य एक अन्न मिल जाता है जिससे कि वह सदा ही तृप्त बना रहता है। वह जानता है कि जिसे तूने यह शरीर दिया है और जो तू उसके इस शरीर की नाना तरह से रक्षा कर रहा है, वही तू उसके इस शरीर को अन्न भी देता रहेगा। सब दुनिया के पशु-पक्षियों की चिन्ता करनेवाला तू उसके शरीर की भी खुद चिन्ता करेगा, नहीं तो शरीर को ही वापस ले लेगा। वह जानता है कि अपने भक्तों के प्रति तेरी यह प्रतिज्ञा है ''तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं भजाम्यहम्"। भक्तों के योगक्षेम करने की चिन्ता तूने अपने ऊपर ले रखी है। बस, यही ज्ञान है जिसके कारण वे निश्चिन्त रहते हैं - तृप्त रहते हैं। यही ज्ञान "नित्य अन्न" है। यह रोटी का अन्न तो अनित्य है। आज खाते हैं, कल फिर भूख लग आती है। इससे नित्यतृष्ति नहीं प्राप्त होती; पर उस आत्म-ज्ञान को प्राप्त करके वे सदा के लिए तप्त हो जाते हैं। वे इसी आत्म-ज्ञान पर जीते हैं; रोटी पर नहीं जीते। अतएव रोटी न मिलने पर (शरीर छूटने पर) वे मरते भी नहीं; वे अमर हो चुके होते हैं। हम लोग रोटी पर ही जीते हैं और रोटी न मिलने पर मर जाते हैं। इस अनित्य अन्न (रोटी) के हमेशा मिलते रहने का प्रबन्ध करके यदि इसे नित्य बनाने का यत्न किया जाय तो भी यह नित्य नहीं बनता; नित्यतृष्तिकारक नहीं रहता, क्योंकि हमेशा अन्न मिलते रहने पर भी यह शरीर एक दिन बुड्ढा होकर छूट ही जाता है। रोटी उस समय उसकी तृष्ति व रक्षा नहीं कर सकती। अतः नित्य-अन्न तो ज्ञानतृप्ति ही है। हे परमेश्वर! इस युद्धमय संसार में तुम जिसके सहायक होते हो उसे यह शश्वत् अन्त देकर इस शश्वत् 'इष्' का स्वामी बना-कर-तुम अमर भी कर देते हो।

शब्दार्थ अग्ने हे अग्ने ! तू यं मत्यं जिस मनुष्य की पृत्सु अवाः युद्धों में रक्षा करता है और यं वाजेषु जुनाः और जिसे युद्धों में सहायता करता है सः वह मनुष्य शश्वतीः नित्य सनातन इषः अन्नों को यन्ता वश करता है —प्राप्त करता है।

वैशाख (मेष)

THE P

I WHO THE PERSON WHEN THE WAR IND

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

गले तथा गर्दन की स्वस्थता तथा नीरोगता लानेवाला

पूर्व-निर्दिष्ट (चैत्र मास में निर्दिष्ट) विधि के अनुसार खड़े होकर भुजायें फैलाइये। इस बार हथेलियाँ सामने की ओर हों। मुद्ठियाँ वाँधने के बाद सब मांसपेशियों (Muscles) को तान लीजिये। अब हाथों को धीमे-धीमे छाती के सामने तक लाइये कि दोनों हाथ मिल जाएँ। क्षण-भर ठहरकर दोनों हाथों को फिर वापस धीमे-धीमे ले जाइये। जब दोनों हाथों को छाती के सामने ले-जा रहे हों तो उस समय दीर्घ स्वास अन्दर लीजिए जिससे कि जिस समय दोनों हाथ सामने मिलों उस समय तक फेफड़े पूरी तरह से भर जायें और जब हाथों को वापस ला रहे हों तो स्वास को धीमे-धीमे बाहिर निकालिये।

अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिये और इस तरह इस व्यायाम को प्र-१० मिनट तक बार-बार कीजिये।

इस प्राणायाम को करते समय अपना मन गर्दन तथा गले पर एकाग्र कीजिए और इनको अपने सामने स्वस्थ और सर्वथा नीरोग हालत में चित्रित कीजिये।

ध्यान—किधर मेरे गर्दन तथा गले में अच्छी तरह संचरण कर रहा है। इस प्राणायाम से मेरी एक-एक नाड़ी और इन अङ्गों का एक-एक घटक पुष्टि पा रहे हैं। सब जीणं परमाणु निकल रहे हैं और मुझे बहुत नवीन जीवन मिल रहा है।

इन अङ्गों को गौणतया श्रावण, कार्तिक और माघ के व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है।

The partie of the color is a partie for the color of the parties of the color of th

AND THE POP AND A PERSON I STREET AND A THE THE POP AND A PART OF THE PART OF

ं अही आइन्यये। पाना म मान ध्यासी

१ वेशाख

श्रुपां मध्ये तस्थिवान्सं तृष्णां ऽविदत् जितारंम् । मृळा सुक्षत्र मृळयं ॥ —ऋ० ७।८६।४

ऋषिः वसिष्ठः । देवता वरुणः । छन्दः गायत्री ।

विनय — हे प्रभो ! क्या तुम्हें मेरी दशा पर तरस नहीं आता ? संत लोग मेरे-जैसों पर हुँस रहे हैं और कह रहे हैं, "मुझे देखत आवत हाँसी, पानी में मीन प्यासी।" सचमुच मैं तो पानी के बीच में बैठा हुआ भी प्यास से व्याकुल हो रहा हूँ। तेरे करुणा-सागर में रहता हुआ भी मैं दु:खी हूँ, संतप्त हूँ। जब तूने मेरी इच्छाओं को पूरा करने ही के लिए यह संसार एश्वयों से भर रखा है और तुम प्रतिक्षण मेरी एक-एक आवश्यकता को बड़ी सावधानी से ठीक-ठीक स्वयं पूरा कर रहे हो, तब मुझे अपने में कोई इच्छा या कामना रखने की क्या जरूरत है ? पर फिर भी न जाने क्यों मुझे अनेकों तृष्णायें लग रही हैं, सैकड़ों कामनायें मुझे जला रही हैं। हे नाथ! मैं क्या करूँ ? इस विषम दशा से मेरा कौन उद्धार करेगा ? हे उत्तम शक्ति वाले ! मैं इतना अशक्त हो गया हूँ - इतना निर्वल हूँ कि सामने भरे पड़े हुए पानी से भी अपनी प्यास बुझा लेने में असमर्थ हूँ। मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये, किन्तु कमजोरी इतनी है कि उसे मैं कर नहीं सकता। हे सिच्चदानन्दरूप ! मैं देखता हूँ कि आत्मा में सचमुच अपरिमित बल है, तो भी मैं उस वल को ग्रहण नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा अमूल्य ज्ञान-रत्नों का भंडार है, पर मैं इस रत्नाकर के बीच में बैठा हुआ भी ज्ञान का भिखारी बना हुआ हूँ। मैं जानता हुँ कि तुम मेरे आनन्दमय प्रभु सर्वदा सर्वत्र हो, सदा मेरे साथ हो, पर फिर भी मैं कभी आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता। अरे, मैं तो अमृत के सागर में पड़ा मरा जा रहा हूँ। तेरी अमृत-मय गोद में बैठा हुआ, स्वयं अमृतत्व होता हुआ बार-बार मौत के मुँह में जा रहा हूँ। हे नाथ ! अब तो मुझ पर दया करो ! मुझे इस विषम अवस्था से उबार लो ! अब तो मुझे सुखी कर दो ! हे परमकारुणिक ! हे सुक्षत्र ! मुझे इतना क्षत्र - इतना बल - तो दे दो कि मैं सामने भरे पड़े जल का सेवन तो कर सकूँ, इससे अपनी तृष्णा शान्त करके सुखी तो हो सकूँ। हे शक्तिवाले! जिस तूने मुझे इस पानी के सागर में रखा है, वही तू मुझे इसके पीने का सामर्थ्य भी प्रदान कर जिससे कि मैं अपनी प्यास बुझाकर सुखी हो सकूँ। हे नाथ! मुझे सुखी कर, सुखीं कर, अब तो अपनी शक्ति देकर मुझे सुखी कर ! यह तेरा स्तोता कब से चिल्ला रहा है, अब तो इसे सुखी कर दे !

शब्दार्थ — जरितारं मुझ स्तोता को अपां मध्ये तस्थिवांसं पानी के बीच में बैठे हुए भी तृष्णा प्यास अविदत् लगी है। सुक्षत्र हे शुभशक्तिवाले ! मृळ मुझे सुखी कर, मृळय सुखी कर। □

बैदिक विनय

वीनताः त्यागपूर्वकं पीवन में युढता

२ वैशाख ऋत्वं: समह दीनतां प्रतीपं जंगमा शुचे । मृळा सुंक्षत्र मृळयं।। —ऋ• ७।८९।३

्ऋषिः बसिष्ठः । देवता वरुणः । छन्दः आर्षी गायती ।

विनय हे मेरे तेजस्वी स्वामिन् ! मुझ दीन की प्रार्थना सुनो । मैं इतना दीन हूँ, इतना अशक्त हुँ कि अपने कर्तव्य के विरुद्ध आचरण कर देता हूँ। मैं जानता हुआ कि यह करना नहीं चाहिये, फिर भी कर देता हूँ। मैं कई शुभ संकल्प करता हूँ कि आज से नित्य व्यायाम करूँगा, नित्य सन्ध्या करूँगा, पर दीनतावश इन्हें निभा नहीं सकता। हृदय में कई अच्छी-अच्छी प्रज्ञायें (बुद्धियाँ) स्थान पाती हैं, पर झूठे लोक-लाज के वश मैं उन पर अमल करना नहीं शुरू करता। उनके विरुद्ध ही चलता जाता हूँ। यह मैं जानता होता हूँ कि मेरा "ऋतु" क्या है— कर्तव्य कर्म क्या है, अन्दर से दिल कहता जाता है कि तू उलटे मार्ग पर चला जा रहा है, फिर भी मैं दुर्वल किसी भय का मारा हुआ, उसी उलटे मार्ग पर चलता जाता हूँ। हे दीप्यमान देव! हे मेरे स्वामी ! तू मुझे वह तेज क्यों नहीं देता जिससे कि मैं निर्भय होकर अपने कर्तव्य पर डटा रहें, किसी के कहने से या हैंसी उड़ाने से उलटा आचरण करने को प्रवृत्त न होऊँ, किसी क्लेश से डरकर अपने "ऋतु" को न छोड़ूँ। मुझं यह अवस्था बड़ी प्रिय लगती है, पर दीनतावश मैं इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर रहा हूँ। हे 'सुक्षत्र' ! हे शुभ वलवाले ! मुझे अदीन बना दे। मैं दीनता का मारा हुआ तेरी शरण आया हूँ। इस दीनता के कारण मुझसे सदा उलटे काम होते रहते हैं और फिर मेरा अन्तरात्मा मुझे कोसता रहता है, इसलिए मैं सदा बेचैन रहता हूँ। हे प्रभो! मुझे सुखी कर। मुझमें तेज देकर मेरी बेचैनी दूर कर। इस अशक्तता के कारण मैं जीवन में पग-पग पर असफल हो रहा हूँ-मेरा जीवन बड़ा निकम्मा हुआ जा रहा है। हे प्रभो ! क्या कभी मेरे वे सुख के दिन न आयेंगे जब मैं अपने ऋतु पर दृढ़ रहा करूँगा, अपने संकल्पों पर अटल रहा करूँगा ? हे मेरे स्वामी ! ऐसी शक्ति देकर अब मुझे सुखी कर दो, मुझे सुखी कर दो।

शब्दार्थ समह हे तेजोयुक्त ! शुचे हे दीप्यमान ! दीनता दीनता, अशक्तता के कारण मैं ऋत्वः अपने ऋतु से, संकल्प से, प्रज्ञा से, कर्तव्य से प्रतीपं उलटा जगम चला जाता हूँ सुक्षव हे शक्तिवाले ! मृळ मुझे सुखी कर । मृळय मुझे सुखी कर ।

प्रसू के विस्थाग से जीवनयज्ञ में सफलता

३ वैशाखं यस्मद्विते न सिध्यति युज्ञो विपृश्चित्रश्चन। स <u>धी</u>नां योगमिन्वति।। —ऋ०१।१८।७

ऋषिः काण्वो मेघातिथिः । देवता सदसस्पतिः । छन्दः गायत्री ।

विनय-हममें से बहुत-से लोगों को अपनी अक्ल का-अपनी बुद्धि का-बहुत अधिक अभिमान होता है। वे समझते हैं कि वे अपनी अक्ल व चतुराई के बल पर हर एक कार्य में सिद्धि पा लेंगे। उन्हें अपने बुद्धि-बल के सामने कुछ भी दुःसाध्य नहीं दीखता। पर उन्हें यह मालूम नहीं कि बहुत बार उन्हें जिन कार्यों में सफलता मिलती है वह इसलिये मिलती है कि अत्रानक उस विषय में उनकी समझ (बुद्धि) प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल होती है। असल में तो इस जगत् का एक-एक छोटा-बड़ा कार्य उस प्रभु के योगबल (बुद्धियोग) द्वारा सिद्ध हो रहा है। हम मनुष्यों की बुद्धि जब प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल (जान-बूझकर अनुकूल होती है या अचानक) होती है तब हमें दीखता है कि हमारी बुद्धि से किया कार्य सफल हो गया। पर अचानक हुई अनुकूलता के कारण जो हमें अपनी सफलता का अभिमान हो जाता है वह सर्वथा मिथ्या होता है। वह हमें केवल धोखे में रखने का कारण बनता है, और कुछ नहीं। पर जो जान-बुझकर प्राप्त की गई अनुकूलता होती है वही सच्ची है। यदि मनुष्य अपने कार्यों की सिद्धि चाहता है अपने कार्यों को सफल-यज्ञ बनाना चाहता है, तो उसे यत्नपूर्वक अपनी बुद्धि को प्रभु से मिलाना चाहिए, अपनी बुद्धि का प्रभु में योग करना चाहिये। हमारी बुद्धि प्रभु से युक्त हो गई है-उसकी बुद्धि से जुड़ गई है-कि नहीं-यह पूरी तरह से निणीत कर लेना तो हम अल्पज्ञ पुरुषों के लिए सदा संभव नहीं होता। हमारे लिए तो इतना ही पर्याप्त है कि हम युक्त करने का यत्न करते जाये । प्रभु सत्यमय हैं अतः हमारी बुद्धि सदा सत्य और न्याय के अनुकूल ही रहे (हमारे ज्ञान में जो कुछ सत्यं और न्याय है, बुद्धि उसके विपरीत जरा भी निर्णय न करें) यह यत्न करना ही पर्याप्त है। हमारी बुद्धि के प्रभु से योग करने का यत्न जब परिपूर्ण हो जाता है अर्थात् इस योग में प्रभु व्याप्त हो जाते हैं, तभी वह कार्य सिद्ध हो जाता है। अतः हमें अपनी बुद्धियों का अभिमान छोड़कर, हमारे यज्ञ-कार्य में जो बड़े प्रसिद्ध अक्लमन्द लोग हैं उनके बुद्धिबल पर भरोसा करना छोड़कर, नम्र होकर अपनी बुद्धियों को सत्य और न्याय-तत्पर बन-कर प्रभु से जोड़ने का यत्न करना चाहिये। हम चाहे कितने बुद्धिमान् हों, पर हमें सदा अपनी बुद्धि प्रभु से जोड़कर रखनी चाहिये। प्रभु के अधिष्ठान के बिना कोई भी यज्ञ-कार्य सफल नहीं हो सकता।

शब्दार्थ —यस्मात् ऋते जिस प्रकाशक प्रभु के बिना विपश्चितः चन बड़े-बड़े बुद्धिमान् अक्लमन्द का भी यज्ञः यज्ञ न सिध्यति सिद्ध नहीं होता स वह प्रभु धोनां योगं इन्विति बुद्धियों के योग में व्याप्त हो जाता है।

वैदिक वितय

मरणशील मन्छों का यामरदेव ही स्तृत्य

Nee . NO 1631

४ वैशाखं तमध्<u>वरेषु ईळते देवं मर्त्ता</u> अमर्त्यम् । याजिष्ठं मार्<u>तुषे</u> जने ॥ —ऋ० ४।१४।२

ऋषिः आत्रेयः सुतम्भरः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय-नाना प्रकार के यज्ञों में जो हम विविध कमें करते हैं, असल में हम उन सब कमीं द्वारा उस अमर देव का ही पूजन करते हैं। हम मरणशील मनुष्यों को अमर देव के ही यजन करने की जरूरत है। प्रत्येक यज्ञ-कर्म का प्रयोजन यही है कि हम उस द्वारा मृत्य से पार हो जायें -- अमर हो जायें। यज्ञ मर्त्य को अमर बनाने के लिए ही है। पर हम यज्ञों द्वारा जिस अमर देव की पूजा करते हैं, वह अमरदेव कहाँ पर है ? सुनो, वह अमरदेव प्रत्येक मानुष्य जन में है, प्रत्येक मनुष्य में 'यजिष्ठ' होकर विद्यमान है। हमें प्रत्येक मानुष में उसका यजन करना चाहिये। इसीलिये कहा जाता है कि यज्ञ सब मनुष्यों के हित के लिए होता है। यज्ञ का स्वरूप परोपकार है-एक-एक मनुष्य का हितसाधन है। मनुष्यों की सेवा करना ही यज्ञ करना है। जितना हम मनुष्यों की सेवा करते हैं - मनुष्यों की पीड़ाओं और दु:खों को दूर करने के लिए निःस्वार्थ भाव से यत्न करते हैं -- उतना ही हमारे ये कार्य यज्ञ होते हैं। अग्निहोत्र द्वारा किए जानेवाले पुराने ऋतु-यागादि भी आधिदैविक देवों की अनुकूलता प्राप्त करके मनुष्य-जनता के हित के प्रयोजन से ही किये जाते थे। पर इतने से भी यज्ञ का तात्पर्य पूरा नहीं होता। मनुष्यों की जिस किसी प्रकार की सेवा करने से यज्ञ नहीं हो जाता। हमने तो प्रत्येक मनुष्य में उस अमरदेव का ही यजन करना है। जिस सेवा से मनुष्य के अमरदेव की सेवा नहीं होती, वह सेवा सेवा नहीं है; वह सेवा यज्ञ नहीं है। भोगविलास की सामग्री जटाने से बेशक मनुष्यों की तृष्ति होती दीखती है, पर यह मनुष्यों की सच्ची सेवा नहीं है। ऐसा 'परोपकार' यज्ञ नहीं, अयज्ञ है। इसी प्रकार भूखों को इस तरह अन्न देना, रोगियों को इस तरह औषध देना भी जो कि उनकी सच्ची उन्नति में उन्हें अमर बनाने में बाधक होवे, यह भी यज्ञ नहीं है। अर्थात् जनता की भौतिक उन्नति साधना तभी तक यज्ञ है जब तक कि यह भौतिक उन्नति उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही हो। आध्यात्मिक उन्नति करना ही-दूसरे शब्दों में-मृत्यं से अमर बनना है। आओ हम मर्त्य अमरदेव की पूजा करें, मनुष्य की ऐसी सेवा करने में अपने को खो देवें जो सेवा उनके अमर बनने में सहायक हो।

आर्थे समाज धशोद विहार हैव-1 दिल्बी—110052

शब्दार्थ — अध्वरेषु सब यज्ञों में मत्ती हम मरणशील मनुष्य तं अमर्त्य देवं उस अमर — कभी न मरने वाले — देव की ही ईळते पूजा करते हैं जो कि देव मानुषे जने प्रत्येक मनुष्य के अन्दर यजिष्ठं यजनीय है।

वैदिक विनय

र्विद्राद्धाः

Dignized by Arya Samar Foundation Chennal and eGangotri

५ वैशाख

य एक इत् तमुं ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। प्रतिजीके वृषेक्रतः॥ —ऋ० ६।४५।१६

ऋषिः बाहंस्पत्यः शंयुः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे मनुष्य ! तू किस-किसकी स्तुति करता फिरता है ? संसार में तो एक ही स्तुति के योग्य है। संसार में हम मनुष्यों का एक ही पति, पालक और रक्षक है। हे मनुष्य ! तू न जाने किस-किसको अपना पालक समझता है और उस-उसकी स्तुति करने लगता है। कहीं तू रुपये-पैसेवाले व्यक्ति को अपना रक्षक समझता है, कहीं तू किसी लब्धप्रतिष्ठ रोबदाबवाले व्यक्ति को अपना स्वामी वनाकर रहता है, कहीं तू किसी दार्शनिक व कवि की प्रज्ञा व प्रतिभा के स्तुति-गीत गाने लगता है, उनके ज्ञान व कवित्व पर तू मोहित रहता है। संसार में ऐसे भी मनुष्य वहुत हैं जो कि किन्हीं जीवित व जीवरहित आकृतियों के सौन्दर्य को देखकर ही ऐसे मोहित हो जाते हैं कि उनका मन उस सौन्दर्य की प्रशंसा करता नहीं थकता । परन्तु संसार में मनुष्य की स्तुति के पात्र बहुत नहीं हैं। एक ही है, केवल एक ही है; और वह इन सब स्तुत्य वस्तुओं का एक स्रोत है। सैकड़ों की स्तुति न कर; इन शाखाओं की स्तुति करने से कल्याण नहीं होता—रक्षा नहीं मिलती । रूप, रस आदि ऐन्द्रियक विषयों की स्तुति तो मनुष्य का विनाश ही करती है, पालन कदापि नहीं। इनकी स्तुति तो अति-अज्ञानी पुरुष ही करते हैं। पर जो संसार में हमारे अन्य रक्षा करनेवाले बल, ज्ञान और आनन्द हैं (बली, ज्ञानी और सुखी लोग हैं) वे भी "विचर्षणि" "वृषऋतु" नहीं हैं, उनमें ज्ञान और बल पर्याप्त नहीं है। संसार के ये सब बल, ज्ञान और आनन्द तो उस एक सच्चिदानन्द महासूर्य की क्षुद्र किरणें मात्र हैं। इन किरणों की स्तुति करने से अपने को बड़ा घोखा खाना पड़ेगा। हे मनुष्य ! ये संसार के क्षुद्र बल और ज्ञान मनुष्य का पालन न कर सकेंगे, ये बीच में ही छोड़ देंगे। इनमें पूरा ज्ञान और बल नहीं है। अतः इनमें आसक्त होकर इनकी स्तुति मत कर। स्तुति उस 'मनुष्यों के एक पति' की कर, जो "विचर्षणि" होता हुआ पालक है और "वृषऋतु" होता हुआ पालक है। वह एक-एक मनुष्य को विशेषतया देख रहा है। प्रत्येक मनुष्य को और उसके सब संसार को वह इतनी अच्छी तरह देख रहा है कि प्रत्येक मनुष्य यही अनुभव करेगा कि उस मेरे प्रभ को मानो एकमात्र मेरी फ़िक है। और उस पालक पति का एक-एक ऋतु, एक-एक संकल्प, एक-एक कर्म ऐसा 'वृष' अर्थात् बलवान् है कि उसकी सफलता के लिए उसे दुबारा संकल्प व यत्न करने की जरूरत नहीं होती। हे मूर्ख मनुष्य ! अपने उस 'पित' की ही स्तुति कर; उसकी सैकड़ों किरणों की स्तुति छोड़कर उस असली सूर्य की ही स्तुति कर, उस एक की ही स्तुति कर।

शब्दार्थ—य एक इत् जो एक ही है और जो कृष्टीनां मनुष्यों का विचर्षणिः सर्वेद्रष्टा और वृषकतुः सर्वशक्तिमान् पतिः पालक जजे हुआ है तं उ उसकी ही स्तुहि तू स्तुति कर।

प्रमा के रमाण के निराल दंश

दे वैशास महीर्रस्य प्रणीतयः पूर्वी<u>ख</u>त प्रश्नस्तयः ॥ नास्ये क्षीयन्त <u>ज</u>तयः॥ —ऋ० ६।४५।३ ऋषिः बार्हस्पत्यः शंयुः। देवता इन्द्रः। छन्दः गायत्री।

विनय—मैं क्या बतलाऊँ प्रभु किन-किन अद्भुत ढंगों से मनुष्य को उन्नत कर रहे हैं। जब मनुष्य रोता और पीटता रहता है, जब उसके अन्दर ऐसे युद्ध चल रहे होते हैं कि उसे विफलता पर विफलता ही मिलती जाती है, पीछे से पता लगता है कि उस समय में, उन्हीं दिनों में उसने अपनी उन्नति का बड़ा रास्ता तै कर लिया होता है। मनुष्य प्रम् की कल्याणमयी घटनाओं को नहीं समझ पाता कि उन घटनाओं से कभी सूदूर भविष्य में - उसका कल्याण कैसे सधेगा। प्रभ के उन्नत करनेवाले मार्ग इतने महान् और विशाल हैं कि अल्पदृष्टि मनुष्य उन्हें पूर्णता में कभी नहीं देख सकता, अतएव वह कल्याण की तरफ जाता हुआ भी घत्रराया रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति स्वभाव के अनुसार अपने अपने निराले ढंग से उन्नत व विक-सित हो रहा है। जब मनुष्य अपने ही उन्नित-मार्ग को नहीं समझ पाता तो उसके लिए दूसरे मनुष्यों के विकास का दावा भरना कितना कठिन साहस है ! उस अगम्य लीला वाले प्रभ की जिस 'प्रणीति' से जिस व्यक्ति ने उन्नति पायी होती है वह व्यक्ति उसी रूप में उस प्रभू के गीत गाता फिरता है। इस तरह अनादिकाल से मनुष्य नाना प्रकार से उसकी प्रशस्तियाँ गाते आ रहे हैं और गाते रहेंगे। मनुष्य उसकी स्तुतियों का कैसे पार पावें ? भक्त पुरुष तो उस प्रभु की रक्षाओं का-रक्षा के प्रकारों का-ही अन्त नहीं देखता। प्रभू की रक्षण-शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। वहाँ से रक्षणों का एक ऐसा सनातन प्रवाह बह रहा है कि वह सब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंगों की, सब स्थावर और अस्थावर जगत् की, एक ही समय में अकल्पनीय तरीकों से रक्षा कर रहा है। मनुष्य अपने पिछले कुछ अनुभवों के आधार पर सोचता है कि ऐसा होने से मेरी रक्षा हो जायगी, अतः वह वैसा ही होने की प्रभु से प्रार्थना करता है और वैसी ही आशा करता है। पर इस बार प्रभु एक बिलकुल नये मार्ग से रक्षा करके मनुष्य को आश्चर्यचिकत कर देते हैं। एवं नये से नये अकल्पनीय ढंगों से मनुष्य को प्रभु का रक्षण मिलता जाता है। तब पता लगता है कि प्रभु संसार का सब प्रकार से कल्याण ही कर रहे हैं। हम मानें या न मानें, पर वे तो हमें मारते हुए भी हमारी रक्षा कर रहे हैं। अहो, देखो उस प्रभु के उन्नित-मार्ग महान् हैं, उसकी रक्षा के प्रकार अनन्त हैं, सब जाननेवाला संसार उसकी स्तुतियाँ ही स्तुतियाँ गाता है।

शब्दार्थ अस्य इस परमेश्वर के प्रणीतयः आगे ले जाने के उन्नत करने के मार्ग महीः बड़े हैं उत प्रशस्तयः पूर्वीः और इसकी प्रशंसाएं सनातन हैं अस्य उत्तयः न श्रीयन्ते इसकी रक्षायें कभी क्षीण नहीं होतीं।

प्रमु कुपा से

ज्त नं: सुभगाँ श्रारिकींचेर्युर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेत् इन्द्रंस्य शर्मणि।। —ऋ०१।४।६
ऋषिः वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा । देवता इन्द्रः। छन्दः गायत्री।

विनय हे पापों और बुराइयों का उपक्षय करनेवाले जगदीश्वर! तुम्हारी कृपा से मैं इतना उच्च हो जाऊँ कि मेरी अच्छाइयों का बखान मेरे शतु भी करें। मेरी तरफ से तो मेरा कोई शत्रु नहीं होना चाहिये, पर जो मेरे प्रतिद्वन्द्वी हैं जिनके कि विचार मेरे विचारों से नहीं मिलते, जो कि मेरे वायुमण्डल से बिलकुल उलटे वायु-मण्डल में रहते हैं उन मेरे विरोधी भाइयों के लिए यह स्वाभाविक होगा कि उनके कानों में सदा मेरे अवगुण ही पहुँचें और उनका दृष्टिकोण ही ऐसा होगा कि उन्हें मेरी बुराइयाँ ही सहज में दिखाई देवें। पर हे प्रभो! यदि मेरा जीवन बिलकुल पित्र होगा, मेरे आचरण में सर्वथा सचाई और शुद्धता होगी तो मेरे जीवन का उस दूरस्थ (विचारों से मुझसे दूर रहनेवाले) भाई पर भी असर क्यों न होगा? बस, हे प्रभो! मेरे अन्दर से सब बुराइयों का नाश करके मुझे ऐसा उच्च बना दो कि जो मुझसे इतनी विपरीत परिस्थिति में रहते हैं उन पर भी मेरी अच्छाई की, उच्चता की, छाप पड़े बिना न रहे। सामान्य मनुष्य तो मुझे अच्छा कहेंगे ही, मेरी स्तुति करेंगे ही, पर इन विरोधियों के अन्तः करण भी मेरी विश्वद्धता को पहचानें, यही इच्छा है। अपने सच्चे विरोधियों से जो यश मिलेगा वह खरा यश होगा, उसमें अत्युक्ति आदि का खोट न होगा। मित्रों और उदासीनों से तो यश मिला ही करता है, उसमें कुछ विशेषता नहीं, उसका कुछ मूल्य नहीं।

पर हे प्रभो ! इस यश को पाकर मैं फूल नहीं जाऊँगा, तुम्हें भूल नहीं जाऊँगा, बिक इस यश को भूला रहकर सदा तुम्हारी ही याद में सुखी रहूँगा। यह यश तो मेरी विशुद्धता की पहचान मात्र होगा, यह मेरे सुख का कारण कभी नहीं होगा। मेरा सुख तो तुम्हारी शरण में है। बाहरी दुनिया चाहे मेरी घोर निन्दा करे, मुझे अपमानित करे, तो भी मैं तेरे प्रसाद से पाये सुख से वैसा ही सुखी रहूँगा जैसा कि बाहिरी यश पाने पर हूँ। मेरा सुख या दु:ख बाहिरी यश या अपयश पर अवलम्बित न होगा। हे प्रभो ! ऐसी कृपा करो कि तुझ परमेश्वर की प्रसन्नता से पाये हुए सुख में ही मैं सदा सुखी, आनन्दित और सन्तुष्ट रहूँ। बाहिरी यश द्वारा सुख पाने की चाह मुझे कभी उन्पन्न न हो, बाहिरी यश मिलते होने पर भी उस यश से सुख पाने की चाह

मुझे कभी न उत्पन्न हो। मैं तुम्हारे ही सुख में रहूँ।

शब्दार्थ वस्म हे पापनाशंक इन्द्र ! अरिः उत शत्रु भी नः सुभगान् [वीचेयुः] हमारी अच्छाइयों को, हमारे सीभाग्यों को कहें कृष्टयः वोचेयुः सामान्य मनुष्य तो कहें ही। फिर भी हम इन्द्रस्य इत् तुझ परमेश्वर के ही शर्मण सुख में स्थाम रहें, होवें।

ALT STEELS ESTATE STEELS CONTRACTION OF THE PROPERTY OF THE PR

द वैशाख-व्यं सीम वृते त्व मनस्तुनुषु विश्वतः। मुजावन्तः सचेमहि॥ ऋ० १०।५७।६

ऋषिः बन्धु सुबन्धु आदयः। देवता विश्वे देवाः। छन्दः गायत्री।

विनय है सोम! तुम्हारा दिया हुआ, तुम्हारी महाशक्ति का अंशभूत मन हमारे शरीरों में विद्यमान है। इस मन का इस तुम्हारी अमूल्य देन का हमें गर्व है। इस मन के कारण ही हम मनुष्य हैं। इस मननशक्ति के कारण ही हम पशुओं से ऊँचे हुए हैं। तो क्या अपने शरीरों में मन-जैसी प्रबल शक्ति को धारण किए हुए भी हम लोग तुम्हारे वत में न रह सकेंगे? वेशक तुम्हारे वत का पालन करना वड़ा कठिन है। तुमने जगत् में जो उन्नित के नियम बनाये हैं, ठीक उनके अनुसार चलना बड़ा दु:साध्य है। पर जहाँ तुमने ये कठिन नियम बनाये हैं वहाँ तुमने ही हममें मन की अतुल शक्ति भी दी है। अतः हमारा दृढ़ निश्चय है कि हम अपनी मनःशक्ति के प्रयोग द्वारा सदा तुम्हारे वत में ही रहेंग्रे कभी इसको भंग न करेंगे कठिन से कठिन प्रलोभन व विपत्ति के समय में भी मनःशक्ति द्वारा वत में स्थिर रहेंगे।

पर यह सब वृतपालन किसलिए है ? यह तुम्हारी सेवा के लिए है । यह तुम्हारा दिया मन इसी काम के लिए है । हम चाहते हैं कि केवल यह हमारा मन ही नहीं, किन्तु हमारे मन की प्रजा भी तुम्हारी सेवा में ही काम आवे । मन में जो एक रचना-शक्ति (Creative Power) है, उस द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कुछ रचना कर जावे, कुछ निर्माण कर जावे । यह रचना ही मन की प्रजा है । यदि हम, हे सोम ! सर्वथा तुम्हारे वृत में होंगे तो हमारी यह रचना (प्रजा) भी नि:सन्देह तुम्हारी सेवा के लिए ही होगी—इसी में व्यय होगी। एवं हम और हमारी प्रजा सदा तुम्हारी सेवा में रहें, तुम्हारी सेवा में ही अपना जीवन बिता देवें। अब यही संकल्प है, यही इच्छा है, यही प्रार्थना है।

, जालक विसा के यह गण प्रकार को गण है। में पूर्व हो गणा है। से पूर्व प्रमास करते याचे के कार्यावर्णक विसार कुल कुल की गणा को सब तरह से पहले हुए में तो बरणों में पढ़ा

शब्दार्थ सोम हे सोमदेव ! तनूषु अपने शरीरों में मनः मन को, मनःशक्ति को विस्नतः धारण किये हुए वयं हम लोग तव वते तुम्हारे वत में हैं जुम्हारे वत का पालन करते हैं और प्रजावन्तः प्रजा-सहित हम लोग संवेमहि तुम्हारी सेवा करते रहें।

वैदिक विन्य

10 6 17.

शात्मातीवन निर्माणा

ह वैशाख श्रहमिद्धि <u>पितु</u>ष्परि मेथामृतस्ये अग्रमे। श्रहं सूर्यं इवाजनि ॥

—ऋ o दादा१०; सामo पूo रारादाद; अथर्वo रार१४।१

ऋषिः काण्वो वत्सः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्रो ।

विनय-मैं सूर्य के सदृश हो गया हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि मैं मनुष्यों में सूर्य बन गया हुँ। मुझ सूर्य से सत्यज्ञान की किरणें सब तरफ निकल रही हैं। जैसे इस हमारे सूर्य से प्राणिमात्र को ताप, प्रकाश और प्राण मिल रहा है, सबका पालन हो रहा है, इसी तरह मैं भी ऐसा हो गया हूँ कि जो कोई भी मनुष्य मेरे सम्पर्क में आता है उसे मुझसे ज्ञान, भिक्त और शक्ति मिलती है। मैं कुछ नहीं करता हूँ पर मुझे अनुभव होता है कि मुझसे स्वभावतः जीवन की किरणें चारों तरफ निकल रही हैं और चारों तरफ के मनुष्यों को उच्च, पवित्र और चेतन बना रही हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है, मैंने तो प्रभु के आदित्य-(सूर्य)-रूप की ठीक तरह से उपासना की है अत: उनका ही सूर्यं रूप मुझ द्वारा प्रकट होने लगा है। मैंने बृद्धि द्वारा सूर्य की उपासना की है। मनुष्य का बुद्धिस्थान (सिर) ही मनुष्य में चुलोक (सूर्य का लोक) है। मैंने अपनी बुद्धि द्वारा सत्य का ही सब तरफ से ग्रहण किया है और ग्रहण करके इसे धारण किया है। धारण करनेवाली बुद्धि का नाम ही 'मेधा' है। इस प्रकार मैंने मेधा को प्राप्त किया है, युलोक के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर युलोक को अपने में ग्रहण किया है, इसीलिये मैं सूर्य के समान हो गया हूँ। द्युलोक में स्थित प्रभु का रूप ऋतरूप है, सत्यरूप है। मैंने अपनी सब बुद्धियाँ, सब ज्ञान, उन सत्यस्वरूप पिता से ही ग्रहण किये हैं। मैंने इसका आग्रह किया है कि मैं सत्य को ही-केवल सत्य को ही-अपनी बुद्धि में स्थान दूंगा। इस तरह मैंने प्रभु के द्युरूप की सतत उपासना की है, ऋत की मेधा का परिग्रह किया है। इस सत्यबुद्धि के धारण करने के साथ-साथ मुझमें भक्ति और शक्ति भी आ गई है, मेरा मन और शरीर भी तेजस्वी हो गया है। पालक पिता के सब गुण मुझमें प्रकट हो गए हैं। मैं सूर्य हो गया हूँ। हे मुझे सूर्यसमान करने वाले मेरे कारुणिक पिता! तुझ ऋत की मेधा को सब तरह से पकड़े हुए मैं तेरे चरणों में पड़ा हुआ हूँ।

शब्दार्थ अहं इत् मैंने तो हि निश्चय से पितुः पालक पिता ऋतस्य सत्यस्वरूप परमेश्वर की मेघां धारणावती बुद्धि को परिजग्रभ सब तरफ से ग्रहण कर लिया है, अतः अहं मैं सूर्य इव सूर्य के समान अज नि हो गया हूँ।

वैदिक विजय

TYH2 92 AT AT H-2

९० नैशास सर्मस्य <u>म</u>न्य<u>वे</u> वि<u>श्</u>यो विश्वा नमन्त कृष्ट्यः । सुमुद्रार्थेव सिन्धेवः ॥

—ऋ० दा६।४ ; साम० पू० २।१।५।३ ; अथर्व० २०।१०७।१ ऋषिः काण्वो वत्सः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय--इन्द्र परमेश्वर जहाँ हमारे पिता हैं, उत्पादक और पालक हैं, वहाँ वे हमारे कल्याण के लिए रुद्र भी हैं, संहारकर्त्ता भी हैं। जब जगत् में किसी स्थान पर संहार की आव-श्यकता आ जाती है तो प्रभु अपने मन्यु को प्रकट करते हैं, मानो अपना तीसरा नेत्र खोल देते हैं, अपने तीसरे रूप को प्रकाशित करते हैं। उस कल्याणकारी शिव के मन्यु का तेज जब देदीप्य-मान होने लगता है तो सब नाश होने योग्य संसार पतंगे की तरह आ-आकर उसमें भस्म होने लगता है; मन्यु का पात्र कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता, सब वहे चले आते हैं। देखो, समय-समय पर बड़े-बड़े संग्राम, दुष्काल या महामारी आदि रूपों में प्रभु का वह महाबल वाला मन्यु जगत् में प्रकट होता रहता है। सब मनुष्य अपने विनाश की तरफ खिंचे चले जा रहे होते हैं पर उन्हें यह मालूम नहीं होता । जैसे कि सब नदियाँ समुद्र की तरफ बही चली जा रही हैं कि उसमें जाकर समाप्त हो जायेंगी, लीन हो जायेंगी, उसी तरह प्रभु का मन्यु काल-समुद्र बनकर उन सब प्राणियों को अपनी तरफ खींचता जा रहा है जिनका कि समय आ गया है। मनुष्यों के किये हुए पाप उन्हें विनाश की ओर वेग से खींचे ले-जा रहे हैं। जिन्होंने इस संसार को जरा भी तह के अन्दर घुसकर देखा है, वे देखते हैं कि किस-किस विचित्र ढंग से मनूष्य अपने मत्यु-स्थल की तरफ खिंचे चले जा रहे हैं। धन्य होते हैं अर्जुन-जैसे दिव्यदृष्टिपात-पुरुष जिन्हें कि काल का यह आकर्षण दिखाई दे जाता है और जो देखते हैं कि "यथा नदीनां वहवोऽम्बवेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति । तथा तवामी नरलोक वीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिज्वलन्ति ।" हम लोग तो मौत के मुँह में घुसे जा रहे होते हैं पर कुछ पता नहीं होता। हममें से अपनी शक्तियों का बड़ा गर्व करनेवाले बड़े-बड़े प्रख्यात लोग जिस समय संसार को जितने अभिमान के साथ अपना पराक्रम दिखा रहे होते हैं, उसी समय वे उतने ही वेग से मृत्यु की तरफ दौड़े जा रहे होते हैं; पर उन्हें कुछ पता नहीं होता। जब उनका सब ठाठ एक क्षण में गिर पड़ता है, सामने मौत खड़ी दीखती है, तब जाकर प्रभु का रुद्ररूप उन्हें दीख पड़ता है। प्यारो ! तब तुम अभी से क्यों नहीं देखते कि उसके मन्यु के सामने सब संसार झुका पड़ा है ? पापी होकर कोई भी मनुष्य उसके सम्मुख खड़ा नहीं रह सकता, जिससे तुम अभी से उसके मन्यु का पात्र न बनने की समझ पा सकी।

शब्दार्थ —अस्य इस परमेश्वर की मन्यवे मन्यु, 'क्रोध', दीप्ति के सामने विश्वा विशः सब प्रजायें कृष्टयः सब मनुष्य सं नमन्त ऐसे झुक जाते हैं समुद्राय इव सिन्धवः जैसे कि नदियाँ समुद्र में समा जाने के लिए उधर स्वयं बही जाती हैं।

बैदिक विनय

M Salled by Arabamat Country on Change Spring Country of the Count

११ वैशाखं नामानि ते शतक्र<u>तो</u> विश्वाभिः गीभिः ईमहे। इन्द्रां श्रंभि<u>मा</u>तिषाह्ये।। —ऋ० ३।३७।३ ; अथर्व० २०।१९।३ ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः गायत्रो।

विनय हे परमेश्वर ! मुझे यह वाणी तेरे नामोच्चारण के लिए ही मिली है। मैं निरन्तर तेरे पवित्र नामों का उच्चारण करता रहता हैं। तेरी दी हुई इस वाणी से मैं अन्य कुछ कर ही नहीं सकता; कोई भी निरर्थक वात, कोई भी अनीश्वरीय बात, मेरी वाणी से नहीं निकल सकती। मेरे एक-एक कथन में तेरी ही धुन होती है, तेरा ही निवास होता है। हे इन्द्र ! मैं इस प्रकार अपनी सब वाणियों से नानारूप में तेरे हीं नामों का कीर्तन करता रहता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूँ तो मैं अपने शत्रुओं को कैसे पराजित कर सकूँ ? उनसे कैसे रिक्षत रहूँ ? तेरा पवित्र नामोच्चारण करता हुआ ही मैं निरन्तर सब शत्रुओं पर विजयी हुआ हूँ और हो रहा हूँ। मेरा सबसे वड़ा शतु "अभिमाति" है, अभिमान है। आजकल इस महाशतु को मार डालने के लिए विशेषतया तेरा नाम मेरा महाअस्त्र हो रहा है। जब मनुष्य के काम, क्रोध आदि अन्य शतु जीते जा चुके होते हैं, मनुष्य आहिमक उन्नति की ऊँची अवस्था को पहुँचा होता है, तब भी यह अभिमान, अस्मिता, अहंकार, मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता। यही है जो अविद्या का कुछ अंश शेष रहने तक भी आत्मा का मुकाबिला करता रहता है। यही है जो कि, हे मेरे परमेश्वर ! मुझे अन्त तक तुमसे जुदा किये रहता है। जब मनुष्य खूब उन्नत हो जाता है, तब उसे और कुछ नहीं तो, अपनी उन्नतावस्था का, अपने पुण्यात्मा होने का अभिमान हो जाया करता है। यह अभिमान ही मनुष्य को बिल्कुल पतित कर देने के लिए पर्याप्त होता है। इसीलिये हे शंतऋतो ! हे अनन्तवीर्य ! हे अनन्तप्रज्ञ ! इसीलिए मैं निरन्तर तेरे नाम को जपता रहता हूँ, जीभ पर तेरा परमपवित्र नाम रखे फिरता हूँ। जब जरा भी अभिनान मन में आता है "यह बड़ा भारी काम मैं कर रहा हूँ" "यह मैंने किया" तो तुरन्त मेरे हाथ जुड़ जाते हैं और मुख से तेरा नाम निकल पड़ता है। इस तरह इस महाशत्रु से मेरी रक्षा हो जाती है। तेरा नाम मुझे तुरन्त नमा देता है, तेरा स्मरण आते ही में अवनत-शिर होकर भूमि पर मस्तक टेक देता हूँ। तब उस महाबली अभिमान को क्षण-भर में विलीन हो चुका पाता हूँ, चारों तरफ कोसों दूर तक उसका पता नहीं होता; सब पृथिवी पर तुम ही तुम होते हो, और मैं तुम्हारे चरणों में। मैं उस समय तेरे पृथिवी रूप विस्तृत चरणों में लगो हुई धूल का एक परम तुच्छं कण बनकर निरिभमानता के परम-परम सात्त्विक सुख का उपभोग पाता हुँ। हे नाथ ! तेरे नाम की अपार महिमा का मैं क्या वर्णन करूँ!

शब्दार्थ शतकतो हे अनन्तकर्म ! हे अनन्तप्रज्ञ ! विश्वाभिः गीभिः मैं अपनी सब वाणियों से ते नामानि तेरे नामों को ईमहे लेता रहता हूँ; इन्द्र हे परमेश्वर ! अभिमातिषाह्ये शत्रु का अभिमान शत्रु का पराभव करने के लिए तेरा नाम लेता हूँ।

Digitized by April Samai Foundation Chestral and eGangotti.

ऋषिः प्रगाथः काण्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय-हे मनुष्यो ! तुम अपने परमात्मा से प्रेम क्यों नहीं करते ? जहाँ हरिकथा होती है वहाँ से तो तम भाग आते हो। बार-बार प्रभ-चर्चा होती देखकर तुम ऊवते हो, जबकि विषयों की चर्चायें सुनने के लिए सदा लालायित रहते हो। तुम्हें उस अपने पिता से इतना. हटाव क्यों है ? तुम चाहे जो करो, वह देव तो तुम्हें कभी भुला नहीं सकता । वह तो तुम्हें प्रेम से अपनी तरफ आकर्षण ही कर रहा है, संदा आकर्षण कर रहा है, निरन्तर अपनी तरफ खींच. रहा है। तुम जानो या न जानो, पर वह अत्यंत समीपता के साथ माता की तरह तुम-पुत्रों की निरंतर परिचर्या भी कर रहा है। वह परमेश्वर हमारे रोम-रोम में रमा हुआ, हमारे एक-एक ववास के साथ आता-जाता हुआ, हमारे मन के एक-एक चिंतन के साथ तद्रुप हुआ-हुआ, और-क्या कहें, हमारी आत्मा की आत्मा होकर, एक अकल्पनीय एकता के साथ हमसे जुड़ा हुआ है। हमें संसार में जो कुछ प्रेम, आराम, वात्सल्य, भोग, सेवा, सुख मिल रहा है वह किन्हीं इच्ट मित्रों या प्राकृतिक वस्तुओं से नहीं मिल रहा है, वह सब हमारे उस एक अनन्य सम्बन्धी परम-दयालु प्रभु से ही मिल रहा है। वह केवल हमें अपनी तरफ खींच ही नहीं रहा है, अपित इतनी समीपता से निरन्तर हमारी सेवा भी कर रहा है, प्रेमप्रेरित होकर हमारी खिदमत कर रहा है, हमारा पालन, पोषण, रक्षण, दुःखनिवारण, आदि सब परिचर्या कर रहा है। अरे ! वह तो कहीं छिपा हुआ भी नहीं है। उसके और हमारे बीच में कोई भी आवरण नहीं है। उसे ढका हआ, आच्छादित भी कौन कहता है ?

है मनुष्यो ! सच बात तो यह है कि यदि हम उसके इस प्रेमाकर्षण को जानने लग जायँ— वे प्रभु देव सदा प्रेम से हमें अपनी तरफ खींच रहे हैं, यह हम सचमुच अनुभव करने लग जायँ, तो हमें यह भी दीख जाय कि वे हमारे अत्यन्त निकट हैं और अत्यन्त निकटता के साथ हमारी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं; और फिर एक दिन हमें यह भी दिख जाय कि वे सब ब्रह्माण्ड के रच-यिता महापराक्रमी इन्द्र प्रभु—जिनके विषय में परोक्षतया हम इतनी बातें सुना करते थे, वे— हमसे किसी आवरण से ढके हुए भी नहीं हैं। वे प्रत्यक्ष हमारे सामने हैं और यह दीख जाना ही परमात्मा का साक्षात्कार करना है, परम प्रभु को पा लेना है।

शब्दार्थ है मनुष्यो ! इन्द्रः परमेश्वर वः तुम्हें सदा सदैव आचक पत् अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है। सः वह नु निःसंदेह उप उ समीप ही, समीपता के साथ सपर्यन् तुम्हारी सेवा करता हुआ है। शूरः इन्द्रः देवः वह महापराक्रमी इन्द्रदेव वृतः ढका हुआ, आच्छादित न नहीं है।

3%.

Digitized by Arya Saniaj Coundation Chennai and eGangotri

१३ वैशाख जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पोन्ति । त्रा दृळहां पुरं विविद्युः ॥ —ऋ० ४।१९।२

ऋषिः आत्रेयो विद्रः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय-एक नगरी है जो कि बिलकुल दृढ़ है, अभेद्य है; इसमें पहुँच जाने पर किसी भी शत् का हम पर आक्रमण सफल नहीं हो सकता। क्या कोई उस स्थान पर पहुँचना चाहता है ? वहाँ पहुँचने का मार्ग कुछ विकट है, कड़ा है, आसान नहीं है । वहाँ पहुँचनेवालों को ज्ञान-पूर्वक स्वार्थ-त्याग करते जाना होता है और सदा जागते हुए अपने "नूम्ण" की -आत्म-बल की-रक्षा करते रहना होता है, ये दो साधनायें साधबी होती हैं। कई लोग अपने कर्तव्य व उद्देश्य का बिना विचार किये यूँ ही जोश में आकर 'आत्म-बलिदान' कर डालते हैं। ऐसा करना आसान है पर यह सच्चा बिलदान नहीं होता। इससे यथेष्ट फल नहीं मिलता। इस पवित्र उद्देश्य के सामने अमुक वस्तु वास्तव में तुच्छ है इसलिये अब इस वस्त को स्वाहा कर देना मेरा कर्तव्य है—इस प्रकार के स्पष्ट-ज्ञान के साथ, विना किसी जोश के, जो आत्म-बलिदान होता है वही सच्चा आत्म-बलिदान होता है। नहीं तो, हम तो बहुत बार आत्म-बलिदान के नाम से आत्मघात कर रहे होते हैं। वहाँ पहुँचने के लिए तो आत्मा का घात नहीं, किन्तु बात्मा की रक्षा करनी होती है। हम लोग प्रायः क्रोध करके, असत्य बोलकर, इन्द्रियों को स्वच्छंद भोगों में दौड़ाकर अपना आत्म-तेज, आत्मवीर्य, आत्मबल खोते रहते हैं। पर वे पुरुष अपने इस 'नृम्ण' = आत्मवल की वड़ी सावधानी से, सदा जागरूक रहते हुए, बड़ी चिंता से, रक्षा करते हैं। वे पल-पल में अपनी मनोगित पर भी ध्यान रखते हुए देखते रहते हैं कि कहीं अंदर कोई आत्मबल का क्षय करनेवाला काम तो नहीं हो रहा है। एवं रक्षा किया हुआ आत्म-बल ही उस दृढ़ पुरी में पहुँचानेवाला है। वास्तव में ये दोनों साधनायें एक ही हैं, यदि हम इनके इस सम्बन्ध पर विचार करें कि ऐसे लोग आत्मबल की रक्षा करने के लिए शेष हरेक वस्तु का बिलदान करने को उद्यत करते हैं और ये सदा इतने सत्य के साथ आत्म-बिलदान करते जाते हैं कि उनके प्रत्येक आत्म-विलदान का फल यह होता है कि उनका आत्मबल बढ़ता है। आओ ! हम भी आत्म-हवन करते हुए और आत्म-बल की रक्षा करते हुए चलने लगें और उस मार्ग के यात्री हो जायँ जो कि अभयता, अजातशत्रुता, अमरता और अभेद्यता की दृढ़ पुरी में पहुँचानेवाला है।

शब्दार्थ — जो वि चितयन्तो जुहुरे ज्ञानपूर्वक स्वार्थ-त्याग करते हैं और अनिमिषं नृम्णं पान्ति लगातार जागते हुए, अपने आत्मबल की रक्षा करते रहते हैं ते वे वृळहां पुरं वृढ़ अभेद्य नगरी में आविविशः प्रविष्ट हो जाते हैं।

थांडी रती उपासना भी महानफल दायक

प्र वैशाख्य वर्षेनम् ॥ समि० पू० ३।१।४।२

ऋषिः मारीचः कश्यपः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः गायत्री ।

विनय-प्रभु की थोड़ी-सी भी भितत महान् फल को देनेवाली होती है। हम लोग समझा करते हैं कि थोड़े-से संध्या-भजन से, एक-आंध्र मंत्र द्वारा उसका स्मरण कर लेने से हमारा क्या लाभ होगा, या एक दिन यह भजन छोड़ देने से हमारी क्या हानि होगी ! पर यह सत्य नहीं है। हमारी उपासना चाहे कितनी स्वल्प और तुच्छ हो, पर वह उपास्यदेव तो महान् है। ज्ञान और शक्ति में वह हमसे इतना महान् है कि हम कभी भी उसके योग्य उसकी पूरी भिक्त नहीं कर सकते । और उसके सामने हम इतने तुच्छ हैं कि वह यदि चाहे तो अपने जरा-से दान से हमें क्षण में भरपूर कर सकता है। हम यदि थोड़ी देर के लिए भी उससे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं तो वह महान् देव उस थोड़े-से समय में ही हमें भर देता है। संत लोग अनुभव करते हैं कि प्रभु का क्षण-भर ध्यान करते ही प्रभु की आशीर्वाद-धारा उनके लिए खुल जाती है और वे उस क्षण-भर में ही प्रभु के आशीर्वाद से नहा जाते हैं; एक बार प्रभु का नामोच्चारण करते ही उन्हें ऐसा आवेश आता है कि शरीर रोमांचित हो जाते हैं, और आत्मा आनन्दरस से पवित्र और प्रफुल्ल हो जाते हैं। पर यदि हम साधारण लोगों की प्रार्थना-उपासना अभी उस महाप्रभु से इतना एश्वर्य नहीं पा सकती है, तब तो हमें उसके थोड़े-से भी भजन की बहुत कद्र करनी चाहिए, एक भी दिन एक भी समय नाग़ा न करना चाहिये। एक समय भी नागा होने से जो सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह फिर जोड़ना पड़ता है। यही कारण है कि नाग़ा होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। एवं एक समय नाग़ा होने से एक समय की देरी ही नहीं होती, वह दुबारा सम्बन्ध जोड़ने जितनी देरी हो जाती है। अतः हम चाहे किसी दिन भजन में बिल्कुल दिल न लगा सकें, तथापि उस दिन भी कुछ-न-कुछ उपासना जरूर करनी चाहिए, यत्न जरूर करना चाहिए। पीछ पता लगता है कि एक दिन का भी यत्न व्यर्थ नहीं गया, एक-एक दिन की उपासना ने हमें बढ़ाया है - हमारे शरीर, मन और आत्मा को उन्नत किया है।

कम से कम यह तो असन्दिग्ध है कि संसार की अन्य बातों में हम जितना समय देते हैं, सांसारिक बातों की जिबनी स्तुति-उपासना करते हैं और उससे जितना फल हमें मिलता है, उससे अनन्त गुणा फल हमें प्रभु की (अपेक्षया बहुत ही थोड़ी-सी) स्तुति-उपासना से मिल सकता है और मिल जाता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि वह महान् है, ज्ञान का भण्डार है, सर्व-भित्तमान् है और ये सांसारिक बातें अल्प हैं, तुच्छ हैं, निस्सार हैं, ज्ञानशक्तिविहीन केवल विकार हैं।

शब्दार्थ महे महान् प्रचेतसे बड़े ज्ञानी देवाय इष्टदेव परमेश्वर के लिए कत् उ कुछ भी, थोड़ा-सा भी वचः शस्यते वचन स्तुतिरूप में कहा जाये तत् इत् हि वह ही निश्चय से अस्य इस वक्ता का वर्धनम् बढ़ानेवाला है।

£\$

Still Digitize Dy Alva Samai Foundation Change of San Still Still 3

१५ वैशार्ख त्रा घा गम्त् य<u>दि</u> श्रवंत् सहस्मिणीभिः <u>क</u>तिभिः। वाज<u>ैभिः</u> उपं <u>नो</u> इवंम्।।

—ऋ० १।३०।८; साम० उ० १।२।१।१; अथर्व० २०।२६।२ ऋषि: आजीर्गातः शुनःशोपः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृद् गायत्री ।

विनय-वह आ जाता है, निश्चय से आ जाता है, हमारे पास आ प्रकट हो जाता है. यदि वह सुन लेवे । बस, उसके सुन लेने की देर है । उस तक अपनी सुनाई करना, अपनी रसाई करना वेशक कठिन है। उस तक हमारी पुकार पहुँच जाय, इसके लिए हममें कुछ योग्यता चाहिये, हममें कुछ सामर्थ्य चाहिये। पर इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि वह परमात्मदेव यदि पुकार सून लेवे, यदि हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर लेवे तो वह निश्चय से आ जाता है-और तब वह आता है. अपनी सहस्रों प्रकार की रक्षा-शक्तियों के साथ। हमारी रक्षा के लिए मानो वह अनन्त महाशिक्तनो सेना के साथ आ पहुँचता है। हमारी रक्षा के लिए तो उसकी जारा-सी शक्ति ही बहुत होती है, पर तब यह पता लग जाता है कि उसकी रक्षा-शक्ति असीम है। वह हमारे 'हव' पर-पुकार पर-अपने 'वाज' के साथ (अपने ज्ञान-बल के साथ) आ पहुँचता है। हम पीड़ितों की रक्षा कर जाता है और हम अज्ञानान्धकार में ठोकरें खाते हुओं के लिए ज्ञान-प्रकाश चमका जाता है, पर यदि वह सुन लेवे। कौन कहता है कि वह सुनता नहीं? बेशक, उसके हमारी तरह कान नहीं, पर वह परमात्मदेव विना कान के सुनता है। यदि हमारी प्रार्थना कल्याण की प्रार्थना होती है और वह सच्चे हृदय से - सर्वात्मभाव से - की गई होती है तो उस प्रार्थना में यह शक्ति होती है कि वह प्रभु के दरबार में पहुँच सकती है। आह ! हमारी प्रार्थना भी प्रभु के दरबार में पहुँच सके; हममें इतनी स्वार्थश्न्यता, आत्मत्याग और पवित्रता हो कि हमारी पुकार उसके यहाँ तक पहुँच सके। यदि हमारी प्रार्थना में इतनी शक्ति हो, हम अन्धकार में पड़े हुए, दु:ख-पीड़ितों, दुर्बलों के हार्दिक करण-ऋन्दनों में इतना बल हो कि इन्द्रदेव उसे सुन ले तो फिर क्या है ! तब तो क्षण-भर में वे करुणासिन्धु हम डूबतों को बचाने के लिए आ पहुँचते हैं। बस, हमारी प्रार्थनां उन तक पहुँचे, हमारी पुकार में इतना बल हो, तो देखो, वे प्रभु अपने सब साज-सामान के साथ, अपने ज्ञान, बल और ऐश्वर्य के भण्डार के साथ, अपनी दिव्य विभूतियों की फौज के साथ हम मरतों को बचाने के लिए, हम निर्वलों में बल संचार करने के लिए, हम अंधों को अपनी ज्योति से चकाचौंध करने के लिए आ पहुँचते हैं।

शब्दार्थ — यदि यदि नः हवं हमारी पुकार श्रवत् वह इन्द्र सुन लेवे तो वह सहस्रिणीभिः अपनी सहस्रों बलशालिनी रक्षा-शक्तियों के साथ और वाजेभिः सहस्रों ज्ञानबलों के साथ उपआगमत् च निश्चय से आ पहुँचता है।

EPT 27 UPT Semai Formation de Gallory - 521

१६ वैशाख पर्वमानस्य ते व्यं प्वित्रं अभ्युन्दतः। सार्वित्वं आ द्यंणीमहे॥ —ऋ० हा६१।४; साम० उ० २।१।५ ऋषिः आङ्गिरसोऽमहीयुः। देवता सोमः। छन्दः गायत्री।

विनय-हे त्रिभुवन-पावन ! तुम अपने स्पर्श से इस सब जगत् को पवित्रता दे रहे हो। यह सच है कि तुम्हारे बिना यह संसार बिल्कुल मिलन है। यह संसार तो स्वभावतः सदा मिलन ही होता रहता है, विकृत होता रहता है, गन्दिगयाँ पैदा करता रहता है। परन्तू तुम्हारी ही नाना प्रकार की पवित्र करनेवाली घारायें नाना प्रकार से इस संसार के सब क्षेत्रों से इन मिलनताओं को निरन्तर दूर करती रहती हैं। हे पवमान ! हे सब जगत को अपने अनवरत प्रवाह से पवित्र करनेवाले ! जो मनुष्य तुम्हारे स्वरूप की इस पवित्रता को जानते हैं, वे अपने-आपको भी (अपने हृदय को भी) पवित्र करने में लग जाते हैं, अपने अन्त:करण से काम, क्रोध आदि विकारों को निकालकर इसे बड़े यत्न से निर्मल बनाते हैं। जब यह पवित्र हो जाता है तो इस पवित्र अन्तः करण में तुम्हारी सात्त्विक धारायें जो आनन्द-रस पहुँचाती हैं, हृदय को सदा सरस बनाये रहती हैं, उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। पविवान्तः करण भक्त लोग ही उसका अनुभव करते हैं। जिनके हृदयों में द्वेष, त्रोध, जड़ता आदि का कड़ा भरा हुआ है उनके शुष्क हृदय, या जिन्होंने प्रेम-शक्ति का दूरुपयोग कर विषैले रसों से हृदय को गन्दा कर रखा है उनके भी मलिन हृदय, इस पवित्र आनन्द-रस का आह्नाद क्या जानें ? जब मनो-विकारों का यह सूखा या गीला मैल निकल जाता है, तभी मनुष्य के हृदय में तुम्हारे पवित्र-रस का स्पन्दन होता प्रारम्भ होता है और उसमें फिर दिनों-दिन सान्त्वक रस भरता जाता है। भिनितभाव के बढ़ने से जब भक्तों के हृदय-मानस आन्न्द के हिलोरे लेने लगते हैं, तो वे देखने योग्य होते हैं। हे सोम ! तब उनके पितत्र हृदय का तुन-'पत्रमान' के साथ सम्बन्ध जुड़ गया होता है। इस सम्बन्ध, इस सिखत्व, इस एकता के कारण ही उनका हृदय सदा तुम्हारे भित्त-रस के चुआनेवाला झरना बन जाता है। हे प्रभो ! यही सम्बन्ध, अपना यही सिखत्व हमें प्रदान करो। हे सोम! हम तुझसे इसी सखित्व की भिक्षा माँगते हैं। हे जगत् को पवित्र करनेवाले! जिस सख्य के हो जाने से तुम्हारी पवित्रकारक धारा मनुष्य के हृदय को सदा भिक्त-रंस से रसमय बनाये रखती है, उसी सखित्व की भिक्षा हमें प्रदान करो। हम अपने हृदय को पवित्र करते हुए तुमसे यही सिखत्व, यही मैतीभाव, यही प्रेम सम्बन्ध प्राप्त करना चाहते हैं, वरना चाहते हैं। यह वर हमें प्रदान करो।

शब्दार्थ पिवतं अभि उन्दतः हमारे पिवत्र हुए अन्तः करण को भिक्तिरस से आई करते हुए पवमानस्य ते तुझ परम पावन के सिखत्वं सख्य को, मित्रभाव को वयं हम आवृणीमहे वरण करते हैं।

ःवैदिक विनय

FR

S IN PAPE SIN

25 & Diesked by Arya Santa Rolling College Chennal and e Gangoria Col

न्ध वैशास

श्रामातृच्यो श्राना त्वं अनीपिः इन्द्र जनुषां सनादंसि ।

युधेदांपित्वर्मिच्छसे ॥ —ऋ० द।२१।१३; अथर्वं० २०।११४।१

ऋषिः काण्वः सोभरिः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृव् उष्णिक् ।

विनय हे परमेश्वर ! तुम्हारे लिए न कोई श्रतु है और न कोई बन्धु है। तुम जिस उच्च स्वरूप में रहते हो वहाँ शत्रुता और बन्धुता का कुछ अर्थ ही नहीं; और तुम्हारे लिए कोई नायक व नियन्ता कैसे हो सकता है ? तुम ही एकमात्र सब जगत् के नियन्ता हो, नेता हो। तुम जन्म से, स्वभाव से ही ऐसे हो। 'जनुषा' का यह मतलब नहीं कि तुम्हारा कभी जन्म होता है। तूम तो सनातन हो, सनातन रूप से ही शत्रुरहित और बन्धुरहित हो। पर निलिप्त होते हुए भी तुम हमारे बन्धुत्व (आपित्व) को चाहते हो और इस बन्धुत्व को तुम युद्ध द्वारा चाहते हो, युद्ध द्वारा ही चाहते हो। अहा ! कैसा सुन्दर आयोजन है ! तुम चाहते हो कि संसार के सब प्राणी सांसारिक युद्धकरके ही एक दिन तुम्हारे बन्धु बन जायें, तुम्हारे बन्धुत्व का साक्षात्कार कर लें। सचमुच विना लड़ाई के मिली सुलह, बिना संघर्ष के मिली प्रीति, बिना संग्राम के मिली मैत्री नीरस है, फीकी है, अवास्तविक है, उसका कुछ मूल्य नहीं है। बन्धुता तो अबन्धुता की, लड़ाई की, सापेक्षता में ही अनुभूत की जा सकती है। इसीलिये हे मेरे जगदीश्वर! मुझे अब समझ में आता है कि तुमने कल्याणस्वरूप होते हुए भी इस अपने जगत् में दु:ख, दर्द, दारिद्य रोग, क्लेश, आपत्ति, उलझन आदि को क्यों उत्पन्न होने दिया है और अब समझ में आता है कि तुमने इन कठिनाइयों को खड़ा करके प्राणियों के जीवन को निरन्तर युद्धमय, संघर्षमय क्यों बनाया है। सचमुच, यह सब-कुछ तुमने इसीलिए किया है कि हम इन बाधाओं को जीतकर, इन कठिनाइयों, उलझनों को पार करके तेरे बन्धुत्व के रसास्वादन के योग्य बन जायें। तूतो अब भी हमारा बन्धु है। हममें से जो तेरे द्रोही कहे जाते हैं—जो नास्तिक हैं— उनका भी तू सदेव एक-समान बन्धु है (और असल में किसी का भी बन्धु या शत्रु नहीं है) तो भी तेरी उस वन्धुता का अनुभव-तुझे बन्धु-रूप से पा लेने का परमानन्द - हमें तभी मिल सकता है जब हम संसार के इस परम विकट युद्ध को विजय करके तेरे पास आ पहुँचें। तू चाहता है कि आज जो तुझसे बहुत दूर है, तेरा कट्टर द्वेषी है, वह युद्ध करके एक दिन तेरा उतना ही नजदीकी और उतना ही कट्टर बन्धु बन जाये। अतः अब मैं तेरे बन्धुत्व पाने के समर में ही कमर कसे खड़ा हुआ अपने को पाता हूँ; जितनी बार महुँगा इसी समर की युद्धभूमि में में करूँगा और अन्त में तेरे बन्धुत्व को पाकर ही दम लूँगा। यही तेरी इच्छा है, यही तेरी मुझसे प्रेममय इच्छा है।

शब्दार्थ—इन्द्र हे परमेश्वर ! त्वं तुम जनुषा जन्म से ही, स्वभाव से ही अभ्रातृव्यः शत्रु-रहित अनापिः बन्धु-रहित अना नियन्तृ-रहित असि हो, सनात् तुम सनातन हो, सनातन से ही ऐसे हो। पर तुम युधा युद्ध द्वारा इत् ही आपित्वं बन्धुत्व को इच्छसे चाहते हो।

इदय में तेरी तरंगे हाठे मारे

१८ वैशाख ये ते प्वित्रमूर्मयों अभिक्षरं न्ति धारंया। तेभिनेः सोमः मृळय।। —ऋ० ९।६१।४; सा० उ० २।१।४

ऋषिः आङ्गिरसोऽमहीयुः । देवता सोमः । छन्दः गायत्री ।

विनय मानसरोवर में कुछ-न-कुछ तरंगें सदा उठा ही करती हैं। चारों तरफ होने वाली घटनाओं से मनुष्य का मानससर नाना प्रकार से क्षब्ध होता रहता है। परन्तु हे सोम ! मैं अपने मान्स को पवित्र बना रहा हूँ। इसलिये पवित्र वना रहा हूँ जिससे कि इसमें तेरी जगत्-ब्यापक धारा से आई हुई तरंगें ही पैदा हों; अन्य किसी प्रकार की क्षद्र तरंगें न पैदा हों। है सोम ! अपनी शीतल सुखदायिनी और ज्ञानामृतविषणी धाराओं से तुमने इस जगत को व्याप्त कर रखा है। इन्हीं द्वारा यह जगत् धारित हुआ है, नहीं तो इस जगत् का सब जीवन-रस न जाने कव का सूंख चुका होता। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी इस जीवन रसदायिनी दिव्य धारा का मनुष्यों के पवित्र हुए अंत:करणों के प्रति एक आकर्षण उत्पन्न हो जाया करता है। जैसे कि चन्द्रमा के (भौतिक सोम के) आकर्षण से समुद्र-जल में ज्वारभाटा उत्पन्न होता रहेता है, उसी तरह हे सच्चे सोम ! मनुष्य के पवित्र हुए मनःसरोवर में भी तेरी सोमघारा के महान आकर्षण से उच्च तरंगें उठने लगती हैं, ऊँचे-ऊँचे व्यापक सनातन भावावेश (Emotions) उठने लगते हैं। विश्वप्रेम, वीरता, अदम्य उत्साह, सर्वार्पण कर डालने की उमंग, दृ:खित मात्र पर दया, इत्यादि ऐसे सनातन व्यापक भावावेश हैं जो कि तेरी जगत्-धारक महानं घारा के अनुकूल हैं। बस, पवित्र हुए अन्तः करणों में तेरी महाशक्तिमती धारा के अनुसार ये ही तेरी र्कीमयाँ, तेरी तरंगें अभिक्षरित हुआ करती हैं। हे सोम ! मुझे अब इन्हीं सत्यमयी व्यापक तरंगों के मन में उठने से सुख मिलता है। वे राग-द्वेष की हवा से उठनेवाली क्षद्र भावावेशों (Emotions) की तरंगें, वे मन को आब्ध करनेवाले एकपक्षीय ज्ञान से होनेवाले छोटे-छोटे अन-राग, मोह, शंका, भय, उत्कंठा, कामना आदि की तरंगें मुझे सुख नहीं देतीं, किन्तु क्लेशरूप दिखाई देती हैं। इसलिये, हे मेरे सोम ! मेरे मानस में उन्हीं तरंगों को उठाकर मुझे सुखी करो जो तरंगें पवित्र हृदयों में तुम्हारी धारा से उठती हैं। बस, ये ही उच्च भावावेश, ये ही व्यापक सनातन महान् भावावेश, मेरे मानस में उठा करें ये ही तरंगें बार-बार उठें, खूब उठें, खूब ऊँची-ऊँची उठें--ऐसी ऊँची और महान् उठें कि इन आनन्ददायक भावावेशों में उठता हुआ मैं तन्मान होकर तेरी ऊँचाई के संस्पर्श का सुख अनुभव कर सक्।

शब्दार्थ — ते ये ऊर्मयः तेरी जो तरंगें धारया जगत् के धारण करनेवाली तेरी जगत्-व्यापक ज्ञानधारा द्वारा पवित्रं अभिक्षरन्ति मनुष्य के पवित्र हुए अन्तःकरण में प्रकट होती हैं, उठती हैं सोम हे सोम ! तेशिः उन तरंगों से नः मृळय हमें आनन्दित कर दो।

र्पृहणीयता स्टेट्सरी प्रवानकर

पट् वीडाविन्ड यत् स्थिरे यत्पर्शा<u>ने</u> पराभृतम् । वसुं स्<u>पार्</u>हे तदार्भर ॥

—ऋ० ८।४५।४१ ; साम० उ० ४।१।६ ; अथर्व० २०।४३।२ ऋषि: काण्वः त्रिशोकः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे परम परमैश्वर्यवाले इन्द्र ! तुम्हारा नाना प्रकार का ऐश्वर्य इस संसार में भरा पड़ा है। पर तुम्हारे इन ऐश्वयों में से जिस प्रकार के ऐश्वर्य की मुझे स्पृहा है, जिस प्रकार के ऐश्वर्य को मैं चाहता हूँ, वह तो ऐसा है जो संसार के वीर, दृढ़ (वीड्) पुरुषों में दिखाई देता है और जो स्थिर तथा विमर्शशील पुरुषों में रहता है। आम लोग रुपये-पैसे को ऐश्वर्य समझते हैं, पर असल में वह ऐश्वर्य नहीं है। रुपये-पैसे तथा अन्य सम्पत्ति के पदार्थी का ऐश्वर्य होता या न होना मनुष्य पर आश्रित है, मनुष्य की शक्ति पर आश्रित है, अतः मनुष्य तथा मनुष्य का सामर्थ्य ही वास्तविक धन (ऐश्वर्य) है। गीता में जो 'अभय', 'सत्त्वसंशुद्धि' आदि सद्गुणों को दिव्यसंपत्ति कहा है वह सत्य है, वही सच्ची संपत् है। शम, दम, तितिक्षा आदि छः गुण इसीलिये 'षट् सम्पत्ति' नाम से जगत् में प्रसिद्ध हैं। हे इन्द्र ! मुझे तो यह ही संच्वी सम्पत् चाहिए। संसार के रुपये-पैसे के धनियों को देखकर मुझे जरा भी उनकी-सी अवस्था के प्रति आकर्षण नहीं होता। परन्तु वीरों की वीरता, अदम्य उत्साह, तेज और दृढ़ता पर मैं मोहित हूँ। जो चिरकाल तक स्थिरता से श्रद्धापूर्वक साधना करते हुए अन्त में अवश्य विजयशील होते हैं, उनका यह स्थिरता का गुण मुझे उनका भक्त बना लेता है; और जब मैं उन पुरुषों को देखता हैं जो कि विचारपूर्वक सब कार्य करते हैं, पेचीदा अवस्था आने पर भी जिन्हें अपने कर्त्तव्य का निर्णय करने में जरा देर नहीं लगती, तो मैं यही चाहता हूँ कि यह विमर्श-क्षमता मुझमें भी आ जाय। जिनके पास ये तीन गुण नहीं होते उनके पास तो रूपया-पैसा भी नहीं ठहरता; यदि ठहरता भी है तो या तो वह शक्तिरूप नहीं होता या बुरी शक्ति बन जाता है। क्या हम रोज नहीं देखते कि बुजदिली के कारण, अस्थिरता के कारण, नासमझी के कारण सब कमाया हुआ वड़ा भारी धन एक दिन में बरबाद हो जाता है या होता हुआ भी बेकार साबित होता है। इस-लिए मेरे पास तो यदि भूमि, घर आदि कुछ सामान न हो, कपड़ा-लत्ता भी न हो, एक कौड़ी तक न हो, पर यदि मुझमें वीरता, अजेय दृढ़ता हो और लगातर देर तक सतत काम करने की शक्ति एवं लगन हो तथा मुझमें विचारशीलता हो, तो मैं हे प्रभो ! अपने को महाधनी समझूँगा और संसार में आत्माभिमान के साथ सिर ऊँचा करके फिल्गा। इसलिये हे नाथ ! मुझे तो तुम दृढ़ता, स्थिरता और विमर्शशीलता प्रदान करना; मैं यही मांगता हुँ, आपसे यही ऐश्वर्य पाना चाहता हुँ।

शब्दार्थ — इन्द्र हे परमेश्वर ! यत् जो धन तूने वीडौ दृढ़, न दबनेवाले पुरुष में यत् स्थिरे जो धन स्थिर रहनेवाले में यत् पर्शाने और जो धन विचारशोल पुरुष में पराभृतं रखा है तत् वह स्पाहं स्पृहणीय, चाहने लायक वसुं धन आभर मुझे प्राप्त करा।

मंगल-मिलन

२० वैशाखं यदंग्<u>ने</u> स्या<u>म</u>हं त्वं, त्वं वां <u>घा</u> स्या <u>श्र</u>हम् । स्युष्टे सुत्या <u>इ</u>हाशिषः ॥ — ऋ० ८।४४।२३

ऋषिः आङ्किरसो विरूप । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय-हे नारायण ! तुम्हारी मंगलकामना प्राणीमात्र के लिए अनवरतं हो रही है, तुम्हारे आशीर्वाद प्रत्येक जीव के लिए-अपने प्रत्येक पुत्र के लिए-एक-समान बरस रहे हैं। फिर भी जो ये आशीर्वाद हमें लगते नहीं हैं, हम पर अपना असर नहीं करते हैं, इसका कारण यह है कि हम ही अपने-आपको इनसे वंचित रख रहे हैं। स्वार्थ, अहंकार, अस्मिता से हमने अपने-आपको ऐसा बाँध लिया है, ऐसा लपेट लिया है कि हम तुम्हारे वास्तव में परमिनकट होते हुए भी तुमसे इतने दूर हो गये हैं कि हम पर तुम्हारी आशीर्वाद-वर्षा का कुछ भी असर नहीं होता। हे मेरे प्यारे ! प्रकाशमय देव ! हममें दूरी करनेवाला, हमें जुदा रखनेवाला, यह आवरण अब सहा नहीं जाता। अब तो यह पर्दा फट जाय, यह आवरण हट जाय और मैं तू हो जाऊँ या त मैं हो जाय, तो मुझ पर वरसाये गये जीवन-भर के तेरे सब आशीर्वाद एक क्षण में सफल हो जायँ, तथा जीवन-भर में तुम्हारे प्रति की गई मेरी सब प्रार्थनाएँ एक पल में पूरी हो जायँ। हे प्रभु ! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तेरे ध्यान में मग्न होकर अपने-आपको खो दुंगा और दूसरी तरफ तुम अपने परम प्यारे पुत्र को अपनी गोद में आश्रय दे दोगे; जब मेरा आत्मा अपने परम आत्मा को पा जायगा और दूसरे शब्दों में तुम परमात्मा अपने एक चिरवियुक्त अंग को फिर अंगीकार कर लोगे; जब मेरी आत्माग्नि तुम्हारी बृहत्-अग्नि में जाकर 'मैं' को नष्ट कर देगी, अथवा जब तुम्हारे द्वारा मेरे स्वीकृत हो जाने से "तुम" जाता रहेगा ? तब मेरी कोई प्रार्थना न रहेगी क्योंकि तब मेरा कोई स्वार्थ व कामना न रहेगी और इसलिय़ तब तुम्हारा कोई आशीर्वाद भी बाकी न रहेगा। उस मंगल मिलन में तुम्हारे सब आशीर्वाद मृति-मन्त, सत्य, सफल हो जायेंगे। जीवन-भर में जो-जो मैंने तुमसे भिनतमय प्रार्थनायें की हैं और उनके उत्तर में, उनकी स्वीकृति में, तुमसे मैंने जो नाना आशीर्वाद पाये हैं, वे सब-के-सब आशीर्वाद आखिर इसी महान् मंगल मिलन के लिए थे। मेरी सब प्रार्थनाओं की एक इच्छा, और तुम्हारे मेरे प्रति सब आशीर्वचनों की एक इच्छा, यह मिलन ही थी। तुम्हारी मेरे कल्याण की सब-की-सब कामनायें, सब आशीर्वाद, इस आत्मप्राप्ति में एकदम पूरे हो जाते हैं, क्योंकि यही मेरा सबसे बड़ा कल्याण है, कल्याणों का कल्याण है, जिसमें सब कल्याण समा जाते हैं। अहो ! वह मंगल सिलन, ब्रह महात् मिलत !

शब्दार्थ अग्ने हे प्रकाशस्वरूप यत् अहं त्वं स्याम् जब मैं तू हो जाऊँ वा घ या त्वं अहं स्याः तू मैं हो जाय तो ते इह आशिषः तेरे इस संसार के वे सब आशीर्वाद सत्याः स्युः सत्य, सफल हो जायें।

वैदिक वितय

in the fire of an inform

काराधना केर

२१ वैशाख श्राभि म् गोपति गिरा, इन्द्रमर्चे यथा<u>वि</u>दे । सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥

—ऋ व दाइहा४ ; साम व पूर्व रारादा४ ; अथर्व व रवाहराश

ऋषिः आङ्गिरसः प्रियमेधः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायती ।

विनय हे मनुष्य ! यदि तू यथार्थ सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो तू इन्द्र की शरण में जा। ये इन्द्रियाँ - प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन समझी जानेवाली ये इन्द्रियाँ तुझे परिमित ज्ञान ही देंगी तथा बहुत बार बड़ा भ्रामक ज्ञान उत्पन्न करेंगी; मन इन्द्रिय भी तुझे दूर तक नहीं पहुँचायेगी; और तेरे राग-द्वेषपूर्ण मलिन मन की तर्कना-शक्ति केवल कुतर्क में लगेगी। बाहिर से मिलनेवाला ज्ञान अर्थात् विद्वानों के उपदेश और तत्त्वज्ञानियों के ग्रन्थ अपनी-अपनी दिष्टि से कहे व लिखे जाने के कारण तुझे अभी कुछ शान्ति न दे सकेंगे; बहुत सम्भव है कि ये तुझे और उलझन में डाल देंगे। अतः तुझे शान्ति दे सकनेवाला सच्चा यथार्थ ज्ञान अपने अन्दर से, अपनी आत्मा से ही मिलेगा। इसे तू अपनी आत्मा में खोज; उस अपनी आत्मा में खोज जो कि इस सब इन्द्रियों का स्वामी है, जिसने अपनी शक्ति प्रदान करके मन आदि इन्द्रियों को अपना साधन बना रखा है जो कि सत्य ज्ञानस्वरूप है, जो कि परम सत्यस्वरूप परमात्मा का पुत्र है, और कि अतएव स्वभावतः सदा सत्य का पालक है। हे मनुष्य ! तू इस सत्यदेव की पूजा कर, आराधना कर, पूरे यत्न से इसे प्रसन्न कर तो तुझे सत्य मिल जायंगा। वाणी-शक्ति द्वारा तु इसकी अपरोक्ष पूजा कर। इस सत्यमय देव की आराधना करने के लिए तुझे सत्यमय वाणी की साधना करनी पड़ेगी। बोलने में, व्यवहार में, हर एक अभिव्यक्ति में पूरी तरह सत्य का पालन करना होगा; अन्दर की मनोमय वाणी में भी सर्वथा सत्य के ही चिन्तन-मनन की विकट तपस्या करनी होगी। अन्दर घुसने पर ही तुझे पता लगेगा कि परिपूर्ण वाणी द्वारा सत्य की आराधना करना कितना कठिन है। पर साथ ही यह भी सच है कि जब तू यह साधना पूरी कर लेगा तो तेरा 'सत्य सून्' 'सत्पति' आत्मा प्रकट हो जायगा और अपना अमृल्य भण्डार, सब सत्य ज्ञान के रत्नों का भण्डार, तेरे लिए खोल देगा। तब तुझे कोई उलझन न रहेगी, तेरा निर्मल मन ठीक ही तर्क करेगा, तेरी इन्द्रियाँ भी अधिक स्पष्ट देखेंगी। पर सबसे बड़ी बात तो यह है कि तब तुझे वह सत्यमयी, 'ऋतंभरा' बुद्धि मिल जायगी जिस द्वारा तू जब जिस विषय का यंथार्थं ज्ञान पाना चाहेगा वह सब तुझे प्रकाशित हो जाया करेगा। सत्य का पालन करनेवाला सत्पति आत्मा स्वयमेव तेरे लिए सत्य की रक्षा करता रहेगा। वाणी द्वारा सत्य की साधना करने का यह स्वाभाविक फल है। हे मनुष्य ! तू इस सत्य इन्द्र की आराधना कर, अपरोक्ष रूप से पूरी तरह आराधना कर।

शब्दार्थ है मनुष्य ! यथाविदे यथार्थ ज्ञान पाने के लिए तू गोपति इन्द्रियों के स्वामी इन्द्रं आत्मा का गिरा वाणी द्वारा अभि प्र अर्च अपरोक्ष और पूरी तरह पूजन कर, जो कि आत्मा सत्यस्य सुनुं सत्य का पुत्र है और सत्पित सदा सत् का पालक है।

दिशामिन का प्रदीपन

रे२ वैशाखं अगिनिमिन्धां नो मनेसा थियं सचेत मत्यः।

श्राग्निमीये विवस्वंभिः॥—ऋ० दा१०२।२२ ; साम० पू० १।१।२।६

ऋषिः बाहंस्पत्यः । देवता अग्निः । छन्दः निचृद् गायत्री ।

विनय—मैं जो प्रतिदिन आग जलाकर अग्निहोत्र करता हुँ उससे क्या हुआ, यदि इस अग्नि-दीपन से मेरे अन्दर की आत्म-ज्योति न जग सकी। यदि मेरे प्रतिदिन अग्निहोत्र करते रहने पर भी मेरे जीवन में कुछ भेद न आया, मेरा व्यवहार-आचरण वैसा-का-वैसा रहा, न मुझमें सद्बुद्धि ही जागृत हुई और न मैं सत्कर्मों में प्रेरित हुआ, तो मेरा यह सब अग्निचर्या करना व्यर्थ है। सचमुच हरेक बाह्य-यज्ञ अन्दर के यज्ञ के लिए है। बाहिर की अग्नि इसलिये प्रदीप्त की जाती है कि उस द्वारा एक दिन अन्दर की आत्माग्नि प्रदीप्त हो जाय। यह आत्माग्नि मन द्वारा प्रदीप्त की जाती है, इसीलिये कहा गया है कि बाहिर के द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा अन्दर का मानसिक यज्ञ हजार गुणा श्रेष्ठ होता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि मन द्वारा अपनी आन्तर अग्नि को जलाये, आत्माग्नि को प्रदीप्त करे और इस प्रकार "धी" को, सद्बद्धि को प्राप्त कर ले तथा सत्कर्म में प्रेरित होता हुआ आत्मकल्याण को पा जावे। जो मनुष्य मनन करते हैं अर्थात आत्मनिरीक्षण, आत्मचिन्तन, विचार और भावना करते हैं, जाप करते हैं तथा धारणा, ध्यान, समाधि करते हैं, वे इन सब मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा आत्म-ज्योति को जगा लेते हैं और उन्हें सत्यबुद्धि, ज्ञानप्रकाश, सदा ठीक कर्म में ही प्रवृत्त कराने वाली समझ मिल जाती है। अतः आज से मैं भी इस अग्नि को प्रदीप्त करूँगा, विवस्वतों द्वारा-तमोनिवारक ज्ञानिकरणों द्वारा-इस अग्नि को प्रज्वलित करना प्रारम्भ करूँगा। जैसे सूर्यकिरणों द्वारा ही संसार की सब प्रकार की ज्योतियाँ प्रदीप्त और प्रकाशित होती हैं, वैसे उस ज्ञान-सूर्य सिवता परम आत्मा की किरणों द्वारा ही मैं अपनी आत्माग्नि को प्रदीप्त कहाँगा। सत्यज्ञान देनेवाले सब वेदादि प्रन्थ, सत्य का उपदेश देनेवाले सब गुरु, आचार्य, मेरे अन्दर मन की सब सात्त्विक वृत्तियाँ —ये सब उसी ज्ञान-सूर्य की भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में फैली हुई किरणें हैं, विवस्वत् हैं। मैं इन द्वारा आज से अपनी आत्मांग्नि को प्रतियिन प्रदीप्त करता जाऊँगा। यही मेरे उद्धार का सीधा, साफ और चौड़ा मार्ग है।

शब्दार्थ मनसा मन द्वारा अग्नि अग्नि को, आत्मा को इन्धानः प्रज्वलित करती हुआ मर्त्यः मनुष्य धियं सद्बुद्धि को और सत्कर्म को सचेत प्राप्त करे। मैं विवस्विभिः तम को हटानेवाली ज्ञान-किरणों द्वारा अग्नि इस अग्नि को ईधे प्रदीप्त करता हूँ।

में समी न्याहत है

रेइ वैशाखं आ ते बत्सो मनी यमत्, पर्मात् चित्स्घस्थात्।

अर्गे त्वां कामया गिरा ॥ —ऋ० ८।११।७; साम० पू० १।१।१।८

ऋषिः वत्सः काण्वः । देवता अग्निः । छन्दः निचृष् गायत्री ।

विनय है परमात्मन् ! तुम्हारा स्थान बहुत ऊँचा है। तुम्हारे ज़त्कृष्ट पद को मैं कैसे पाऊँ ? तुम जिस दिव्यधाम में रहते हो, जिस सर्वशिक्तिमय, सर्वज्ञानमय, परमानन्दमय लोक में तुम्हारा निवास है, उस परम स्थान तक मैं अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, तुच्छ जीव कैसे पहुँच सकता हुँ ? परन्तु नहीं, मैं भी आखिरकार तुम्हारा पुत्र हूँ, वत्स हूँ, प्यारा अमृत-आत्मज हूँ। मैं चाहे कैसा हीन व पतित होऊँ पर स्वरूपतः अमर चिन्मय आत्मा हूँ। अतः तुम्हारा धाम मेरा भी धाम है, तुम्हारा ऊँचे-से-ऊँचा स्थान मेरा सहस्थान है, 'सधस्थ' है। तुम्हारे दिव्य से दिव्य स्थान से तुम्हारे पुत्र का अधिकार कैसे हट सकता है ! मैं तुम्हें अपने प्रेम द्वारा तुम्हारे दूर-से-दूर, ऊँचे-से-ऊँचे पद से खींच लाऊँगा। हे पितः ! मुझे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ बनने की क्या जरूरत है ? मैं तो अपने अगाध प्रेम से, अपनी अनन्य भिवत से तेरे मन को काबू कर लूँगा, तेरे मन को पा लूंगा। फिर मुझे और क्या चाहिये ? हे मेरे अग्ने ! हे मेरे जीवन ! मैं तुम्हें अपनी सर्वशक्ति से चाह रहा हूँ, कामना कर रहा हूँ। आत्मा में तुमने जो वाणी नाम्नी आत्मशक्ति रखी है, मैं उसकी सम्पूर्ण शक्ति से तुम्हें ही खींच रहा हूँ। मैं अपनी आन्तर और बाह्य वाणी की समस्त शक्ति को तुम्हारे मिलन के लिए ही खर्च कर रहा हूँ। मन में तेरी ही चाह है, मन में तेरा ही जाप है, तेरी ही रटन है; "वैखरी" वाणी में भी तेरा ही नाम है, तेरा स्तोत्रपाठ है; शरीर की केष्टाओं से भी जो कुछ अभिव्यक्त होता है वह तेरी लगन है, तेरे पाने की तड़प है। क्या तू अब भी न मिलेगा ? मैं तेरा वत्स इस तरह से, हे पितः ! तेरे मन को हर ही लूँगा । तू चाहे कितने ऊँचे स्थान का वासी हो, पर तेरे मन को जीत के ही छोड़ ूँगा। मेरा प्रेम, मेरी भिक्त तेरे मन को खींच लेगी और फिर तेरे मन को, तेरे प्रेम व वात्सल्य को, मुझे अपनाना होगा।

शब्दार्थ — वत्सः मैं वत्स ते मनः तेरे मन को परमात् चित् अति-उत्कृष्ट भी सद्यस्थात् सहस्थान से आ यमत् वश करता हूँ, प्राप्त करता हूँ, अग्ने हे परमेश्वर ! मैं त्वां तुझे गिरा वाणी द्वारा कामये चाहता हूँ - मिलना चाहता हूँ।

हे वराणा भरी प्रकार स्न

२४ वैशाख इमं में वरुण शुधी हर्वमुद्या चे मृळय । त्वामं<u>व</u>स्युराचेके ॥ — यंजु:० २१।१

ऋषिः शुनःशेपः । देवता वरुणः । छन्दः निचृद् गायत्री ।

विनय है वरुण देव ! मैं कितने दिनों से तुम्हें पुकार रहा हूँ। पुकारते-पुकारते अब तो बहुत काल बीत गया है। मेरी पुकार की सुनवाई और कब होगी ? लोग मुझ पर हंसते हैं। मेरी तुम्हारे प्रति व्याकुलता को देखकर मेरा ठट्ठा करते हैं और मुझे पागल समझते हैं। परन्तु मैं तो तुम्हारी शरण में आ चुका हैं। एकमात्र तुमसे ही रक्षा पाने की आशा रखता हुआ निरन्तर प्रार्थना कर रहा है और करता चला जाऊँगा। तुम ही को मेरी लाज बचानी होगी। क्या मैं ऐसे ही पुकार मचाता रहूँगा और तुम अनसुनी करते जाओगे ? नहीं, तुम्हें मेरी पुकार सुननी होगी। हे सर्वश्रेष्ठ ! हे पापनिवारक ! हे मेरी परम आत्मन् ! तुम्हें मेरी यह पुकार जरूर सूननी होगी। तो, अव तो बहत काल बीत चुका है। मेरा मन अपनी इस कामना को तुम्हारे आगे कब से धरे बैठा है। क्या इसकी स्वीकृति का समय अब तक नहीं आया है.? अब तो हे नाथ ! इसे पूरा कर दो, आज का दिन खाली न जाय । बहुत बार आशा बँधते-बँधते टूट चुकी है, पर आज तो निराश न होना पड़े, आज तो इस चिरकांक्षित अभिलाषा को पूरा कर दो, चिरकाल के व्यथित व्याकूल हृदय को सूखी कर दो। यह हृदय तुममें अटल श्रद्धा रखे, तुमसे कामना के अवश्यम्भावितया पूरा होने का विश्वास रखे, बड़े दिनों से तपस्या कर रहा है.। बहुत-सी निराशाओं के घावों से घायल हो चुका है, पर श्रद्धा नहीं छोड़ सकता। तो आज तो इसके दुर्दिनों का अन्त कर दो, इसकी शुभाकांक्षा को मूर्त्तिमती कर दो जिससे इसकी घावों की सब व्यथा अब एंक क्षण में मिट जाय। बस, आज जरूर, आज जरूर ! पुकार मचाते-मचाते अब पर्याप्त दिन हो चुके। तुम्हारी शरण में पड़ा मैं बहुत चिल्ला चुका। अपने इस पागल का आज तो सुदिन कर ही दो और इसे अपनी गोद में उठा लो।

PIN SPY IST FOR AR FUR STI CHAIR THE TAY IS TROUBLE TO MAKE TO MAKE THE

इस रिक्र को तह ने राज कि सिंह कि से कि है कि है कि है कि एक ने उसते के कहा के राज की स्थान के कि राज के कि है कि कि है कि कि कि है कि है

s that he begins have by the local to be present as a series of the seri

शब्दार्थ वरण है वरुण ! मे मेरी इमं इस हवं पुकार को श्रुधी सुन लो अद्य च आज तो मुझे मूळय सुखी कर दो त्वां अवस्युः मैं तुम्हारी शरण में आया हुआ, तुमसे रक्षां चाहता. हुआ आचके प्रार्थना कर रहा हूँ।

वैदिक विनय

03.

है शास्त के ज्वाभी।

२५ वैशाख शिक्षेयमस्<u>मै</u> दित्से<u>यं</u> शचीपते म<u>न</u>ीषिणे। यदुईं गोप्<u>तिः</u> स्याम्॥

—ऋo दाश्४ा२ ; सामo उo हाराह ; अथर्वo रारा

ऋषिः गोष्कत्यश्वसुक्तिनौ काण्वायनौ । देवता इन्द्रः । छन्दः विराड् गायती ।

विनय-हे शचीपते ! हे शक्ति के स्वामी ! तुम सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमयी शक्ति के स्वामी हो; और परिपूर्ण होने के कारण अपनी इस शक्ति का जगत् के प्रालन-पोषण में परिपूर्णतया ही सदूपयोग कर रहे हो। परन्तु मैं यद्यपि अपूर्ण जीव हुँ, तो भी मुझे अपनी शक्ति का सदा पुरा सदूपयोग ही करने में यथाशक्ति तुम्हारा अनुकरण करना चाहिए। इसलिये मैं चाहता हैं और संकल्प करता हूँ कि यदि मैं "गोपित" होऊँ, सच्चा वैश्य बनकर भूमि, गो, धन का (वैश्यशक्ति का) स्वामी होऊँ तो मैं इसका सदुपयोग ही करूँगा। हे सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! तुम मूझे ऐसी बुद्धि देना, ऐसी समझ और योग्यता देना कि मैं यह धन संसार के केवल "इस मनीषी पुरुष" के लिए ही देना चाहुँ और इसे ही दूँ; किसी को देने की मुझे कभी और इच्छा तक न हों, कभी प्रलोभन तक न हों। यह 'मनीषीं वह पुरुष होता है जोकि अपने मन का ईश है, जो कभी क्षण-भर के लिए भी मन का गुलाम नहीं होता, जो जितेन्द्रिय है, जिसे अपने पर पूरा काबू है। ऐसे ही पुरुष को दिया हुआ धन सदुपयुक्त होता है, हजारों गुणा फल लाता है, सर्वलोक का हित करता है। हमारे धन के एकमात्र अधिकारी, ये आत्मवशी पुरुष ही हैं। वास्तव में हमारा सब धन, इन संयमी महानुभावों का ही है। परन्तु हे प्रभो ! बहुत बार हम किन्हीं अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण या केवल रिवाज के वशीभूत होकर या अपनी कमजोरी के कारण, अजितेन्द्रिय 'लोगों'-भोगी, विलासी 'सन्तों'-को दान दे देते हैं। ओह ! यह तो तुम्हारी दी हुई धन-शक्ति का घोर दुरुपयोग है, यह पाप है ! यह दान नहीं है। यह या तो रिश्वत है या आत्मघात करना है। नहीं, यह सम्पूर्ण मनुष्य-समाज का व राष्ट्र का घात करना है, द्रोह करना है। जो मनीषी नहीं हैं उन्हें धन देने का विचार भी हमारे मन में नहीं आना चाहिए, देने की इच्छा (दित्सा) ही नहीं होनी चाहिए। जिसे अपने पर काबू नहीं उसके पास गया हुआ धन उस द्वारा सर्वनाश का कारण होता है। इसलिए, हे शचीपते ! मुझे इतनी शक्ति प्रदान करो कि मैं अनुचित दान के लिए स्पष्ट 'न' कर सकूँ। भोगियों को दिये जानेवाले दान में सम्मिलित न होने की हिम्मत कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तो उसी को दान दूँ जो कि अपने मन का ईश होने के कारण जनता के हृदयों का भी ईश हो और अतएव जिसके पास गया हुआ धन सर्व जनता के लिए हो सर्व जनता के कल्याण में ही स्वभावतः ठीक-ठीक उपयुक्त हो जाता हो।

शब्दार्थ — शचीपते हे शक्ति के स्वामी ! यत् अहं यदि मैं गोपतिः स्याम् धन-भूमि आदि का स्वामी होऊँ तो [मेरी मित ऐसी हो कि] मैं अस्मै मनीषिणे इस मन के ईश, पूरे जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही दित्सेयं इस धन-शक्ति को देना चाहूँ और शिक्षेयं इसे ही दूं।

है समर्थ-परमञ्जर।

२६ वैशाख
दृते दृंहं मा, ज्योक्ते संदृशि जीन्यासम् ॥
ज्योक्ते संदृशि जीन्यासम् ॥ —यजुः० ३६।१९

ऋषिः दध्यङ्ङाथर्वणः । देवता ईश्वरः । छन्दः पादनिचृद् गायत्री ।

विनय-हे जगदीरवर! मैं चाहता हूँ कि अब मैं तुम्हारी अध्यक्षता में ही जीऊँ-तुम्हारी देख-रेख में तुम्हारी आँखों के नीचे ही अपना जीवन व्यतीत करूँ। मुझे यह सदा स्मरण वना रहे कि तुम मुझे देख रहे हो। मेरा एक-एक कार्य, मेरी एक-एक चेष्टा, एक-एक-हरकन तुम्हें साक्षी रखकर की गई हो। इस तरह तुम्हारे सम्यक् दर्शन में - तुम्हें देखता हुआ-मैं चिरकाल तक जीऊँ। सच तो यह है कि जब मैं तुम्हारी ठीक-ठीक अध्यक्षता में अपना जीवन व्यतीत करूँगा तो मेरा जीवन ऐसा स्वाभाविकतया चलेगा कि यह स्वयमेव दीर्घजीवी हो जायगा। अतः मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से जुदा न हो जाऊँ। परन्तु तुम्हारे संदर्शन में जीना आसान काम नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि तुम ही मेरे जीवन हो, मेरी शक्ति हो, मेरी आत्मा हो, तो भी मैं निर्वलतावश तुम्हें सदा भूला रहता है। सांसारिक वायु के झोंकों के थपेड़ों ते मेरी सुध-बुध ऐसी भूली रहती है कि मुझमें तुम्हारी स्मृति जागृत नहीं रह सकती। इसलिए हे जगदीक्वर! मेरी तो तुमसे यह प्रार्थनां है कि तुम मुझे पहले दृढ़ बना दो, मज़बूत बना दो, चट्टान बना दो। हे दृते ! हे सर्वशक्तिस्वरूप ! तुम मुझे ऐसा दृढ़ बंना दो कि संसार की घटनायें मुझे चलायमान न कर सकें। मैं सदा तुम्हें देखते रहने का यत्न करता हूँ तुम्हें देखते रहते हुए ही अपने सब कर्म करने का यत्न करता हूँ, पर यह बहुत थोड़ी देर चलता है। कोई भी सांसारिक खुशी या कोई दु:ख, कोई चिन्ता आने पर वह मेरा सात्त्विक ध्यान जाता रहता है। कोई भी नई-सी बात होने पर मेरा ध्यान उधर खिच जाता है और मैं उस तेरे संदर्शन की मुखमय अवस्था से गिर जाता हूँ। इसलिए, हे दृते! मैं दृढ़ता का भिखारी हुआ हूं। मैं जानता हूँ कि जब मैं दृढ़ हो जाऊँगा तथा उस दृढ़ता द्वारा सुख में, दु:ख में, सम्पत् में, विपत् में सदा तुम्हारा यह संदर्शन करते रहने का अभ्यासी हो जाऊँगा तो धीरे-धीरे तुम्हारा सम्यक् दर्शन मुझमें ऐसा समा जायेगा कि यह फिर मुझसे जुदा न हो सकेगा और तब मुझे तुम्हारा ध्यान करने की भी जरूरत न रहेगी। जैसेकि हम दिन-भर सूर्य-प्रकाश द्वारा ही सब काम करते हैं पर हमें यह याद रखने की आवश्यकता नहीं होती कि हम सूर्य-प्रकाश में हैं, वैसे ही तब मैं बिना यत्न किये तुम्हारे संदर्शन के प्रकाश में चौबीसों घण्टे रहने-सहने और जीवन व्यतीत करनेवाला हो जाऊँगा। अतः हे दृते । मुझे ऐसा दृढ़ बना दो कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से न हट सकूँ।

शब्दार्थ--- दृते हे समर्थ परमदृढ़ परमेश्वर ! मा मुझे दृंह दृढ़ बना दे, जिससे कि मैं ते संदृशि तेरे संदर्शन में, तेरी ठीक दृष्टि में ज्योक् चिरकाल तक जीव्यासं जीता रहूँ ते संदृशि ज्योक् जीव्यासं तेरे सम्यक् दर्शन में दीर्घ आयु तक जीवित रहूँ ।

है ज्लाना ले।

२७ वैशाख न घेम् अन्यत् आर्पपन वर्जिन्नप<u>सो</u> नर्विष्टौ । तवेदु स्तोमं चिकेत ॥

—ऋ वाराह७; सामव उव शाराइ; अथर्वेव २०११ दार

ऋषिः मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः । देवता इन्द्रः । छन्दः आर्षी गायत्री ।

विनय हे जगत् के ईश्वर ! परम मंगलकारी ! मैं जो भी कोई नया कार्य शुरू करता हुँ, नया यज्ञकर्म नया शुभकर्म प्रारम्भ करता हुँ तो वह सब तेरा ही नाम लेकर, तेरे ही भरोसे, तेरे ही बल पर शुरू करता हूँ। अपने हरेक कार्य का मंगलाचरण मैं तेरे ही आगे झुककर, तेऱी ही मानसिक वन्दना करके, करता हुँ। हे वज्रवाले ! मैं तेरे सिवाय किसी भी अन्य के अगु झुककर मंगल नहीं मना सकता। क्यों कि वह पाप से निवृत्त करनेवाला वज्र तो तेरे ही हाथ में है --अनिष्टों, अमंगलों और विघ्नों का वास्तव में वर्जन करानेवाला वज्र तेरे ही हाथ में है। तो हे वज्रधारिन्! मैं किसी अन्य की स्तुति करके क्या पाऊँगा जो कार्य सचमुच एक-मात्र तुम्हारे ही आश्रय से किए जाते हैं ! और जो मनुष्य सचमुच अपना कर्म सर्वथा तुझे अपण करके करते हैं तो वहाँ पराजय, असफलता या असिद्धि नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। यह बात कइयों को जरा विचित्र-सी लगेगी, किन्तु सर्वथा सत्य है। सचमुच तब सब मंगल-ही-मंग्ल हो जाता है। यह सब तेरे वज्र का प्रताप है। जो लोग केवल तेरा ही आश्रय लेकर कृायं शुरू करते हैं, सर्वथा त्वदर्पित होते हैं, उनके पास निरन्तर जागता हुआ तेरा वज्र उनकी रैक्षा करता है। अतः हे परम मंगलकारी विज्ञन् ! इस संसार में तू ही एकमात्र स्तुति करने योग्य है। मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ। यदि मैं किसी धनाढ्य पुरुष की स्तुति करूँ तो शायद वह मुझे मेरे कार्य के लिए धन दे देगा; किसी प्रभावशाली पुरुष की विनती करूँ तो शायद मेरे लिए उसका प्रभाव बड़ा सहायक हो जायगा; परन्तु हे जगत् के ईश्वर ! मैं जानता हूँ कि यह सब तभी होगा जबकि तेरी ऐसी इच्छा होगी। संसार के सब प्राणी, सब अमीर-गरींब, छोटे-बड़े सब तेरे ही बनाये हुए पुतले हैं। संसार के बड़े-से-बड़े पुरुष भी तेरे ही आश्रय पर, तेरी ही, इच्छा पर, जीवित हैं; तो मैं उन पुरुषों का आश्रय लेकर क्या करूँगा ? जब तुझे अभीष्ट होता है कि किसी कार्य में धन, जन, बुद्धि आदि की सहायता मिले तो वह कहीं-न-कहीं से मिलती ही है। बल्कि हम देखते हैं कि धन, जन, मान आदि पाने के लिए जिन पुरुषों का हम भरोसा करते हैं, निरर्थक खुशामद करते हैं, वहाँ से हमें कूछ भी नहीं मिलता; किन्तु किसी दूसरी ही आशातीत जगह से वैसी सब सहायता मिल जाती है। अतः मैं तो अपने कार्यों के प्रारम्भ में किसी भी अन्य का भरोसा नहीं करता, मैं तो केवल तेरा ही पल्ला पकड़ता जानता हूँ, मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ।

शब्दार्थ - विज्ञिन् हे वज्जवाले ! मैं अपसः कर्म के निविष्टी प्रारम्भ में अन्यत् घ ईं अन्य किसी को भी न आपपन नहीं स्तुति करता तव इत् उ तेरी ही स्तोमं स्तुति करना चिकेत जानता है।

है मेरे भा लना ते ब्रह्मदेशियों का रांग

स्त कि १८ वैशाख भा त्वां मूरा अं<u>वि</u>ष्य<u>वो</u> मोपहस्वां<u>न</u> आ दंभन्।

मार्की <u>ब्रह्म</u>द्विषों वनः॥

—ऋ ० ८।४५।२३ ; साम० उ० १।२।७ ; अथर्व २०।२२।२ ऋषिः तिशोकः कण्वः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायती ।

विनय हे मेरे आत्मन् ! जब तू आत्मसुधार के लिए अग्रसर होता है, तो संसार की कई विरोधिनी शक्तियाँ तेरा मुकाबिला करती हैं, तुझे आगे बढ़ने से रोकना चाहती हैं। जब तू अपनी उन्नित के लिए सुधार के मार्ग का अवलम्बन करेगा तो कई अज्ञानी मृढ़ भाई उसे न समझने के कारण तेरा विरोध करेंगे, तेरी निन्दा करेंगे। जिन भाइयों के स्वार्थ में उस सुधार द्वारा धक्का लगेगा या धक्का लगने का काल्पनिक भय होगा वे 'अविष्यु' (अपनी पालना चाहने वाले) स्वार्थ-पीड़ित पुरुष तेरे मार्ग में बेशक रोड़े अटकायेंगे, चुगली करेंगे, भ्रम फैलायेंगे और तुझे नाना प्रकार के कष्ट देंगे। पर हे मेरे आत्मन् ! तू इनसे मत घबराना, मत दबना, मत नष्ट होना। तू अन्त में इन सबको अवश्य जीत लेगा। तेरा तेज अदम्य है। इसी तरह तेरे निराले कार्यों को देखकर-जिन्हें आम जनता ने अभी तक नहीं अपनाया है, ऐसे नये सुधार के कार्यों को तुझे आचरण में लाते देखकर-कुछ लोग तेरी खिल्ली उढ़ायेंगे, तेरा उपहास करेंगे, हँसी-हँसी में बड़े तीक्ष्ण व्यंग्य करेंगे। पर हे मन ! तू इनसे भी कभी हतोत्साह मत होना, इनसे प्रभावित मत होना; अनुद्धिग्न और प्रसन्न चित्त से इन सबकी सह लेना। एक समय आयेगा जब कि ये अज्ञानी मूढ़ पुरुष भी सचाई समझ जायेंगे और ये ठट्ठा करनेवाले लोग तेरे अनुयायी हो जायेंगे। यह ठट्ठा उड़ाना तथा मूर्खी द्वारा पीड़ा पहुँचाया जाना इस संसार में सुधार के साथ, उन्नतिशीलता के साथ, सदा से होता आया है और होता रहेगा। कुतके ठट्ठा, पीड़ा आदि कर्मों में से हरेक सुधारशील आत्मा को गुजरना ही पड़ता है। अतः तू इनसे न दबता हुआ निर्भय होकर आगे ही बढ़ता जा, अपना काम करता जा । यदि तू इन्हें अभी पूरी तरह सहन नहीं कर सकता तो अच्छा है कि तू "ब्रह्मद्विष्" लोगों का जा ब्रह्मा से (ज्ञान से या परमेश्वर से) प्रीति नहीं रखते, जो तेरे मार्ग से विपरीत मार्ग को पकडे हुए हैं उनका-सेवन मत कर, उनकी संगति में मत रह; उनकी उपेक्षा कर, उनसे यूँ ही बात मत कर, बिना प्रयोजन उनके संपर्क में मत आ। ऐसा करने से तू अनावश्यक संघर्ष से बचेगा और तुझे अपने को दृढ़ करने का निर्वाध अवसर मिलेगा। दृढ़ हो जाने पर तो तू इन सबके मध्य में रहनेवाला गृह हो जायगा।

शब्दार्थ—[हे मेरे आत्मन् ! हे मेरे मन !] त्या तुझको मूराः मूढ़ अविष्यवः अपनी पालना चाहनेवाले स्वार्थ-पीड़ित लोग मा दभन् मत नष्ट करें, मत दबा वें और उपहस्वानः उपहास करनेवाले, ठट्ठा उड़ानेवाले लोग भी मा मत दबा वें। तू बहाद्विषः ज्ञान व परमेश्वर से प्रीति न रखनेवाले मनुष्यों का मार्की वनः मत सेवन कर, मत संगति कर।

वैदिक विनय

OS

र्विमी नचीन वाला डेन्द

रेश वैशाख इन्द्र इत् नो महोनां दाता वाजानां नृतुः। महाँ अभिज्ञु आर्यमत्।। —साम०उ० १।२।१; ऋ० ८।६२।३

ऋषिः श्रुतकक्षः । देवता इन्द्रः । छन्दः पादिनचृद् गायत्री ।

विनय-इस संसार के जो तेजस्वी महापुरुष हजारों-लाखों लोगों के नेता होकर बड़े-बड़ काम कर रहे हैं, उनमें उस तेज और महावल को उत्पन्न करनेवाल इन्द्र परमेश्वर ही हैं। इस संसार में जो नाना आन्दोलन उठते और दवते रहते हैं, कभी कोई लहर चलती है कभी कोई तथा इन आन्दोलनों और लहरों में उस समय के सब मनुष्य बलात खिचे चले जाते हैं, यह सब खेल खेलानेवाले और हमें नाच नचानेवाले भी इन्द्र ही हैं। ये इन्द्र हम सबको अपना थोड़ा या बहुत, तेज और बल दे रहे हैं और उस द्वारा नाच नचा रहे हैं। आज जो हममें महातेजस्वी है, वह कभी कुछ दिनों में सर्वथा निस्तेज हो जाता है, तथा एक तुच्छ पुरुष कुछ ही दिनों में यशस्विता के शिखर पर पहुँचा देखा जाता है। यह सब उसका खेल है। आओ, हम अपने तेज व वल का सब अभिमान त्यागकर, नम्र होकर, उस महान् इन्द्र की शरण में पड़ जायें। जरा देखो, वह इन्द्र कितना महान् है, जो कि अकेला हम अनन्त जीवों को कठपुतली की तरह नचा रहा है—स्थावर, जंगम सभी असंख्य प्रकार की सुष्टि को हिला रहा है ! वह महान् इन्द्र इस ब्रह्माण्ड को नचा रहा है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी इस सृष्टि में कुछ व्यवस्था नहीं है, मनमानी या अन्धाधुन्धी है। वह हमें नाच भी पूरी व्यवस्था के साथ, अटल सत्यनियमों के साथ नचा रहा है। इसका कारण यह है कि वह "अभिजु" है, सबके अभिप्रायों को एकदम जानता है, सर्वान्तर्यामी है, इस सब ब्रह्माण्ड की वह आत्मा है। हम सब अनन्तं प्राणियों के हृदयों में आत्मा की आत्मा होकर, अन्तर्यामी होकर, वह अकेला ही बैठा हुआ अनन्त-जीवरूप अनन्त चक्रोंवाले इस महायन्त्र को चला रहा है। अहो, वह इन्द्र परमेश्वर कितना महान् है ! कितना महान् है !!

शब्दार्थ इन्द्र इत् इन्द्र ही नः हमें महोनां वाजानां दाता तेजों और बलों का देनेवाला तथा नृतुः नचानेवाला वह महान् महान् है और अभिज्ञ अभिप्राय को जाननेवाला, अन्तर्यामी होता हुआ आयमत् इस जगत् को व्यवस्था में बाँघे हुए है।

OF

एडरनवड भरा का दूर करने जाला

Digitized by Arva-Samai Foundation Chemia and economic

३० वैशाखें इन्द्रों <u>श्र</u>ङ्ग महद् <u>भ</u>यम् श्रभीषत् अपं चुच्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ —ऋ० २।४१।१०

ऋषिः गृत्समदः। देवता इन्द्रः। छन्दः गायत्री।

विनय हे प्यारे! तू क्यों घवराता है ? तेरे सामने जो भय उपस्थित है उससे बहुत बड़े भय और बहुत भारी विपत्तियाँ मनुष्य पर आ संकती हैं और आती हैं। परन्तु हमारें परमेश्वर उन सबको क्षण में टाल सकते हैं और टाल देते हैं। उसके सामने, उसके मुकाबिले में आये हुए महान्-से-महान् भय पल-भर भी नहीं ठहर सकते। हे प्यारे! तू देख कि इस संसार में एक वह इन्द्र ही स्थिर वस्तु है वही सत्य है, सनातन, अटल, अच्युत है, कभी नष्ट न होनेवाला है। शेष सव-कुछ सभी कुछ क्षणभंगुर है, विनश्वर है, अशाश्वत है और चला जाने वाला है। यही एक महासत्य है जिसे सिखाने के लिए संसार में चौबीसों घंटों की घटनायें हो रही हैं। हे मनुष्य ! तू इस महासत्य पर विश्वास कर और निर्भय हो जा। वास्तव में संसार के सब दु:ख, क्लेश, भय, संकट टल जाने वाले हैं, नश्वर हैं; क्योंकि ये नश्वर वस्तुओं द्वारा और अज्ञान द्वारा बने हैं। संसार में जो अनश्वर है, अटल है वह तो परमेश्वर ही है। इस समय चाहे तुझे यह भय-ही-भय चारों तरफ नजर आता हो, पर उस अटल इन्द्र की शरण पकड़ने पर यह सब ऐसे जाता रहेगा जैसे कि सदा रहनेवाले अटल सूर्य इन्द्र के सामने से नष्ट हो जानेवाले बादलों का भारी-से-भारी समूह जाता रहता है, छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह सदा सूर्य को घरे नहीं रह सकता। अतः हे प्यारे ! तू अब उस परमेश्वर की ही शरण पकड़ जो कि स्थिर है और "विचर्षणि" है-जोिक सदा रहनेवाला है और इस सब जगत् को ठीक-ठीक देखनेवाला सर्वज्ञ है। यह समझ लेते ही तेरे सब भय मिट जायेंगे। इन्द्र को स्थिर और विचर्षणि जान लेना ही उसकी शरण में आ जाना है। जिसने संचमुच उसे एकमात्र नित्य और सर्वज्ञ वस्तु करके देख लिया है वह उसे छोड़कर और कहाँ अपना आश्रय टिका सकता है और जिसने उसके इस रूप को देख लिया उसके सामने कौन-सा भय ठहर सकता है ? इसलिए, प्यारे! तू घबरा मत, तू उसकी शरण को पकड़। यह सामने आए हुए इस छोटे-से भय को ही नहीं मिटा देगा, अपितु एक दिन आएगा जब कि यह जगदीश्वर तुझसे संसार के संबसे भारी भय को, संसार-बंध के महान् भय को, बार-बार जीने-मरने के महाभय को भी छुड़ांकर तुंझे सदा के लिए अजर, अमर और अभय कर देगा।

शब्दार्थ अङ्ग है प्यारे ! इन्द्र: इन्द्र परमेश्वर तो अभीषत् सामने आये हुए महद् भयं बेड़े भय को भी अप चुच्यवत् विनष्ट कर देता है। सहि वह ही निश्चयर्वक स्थिर हैं, अचल है, शाश्वत है और विचर्षणिः सब जगत् को ठीक-ठीक देखनेवाला है।

Dightize By Arya Stan Foundation Of Managed Brogget

३९ वैशार्ख इन्द्रंश्च मृळ्यांति नो, नःनंः पश्चात् ऋषं नेशत्। भद्रं भवाति नः पुरः॥ —ऋ० २।४१।११

ऋषिः गृत्समदः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय-भाइयो ! इसमें सन्देह नहीं है कि इन्द्र भगवान् तो हमें सदा सुख ही दे रहे हैं, निरन्तर हमारा कल्याण ही कर रहे हैं। फिर भी जो असुख हमारे सामने आता है, हमें दु:ख देखना पड़ता है, उसका कारण यह है कि हमने अपने पीछ पाप को लगा रखा है और पाप का परिणाम दुःख होना अटल है, अनिवार्य है। यदि हमारे पीछे पाप न लगा हो तो हमारे सामने भद्र-ही-भद्र आता जाय। जब हम कोई पाप करते हैं तो समझते हैं कि वह वहीं खत्म हो गया। हम समझते हैं कि दो घंटे पहले किया हुआ हमारा पाप तभी दो घंटे हुए उसके कर्म के साथ ही समाप्त हो चुका, अब उसका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं। इस तरह हम पाप करके आगे चलते जाते हैं और चाहते हैं तथा आशा करते हैं कि आगे-आगे हमारे लिए भद्र-ही-भद्र आता जाय। पर हमें मालूम रहना चाहिए कि हमारा किया हुआ पाप चाहे हमारी आँखों के सामने नहीं आ खड़ा होता हो, पर वह नष्ट भी नहीं होता है। वह तो हमारे पीछे लग जाता है और तब तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता जब तक वह हमारे आगे अभद्र, अकल्यांण व दुःख के रूप में आकर हमें फल नहीं भुगा लेता। अतः याद रिखये कि हमें न दिखाई देता हुआ हमारे पीछे रहता हुआ ही हमारा पाप एक दिन हमारे आगे अभद्र व क्लेश के रूप में आता है और अवश्य आता है, जैसे कि हमारा हरेक पुण्य भी पीछे रहता हुआ, दिखाई न देता हुआ एक दिन हमारे आगे भद्र के रूप में आता है। यह हमारी कितनी मूर्खता-भरी इच्छा है कि हम चाहते हैं हमारा सदा भला ही होवे, हमारे सामने सदा सुख, स्वास्थ्य, समृद्धि आदि ही आते जायँ, पर साथ ही हम पाप करना भी नहीं छोड़ना चाहते ! यह कैसे हो सकता है ? हमारे पीछे तो हमारा नाश करता हुआ, हमारा पाप चल रहा होता है और हम मूर्खतापूर्ण आशा में यह प्रतीक्षा करते होते हैं कि हमारे सामने सुख आता होगा। यह असंभव है। अतः आओ, आज से कम-से-कम आगे के लिए पाप करना तो सर्वथा त्याग दें। यदि हम विशेष पुण्य नहीं कर सकते तो कम-से-कम इतना तो संकल्प कर लें कि हम अब से एक भी पाप अपने से न होने देंगे। इतना करने से भी इन्द्र भगवान् की दया से हमारे शीघ्र ही सुदिन आ जायँगे, पाप का पीछा छूट जाने से भद्र के लिए मार्ग साफ हो जायगा। पर यदि हम इतना भी न कर सकें तब तो इन्द्रदेव की सुख व कल्याण की वर्षा में रहते हुए भी हमारे भाग्य में तो दु:ख-ही-दु:खं रहेगा।

मार्थ इन्द्रः परमेश्वर च निश्चय से नः हमें मृळयाति सुख ही देते हैं। नः हमारे परचात् पीछे अयं पाप न नशत् न लगे तो नः पुरः हमारे सामने भद्रं भद्र, कल्याण ही भवाति हीवे, होता रहे।

ग्रीव्म की ऋतु-चर्या

लक्षण सर्दी और गर्मी को मिलानेवाली तथा गर्मी का प्रारम्भ करनेवाली वंसन्त ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनों में गर्मी अपने पूरे रूप में पड़ने लगती है, उस ऋतु का नाम ग्रीष्म ऋतु है। साधारणतः ज्येष्ठ तथा आषाढ़ के महीने ग्रीष्म ऋतु के महीने कहलाते हैं। आषाढ़ में कुछ वर्षा का भी प्रारम्भ हो जाता है इसलिये कई वैशाख और ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म ऋतु के महीने कहते हैं।

महिमा—इन दिनों सूर्यं अपनी पूरी शिवत से संसार को तपाता है। सूर्यं का ताप, प्रकाश और प्राण ग्रीष्म ऋतु में अधिक-से-अधिक प्राप्त होता है। इसिलये सूर्यं से मिलनेवाली इन अमूल्य वस्तुओं का हमें इस ऋतु में अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए। सूर्य-रिक्मयों के सहारे से अपने मलों और विकारों को निकालकर निर्मलता और पिवत्रता प्राप्त करनी चाहिए। यह काल आदानकाल कहलाता है। साधारणतः समझा जाता है कि इस समय हमारा बल-शिक्त आदि क्षीण हो जाते हैं। परन्तु यदि हम इस ऋतु का ठीक उपयोग करें तो इस द्वारा हमारा कोई भी वास्तिवक बल क्षीण न होगा, किन्तु आदित्यदेव की पिवत्रताकारक शोधक किरणों के उपयोग से केवल हमारे मल, दोष और विकार ही क्षीण होंगे। सूर्यं भगवान हमारे शरीरों में से केवल मलों और दोषों का आदान करके हमें पिवत्र करेंगे।

गुण—यह ऋतु रूक्ष, पदार्थों में तीक्ष्णता उत्पन्न करनेवाली, पित्तकारक तथा ऋफ-नाशक है। इसमें वात संचित होता है। इस ऋतु में मनुष्यों की जठराग्नि तथा बल क्षीण अवस्था में होते हैं। इस ऋतु में शरीर से पसीना आदि निकलकर शरीर की शुद्धि होती है।

पथ्यापथ्य- वसन्त ऋतु में बढ़ा हुआ कफ इस ऋतु में शान्त हो जाता है। अतः इस ऋतु में स्निग्ध, शीतवीर्य, मधुर तथा सुगमता से हजम होनेवाले हल्के पदार्थों का सेवन करना चाहिए, अर्थात् गेहूँ, मूँग, जौ, दलिया, सत्तू, लप्सी, श्रीखंड, दूध, सरदाई, रसीले फल आदि भोजनों का सेवन करना चाहिए। इसके विरुद्ध जो आईक-मिर्च आदि कटु भोजन, सार, लवण तथा खट्टे भोजन उठण-वीर्य होते हैं, उन्हें न्यून-से-न्यून मात्रा में ही उपयोग में लाना चाहिए।

इस ऋतु में शरीर और वनस्पतियों में रूक्षता और लघुना अधिक बढ़ जाने से बात बढ़ने लगता है, पर काल के उष्ण होने से बहुत अधिक बढ़कर प्रकुपित नहीं होने पाता। यह आगे वर्षा ऋतु में जाकर प्रकुपित होता है। अतः इस ऋतु में अधिक वातकारक भोजन खाना तथा गर्मी से तंग आकर बहुत शीतल पदार्थों का सेवन और शीत उपचार करना भी ठीक नहीं है। इससे वात संचित होता है जो कि वर्षा में वात-व्याधियों को उत्पन्न करेगा।

दिन में सोना यदि किसी ऋतु में लाभकर हो सकता है तो वह यह ऋतु है।

इस ऋतु में गर्मी की अत्यधिकता से नक्सीर फूटना, लू लगना आदि रोगों के हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः रक्त-पित्त व पित्त प्रकृतिवाले पुरुषों को विशेष सावधानी रखनी चाहिए। धप और गर्मी से अपने को बचाना चाहिए। यदि बाहिर जाना हो तो सिर और पैरों को ढककर जाना चाहिए। इस ऋतु में परिश्रम के व्यायाम नहीं करने चाहिए, प्रत्युत हल्के व्यायाम या तैरना आदि ठीक होता है।

हिन्दी कहावत के अनुसार ज्येष्ठ में सफर करना तथा आषाढ़ में बेल (बिल्व) खाना

तिषिद्ध है।

di.

स्थाय - शही और नेपी मी लीनामाने राजी तथा वसी का अध्यत प्रतिस्था विश्व

Top-one for wafty

ज्येष्ठ (वृष्)

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

कन्धों, भुजाओं और फेफड़ों में स्वस्थता तथा नीरोगता लानेवाला

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइये। भुजायें फैला दीजिये। हथेलियाँ ऊपर की तरफ हों। मुट्ठी बाँधने के बाद मांसपेशियों को तान लीजिये। अब हाथों को कोहनी पर से मोड़ते हुए सिर की तरफ धीमे धीमे लाइये जिससे कि अंगुलियों के जोड़ कन्धों को छू जायें। दोनों हाथों को फिर धीमे-धीमे वापस ले जाइये। ध्यान रिखये कि इस बीच में सारे शरीर की मांसपेशियाँ तनी रहें। जब हाथ कन्धे की तरफ ले-जा रहे हों तो पूर्ण क्वास अन्दर भरिये और हाथों को वापस सीधा करते समय क्वास को धीमे-धीमे वाहिर निकालिये। अब शरीर को ढीला छोड़ दीजिये और इस तरह व्यायाम को कई बार की जिये।

(7)

इस मास के लिए व्यायाम का दूसरा प्रकार निम्न है-

पूर्वनिदिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइये। दोनों हाथ नीचे की तरफ सीधे लटके हों। मांसपेशियों को तान लीजिये। अब दाहिना हाथ कोहनी से मोड़ते हुए ऊपर की तरफ ले जाइये। जब कोहनी कन्धे के साथ सम-रेखा में आ जाये तब ठहरिये। फिर हाथों को पूर्व-स्थित में वापस ले आइये। इस बीच शरीर की मांसपेशियाँ तनी रहनी चाहियें। इसके बाद यही व्यायाम बायें हाथ से कीजिये। ऊपर की ओर हाथों को गित देते समय रवास को अंदर भरिये ताकि जब हाथ कन्धे तक पहुँच जाएँ तब फेफड़े रवास से पूरे भर चुके हों। हाथों को वापस नीचे की ओर लाते समय रवास को धीमे-धीमे बाहिर निकालिये। अब शरीर को विल्कुल ढीला छोड दीजिये और इस व्यायाम को कई बार कीजिये।

इस व्यायाम में अपना मन कन्धों, भुजाओं और फेफड़ों पर एकाग्र कीजिये और उन्हें

पूर्णं स्वस्थ रूप में अपने सामने चित्रित कीजिये।

ह्यान—इस व्यायाम से मेरे फेफड़ों की क्वासधारिणी शक्ति बढ़ रही है। मेरे फेफड़े. दिनों-दिन मजबूत हो रहे हैं। इस व्यायाम से मैं स्वस्थ हो रहा हूँ और वास्तविक लाभ प्राप्त कर रहा हूँ।

इन अंगों को गौणतया भाद्रपद, मार्गशीर्ष और फाल्गुन के व्यायामीं द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

आर्वारोही वनी

- १ ज्येष्ठ

कालो अश्वो वहति सप्तरंशियः, सहस्राक्षो अजाे भूरिरेताः। तमा रोहन्ति कवयो विप्रविचतः, तस्य चक्रा सुवंनानि विश्वां॥

-अथर्वे० १९।५३।१

ऋषिः भृगुः । देवता कालः । छन्दः त्रिष्टुप् 🏣

विनय कालरूपी महाबली घोड़ा चल रहा है। यह सब संसार को खींचे लिये जा रहा है। इस विश्व के सब प्रकार के जगतों में सात तत्त्व काम कर रहे हैं (सब जगतों में सात लोक, सात भूमियों हैं, सप्त प्रकार की सुष्टि है और प्रत्येक प्राणी में भी सात प्राण, सात ज्ञान, और सात धातु हैं)। ये ही सात रस्सियाँ (रिंदमयाँ) हैं जिनसे कि यह विश्व उस कालरूपी घोड़े से जुड़ा हुआ है। काल की महाशक्ति से जुड़कर इस ब्रह्माण्ड के सब भुवंन, सब लोक, सब मनुष्य, सब प्राणी, सब उत्पन्न वस्तुयें चक्र की तरह घूम रही हैं। इन असंख्य भुवनों के उत्पन्न चर या अचर पदार्थों के, असंख्यात अक्षों को (व्यक्ति-केन्द्रों को) गति देता हुआ, यह महाशक्ति काल अपने इन भवन-चक्रों द्वारा इस समस्त विश्व को चला रहा है। इस तरह यह संसार न जाने कब से चलाया जा रहा है! हम परम तुच्छ मनुष्यों की क्या गंणना, असंख्यों वर्षों की आयुवाले बहुत-से सौर-मंडल भी जीर्ण होकर सदा से इस अनन्तकाल_में लीन होते गये हैं। परन्तू कभी जीर्ण न होता हुआ यह कालदेव आज भी अपनी उसी और उतनी ही शक्ति से इस विश्व-ब्रह्माण्ड को खींचे लिये जा रहा है। इस कालदेव को मेरे कोटि-कोटि प्रणाम हैं। भाइयो! क्या तुम्हें यह कभी जीर्ण न होनेवाला, सब विश्व चलानेवाला महावीर्य अरव दीख रहा है ? पर याद रखो कि इस महावेगवान् अरव की सवारी वे ही ले सकते हैं जो कि ज्ञानी हैं-जो कि समय को पहचानते हैं, जिनकी दृष्टि इस सबको हिलाने-वाले अनन्त कालदेव के दर्शन पाकर विशाल हो गई है, अतएव जो कि कान्तदर्शी हैं, जो कि विशाल भूत और भविष्य को दूर तक देख रहे हैं। जो अज्ञानी या अतिचंचल मनुष्य, स्थिर ज्ञान-प्रकाश को न पाकर क्षुद्र दृष्टिवाले और काल के महत्त्व को न पहचाननेवाले हैं, वे तो कालरथ पर नहीं चढ़ सकते, और न चढ़ सकने के कारण वे या तो कुचले जाते हैं, या कुछ दूर तक घिसटते जाकर कहीं इधर-उधर दूर जा पड़ते हैं और मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं, या इसके नीचे यूँ ही पड़े रहकर नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये काल नाम मृत्यु का हो गया है। परन्तु वास्तव में काल तो वह महाशक्तिवाला, महावेगवाला यान है, जिस पर कि सवार होकर हम बड़ी जल्दी अपना मार्ग तय करके लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। अतः आओ, हम आज से काल के सवार बनें, अपने पल-पल, क्षण-क्षण का सदा सदुपयोग करें, इस महाशक्ति को कभी भी गैंवायें नहीं और काल की इस विशालता को देखते हुए सदा ऊँची विशाल दृष्टि से ही समय के अनुसार अपना कर्त्तव्य निश्चय किया करें।

शब्दार्थ — सप्तरिमः सात रिस्सयोवाला सहस्राक्षः हजारों धरों को चलानेवाला अजरः कभी भी जीणे, बुड्ढा न होनेवाला भूरिरेताः महाबली कालः अश्वः समयरूपी घोड़ा वहित चल रहा है — संसार-रथ को खींच रहा है । विश्वा भुवनानि सब उत्पन्न वस्तुएँ, सब भुवन तस्य उसके चक्ताः चक्र हैं — उस द्वारा चक्रवत् घूम रहे हैं । तं उस घोड़े पर विपश्चितः ज्ञानी और कव्यः क्रान्तदंशीं लोग ही आरोहन्ति सवार होते हैं ।

वैदिक विनय

प्रकी। हमार सामा छना

२ ज्येष्ठ

त्वां जनां मम सत्येष्विन्द्र, सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते स<u>मी</u>के। स्र<u>त्रा</u> युजं कुणुते यो <u>ह</u>विष्मान् , ना सुन्वता स्र्व्यं विष्टि शूर्रः ।।

—ऋ० १०।४२।४; अथर्व० २०।५६।४

ऋषिः कृष्णः । देवता इन्द्रः । छन्दः पादनिचृत्तिष्टुप् ।

विनय हे परमेश्वर ! केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में मनुष्य दो पक्षों में विभक्त हुए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं, और मजेदार बात यह है कि इन कलहों, युद्धों में दोनों पक्षवाले तुम्हारे पवित्र नाम की दुहाई दे रहे हैं। प्रत्येक कहता है कि "हमारा पक्ष सच्चा है अतः परमेश्वर हमारे साथ है, विजय हमारी निश्चित है।" परन्तु, हे मनुष्यो ! सत्य के साथ ऐसे खिलवाड़ मत करो ! जरा अपने अन्दर घुसकर, अन्तर्मुख होकर, अपनी सच्ची अवस्था को देखो । 'सत्य', 'परमेश्वर' आदि परम पवित्र शब्दों का यूँ ही हलकेपन से उच्चारण करना ठीक नहीं है। यह पाप है! गहराई में घुसकर, गहरे पानी में पैठकर, सत्य वस्तु को तत्परता के साथ खोजो और देखो कि वह सत्यस्वरूप इन्द्र सदा सच्चे (वास्तविक) सत्य का ही सहायक है। इस संसार में जो लोग हाथ में "हवि:" लिये खड़े हैं, आत्म-बलिदान चढ़ाने को उद्यत हैं, अपना सिर हथेली पर रखे फिरते हैं, उन त्यागी पुरुषों को ही वे परमेश्वर अपना साथी बनाते हैं, उन्हीं के वे सहायक होते हैं। क्योंकि यह ही सच्चे होने की सच्ची पहचान है। जिसको वास्तव में सत्य से प्रेम है वह तो उस सत्य के लिए सिर पर कफन बाँघ लेता है। सत्य का सच्चा पुजारी तो भंगुर शरीर की क्या, संसार-भर की अन्य सब असत्य, असार वस्तुओं की बिल चढ़ाकर भी सत्य की रक्षा करता है। अतः उसे ही उस श्र, महापराऋमी, सर्वशिक्तमान् इन्द्र की मित्रता (सख्य) और सहायता प्राप्त होती है। यदि उस शूर की मित्रता चाहते हो तो 'हविष्मान्' होओ और सवन करनेवाले होओ। जो 'असुन्वत्' है, जोिक यज्ञ के लिए उद्योग करता हुआ सोम का सवन नहीं करता— कठोर परिश्रम् करता हुआ सारवस्तु का, सत्य का, तत्त्व का निष्पादन नहीं करता ऐसे पुरुष के साथ वे इन्द्र कभी मित्रता नहीं करना चाहते। अतः, हे भाइयो ! ढोंग करना छोड़ दो, बिना जाने और बिना तह में घुसे यूँ ही 'सत्य', 'परमेश्वर' आदि नामों का पुकारना छोड़ दो ! सत्य कभी छिपेगा नहीं। जब तुममें सचाई होगी तो उसके लिए सब-कुछ त्याग करने को अवश्य तैयार होंगे और तुममें आगे-आगे सत्य-रस को, तत्त्वसार को निकाल प्राप्त करने की उत्कट लगन भी होगी और तब तुम देखोगे कि तुम्हें वह परम सौभाग्य प्राप्त है कि तुम शूर सर्वशक्तिमान् इन्द्रं की मित्रता में हो, उसके 'युज्" साथी बने हुए हो।

शब्दार्थ—इन्द्र हे परमेश्वर ! मम सत्येषु 'मेरा पक्ष सच्चा है, मेरा पक्ष सच्चा है' ऐसे अपने झगड़ों में, स्पद्धीओं में जनाः मनुष्य त्वां तुझे वि ह्वयन्ते विविध प्रकार से पुकारते हैं। एवं समीके युद्ध में, संग्राम में संतस्थानाः स्थित हुए, अड़े हुए मनुष्य भी तुझे अपने-अपने पक्ष में पुकारते हैं। परन्तु अत्र इस संसार में, हे मनुष्यो ! यो हविष्मान् जो मनुष्य बिलदान के लिए तथार है उसे ही वह इन्द्र युजं कृणुते अपना साथी बनाता है शूरः वह इन्द्र असुन्वता यज्ञ के लिए सवन न करनेवाले अनुद्यमी पुष्प के साथ सख्यं न विष्ट कभी मित्रता नहीं चाहता।

Dichized Darya Sanal Foundation Spennaj and Gangotri

३ ज्येष्ठ

ष्ठकं नो <u>लो</u>कं अर्तुनेषि विद्वान्, स्वर्वेत् ज्योतिरभयं स्वस्ति । अपृष्वार्तं इन्द्रं स्थविरस्य <u>बाह</u>्न, उपस्थेयाम शर्णा वृहन्तां ।।

—ऋ ० ६।४७। द; अथर्वे० १६।१५।४

ऋषिः गर्गः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराट् त्रिष्टुप् ।

विनय—हे परम ईश्वर ! हे सब-कुछ जाननेवाले ! तुम हमें ज्ञान देकर कभी अपने विस्तीणं, खुले, अपार लोक में पहुँचा देते हो—उस लोक में जहाँ कि आनन्द ही आनन्द है और ऐसा आनन्द है कि उसकी प्रतिक्रिया में दु:ख, संताप का जन्म नहीं हो सकता; उस ज्योतिर्मय लोक में, जहाँ प्रकाश का साम्राज्य है और जहाँ विस्तीणं शुभ्र प्रकाश-सागर में अज्ञान व अधकार की छाया तक नहीं पड़ सकती, उस लोक में जहाँ परिपूणं अखण्ड अभयता है, इन भय के भूतों का जिनसे कि हम यहाँ हरदम सताये रहते हैं, जहाँ नामोनिशान नहीं है, और उस लोक में जहाँ कि कल्याण ही कल्याण बरसता है, अकल्याण की जहाँ कल्पना तक नहीं हो सकती है, हे इन्द्र ! तुम ऐसे लोक के वासी हो । हम मनुष्यों को—जीवों को—वहाँ ले-जा सकते हो ! हे मेरे स्वामी ! अपनी बाहुओं को फैला दो और अपनी महान् शरण में हमें ले लो । हे महान् देव ! तुम्हारे ये बाहू सब पाप-ताप का ध्वंस करनेवाले हैं, क्लेश-कष्ट का नाश करनेवाले हैं, विघ्न-बाधाओं को हटानेवाले हैं । इनकी महान् शरण का आश्रय पाये हुए को दु:ख, अज्ञान, भय व अकल्याण का स्पर्श भी कैसे हो सकता है ? अपने बाहू फैलाओ, करणाम्य ! हमें उठाने के लिए अपने ये वात्सल्यमय बाहू बढ़ाओं जिससे कि हम तुम्हारी परम शरण में आ बैठें, वह गोद जिसमें बैठकर कोई क्लेश नहीं, श्रम नहीं, भय नहीं, आमय नहीं ।

शब्दार्थ इन्द्र है इन्द्र ! त्वं विद्वान् त् सर्वज्ञ नः उरं लोकं अनुनेषि हमें उस महान् विस्तृत लोक में पहुँचा देता है जहाँ स्ववंत् आनन्द ज्योतिः प्रकाश अभयं अभयं और स्वस्ति कल्याण ही है। हे परमेश्वर ! ते स्थविरस्य बाहू तुझ महान् देव के बाहू ऋष्वा सब विघ्न-बाधाओं को नाश करनेवाले हैं बृहन्ता शरण हम उस तुम्हारी (बाहुओं की) अपार शरण में उपस्थेयाम बैठ जायें।

5.3

सत्य बहरे मानों में भी धारा जाता है

४ ज्येष्ठ

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिवृ<u>ष्</u>तिनानि हन्ति । ऋतस्य श्लोको ब<u>धिरातंतर्</u>ट, कणौ बुधानः शुचर्मान <u>ऋ</u>ायोः ॥

—ऋ० ४।२३।५

ऋषिः वामदेवः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय—प्यारो ! सत्य के माहात्म्य को देखो ! सत्य में वे सनातन ऐश्वर्य व बल हैं, जिनसे शोक एक जाता है। एक बार सत्य-ज्ञान होने पर संसार के सब शोक—घोर-से-घोर दु:ख—खेल दीखने लगते हैं। अनादि काल से जो भी कोई शोक के पार हो गये हैं उन सबको

किसी-न-किसी तरह सत्यज्ञान की ही प्राप्ति हुई थी।

किसी भी वर्जनीय वस्तु से—पाप से— छुटकारा चाहते हो तो सत्य का सहारा लो। सत्य को धारण करते ही मनुष्य में और कोई बुराई नहीं ठहर सकती। जितनी मात्रा में हममें सच की कमी होती है, उतनी ही मात्रा में हमारे अन्दर बुराई को रहने की जगह होती है। जो पूरा सच्चा है, उसमें बुराई ठहर ही नहीं सकती। अतः केवल इतना आग्रह रखो कि हम सत्य का ही पालन करेंगे तो इससे हमारे अन्दर की सब वर्जनीय वस्तुयें—आखिर ये वर्जनीय वस्तुयें

पाप ही हैं, और कुछ नहीं स्वयं नृष्ट हो जायेंगी।

और यदि हम सच्चे हैं तो हमारी बात प्रतिद्वन्द्वी को भी जरूर सुननी पड़ती है, हमारी सचाई का उस पर भी जरूर असर होता है। यह हो ही नहीं सकता कि सचाई का असर न हो। सच्ची आवाज 'शुचमान' होती है, उसमें एक तेज होता है, अतएव यह 'बुधानः'—जगानेवाली होती है। इस तेज के सामने स्वार्थी मनुष्य को (जो कि अपनी स्वार्थ-हानि के डर से सचाई को अनसुनी करना चाहता है) अपने कानों के द्वारों को खोलना पड़ता है। सचाई ऐसी जगानेवाली शक्ति होती है कि जो अज्ञान के कारण अभी तक समझ नहीं रहा है उसमें चेतना और जागृति पैदा कर देती है। सच्ची आवाज सीधी हृदय में जा पहुँचती है। जहाँ सत्य की सुनवाई होना पहले असंभव जान पड़ता है, वहाँ भी अंत में सत्य को मानना पड़ता है। निस्सन्देह सचाई बहरे कानों को भी बेधकर घुस जाती है।

शब्दार्थ — ऋतस्य हि सत्य की शुरुधः शोकनिवारक संपत्तियाँ पूर्वीः सन्ति सनातन् हैं। ऋतस्य धीतिः सत्य का धारण करना वृजिनानि पापों का, वर्जनीय वस्तुओं का हन्ति नाश कर देता है। ऋतस्य सत्य की बुधानः जगानेवाली और शुचमानः दीप्यमान श्लोकः आवाज बिधरा वहरे आयोः मनुष्य के कर्णा कानों में भी आततर्द जबरदस्ती पहुँच जाती है।

THE Dilized of Arya Sanda Foundation Chemical as a Gangay 77 2720

४ ज्येष्ठ

पदं देवस्य नर्मसा व्यन्तः, श्रवस्यवः श्रवं त्रापुन् त्रमृक्तम् । नार्मानि चित् दिधरे युज्ञियानि, <u>भ</u>द्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टी ॥

一ऋ० ६।१।४

ऋषिः भारद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता अग्निः। छन्दः निचृत् विष्टुप्।

विनय है देव ! हमने तुम्हारे पद के, तुम्हारे प्राप्तव्य-स्वरूप के, तुम्हारे चरणों के दर्शन पाये हैं। तुम्हें वार-वार नमस्कार करते हुए, तुम्हारी स्तुति करते हुए, तुम्हारे आगे झुकते हुए, भिक्तभाव से आत्म-समर्पण करते हुए ही हमें ये तुम्हारे दुर्लभ पद के दर्शन मिले हैं। यह सब तुम्हारी भिक्त की मिहमा है। इसके साथ ही मेरी पुरानी यश पाने की इच्छा भी तृप्त हो गई है। तुम्हारी कुपा से ऐसा यश मिला है जो कि मृदित नहीं हो सकता है। वाहिर के के मनुष्यों से मिलनेवाला यश तो उनके अधीन होता है, वह मृदित होता रहता है। परन्तु तुम्हारे पद-दर्शन से जो अन्दर का यश मिला है वह अक्षय है, उसे पाकर अब मुझे किसी बाह्य यश की आकांक्षा नहीं रही है। तेरे सेवकों को संसार में सज्जन पुरुषों द्वारा भी बहुत-सा यश मिला करता है, पर वह भी तुझ द्वारा मिले इस आन्तर-यश की ही छाया होती है। हे अग्नि-देव! तेरी भिक्त ने मुझे उबार दिया है। तेरी भिक्त का तो इतना प्रताप है कि यदि कोई तेरे यज्ञाई (यज्ञ में उच्चारणीय) पित्र पुण्य नामों को ही केवल धारण करे, उन्हें वाणी से बोलता हुआ भिक्त से हृदय में गुँजाता रहे, तो इस नाम-जपन, नाम-धारण से ही उसका अन्तः करण इतना शुद्ध हो जायगा कि उसपर तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि हो जायगी। तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि हो जायगी। तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि में रहता हुआ वह सुख से आगे बढ़ता जायगा, उसके व्याधि', स्त्यान आदि विष्क हरण होते जायँगे, वह निर्विष्क सुख से उनत होता जायगा।

तो क्या, हे अग्ने ! क्या हम तेरे पिवत्र नामों को भी धारण न कर सकेंगे ? यह तो कम-स-कम है जो कि हमें तुम्हारी तरफ पहुँचने के लिए करना चाहिये। हमें तो तुम्हारे प्रेम के मार्ग में अन्त तक जाना है और एक दिन यह कह सकने योग्य होना है "हमने तेरे पद के दर्शन

पा लिये हैं और अनश्वर यश के भागी हो गये हैं।"

शब्दार्थ श्रवस्थवः यश की इच्छावाले हमने देवस्य तुझ देव के पदं प्राप्तव्य स्वरूप को नमसा व्यन्तः नमस्कार द्वारा देखते हुए अमृक्तम् न मृदित होनेवाले श्रवः यश को आपन् प्राप्त किया है। जो लोग यज्ञियानि यज्ञाहं नामानि चित् नामों को ही दिधरे धारण करते हैं वे भी ते भद्रायां सन्दृष्टों तेरी कल्याणमयी दृष्टि में रणयन्त रहते हुए सुख पाते हैं।

१. प्रणव-जप से व्याधि-स्त्यान आदि ६ विष्न हट जाते हैं। (देखो-योगदर्शन १।२६, ३०)

क्रिशेल दे हैनेवाला यदारवर्ग धन्ह की दे हिन कर

६ ज्येष्ठ

उप ह्वये सुदुर्घा धेतुमेतां, सुहस्तो गोधुक् उत दौहदैनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता साविषकः, अभीदो धर्मस्तदु षु प्रवीचम् ॥

—ऋ० १।१६४।२६; अथर्वे० ७।७३**।**७

ऋषिः दीर्घतमा । देवता विश्वे देवाः । छन्दः निचृत् विष्टुप् ।

विनय प्रीष्म-काल प्रचण्डता से तप रहा है, वर्षा के बिना सब वृक्ष-वनस्पतियाँ भी सूखी जा रही हैं, इसलिये मैं इस मेघरूपी धेनु (माध्यमिक वाणी) को पुकार रहा हूँ। यह आकाश में फिरती हुई खूब उदक दे सकनेवाली मेघ-धेनु (माध्यमिक वाणी) आये और अन्तरिक्षनिवासी मध्यमदेव (इन्द्र) एक कुशल दोहनेवाले की तरह इसे दुह लेवे। ओह ! यह सब परमात्मा की इच्छा के बिना कैसे हो सकता है ? भगवान् की प्रेरणा के बिना तो संसार में एक भी हरकत नहीं हो सकती है। अतः मैं उनकी करुणा का भिक्षुक हूँ। उनकी करुणामय प्रेरणा से यह धेनु हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ रस को देवे, वर्षारूपी दूध पिलाकर इस झुलसी हुई भूमि को तृष्त कर दे। अरे ! यह पृथिवीरूपी घमं तप रहा है, जला जा रहा है, इसीलिये मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। परितप्त व्याकुल संसार वर्षा की माँग मचा रहा है।

मैं बहुत तप कर चुका हूँ, बड़े-बड़े क्लेश उठा चुका हूँ, अब ज्ञान-पिपासा ने मुझे बिल्कुल व्याकुल कर दिया है। इसलिये, हे खूब ज्ञानदुग्धामृत दे सकनेवाली सरस्वती देवीरूपी धेनु! तुम आओ, हृदयान्तिरक्ष में रहनेवाला देव—जो कुशल दोहनेवाला मनोदेव है—वह तुम्हें दुह देवे। उस सर्वान्तर्यामी प्रभु की ऐसी दया हो कि मेरे लिए यह सरस्वती-धेनु अब तो उस ज्ञान-दुग्ध को दुह देवे जो कि संसार में सर्वोत्तम रस है। मुझे तप करते हुए बहुत काल हो गया है। गर्मी के बाद वर्षा आया ही करती है, तो अब तो मेरे लिए ज्ञानामृत पान करने का समय आ गया होगा। मैं इसीलिये पुकार रहा हूँ, क्योंकि मुझमें ज्ञान-पिपासा की अग्नि प्रचण्डता से धधक रही है। इस समय ज्ञानामृत न मिला तो मैं जल जाऊँगा; ज्ञानामृत मिल गया तो मैं इस सबको इस समय हजम कर सकता हूँ। मेरी ज्ञान-पिपासा का घम तुम्हें पुकार रहा है।

शब्दार्थ — एतां सुदुघां धेनुं इस अच्छी दुही जानेवाली धेनु को मैं उपह्वये बुलाता हूँ उत एनां सुहस्तः गोधुक् दोहत् और अच्छा कुशल दोहनेवाला इस धेनु को दुहे। सविता नः श्रेष्ठं सवं साविषत् प्रेरक परमात्मा इस श्रेष्ठ रस को हमारे लिए प्रेरित करे। धर्मः अभीदः तत् उ सु प्रवोचम् धर्म खूब तप रहा है इसीलिये यह उचित विनती कर रहा हूँ।

हैं। 15 शिक्ष के अविदेश विशेष हैं शिक्ष हैंट जाते हैं। (हैं

१. धर्म = यज्ञ का चूल्हा।

(1 cm 4 cm)

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७ ज्येष्ठ

अप्रतीतो जयति सं धर्ना<u>नि, प्रतिजन्यानि उत्त या सर्जन्या ।</u> अवस्यवे यो वरिवः कृणोति, बद्<u>दाणे</u> राजा तर्मवन्ति देवाः ॥

一種०४।५०।६

ऋषिः वामवेवः । देवता बृहस्पतिः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

विनय—पीछे कदम न हटानेवाला मनुष्य ही विजय को प्राप्त करता है। ऐसा ही मनुष्य विजयी होकर ऐक्वर्यों को पाता है। प्रतिजन से सम्बन्ध रखनेवाले वैयक्तिक ऐक्वर्य तथा जन-समूह से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक व राष्ट्रीय ऐक्वर्य उन्हीं जनों या जनसमूहों को प्राप्त होते हैं जिनमें कि चिरकाल तक लगातार उद्योग करते जाने की शक्ति होती है; जिनमें लगन, धैर्य होता है; जिनमें अड़े रहने, डटे रहने का गुण होता है; जो कि कभी कदम पीछे हटाना नहीं जानते। जिनमें यह गुण नहीं है ऐसे व्यक्ति या राष्ट्र के लिए संसार में कोई ऐक्वर्य नहीं है। अतः हे व्यक्तियो ! तुम धैर्य को सीखो; हे राष्ट्रो ! तुम मिलकर अन्त तक डटे रहना सीखो।

पर इसका दूसरा पार्व भी है। डटे रहना, अन्याय के विरुद्ध और न्याय के लिए ही चाहिये। परन्तु प्राय: दुनिया के सब सत्ताधारी मनुष्य स्वार्थवश हो अन्याय के लिए भी डटे रहते हैं। ऐसे डटे रहनेवालों का तो—वे चाहे कितने ही बड़े शक्तिशाली हों—विनाश ही होता है। जगत् के संचालक देव लोग तो उसी सत्ताधारी राजा की रक्षा करते हैं जो कि न्याय के लिए झुकनेवाला होता है, जो कि सत्य उपदेश देनेवाले की बात को नम्रता से सुनता है, अड़ता नहीं है, अतएव जो कि ऐसे संरक्षण चाहनेवाले को सच्चे ब्राह्मणों की सदा पूजा किया करता है। सत्ताधारी लोग यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो उन्हें चाहिये कि वे दुनियावी कोई सत्ता न रखनेवाले, सबका भला और रक्षण चाहनेवाले, नम्र, ज्ञानी पुरुष उन्हें आकर जो कुछ सुझावें उसे वे सत्कार-पूर्वक सुनें और उनकी शुभ सलाह को वे तुरन्त पूरा करें।

जरूरत इस बात को है कि निर्बल और पद-दिलत लोग सत्य पर अड़ना सीखें और सत्ताधारी लोग नमना सीखें। इससे भी अधिक जरूरत यह है कि प्रत्येक मनुष्य सदा देखें कि वह कहीं बलवान, अन्यायी के सामने झुक तो नहीं जाता है, कदम पीछे तो नहीं हटा लेता

और असत्ताधारी सच्चे पुरुष के सामने अड़ा तो नहीं रहता ?

शब्दार्थ — अ + प्रति + इतः पीछे कदम न हटानेवाला ही धनानि ऐइवर्यों को सं जयित जीतता है, वे ऐइवर्य चाहे प्रति-जन्यानि वैयिक्तिक हों अथवा या सजन्या वे सामूहिक हों। और देवाः देव तं उस सत्ताधारी राजा की अवन्ति रक्षा करते हैं यः राजा जो कि राजा अवस्यवे रक्षा चाहनेवाले बाह्मणें सच्चे बाह्मणों की विरवः कृणोति पूजा किया करता है, उनके आगे खूकता है।

वैदिक विनय

: 50

DIAIN THE DAINE

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द ज्येष्ठ

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः पत्रं दर्धानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः।।

Slogikoff.

一ऋ० १०।१८।२; अथर्व० १२।२।३०

ऋषिः सङ्कुसुको यामायनः । देवता मृत्युः । छन्दः त्रिष्टुप्।

्राप्त विनय – संसार के हरेक प्राणी पर मृत्यु ने पाँव रखा हुआ है । जिस दिन उसकी इच्छा होती है उस दिन वह उस पाँव को दबाकर प्राणी को कूचल डालती है, समाप्त कर देती है। पर, हे नरतनधारी मनुष्यो ! तुममें वह शक्ति है जिससे कि तुम मृत्यु के उस पैर को ढकेल कर अमर बन सकते हो। इस संसार में तुम मरे हुओं की तरह न रहकर, न सड़कर, अमर पुत्रों की तरह दृढ़ना से चलो; शुद्ध, पूत और यज्ञिय बन जाओ। ऐसे बनने से तुममें वह आत्म-शक्ति जग जायगी कि तूम उस मृत्यू के पैर को ढकेल फेंकोगे। ठीक आहार, व्यायाम, तप आदि द्वारा शरीर को शद्ध रखो और अन्दर सत्त्वशद्धि, सौमनस्य आदि लाकर अन्तःकरण को पवित्र रखो; और फिर इस शरीर और मन से यज्ञिय कर्म ही करते जाओ; इससे तुम निस्संदेह अमर निकल आओगे। यह सच है कि यज्ञिय जीवन से मृत्यु मारी जाती है, तब मनुष्य की आयु सौ वर्ष तक चलनेवाला यज्ञ हो जाता है, तब वह मनुष्य पूर्ण सौ वर्ष की दीर्घ विस्तत आयु को यज्ञरूप में धारण करता है। हम मरे हए मनुष्य तो आयु को 'धारण' नहीं कर रहे हैं किन्तू आयू के एक बोझ को जैसे-तैसे ढो रहे हैं। जब शरीर को आत्मा धारे हुए होता है तो आत्मा शरीर को पूर्ण सौ वर्ष तक स्वस्थ चलने की जीवन-यज्ञ को सौ वर्ष तक अखंडित चलने की -आज्ञा देता है, और इस जीवन में प्रजा को सुजने द्वारा तथा धन के बढ़ाने द्वारा अपनी विकास की इच्छा को परितृप्त करके यज्ञ को पूर्ण करता है। आत्म-शक्ति का प्रकाश करने के लिए ही आत्मा शरीर को धारण करता है। अतः शरीर पाकर इस जगत् में कुछ-न-कुछ उपयोगी वस्तु का प्रजनन करना, सृजन (Create) करना तथा जगत् के सच्चे ऐश्वर्य को (धन को) वढ़ा जाना आवश्यक है। संसार में आई सब महान् आत्मायें इस संसार में कुछ-न-कुछ जगत्-हितकारी वस्तु का सूजन करके तथा जगत् में किसी उच्च-से-उच्च ऐश्वर्य को बढ़ाकर जाती हैं। हे मनुष्यो ! उठो, मृत्युमय जीवन छोड़ो, शुद्ध पूत और यज्ञिय बनो और मृत्यु के पैर को परे हटाकर अपने अमरत्व की घोषणा कर दो।

शब्दार्थ—हे मनुष्यो ! यदा जब तुम मृत्योः पदं योपयन्तः मृत्यु के पैर को ढकेलते हुए एत चलोगे, तो द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः तुम दीर्घ विस्तृत आयु को धारण करनेवाले तथा प्रजया धनेन आप्यायमानाः प्रजा और धन से परितृष्त होओगे। इसके लिए शुद्धाः बाहिर से शद्ध पूताः अन्दर से पवित्र और यज्ञियासः यज्ञिय जीवनवाले भवत हो जाओ।

उनैदिक विनय

3 (14) जानी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chemial and Cangot

ह ज्येष्ठ

श्रुचो श्रक्षरे पर्मे व्योमन्, यस्मिन्द्रेवा श्राधिविश्वे निषेद्धः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तत् विदुः त इमे समासते ॥

—ऋ० १।१६४।३**६**; अथर्व० ६।१०।१८

ऋषिः दीर्घतमा । देवता विश्वे देवाः । छन्दः मुरिक् त्रिष्टुप् । 👙

विनय-हे मनुष्य ! यदि तूने सब ऋचाओं की एक आधारभूत वस्त को नहीं जाना है तो वेद की ऋचायें पढ़कर तू क्या करेगा ? उसके जाने बिना वेद पढ़ना निष्फल है; समय खोना है। वेद उसे ही पढ़ने चाहियें जिसे कि वेदमन्त्रों के एक प्रतिपाद्य विषय उस अक्षरतत्त्व को जानने की इच्छा है जो कि 'परम व्योम' है, एक परम आकाश है। वह इस प्रसिद्ध आकाश से भी उत्कृष्ट है। वह इतना व्यापक आकाश है कि यह सब विविध ब्रह्माण्ड उसमें ओत-प्रोत है। इसीलिए वह 'परम व्योम' कहाता है। उसे ज्ञानी लोग 'ओं' इस अक्षर से भी प्कारते हैं। वह विविध प्रकार से सवकी रक्षा करनेवाला (ब्योम), अविनाशी (अक्षर) तत्त्व है। सब देवता, सब संसार, उस एक में समाया हुआ है। प्रत्येक वेदमन्त्र किसी-न-किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु ये वेद-प्रतिपाद्य सब-के-सब देवता उस एक ही देव में ठहरे हुए हैं। इसलिए यदि उस एक देव को जानने की, उसे पाने की इच्छा है, तभी वेदमन्त्रों को षढ़ो। वेदमन्त्रों को इसलिए मत पढ़ो कि उनमें से किन्हीं अपने अभीष्ट विचारों को निकालेंगे या उनके ऐसे अर्थ करेंगे जिनसे कुछ भलाई सिद्ध होगी। वेद का ऐसा पढ़ना तो निष्फल ही नहीं, किन्तु पाप है। हमें वेदमन्त्रों के पास इस पवित्र भाव से पहुँचना चाहिये कि ये हमें उस एक देव के पवित्र चरणों में पहुँचाने के साधन होंगे। प्रत्येक वेदमन्त्र में हमें उस अक्षर प्रभु का प्रतिबिम्व दिखाई देना चाहिये। इसलिए वे पुरुष जो उस तत्त्व को जानते हैं और जो यह जानते हैं कि सब ऋचायें उस अक्षर में हैं, ऐसे ज्ञानी लोग समासीन हो जाते हैं, ठीक तरह स्थित हो जाते हैं; और यह अवस्था केवल ऐसे ही ज्ञानी लोगों को प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञानी लोगों को शान्ति-प्राप्ति होती है, सब संशयों से रहित स्वस्थता और आनन्द की एक अवस्था प्राप्त हो जाती है। वेदमन्त्रों के ध्यान से वे लोग समाहित (समाधिस्थ) हो जाते हैं, उस अक्षर में लीन होने का परमानन्द पाते हैं। वहाँ ऋचाओं का पढना सफल हो जाता है।

शब्दार्थ — ऋचः ऋचायें, वेदमन्त्र अक्षरे उस अक्षर अविनाशी परमे व्योमन् परम आकाश में आश्रित हैं यिसमन् जिसमें विश्वे देवाः सब-के-सब देव अधि निषेदुः ठहरे हुए हैं। इसलिए यः जो मनुष्य तत् उस अक्षर को न वेद नहीं जानता, वह ऋचा ऋचायें, वेदमन्त्र पढ़कर कि किरिष्यति क्या करेगा और ये जो तत् विदुः उसे जानते हैं, ते इत् इमे वे ही ज्ञानी लोग समासते समासीन होते हैं — स्वस्थ, स्वरूपस्थ, आत्मानन्द में स्थित होते हैं।

58

न्याप्त क्याप

Dientzeg by Arva Samar Foundation Chemial and eGandolin

१० ज्येष्ठ

न दं<u>क्षिणा वि चिकिते</u> न सव्या, न प्राचीनंपादित्या नोत प्रचा।
पाक्यांचित् वसवो <u>धी</u>याँचिद्, युष्पानीं<u>तो</u> अर्थयं ज्योतिरश्याम्।।
—ऋ० २।२७।११

ऋषिः कूर्मीगार्त्समदो गृत्समदो वा । देवता आदित्याः । छन्दः विराट् व्रिष्टुप् ।

विनय आजकल मैं एक अँघेरी रात्रि में घिरा हुआ हूँ। मेरे मानसिक नेत्रों के सामने एक ऐसा दुर्भेंद्य काला पर्दा आ गया है जिसने कि मेरा सम्पूर्ण प्रकाश रोक लिया है। अपनी वर्तमान आध्यात्मिक समस्या को हल करने में ही मैं दिन-रात डूबा हुआ हूँ; कहीं से भी कोई प्रकाश की किरण मिलती नहीं दीखती। चारों तरफ अँधेरा-ही-अँधेरा है—घोर घुप अँधेरा है। दायें-बायें कहीं कुछ नजर नहीं आता, आगे या पीछे कहीं भी इस अन्धकारमय उलझन से बाहर निकलने का रास्ता नहीं सूझता। क्या करूँ ? यह भयंकर रात्रि क्या कभी समाप्त भी होगी या नहीं ? इस अन्धे जीवन से तो मरना भला है। खाता-पीता, चलता-फिरता हुआ भी मैं आज मुदी हूँ। चौबीसों घण्टे विचारने में ग्रस्त हूँ, पागल हो रहा हूँ, प्रकाश पाने के लिए निरन्तर घोर युद्ध में लगा हुआ हूँ, पर इस काली रात्रि का कहीं अन्त होता नहीं दिखाई देता। हे देवो ! भगवान् के दिव्य प्रकाश का सन्देश लानेवाले हे उसके 'आदित्य' नामक दूतो ! मैं तुम्हें याद कर रहा हूँ, तुम्हारी राह देख रहा हूँ। तुम मुझे इस रात्रि से शीघ्र पार ले चलो, नहीं तो अब मेरा जीना कठिन हो रहा है। सुना है कि बुद्ध, ईसा, दयानन्द आदि अनेक महात्मा अपना दिव्य प्रकाश पाने से पहले ऐसी अँघेरी रात्रियों में से गुज़रे थे। पर वे तो जन्म-जन्मान्तरों के पके हुए थे और बड़े धीर थे। मैं बिलकुल कच्चा, अपरिपक्व ज्ञानवाला और बड़ा दुर्बल, अधीर हूँ। मुझे इससे पार कौन ले-जायगा ? किसी तरह भी हो, हे वासक आदित्यो ! तुम मुझे भी बसा लो, अन्धकार से निकाल मुझे मरने से बचा लो। मैं चाहे जितना अज्ञानी, कच्चा और धैर्यरहित होऊँ, पर यदि तुम मुझे ले चलोगे - मेरे नायक बन जाओगे - तो मैं निस्सन्देह अन्धकार को समाप्त कर प्रकाश को पा जाऊँगा और तब इस महाभय से पार हो जाऊँगा। मेरी यह भय की अवस्था उस ज्योति को पाकर ही मिटेगी। मुझे चाहिये वह अभय ज्योति ! हाँ, वह अभय ज्योति !!

शब्दार्थ — न दक्षिणा विचिकिते न दायीं तरफ कुछ दिखाई देता है न सब्या और न बायीं तरफ न न आदित्याः हे आदित्य देवो ! प्राचीनं सामने ही कुछ दिखाई देता है न उत पश्चा और न कुछ पीछे। इसलिए पाक्याचित् मैं चाहे कितना अपरिपक्व, कच्चा होऊँ और धीर्याचित् चाहे कितना धैर्यरहित दीन होऊँ वसवः हे वासक आदित्यो ! युष्मानीतः किसी तरह तुम्हारे द्वारा ले जाया गया मैं अभयं ज्योतिः भय-रहित प्रकाश को अश्याम् प्राप्त हो जाऊँ।

पत्मात्मा सा दशन स्थान हाता १

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangoth

११ ज्येष्ठ

न तं विदा<u>थ य इमा जजान</u>, अन्यद् युष्मा<u>कं</u> अन्तरं वभूव । नीहारेण पार्<u>टता</u> जल्प्यां चासुतृपं उक्थशासंश्चरन्ति ॥

—ऋ० १०।**५२।७; यजुः० १७।३**१

ऋषिः विश्वकर्मा भौवनः । देवता विश्वकर्मा । छन्दः पादनिचृत् त्रिष्टुप् ।

विनय हे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते जिसने कि ये सब भुवन बनाये हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है ! तुम्हारा वह पिता है, पर तुम अपने पिता से जुदा (अन्यत्) हो गये हो, तुम्हारा उससे बहुत फ़र्क पड़ गया है। ओह ! कितना भारी अन्तर हो गया है ! मनुष्य का तो उसके प्रभु के साथ अन्तर नहीं होना चाहिये। वह प्रभु तो हम मनुष्यों की आत्मा की भी आत्मा है। उससे अधिक निकटतम वस्तु तो हमसे और कोई है ही नहीं, हो ही नहीं सकती। सचमुच वे परम-आत्मा हमारी आत्मा में भी व्यापक हैं। उनसे निकट हमारे और कोई नहीं है। फिर वे हमसे दूर क्यों हैं ? इसका कारण यह है कि हमारे और उनके बीच में प्रकृति का परदा आ गया है। हम दो प्रकार के परदों से ढके हुए हैं, जिससे कि वह इतना निकटस्थ भी हमसे इतना दूर हो गया है। एक प्रकार के (तमोगुण-बहुल) लोग तो "नीहार" = अज्ञान से ढके हुए हैं जिसकी धुन्ध में इतने पास में भी उन्हें नहीं देख पाते; दूसरे (रजोगुण-बहुल) लोगों ने "जिल्प" से, विद्या के शब्दाडम्बर से, पढ़ी-लिखी मूर्खता से, निरर्थंक जल्पना के परदे से अपने-आपको ढक लिया है। ये दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी-अपनी दिशा में इतनी दूर बढ़ते गये हैं कि प्रभु से दिनों-दिन दूर होते गये हैं। नीहारावृत लोग तो संसार में "असुतृप्" होकर विचर रहे हैं। वे खाते-पीते मौज करते हुए निरन्तर अपने प्राणों के तर्पण करने में ही लगे हुए हैं। कामनाओं-इच्छाओं का निवास मनुष्य के सूक्ष्म प्राण में ही है। ये ज्यों-ज्यों अपनी बढ़ती जाती हुई अनगिनत काम-नाओं को तृप्त कर अपनी इन कामनाओं को पुष्ट करते जाते हैं, त्यों-त्यों ये प्रभु से दूर होते जाते हैं। इसी तरह दूसरे जल्पावृत लोग "उक्यशास्" होते हैं अर्थात् संसार में बड़े-बड़े शास्त्र पढ़कर, वादविवाद-वितण्डा में चतुर होकर, दूसरों को जोरदार व्याख्यान देते फिरते हैं, पर अपने-आपको नहीं पहचानते । ये जितने भारी वक्ता, लेखक और शास्त्रार्थकर्त्ता होते जाते हैं उतने ही ये बाह्य शब्दजाल में ऐसे उलझते जाते हैं कि अन्दर के देखने के अयोग्य होते जाते हैं, अतः अन्दर के आत्मस्थ प्रभु से दूर होते जाते हैं।

इसलिए आओ, हम लौटें। अपने अन्दर की तरफ लौटें और अपने उस आत्मा के आत्मा

को पा लेवें जिसके साथ हमें निरन्तर जुड़ा रहना चाहिए।

शब्दार्थ हे मनुष्यो ! तं न विदाथ तुम उसे नहीं जानते य इमा जजान जिसने कि इन सब [भुवनों] को बनाया है। अन्यत् तुम अन्य प्रकार के हो गये हो और युष्माकं अन्तरं बभूव तुम्हारा उससे बहुत फ़र्क हो गया है। नीहारेण अज्ञान के कोहरे से प्रावृंताः ढके हुए और जल्प्या च अनत और निरर्थक शब्दजाल से ढके हुए हम मनुष्य असुतृषः प्राणतृष्ति में लगे हुए होकर या उक्थशासः आडम्बरवाले बहुभाषी होकर चरन्ति भटकते हैं।

13

व्यु ज्येष्ठ

वर्यः सुपूर्णा उपसेदुरिन्द्रं, प्रियमे<u>धा</u> ऋष<u>यो</u> नार्धमानाः। अप ध्वान्तमूं णुंहि पूर्घि चक्षुं भुंगुंग्धे अस्मान्नि धयेव बद्धान्।।

一ऋ० १०।७३।११; साम० पू० १।४।१।३।७

ऋषिः गौरिवोतिः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृत्विष्टुप् ।

विनय हमारे शरीर में पाँच इन्द्रियाँ रहती हैं। ये पक्षियों की तरह बाहर उड़ती-फिरती हैं। ये ऋषि-इन्द्रियाँ हैं, ज्ञान लानेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें अपने रूप-रसादि विषयों से संगमन करना बड़ा प्रिय है। इनका उड़ना (पतन करना) बड़ा सुन्दर है। बाहर से बड़े सुन्दर-सुन्दर रूपों को, रसों को, गन्धों को ये कैसी विलक्षणता से ले आती हैं! इनमें क्या ही अद्भुत गुण है ! आँख खोलो, तो सब विविध जगत् दीखने लगता है, आँख बन्द करने पर कुछ नहीं। आँख में क्या विलक्षण शक्ति है! इसी तरह कान को देखो, जीभ को देखो, इनमें क्या विचित्र जादू है कि वे हमारे लिए बड़ी ही आनन्ददायक अनुभूतियों (Sensations) को पैदा

करती हैं।

पर एक समय आता है जब ये इतनी अद्भुत इन्द्रियाँ हमारी ज्ञानिपपासा को तृप्त नहीं कर सकतीं। ये बाहर से जो प्रकाश लाती हैं वह सब तुच्छ लगने लगता है। यह तब होता है जबिक छठी इन्द्रिय (मन) द्वारा अन्दर के प्रकाश की तरफ़ हमारा ध्यान जाता है, प्रत्याहार शुरू होता है और इन्द्रियों का उड़ना बन्द हो जाता है। सब इन्द्रियाँ मन के प्रकाश के मुकाबिले में बैठकर अपने अन्धकार को और अपनी परिमितता के बन्धन को अनुभव करती हैं। ओह ! इन्द्रियाँ कितना थोड़ा ज्ञान दे सकती हैं और वह ज्ञान भी कितना बँधा हुआ है ! अन्दर-बाहर की थोड़ी-सी वाधा से उनका ज्ञान-ग्रहण रुक जाता है। आँख अतिदूर, अतिसमीप नहीं देख सकती, अतिसूक्ष्म को नहीं देख सकती, ओट में पार नहीं देख सकती। यह अँधेरा और यह बन्धन तब अनुभव होता है जबिक मनुष्य को अन्दर के महान्, सब-कुछ जान सकनेवाले प्रकाश का पता लगता है। यह इन्द्र का, आत्मा का, प्रकाश है। इस प्रकाश-पिपासा से व्याकुल होकर इन्द्रियाँ आत्मा से उस प्रकाश को पाने के लिए गिड़गिड़ाने लगती हैं, प्रार्थना करने लगती हैं कि "हमारे अन्धकार का पर्दा उठा दो, हमारी आँखें प्रकाश से भर दो, हम अन्धे हैं हमें आँखें दे दो, हम अपने-अपने जरा-से क्षेत्र में बँधी पड़ी हैं, हमें देशकालाव्यवहित दर्शन की शक्ति दे दो, हमारे बन्धन काट दो, हम जिस देश और जिस काल में जिस वस्तु को देखना चाहें तुम्हारे इस प्रकाश में (प्रज्ञालोक में) देख सकें।"

इन्द्रियाँ अपने शक्ति-स्रोत इन्द्र की शरण में न जायें तो और कहाँ जायें ?

शब्दार्थ-वे सुपर्णाः शोभनपतनशील वयः पक्षी प्रियमेधाः जिन्हें मेध [संगमन] प्रिय है और ऋषयः जो ज्ञान लानेवाले हैं इन्द्रं इन्द्र के पास नाधमानाः यह प्रार्थना करते हुए उपसेदुः आ बैठे हैं कि ''ध्वान्तं हमारे अन्धकार को अप ऊर्णुहि निवारण कर दो; चक्षुः पूर्धि हमारी आँखें. भर दो या हमें आँखें दे दो और हम जो निधया इव मानो पाशों से बद्धान् बँघें पड़ें हैं अस्मान् हमें मम्ग्धि छुड़ा दो।"

१. तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः । (योगदर्शन ३-५)

4144 71 21

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३ ज्येव्ट

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पंश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यंशेम देविहतं यदायुः॥

—ऋ० शादहाद; यजुः० २५।३१; साम० उ० हा३।ह

्रऋषिः गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः विराट् त्रिष्टुप् ।

विनय—मन, वाणी और इन्द्रियों के अगोचर भगवान् तो हमें दीखते नहीं हैं। देवो ! उनके हाथों के रूप में हम तुम्हें ही देख पाते हैं। वे भगवान् तुम्हारे द्वारा ही इस सब ब्रह्माण्ड को चला रहे हैं। इसलिये हे देवो ! हम तुम्हें ही संबोधन करते हैं। इस संसार में जन्म पाकर जब होश आया है तो हम देखते हैं कि हम सबने एक दिन मरना है, एक निश्चित आयु तक ही हमने जीना है। तुमने मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष की रखी है। हे 'यजत्रा' ! हे यजनीय देवो ! हमें तुम्हारा यजन करते हुए ही १००, ११६ या १२० वर्ष तक जीवित रहना चाहिये। इसके लिए, हे देवो ! हम अपने कानों से सदा भद्र का ही श्रवण करें; जो यजनीय है, जो उचित है, जो कल्याणकारी है, केवल उसे ही सुनें। आँखों से, जो कुछ यजनीय है केवल उसे ही देखें। अभद्र वस्तु, बरी, अनुचित वस्तु में हमारे कान-आँख कभी न जायें। हे देवो ! यही तुम्हारा यजन है, यही तुम द्वारा उस भगवान् का यजन है। हे देवो ! तुम्हारे अंशों से हमारे शरीर की एक-एक इन्द्रिय और एक-एक अंग उत्पन्न हए हैं। जिस-जिस देव से हमारा जो-जो इन्द्रिय व अंग बना है, उस-उस अंग द्वारा सदा भद्र का सेवन करना ही उस-उस देव का यजन करना है। हे देवो ! इसी तरह हम अपनी एक-एक इन्द्रिय से तुम्हारा यजन करते रहेंगे। हमारे हाथ और पैर सदा भद्र का ही सेवन करने के कारण पूर्ण आयु तक चलने योग्य, दृढ़ और बलवान् होंगे। इन दृढ़ हाथों और पैरों से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं, जो कुछ चलते हैं, वह सब तुम द्वारा प्रभु की स्तुति करना है। एवं हम अपने एक-एक बलिष्ठ स्वस्थ अंग से जो भी कुछ भद्र चेष्टा व हरकत करते हैं, हे देवो ! वह सब प्रभु-यजन है। हम चाहते हैं कि इसी तरह हम अपने एक-एक अंग से सदा भद्र ही करते हुए तुम्हारी दी हुई यज्ञिय आयु को पूर्ण कर दें।

अहा ! अपने स्वस्थ, वलिष्ठ, पवित्र अंगों द्वारा सदा भद्र का ही सेवन करनेवाले के

लिए यह जीवन कैसा एक पवित्र यज्ञ बन जाता है!

शब्दार्थ—देवाः हे देवो ! हम कर्णे िमः कानों से भद्रं भद्र का ही शृणुयाम श्रवण करें। यजताः हे यजनीय देवो अक्षाभिः हम आँखों से भद्रं पश्येम भद्र को ही देखें। स्थिरेः अंगेः अपने मजबूत अंगों से तनूभिः शरीरों से तुष्टुवांसः सदा स्तुति-पूजन करते हुए ही यत् देवहितं आयुः जो हमारी देवों द्वारा स्थापित आयु है उसे व्यशेम प्राप्त कर लें।

! सुंदेश प्रति स्वतायम् परिवर्त ।

53

रासार में तब मन्य एमान ह

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१४ ज्येव्ठ

श्चाज्येष्ठासो श्रक्तनिष्ठास प्ते, सं आतिरो वावृधुः सौर्भगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां, सुदुधा पृश्निः सुदिनां मुरुद्भ्यः॥

一港 । १।६०।१

ऋषिः श्यावाश्व आत्रेयः । देवता मरुतो मरुतो वाग्निश्च । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

विनय संसार-भर के सब मनुष्य (मरुत) परस्पर भाई-भाई हैं। मनुष्यमात्र एक ही माता-पिता के पुत्र हैं। संसार के किसी देश के एक कोने में रहनेवाले मनुष्य के उसी तरह पिता "रुद्र" = परमेश्वर है और माता "पृश्नि" = प्रकृति है जैसे कि किसी दूसरे कोने के रहनेवाले के। मनुष्य होने की दृष्टि से इनमें न कोई बड़ा है और न छो ! है। काले-गोरे, हबशी और सभ्य, पुँजीपति और श्रमी, पौर्वात्य और पाश्चात्य, ब्राह्मण शौर अछूत, हिन्दू और मुसलमान, जापानी या अमेरिकन, अंग्रेज या हिन्दुस्तानी, नागरिक व देहाती, सब-के-सब एक-समान परस्पर मनुष्य-भाई हैं। इनमें ऊँच-नीच मानना अज्ञान है। मनुष्य की दृष्टि से छोटा-बड़ा मानना अनुचित है। संसार-भर के मनुष्यों को "मरुत् देवों" की तरह, उत्तम कल्याण के लिए मिल-कर यत्न करना चाहिये, मिलकर संसार में मनुष्यता की उन्नति करनी चाहिये। जब मनुष्य-मनुष्य आपस में घृणा करते हैं, श्मिन्त-भिन्त देश के वासी होने से या भिन्त-भिन्त धर्माव-लम्बी होने से लड़ते हैं, एक-दूसरे का तोपों-बन्दूकों और जहरीली गैसों से घात करते हैं, छोटे-बड़े का अभिमान कर एक-दूसरे पर अत्याचार करते हैं, तब वे अपने एक-समान पिता-माता कों भूल जाते हैं। क्या अंग्रेज भाइयों को पैदा करनेवाला प्रभु और है और भारतवासियों का और ? वह एक ही रुद्र हम सब मरुतों का पिता है। वह कभी बुड्ढा न होनेवाला, कभी न मरनेवाला पिता है। वह हम सबके लिए कल्याण-कर्म करनेवाला पिता है, और हम सबकी माता यह प्रकृति है जो कि हमारे लिए उत्तम ऐश्वयों का दूध प्रदान कर रही है और हमें सब सुख पहुँचा रही है। आओ ! हम इन सब झुठे भेदभावों को भूलकर -काला-गोरा, पूँजीपति-श्रमी, छूत-अछूत, इस देशवासी और उस देशवासी, इन सब भेदों को भूलकर-हम सब मनुष्य, संब-के-सब मनुष्य, मिलकर मनुष्यमात्र के हित का ध्यान करें; एक-दूसरे के हित का ध्यान करें। अपने शोभन कर्म करनेवाले अमर पिता के आशीर्वाद को पाते हुए और करुणामयी सुखदात्री माता द्वारा अपनी सब कामनायें पूरी करते हुए अपनी उन्नति का साधन करें और भाई-भाई की तरह एक-दूसरे की सहायता करते हुए मनुष्यता के उद्देश्य की पूर्ति में बढ़ते जायें।

शब्दार्थं अज्येष्ठासः जिनमें कोई बड़ा नहीं है और अकनिष्ठासः जिनमें कोई छोटा नहीं है ऐसे एते ये सब भातरः परस्पर भाई सौभगाय सं वावृधः उत्तम ऐश्वर्यं के लिए मिलकर उन्नित करनेवाले हैं। एषां इन सबका युवा पिता सदा युवा पिता स्वपा रुद्धः कल्याण-कर्म करनेवाला रुद्ध परमेश्वर है और मरुद्भ्यः इन मरुतों मनुष्यों के लिए सुदिना सुख देने-वाली सुद्धा उत्तम दुध देनेवाली भाता पृश्विः प्रकृति है।

१. सुदिन इति सुखनामसु पठितम्।

ट यानन्द्रवा हम तु भ प त इाव दे

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१५ ज्येव्ठ

का त उपें<u>ति</u>र्मने<u>सो</u> वरां<u>य</u>, भुवंदग्ने शंतं<u>मा</u> का मं<u>नी</u>षा। को वां <u>य</u>ज्ञैः परि दक्षं त आप, केने वा ते मनसा दाशेम॥

—ऋ० १।७६।१

ऋषिः गोतमो राहूगणः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत्यङ्कितः।

विनय-हे अनन्त देव ! हम परिमित मनुष्य किसी भी प्रकार से तेरे संपूर्ण रूप को ग्रहण नहीं कर सकते । हम अपने अपूर्ण साधनों द्वारा तेरे पास पहुँचने के लिए--तुझे वर लेने के लिए जीवन-भर यत्न ही करते रहते हैं। हमारे मन में यह सामर्थ्य नहीं कि वह तेरे परिपूर्ण रूप को कभी मनन कर सके। तो तेरे पास पहुँचने का साधन, उपाय हमारे पास क्या है ? हम कभी समझते हैं कि शायद हम हार्दिक भिक्त करके तुझे सुख पहुँचा लेंगे। पर यह तो हमारा तेरे विषय में सांसारिक भाषा में बोलना मात्र है। भक्ति से हमें बेशक बड़ा लाभ मिलता है, पर हमारी हार्दिक प्रार्थनाओं या स्तुतियों का तुझपर वास्तव में किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। तू तो शुद्धस्वरूप में अलिप्त रहता है। मनुष्य समझते हैं कि यज्ञ तो बड़ी व्यापक वस्तु है, अतः शायद यज्ञ तेरी परिपूर्ण वृद्धि और बल को ग्रहण करने में पर्याप्त हो सकेंगे। पर ऐसा नहीं होता। तू केवल अपने ही परिपूर्ण यज्ञ से अपने को पा सकता है। पर मनुष्य के किये यज्ञ तो कभी ऐसे परिपूर्ण नहीं हो सकते कि उन यज्ञों से तेरी अनन्त महत्तां का, तेरे अनन्त बल का, पार पाया जा सके। ये सब यज्ञ कूछ-कूछ अंश में ही तुझे व्याप्त कर पाते हैं। हम तो बेशक तेरे उतने अंश की प्राप्ति से ही कृतकृत्य हो जाते हैं - "प्यासे को तो एक लोटा-भर पानी काफी है, उसे समूद्र की गहराई मापने की क्या जरूरत है ?" पर यह सत्य है कि हम तेरी गहराई को माप नहीं सकते; यज भी इसमें असमर्थ हैं। यह क्यों न हो ? क्यों कि सब स्तृति, भिवत और यज्ञ आदि हम अपने मन द्वारा ही तो करते हैं; और इस हमारे मन में शक्ति ही कितनी है ! अत: यह कहना चाहिये कि हमारा मन ही तुम्हारे योग्य नहीं है। मनुष्य के क्षद्र मन की तूम अगम तक पहुँच ही नहीं है। तो वह तन हम कहाँ से लायें जिस द्वारा हम अपनी यह भिनत व यज्ञ व ज्ञान की आहुति तुझ तक पहुँचा सकें ? ओह ! सचमुच यह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में बँघा हुआ मनुष्य तेरी परिपूर्ण उपासना—तेरी परिपूर्ण आराधना— कभी नहीं कर सकता।

शब्दार्थ—अग्ने हे अग्ने ! ते मनसो वराय तेरे मन को वरने के लिए का उपेति-भुवत् कौन-सा उपाय—तेरे पास पहुँचने का साधन—है ? का मनीषा शंतमा और हमारी कौन-सी हार्दिक इच्छा या स्तुति तेरे लिए सुखकारी हो सकती है ? को वा अथवा कौन मनुष्य है जो यज्ञैः ते दक्षं परि आप यज्ञ-कर्मों द्वारा तेरी वृद्धि या बल को व्याप्त कर सकता है, इसके लिए पर्याप्त होता है ? केन वा मनसा ते दाशेम या वह मन ही हमारे पास कौन-सा है जिससे हम तुझे हिव दे सकें ?

वैविक विनय

EX

१. श्री रामकृष्ण परमहंस यह कहा करते थे।

सत्य भी विजय

१६ ज्येष्ठ

सुविज्ञानं चिकितुषे जनायः, सच्चासच्च वर्चसी पस्पृधाते । तयोर्यत्सत्यं यंतरद्त्रज्ञायः, तदित्सोमी अवित इन्त्यासंत् ।

---ऋ० ७।१०४।१२; अथर्व० ८।४।१२

ऋषिः वसिष्ठः । देवता सोमः । छन्दः विराट् विष्टुप् ।

विनय-मनुष्य जब ऊँचे वास्तविक ज्ञान को विवेकपूर्वक जानना चाहता है, जब वह सत्यज्ञान की खोज में होता है, तब उस विवेकशील पुरुष के सामने सत् और असत् दोनों स्पर्धा करते हुए आते हैं। दोनों उसके सामने अपनी-अपनी श्रेष्ठता दिखाना चाहते हैं, दोनों उसके हृदय पर कब्जा करना चाहते हैं। कभी सत् प्रबल होता है, कभी असत् प्रबल होता है। इस तरह देर तक यह स्पर्धा, यह लड़ाई, चलती रहती है। जब उसपर किन्हीं कुटिल और असत्य से काम निकालनेवाले लोगों का प्रभाव पड़ता है तब वह असत्यता को ही काम की चीज समझ लेता है; और यदि वह सत्यग्रन्थों को पढ़ता है या सच्चे, निष्कपट, पवित्र लोगों के संग में आता हैं तो सत्य की महत्ता को समझने लगता है। फिर किसी जबरदस्त बलवान् नीतिनिपूण पूरुष का प्रभाव उसे यह सिखला देता है कि संसार में असत्य के बिना काम नहीं चलता है। पर पून: कोई महान् सत्यनिष्ठ पुरुष उसे सत्य का पुजारी, सत्य के पीछे पागल बना देता है। इस तरह सतु और असत् दोनों प्रकार के वचन (ज्ञान) उसपर प्रभाव जमाने के लिए स्पर्धा करते रहते हैं। पर मनुष्य को यह पता होना चाहिये (और विवेकी पुरुष को यह धीरे-धीरे पता हो जाता है) कि मनुष्य के हृदय में बैठा हुआ सोम परमेश्वर तो सदा सत् की, अकुटिल की ही रक्षा कर रहा है और असत् का नाश कर रहा है। जो लोग इस सत्य से अभिज्ञ हो जाते हैं वे तब सोम की शरण में जाना चाहते हैं। और जो सचमुच सर्वोच्च सत्य ज्ञान की खोज में लगे हुए हैं उन्हें इसी हृदयस्थ सोम देव की शरण जाना चाहिये, तभी उन्हें अपना अभीष्ट मिलेगा। क्योंकि, सब भूतों के हृदेश में बैठे हुए सोम ईश्वर के आश्रय को मनुष्य जितना ही अधिक सर्वतोभाव से ग्रहण करता है, उतना ही उसमें असत्य का नाश होकर सत्य और निष्कपटता बढ़ती जाती है और उसमें सुविज्ञान भरता जाता है। अतः इस सत् और असत् की लड़ाई में मनुष्य जितना ही सोम का आश्रय लेगा, उतनी ही जल्दी उसमें सत्य की विजय होगी और उसे शान्ति मिलेगी। हर एक जीव की इस सत्-असत् की स्पर्धा में जल्दी या कितनी ही देर में अन्ततः सोम परमेश्वर द्वारा विजय तो सत्य की ही होनी निश्चित है, क्योंकि वे सोम सदा सत्य का, सत्य वचन का, सत्य व्यवहार का रक्षण कर रहे हैं और असत्य का, असत्य भाषण का, असत्य व्यवहार का हनन कर रहे हैं।

शब्दार्थ — सुविज्ञानं उत्तम विशेषज्ञान को चिकितुषे जानना चाहनेवाले विवेकी जनाय मनुष्य के लिए सत् च असत् च सत्य और असत्य वचसी वचन या ज्ञान परपृष्ठाते परस्पर स्पर्धा करते हैं। तयोः इन दोनों में यत्सत्यं जो सत्य है यतरत् ऋजीयः जौन-सा सरल, अकुटिल, छल-रिहत है तत् इत् उसे ही सोम परमेश्वर अवति रक्षा करता है असत् हन्ति और असत् का नाश करता है।

रान्यथा मा न्यन्यलता अतम्त्रे में बाह्यस

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennar and eGangoth

१७-ज्येष्ठ

वि मे कणा पतयतो वि चक्षुः, वी दं ज्योतिहृद्य आहितं यत्। वि मे मनश्चरति दूर आधीः, कि स्विद् वृक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

—ऋ० ६।६।६

ऋषिः भारद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता वैश्वानरः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे प्रभो ! मैं चाहता हूँ कि बिल्कुल एकाग्र होकर अपनी मानसिक वाणी द्वारा तेरा नाम जपूँ या तेरा मनन करूँ, तेरा ध्यान करूँ। परन्तु जब मैं ऐसा करने के लिए बैठता हूँ तो कुछ भी शब्द सुनाई पड़ते ही मेरे कान यहाँ-वहाँ दौड़े जाते हैं, आँखों के सामने कुछ भी आते ही मैं यहाँ-वहाँ देखने लगता हूँ। कभी कान कुछ सुनने लगते हैं, कभी आँखें कुछ देखने लगतीं और यदि मैं किसी ऐसे स्थान पर जाकर बैठता हूँ जहाँ शब्द और रूप आ ही न सकें, तो भी मैं देखता हूँ कि मेरा मन अन्दर-ही-अन्दर सब-कुछ देखता-सुनता रहता है। दिन-रात की किसी बात का स्मरण आते ही मन यहाँ-वहाँ भाग जाता है और इधर-उधर की बातें सोचने लगता है। तब पता लगता है कि मेरा मन कितनी दूर पहुँचा हुआ है। और यदि किसी दिन कोई मन पर चोट लगनेवाली बात हो चुकी होती है तब तो मन बार-बार वहीं पहुँचता है-रोकने का बड़ा यत्न करने पर भी क्षण-क्षण में वहीं जा पहुँचता है। मेरे हृदय में जगनेवाली वह ज्योति भी-जो वातरहित स्थान में रखे हुए दीपक की शिखा की तरह बिल्कुल अनिङ्गित, बिल्कुल ही न हिलती हुई, एकरस जलती हुई रहनी चाहिये-वह ज्योति, वह ज्ञान्-ज्योति भी सदा इधर-उधर हिलती रहती है, मनोवृत्तियों की हवा लगते रहने से हिलती रहती है। तो फिर मैं तेरा घ्यान कैसे कर सकता हूँ ? एकाग्रता से तेरा नाम कैसे जपूँ ? तेरा मनन कैसे करूँ ? और यदि प्रतिदिन तेरा इतना भी भजन न कर सकुँगा तो उस दिन, जब कि मेरी यह जीवनसाधना समाप्त होगी, उस दिन तुम्हें क्या उत्तर दुंगा ? तुम्हारे सामने किस बात का अभिमान कर सकूंगा ? यह जीवन, ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, तुमने मुझे तुम्हारे समीप पहुँचने की साधना ही के लिए दी हैं। तो उस दिन, जब कि तुम यह शरीर वापस माँगोगे, तब मैं तुम्हें क्या उत्तर दूंगा ? क्या मुंह दिखलाऊँगा ? हे प्रभो ! शक्ति दो कि मेरे मन की आज्ञा के विना मेरे ये कान, आँख आदि कहीं न जा सकें और यह मन भी हृदय की ज्योति के साथ मिल जाया करे-ज्योति एक-रस जगती रहे। ऐसी अवस्था दिन में दो बार सन्ध्योपासना के समय तो हो जाया करे, नहीं तो मैं क्या मंह दिखाने लायक रहुँगा ?

शब्दार्थ — मे कर्णा वि पतयतः मेरे दोनों कान इधर-उधर जा रहे हैं चक्षु वि मेरी आँख इधर-उधर विविध स्थानों पर पड़ रही है हृदये आहितं यत् ज्योति [तत्] इदं वि हृदय में स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी विविध स्थानों पर दौड़ रही है मे मनः दूरे आधीः विचरित मेरा मन दूर-दूर चिन्ता के विषयों में विचरण करता रहता है। ऐसी अवस्था में हे प्रभो ! कि स्वित् वक्ष्यामि मैं क्या बोलूंगा, या क्या उत्तर दूंगा ? किम् उ नु मनिष्ये और मैं क्या मनन करूँगा या क्या अभिमान कर सकूँगा ?

कित पाप ते तेरे दर्शन नहीं हात

१८ ज्येष्ठ

पृच्छे तदेनी वरुण दिदृक्षुः, उपो एमि चिकितुषो वि पृच्छेम् । समानमिन्मे कवयंश्चिदाहुः, अयं ह तुभ्यं वरुणो हणीते ॥

一ऋ० ७। दि। ३

ऋषिः वसिष्ठः । देवता वरुणः । छन्दः निचृत्तिष्टुप् ।

विनय है प्रभो ! मैं तेरे दर्शन पाने के लिए व्याकुल हूँ। तुझसे साक्षात् मिलने के लिए दिन-रात प्रतीक्षा में हूँ। इसके लिए यत्न करते हुए बहुत दिन हो गये। ऐसा एक भी साधन नहीं छोड़ा जो कि तुझसे मिलानेवाला प्रसिद्ध हो। कठोर-से-कठोर तप बड़े आनन्द से किये हैं। तो अब कौन-सा पाप रह गया है जिससे तुम्हारे चरणदर्शन नहीं हो पाते ? हे वरुण ! तुमसे ही पूछता हूँ, मुझे मालूम नहीं। मुझे मालूम होता तो मैं कब का प्रतीकार कर चुका होता। हे पाप-निवारक ! तुम ही मुझ दर्शन-पिपासु को वह मेरा अपराध बतलाओ जिससे अप्रसन्त होकर तुम मुझे दर्शन नहीं देते। जिन्हें मैं मनुष्यों में ज्ञानी भक्त, विद्वान्, महात्मा देखता हूँ उन सब के पास जाता हूँ और जाकर यही पूछता हूँ कि वरुण देव के मुझे दर्शन क्यों नहीं होते ? पर वे सब कान्तदर्शी महात्मागण भी मुझे एकस्वर से यही बतलाते हैं कि वह वरुण देव ही तुझसे नाराज है। वे सब सच्चे ज्ञानी मुझे यही एक उत्तर देते हैं। तो, हे देव ! मैं अब तुम्हारे बिना अब और किससे पूछूं ? सचमुच अब और किसी से पूछना वृथा है। दे देव ! या तो मेरा पाप मुझे दिखला दो, अपनी अप्रसन्नता का कारण बतला दो, नहीं तो मुझे दर्शन दे दो। हे मेरे स्वामी ! जब मुझे अपने पाप का पता न लगेगा तो मैं उसका प्रतीकार कैसे कर सक्रूंगा ? मैं तुम्हें प्रसन्न करके छोडूँगा। अपने पापों के प्रतिविधान के लिए मैं घोर-से-घोर प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ। अपने को पूरी तरह पवित्र कर डालने के लिए आज मैं क्या नहीं कर डालूँगा ! मैं अब तुझसे मिल जाने के लिए व्याकुल हो उठा हूँ। इसीलिए, हे अन्तर्यामी प्रभो ! मैं तुझसे अपने पापों को जानना चाहता हूँ। मेरे पापों के सिवाय इस संसार में और कोई वस्तु नहीं है जो कि अब मुझे तुमसे मिलने से रोक सके।

शब्दार्थ — वरुण हे पापनिवारक देव ! तत् एनः पृच्छे मैं उस पाप को तुझसे पूछता हूँ वि [जिसके कारण मुझे तुम्हारा दर्शन नहीं हो पाता] दिदृक्षः मैं तुम्हारा दर्शनाभिलाषी हूँ वि पृच्छं इस विषय में विविध प्रश्न पूछने के लिए मैं चिकितुषः विद्वानों के उपो एमि पास जाता हूँ परन्तु कवयः चित् वे सब ज्ञानी पुरुष भी समानं इत् मे आहुः मुझे एक ही उत्तर देते हैं —एक ही बात कहते हैं —िक "अयं वरुणः ह निश्चय से यह वरुणदेव ही तुभ्यं हुणीते तुझसे अप्रसन्न है; छसे प्रसन्न कर!"

मुक्त भाष्य दा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennar and eGangotin

१६ ज्येष्ठ

य <u>ज्</u>यापिर्नित्यो वरुण <u>भि</u>यः सन्, त्वां ज्ञागौसि कुणवृत्सस्वति । मा त एनेस्वन्तो यक्षिन् भुजेम, युन्धि ष्मा विर्मः स्तु<u>व</u>ते वर्रूथम् ॥

ऋ० धादनाइ

ऋषिः वसिष्ठः । देवता वरुणः । छन्दः निचृत्त्रिष्टुप् ।

विनय—हे जगदीश्वर ! यह जीव तुम्हारा सनातन बन्धु है, यह तुमसे जुदा नहीं हो सकता। जीव चाहे कितना पितत हो जाय, पर असल में यह स्वरूपतः चेतन आत्मा ही है। इस जीवात्मा में तुम सदा स्वामी (संचालक) होकर व्याप्त हो और तुममें यह जीव-आत्मा सदा आश्रित है। एवं जीव सदा तुम्हें प्राप्त तुम्हारा 'आपिः' है और सदा तुमसे बँधा हुआ तुम्हारा बन्धु है, तुम्हारा सखा है। यह तुम्हारा साथी तुम्हें इतना प्रिय भी है कि तुमने स्वयं कुछ न भोगते हुए भी इस जीव के भोग के लिए ऐश्वयों से भरा यह सब संसार खोलकर एख दिया है। पर फिर भी यह जीव—यह तुम्हारा ऐसा प्यारा सखा जीव—इस संसार में तुम्हारे प्रति अपराध करता रहता है, तुम्हारे नियमों का भंग कर तुम्हें अप्रसन्न करता रहता है।

हे यजनीय देव ! हम जीवों को इस प्रकार तुम्हारे प्रति अपराधी होने पर क्या करना चाहिये ? हमें यह चाहिये कि हम पापी होने पर तुम्हारे विये गये भोगों को त्याग दिया करें । हे यिक्षन् ! पाप करते ही हम द्वारा तुम्हारे यज्ञ का भंग हो जाता है और मनुष्य को बिना यज्ञ किये भोग भोगने का अधिकार नहीं है । अतः पापी होकर हमें भोग-त्याग कर देना चाहिये, किसी भोग के त्याग के रूप में उस पाप का प्रायिचत्त कर लेना चाहिये । पापी होने पर भोग कभी न करें ऐसा करने से पाप का प्रतीकार हो जाता है आगे के लिए पाप का निवारण हो जाता है । ऐसा करने से हमें तुम एक 'वरूथ' अर्थात् सुरक्षित घर वा आश्रय दे देते हो । हे जगदीश्वर ! तुम सर्वज्ञ हो, मेरे हृदय को जानते हो, मुझ अपने उपासक के सब सच्चे भावों को जानते हो । अतः अब जब कभी मुझसे किसी तुम्हारे नियम का भंग होगा तो मैं किसी भोग के त्यागने के द्वारा तेरी शरण में आने के लिए अपने हाथ फैलाऊँगा । हे बिप्र, हे स्वामी ! तब मुझे अपना 'वरूथ' अवश्य प्रदान की जियेगा, हाथ फैलाये हुए मुझे अपनी गोद में स्थान देकर सुर-क्षित की जियेगा, कुछ समय के लिए अपने घर में मुझे आश्रय दी जियेगा, जिससे पित्रत हो कर आगे के लिए मैं वैसा नियम भंग करने से अलग रहूँ।

शब्दार्थ — वरण हे वरण ! यः नित्यः आपिः जो तेरा सनातन बन्धु है वह ते सखा तेरा साथी प्रियः सन् तेरा प्यारा होता हुआ भी त्वां आगांसि कृण्वत् तेरे प्रति पाप, अपराध किया करता है। यक्षिन् हे यजनीय देव ! एनस्वन्तः पापी होते हुए हम ते मा भुजेम तेरे दिये भोग न भोगें विप्रः स्तुवते वरूथं यन्धि स्म इस प्रकार तुम सर्वज्ञ मुझ उपासक को अपनी शरण या घर दे दो।

33

पापी क्लीर के प्रम के वन्यन में पडते ह

२० ज्येष्ठ

न वा ज सोमो वृजिनं हिंनोति, न क्षात्रियं मिथुया धारयंन्तम् । हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदंन्तं, जुभाविन्द्रंस्य प्रसितौ शयाते ॥

一港० ७।१०४।१३; अ० ८।४।१३

ऋषिः वसिष्ठः । देवता सोमः । छन्दः निचृत्त्रिष्टुप् ।

जगदीश्वर सोम-रूप से सब जगत् का पालन-पोषण कर रहे हैं। सोम-प्रभु के जीवन-दायी रस को पाकर ही सब संसार बढ़ रहा है, पुष्ट हो रहा है। पर ये भगवान् पाप को कभी नहीं बढ़ाते; इनका यह सोमरस पाप को कभी नहीं पहुँचता। और सब पापों का स्रोत—मूल,

जो असत्यता है, उसे तो परमेश्वर का जीवनरस मिलता ही नहीं है।

जब मनुष्य सदा इस तरह वर्तमान 'सत्' के विषद्ध कुछ और असत् की अपने अन्दर रचना करता है, असत्-पर-असत् दुहरी बातों को अपने अन्दर धारण करता है, तो यह 'मिथुया धारयन्' मनुष्य अपने इस दूसरे असत् द्वारा अपने-आपको आच्छादित कर लेता है और एवं सत्य की सोम-धारा से अपने को वंचित कर लेता है। हरेक पाप का करना भी क्रिया द्वारा सत् से इन्कार करना है। अतः ज्यूँही मनुष्य असत् की अपने में रचना करता है या ज्यूँही वह क्रिया से सत्य-विषद्ध कर्म (पाप-वृजिन) करता है, त्योंही उसका सत्स्वरूप जीवनरसदायी सोम से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह ईश्वरीय जगत् से जुदा हो जाता है, मानो वह परमेश्वर के बंधनागार में पड़ जाता है, अपने असत् द्वारा ही वह ढक जाता है, वह बँध जाता है। जहाँ परमेश्वर सोमरूप से सब ठीक चलनेवालों को जीवन देकर वढ़ा रहे हैं, वहाँ इन्द्र के ('इदं दारियता')-रूप से ये ही परमेश्वर विपरीतगामी को जुदा करके बाँधनेवाले भी हैं। इस तरह असत्य बोलनेवाला या पाप करनेवाला जीवन-रस से वंचित होकर, सूखकर नष्ट हो जाता है। इसीलिये वर्जनीय होने से पाप का नाम 'वृजिन' है तथा पाप ही 'रक्षः' कहलाता है, चूँकि इससे अपने-आपको सदा रक्षित' रखना चाहिये। इस वृजिन को, 'रक्षः' को, वह परमेश्वर नाश हो कर देता है, कभी बढ़ाता नहीं है।

मनुष्य यदि इस सत्य को समझे, इसमें उसे जरा भी संदेह न हो, तो वह पाप करते हुए घवराये और असत्य बोलते हुए उसका कलेजा काँपे। संसार में यद्यपि हमें दीखता है कि परमेश्वर भी पाप को ही मदद दे रहा है और झूठे को बढ़ा रहा है, परन्तु यह हम क्षुद्र बुद्धिवाले अल्पज्ञों का भ्रम है। हम अल्पज्ञ नहीं देख सकते कि किस पाप का फल कब और कैसे

मिलता है।

शब्दार्थ सोमः सोमरूप परमेश्वर वै निस्सन्देह न उ न तो वृजिनं वर्जनीय पाप को हिनोति बढ़ाता है, समर्थन करता है और न ना ही मिथुया धारयन्तम् दुहरी बात को झूठ को पारण करनेवाले क्षित्रियं बलवान् को ही बढ़ाता है, किन्तु वह तो रक्षः पाप-राक्षस का हिन्त हनन करता है, और असद् वदन्तं असत्य बोलनेवाले का हिन्त हनन करता है; ये उभौ दोनों ही इन्द्रस्य इन्द्र-रूप परमेश्वर के प्रसितौ बन्धन में शयाते पड़ते हैं।

१. रक्षितव्यं यस्मात् । — निरुवत ४।३।२

7013 (-) 01-1

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३१ ज्येष्ठ

य ई <u>चकार</u> न सो <u>श्र</u>स्य वेद य ई दुदशे हिरुगिन्नु तस्मीत्। स <u>मातुर्योना</u> परिवीतो श्रन्तः, बेहुपुजा निर्<u>भीति</u>माविवेश।।

—ऋ० १।१६४।३२; अथर्व**० ६।१०।**१०

ऋषिः दीर्घतमा । देवता विश्वे देवाः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय-मनुष्य संसार-सागर में डूबता जाता है। मनुष्य ज्यों-ज्यों 'बहुप्रजा' होता जाता है त्यों-त्यों यह 'निऋ ति' में - घोर कष्ट में - पड़ता जाता है। विषयग्रस्त हुआ मनुष्य इस संसार में एक ही कार्य समझता है, अपने वच्चे पैदा करना, एवं प्रकृति में अपने विस्तार को नाना तरह वढ़ाता जाता है। इसीलिए वह वार-बार जन्म पाता है, वार-बार जन्म के घोर कब्टों को अनुभव करता है। ऋषि लोगों ने देखा है कि माता की योनि में आये हुए जीव को बार-बार बड़ा भारी मानसिक क्लेश भोगना पड़ता है। उस समय वह जीव केवल झिल्ली से ढका हुआ नहीं होता, किन्तु घोर अज्ञान से भी ढका हुआ होता है, क्योंकि 'वहुप्रजाः' के मार्ग पर जाना अज्ञान से ढके जाने से ही होता है। मनुष्य 'ढका हुआ' (परिवीत) होने से ही इस संसार में पागल तथा अंधे की तरह रहता है। मनुष्य पागल इसलिए है, चूंकि वह जो दिन-रात अन्धाधुन्ध काम करता है उसे वह जानता नहीं, यूँ ही करता जाता है। मनुष्य जो खाना-पीना, चलना-फिरना, प्रेम करना, द्वेष करना आदि जो कुछ करता है उसे वह कुछ भी नहीं जानता कि में यह क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ, इसका क्या प्रभाव होगा। वह नहीं जानता कि इसका ही फल उसे भोगना होगा। वह नहीं जान पाता कि पहले जन्मों में वह न जाने क्या-क्या कर चुका है। अन्घाधुन्ध वह करता जाता है। इसी तरह का उसका सब संसार को देखना है। संसार में वह मनुष्य स्त्री, पशु, पहाड़, नदी, आकाश, सभा, समाज, वड़े-बड़े आनन्ददायक दृश्य और बड़े-बड़े रुलानेवाले दृश्य, इन सब को सोते-जागते देखता जाता है, पर असल में वह इन किन्हीं भी वस्तुओं को नहीं देखता। ये सब वस्तुयें उससे वास्तव में छिपी ही रहती हैं, निःसन्देह छिपी ही रहती हैं। वह देखता हुआ भी किसी भी वस्तु का तत्त्व नहीं देख पाता। इसीलिये वह 'बहु-प्रजाः' होने के प्रकृति में ग्रस्त होने के -मार्ग को अवलम्बन करता है और 'निऋ ति' में पड़ता जाता है। निऋ ति (पृथिवी) के इस अन्धकार में धँसते जाने की जगह, मनुष्य 'दौ:' के प्रकाश की तरफ जाने लगे, यदि वह इस संसार में जो कुछ करे उसे जानने लगे और जो कुछ देखे उसे साक्षात् करने लगे।

शब्दार्थ — यः यह मनुष्य इँ यह जो कुछ चकार करता है अस्य इस किये को सन वेद वह नहीं जानता है। यः वह मनुष्य इँ ददर्श यह जो कुछ देखता है वह तस्मात् उस देखनेवाले मनुष्य से नु हिष्क् इत् नि:सन्देह छिपा हुआ ही है। स ऐसा वह मनुष्य मातुः योना अन्तः माता के गर्भाशय में परिचीतः [झिल्ली से और अज्ञान से] ढका हुआ बहुप्रजाः बार-बार जन्म लेता हुआ और बच्चे पैदा करता हुआ निऋ ति आविवेश बड़े घोर कष्ट में प्रविष्ट होता जाता है। [

१. निऋंति:=(१) घोर कष्ट, (२) पृथिवी । ये दोनों अर्थ निऋंति शब्द के होते हैं।

निव्दे

पन्नी। हमीर जन्धनों की शिशाल कर श

२२ ज्येष्ठ

उद्वेत्तमं वंरुण पार्शम्सम्ब्, अविध्यमं वि मध्यमं श्रेथाय। अथां व्यमादित्य वृते तव, अनागसो अदितये स्याम।। —ऋ० १।२४।१५; यजुः० १२।१२; साम० पू० ६।३।१०।४; अथवं० ७।८३।३ ऋषिः शुनःशेप देवरातः। देवता वरुणः। छन्दः त्रिष्टुप्।

विनय-हे पापनिवारक देव ! तूने हमें तीन बन्धनों से बाँध रखा है। उत्तम बन्धन हमारे सिर में हैं जिससे हमारा आनन्द और बुद्धि बँधे हुए हैं, ढके हुए हैं, एके हुए हैं। यह सत्त्वगुण का (कारण शरीर का) बन्धन कहा जा सकता है। हृदयस्य मध्यम बन्धन से हमारा मन और सूक्ष्म प्राण बँघे हुए हैं। यह रज और सूक्ष्म शरीर का बन्धन है। नाभि से नीचे तमोगुण और स्थूल शरीर का अधम बन्धन है जिससे हमारा स्थूल प्राण और स्थूल शरीर बँधा हुआ है । हे वरुण ! इनसे बँधे रहने के कारण हमसे तेरे नियमों का भंग होता रहता है और हम पापी बनते रहते हैं। उत्तम बन्धन द्वारा, सच्चा ज्ञान न मिलने से; मध्यम द्वारा, राग-द्वेष काम-क्रोध आदि के वशीभूत होने से; और अधम द्वारा, शारीरिकतया त्रुटियुक्त कार्य करने से हम पापी बनते हैं। हे देव ! तू हमारा उत्तम पाश ऊपर की तरफ खोल दे जिससे कि मेरी बुद्धि का द्युलोक के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाय और मुझमें सत्य-ज्ञान का प्रवेश होने लगे। मध्यम पाश को बीच से खोल दे जिससे अन्तरिक्षलोक के समुद्र में मेरे मन के प्रविष्ट हो जाने से इसके राग-द्वेषादि मल धुल जायें तथा मेरा मन सम हो जाय। और अधम पाश को नीचे गिरा दे जिससे मेरे पार्थिव शरीर के सब कलुषित परमाणु पृथिवीतत्त्व में लीन हो जायें और हमारा शरीर नीरोग, स्वस्थ होकर प्रभु के कार्य निर्दोष होकर कर सके। हे प्रकाशमय बन्धन-रहित देव ! इन बन्धनों के टूट जाने पर हम तेरे व्रत में रह सकेंगे, हमसे तेरे नियमों का भंग होना वन्द हो जायगा। अन्त में मैं 'अदिति' (मुक्ति) के ऐसा योग्य हो जाऊँगा कि एक दिन आयेगा जब कि मेरा आत्मा स्थूलशरीररूपी बन्धन को नीचे पृथिवी पर छोड़कर और मानसिक सूक्ष्मशरीर को अन्तरिक्ष में लीन करके अपने ऊपरी बन्धन के भी टूट जाने से ऊपर—द्युलोक— को प्राप्त हो जायगा । बिना इन तीन बन्धनों के ढीले हुए मैं मुक्ति की तरफ कैसे जा सकता हूँ ? इसलिये, हे वरुण ! इन बन्धनों को एक बार खोल दो — जरा ढीला कर दो — जिससे कि मेरा मार्ग साफ हो जाय और मैं यत्न करता हुआ तेरे व्रत में रहनेवाला निष्पाप मोक्षाधिकारी हो जाऊँ ।

शब्दार्थ — वरण हे पापनिवारक देव ! तू अस्मब् हमारे उत्तमं पाशं उत् उत्तम बन्धन को ऊपर की तरफ और मध्यमं वि मध्यम बन्धन को बीच में तथा अधमं अव अधम बन्धन को नीचे की तरफ अथाय ढीला कर दे अथ जिससे, इन बन्धनों के टूटने से आदित्य हे प्रकाशमय बन्धनरहित देव ! वयं तव वते हम तेरे नियमों में रहते हुए अनागसः पापरहित होकर अदितये बन्धन-राहित्य, स्वतन्त्रता, मुक्ति के लिए योग्य स्थाम हो जायँ।

ari will

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३ ज्येष्ठ

अनुत्तमा ते मघवन किर्नु, न त्वावां अस्ति देवता विदानः। न जार्यमानो नर्शते न जातो, यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

—ऋ० १।१६५।६

ऋषिः अगस्त्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे सर्वेरवर्यशालिन् ! मैं आज देख रहा हूँ कि इस विश्व का सब-कुछ - छोटे-से छोटा और बड़े-से-बड़ा-तेरे हिलाये हिल रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कि तेरी प्रेरणा से प्रेरित नहीं हो रही है। इस ब्रह्माण्ड-सागर की क्षुद्र-से-क्षुद्र और महान्-से-महान् सब लहरें तू ही पैदा कर रहा है। जगत् के अनन्तों परमाणुओं में जो एक-एक परमाणु प्रतिक्षण गतिशील है, चींटी से कुंजर तक जो सब प्राणी चेष्टा कर रहे हैं, मनुष्य के वैयक्तिक जीवन और मनुष्य-संघ के समिष्ट जीवन में जो नित्य छोटे-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं, भूकम्प, वर्षा, वायु, अग्नि, ऋतु आदि रूप से जो आधिदैविक जगत् निरन्तर बदल रहा है—यह एक जगत् क्या, ऐसे-ऐसे जो कोटि-कोटि अनन्त जगत्, जो असंख्यात सूर्य और पृथिवियाँ, इस महाकाश में चक्कर लगा रहे हैं -ये सब-के-सब, तेरी ही दी हुई गित से, तेरी ही प्रेरणा से चल रहे हैं। तू अपनी पूर्ण ज्ञानमयी ठीक-ठीक गति देकर इस सब संसार को नचा रहा है। हम मनुष्य नया, बड़े-से-बड़े ज्ञानी देव भी तेरे असीम ज्ञान का पार नहीं पा सकते। ये सब तेरे ज्ञान को असीम-अनन्त कह-कहकर अपनी अज्ञानता को ही प्रकाशित करते हैं। ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों पता लगता जाता है कि तू कितना-कितना महान् है ! हे महान् ! हे परम महान् !! तेरी महत्ता के आकाश का अन्त हमारा कल्पना-पक्षी अपनी ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी नहीं पा सकता; बह हार मानकर, थक-थककर, शान्त हो जाता है। तब हम तेरी महत्ता को अनन्त मानकर और तेरी लीला को अगम्य व हकर चुप हो जाते हैं। इतना ही कह सकते हैं कि इस जगत् में जो कुछ पैदा हुआ है, हो रहा है या होगा, उनमें से किसी में भी ऐसी शक्त नहीं है जो तेरी लीला को समझ सके, जो तेरे द्वारा की जानेवाली या की जा रही लीला के किसी ओर-छोर को पा सके। जो तेरी लीला की अधिक-से-अधिक सच्ची, नजदीकी और पूरी खबर लाता है तो वह यही खबर लाता है कि तेरी लीला अगम्य है, तेरी लीला अगम्य है।

शब्दार्थ —आ ओह, सच है कि मघवन् हे सर्वेश्वयं युक्त ! न ते अनुत्तम् न किः निस्सन्देह् ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि तुझसे अप्रेरित है—जो कि तुझसे प्रेरित नहीं है, त्वावान् विदानः देवता न अस्ति तेरे समान ज्ञानवाला कोई देवता भी नहीं है, प्रवृद्ध हे परम महान् ! न जायमानः न जातः न तो कोई उत्पन्न होनेवाली और न कोई उत्पन्न हुई वस्तु है [तानि] नशते जो तेरे उन कमीं तक पहुँचती है यानि करिष्या, कृणुहि जिन कमीं को तू करेगा या कर रहा है।

बैदिक विनय

\$0\$,

१. अनुत्तम् + आ = अनुत्तमा।

वह एक है

२६ ज्येष्ठ

इन्द्रं मित्रं वर्रणमिनिमाहुः, अथो दिव्यः ससुपूर्णो गरुत्मान् । एकं सदिमा बहुधा वदन्ति, अर्गिन यमं मात्रिश्वानमाहुः ॥ —ऋ० १।१६४।४६; अथवं० ६।१०।२८

ऋषिः दीर्घतमा । देवता सूर्यः । छन्दः निचृत्त्विष्दुप् ।

विनय हे मनुष्यो ! इस संसार में एक ही परमात्मा है। हम सब मनुष्यों का एक ही प्रभु है। हम चाहे किसी संप्रदाय, किसी पन्थ, किसी मत के माननेवाले हों, पर संसार-भर के हम सब मनुष्यों का एक ही ईश्वर है। भिन्त-भिन्न देशों में भिन्त-भिन्न संप्रदायवाले उसे भिन्त-भिन्न नाम से पुकारते हैं, पर वह तो एक ही है। जो जिस देश में व जिस संप्रदाय के वायुमंडल में रहा है, वह वहां के प्रचलित प्रभु नाम से उसे पुकारता है। कोई 'राम' कहता है, कोई 'शिव' कहता है, कोई 'अल्लाह' कहता है, कोई 'लॉर्ड' कहता है। 'विप्रों' ने, ज्ञानी पुरुषों ने, उस प्रभ को जिस रूप में देखा, उसके जिस गुणोत्कर्ष का उन्हें अनुभव हुआ, अपनी भाषा में उसी के वाचक शब्द से उसे वे पुकारने लगे। उन विप्रों द्वारा वही नाम उस समाज व संप्रदाय में फैल ग्या। कोई विप्र गुरु से ग्रहण करके उसे 'ओं' या 'नारायण' नाम से पुकारता है, तो कोई अपने महात्माओं और सद्ग्रन्थों से पाकर उसे 'खुदा' या 'रहीम' कहता है, परन्तु वह प्रभु एक ही है।

हम सांप्रदायिक लोगों ने संसार में बड़े-बड़े उपद्रव किये हैं और आश्चर्य यह कि ये सब लड़ाई-दंगे अपने प्रभु के नाम पर हुए ! वैष्णवों और शैवों के झगड़े हुए हैं, हिन्दू और मुसलमानों में रक्तपात हुए हैं, यह दियों और ईसाइयों के युद्ध हुए हैं—यह सब क्यों ? यह सब तभी होता है जब हम यह भूल जाते हैं कि "एकं सत् विप्रा वहुधा वदन्ति"—वह एक ही है, पर ज्ञानी लोगों ने अपने-अपने अनुभवों के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न नाम दिया है। ईश्वर होने से वही 'इन्द्र' है, मृत्यु से त्राता होने से वही 'मिन्न' है, पापनिवारक होने से वही 'वरुण' है, प्रकाशक होने से वही 'अग्नि' है। वेदमन्त्रों में इन नाना नामों से पुकारा जाता हुआ भी वह एक है। इसी तरह वेदमन्त्रों ने 'दिव्य', 'सुपर्ण' (शोभन पतनवाला) या 'गरुत्मान्' (गुरु आत्मा), 'अग्नि', 'यम' (नियन्ता), और 'मातरिश्वा' (अन्तरिक्ष में श्वसन करनेवाला) आदि भिन्न-भिन्न अनेक देव-नामों से उसी एक प्रभु की स्तुति की है। ज्ञानियों ने उस एक को ही भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा, पर अज्ञानियों ने उसे भिन्न-भिन्न नामों से जुदा-जुदा कर दिया। अतः वेद की पुकार सुनो—वह एक है ! वह एक है ! — एकं सत् !

शब्दार्थ — विप्राः ज्ञानी पुरुष एकं सत् एक ही होते हुए को बहुधा वदन्ति अनेक प्रकार से बोलते हैं। उस एक ही को इन्द्रं, मित्रं, वरुण, अग्नि आहुः इन्द्रं, मित्रं, वरुण, अग्नि कहते हैं। अथो स विव्यः सुपर्णः गरुत्मान् और वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् कहलाता है अग्नि यमं मात-रिश्वानं आहुः उस एक ही को अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

ः वैदिक विनय

t. Unhealthy Development.

but he as well he had

जिमात रहा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२७ ज्येष्ठ

यो जागार तम्चं कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति । यो जागार तम्यं सोमं ब्राह, तवाहर्मस्मि सख्ये न्योंकाः॥

—ऋ० प्राप्तराहर; सा० उ० हाराप्र

ऋषिः अवत्सारः दृष्टलिङ्गाः। देवता विश्वे देवाः। छन्दः विराट् व्रिष्टुप्।

विनय—संसार में पूरिपूर्ण जागृत तो एक ही है; वह अग्नि परमात्मा है। यह सर्वथा अनिद्र है, त्रिकाल में जागृत है। उसमें तमोगुण का (अज्ञान व आलस्य का) स्पर्श तक नहीं है। अतएव सब ऋचायें, संसार की सब स्तुतियाँ, उसी को चाह रही हैं—उसके प्रंति हो रही हैं। सब सामों का, मनुष्यों के किये सब यशोगानों का, सब स्तुति-गीतियों का भाजन भी वही एक परम-जागृत देव हो रहा है। और देखो, यह समस्त भोग्य-संसार—भोग्य बना हुआ यह सोमरूप ब्रह्माण्ड—उसी जागरूक अग्निदेव के पैरों में पड़ा हुआ कह रहा है "मैं तेरा हूँ, तेरे ही आश्रय से मेरी सत्ता है, तेरी मित्रता में मेरा निवास हो रहा है; तुझसे हटकर मुझे और कहीं ठौर नहीं है।"

इसी तरह हम मनुष्य-जीव भी यदि अपनी शक्तिभर सदा जागृत रहेंगे, सदा सावधान और कटिबद्ध रहेंगे, तमोगुण को दूर हटाकर सदा चैतन्ययुक्त, अतन्द्र रहेंगे, आलस्य के कभी भी वशीभूत न होकर अपने कर्त्तंव्य को तत्क्षण करने के लिए सदा तैयार, उद्यत रहेंगे, कभी प्रमाद न करते हुए—बिना भूलचूक के—अपने कर्त्तंव्य को ठीक-ठीक करते जाने के अभ्यासी हो

जायेंगे, तो हम भी उतने ही अंश में 'अग्नि'-रूप हो जायेंगे।

परन्तु वास्तिविक भोक्ता होना आसान नहीं। संसार के विषयी पुरुष तो भोगों के भोक्ता होने की जगह भोगों के भोग्य बने हुए हैं। परन्तु वही ऐश्वर्य, वही सुख, वही सुख-भोग, जिसके कि पीछे यह सब संसार दौड़ता फिरता है पर जो लोगों को मिलता नहीं, वही ऐश्वर्य (सोम)—जागृत पुरुष के सामने हाथ बाँधकर, सेवक होकर, शरण पाने के लिए आ खड़ा होता है। अग्नित्व को प्राप्त उस मनुष्य के लिए वास्तव में संसार के सब भोग्य-पदार्थ उसकी मित्रता में, उसके हितसाधन के निमित्त, सदा नियत स्थान पर उपस्थित रहते हैं; उसे उनपर ऐसा प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अतः, हे मनुष्यो! जागो, जागो, सदा जागृत रहो! तामिसकता त्यागो और निरालस्य-जीवन का अभ्यास करो! जागरूकों के लिए ही यह संसार है; स्तुत्यता, लोक-मान्यता, यश, भोक्तृत्व यह सब जागते रहनेवाले के ही लिए है।

शब्दार्थ — यः जागार जो जागता है तं उसे ऋचः ऋचायें, स्तुतियां कामयन्ते चाहती हैं, यः जागार जो जागता है तं उ उसे ही सामानि साम, स्तुतिगान यन्ति प्राप्त होते हैं और यः जागार जो जागता है तं उसे, उसके सामने आकर अयं यह सोमः सोम, भोग्य-संसार आह कहता है कि "तव अहं अस्मि मैं तेरा हूँ, सख्ये न्योकाः तेरी मित्रता में ही मेरा निवास है, तेरे सख्य के लिए मैं सदा नियत स्थान पर उपस्थित हूँ।"

45-44-4721

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेद ज्येष्ठ

ये <u>भ</u>क्षयंन्तो न वसून्यानृधुः, यानुग्नयो ग्रन्वतंष्यन्त धिष्ण्याः। या तेषांम<u>व</u>या दुरिष्टिः स्विष्टिं, नस्तां कृणवद् विश्वकेर्मा।।
—अथ

-अथर्व० २।३५।१

ऋषिः अङ्गिरा। देवता विश्वकर्मा। छन्दः बृहतीगर्मा।

विनय-इस संसार में भोगों को भोगने के साथ ही हम मनुष्यों का यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि हम भोग से क्षीण हो जानेवाले ऐक्वर्य को अपने उत्पादक कर्म द्वारा सदा संसार में बढाते भी जायें। हरेक अन्न खानेवाले का कर्त्व्य है कि वह अन्न को उत्पन्न करने में कूछ-न-कुछ सहायता भी दे। यही यज्ञ-कर्म है। जो लोग यह यज्ञ-कर्म नहीं करते उन्हें परमात्मा की अग्नियाँ जलाने लगती हैं; उन्हें दु:ख से संतप्त होना पड़ता है। परमात्मा की वे जगत में स्थापित अग्नियाँ जो कि हम मनुष्यों के लिए भोग-ऐश्वयों को उत्पन्न कर रही हैं, उन्हें यदि हम भोग भोगने के बाद अपने यज्ञ-कर्म द्वारा अगले भोगों के उत्पन्न करने के लिए सहायता न देंगे-उस दिशा में उद्दीप्त न करेंगे, तो वे अग्नियाँ हमें संतप्त करने लगेंगी। यही संसार में दू:खों के अस्तित्व का रहस्य है। भोग के साथ यज्ञ जुड़ा हुआ है। मनुष्य-समाज इसी तरह चल रहा है। मनष्य परस्पर मिलकर अपने परिश्रमों से भोग्य-वस्तुओं को बढ़ा रहे हैं। परन्तु मनुष्य-समाज में जो मनुष्य स्वार्थी होकर भोग का सुख लेना चाहते हैं पर यज्ञ-कर्म (परिश्रम) नहीं करना चाहते, उनकी उस 'दुरिष्टि' द्वारा हमारे मनुष्य-समाजरूपी यज्ञ में भंग होता है। उनकी इस दुष्प्रवृत्ति से उनका पतन होता है, उनका आत्मतेज दबता जाता है। इस उलटे चक्र को चलाने का यत्न करने के कारण उनको संसार का ताप, दु:ख भी मिलता है, पर उनकी इस वैयक्तिक हानि से हमारे मनुष्य-समाज की भी क्षति होती है, मनुष्य-समाज को उनका बोझ सहना पड़ता है। उनको कष्ट व अनुताप इसलिये होता है, इसीलिये मिलता है कि वे यह समझ जायें कि उन्हें मनुष्य-समाजरूपी यज्ञ का भंग नहीं करना चाहिये। उन्हें केवल भोग भोगने की अपनी 'दुरिष्टि' को बदलकर यज्ञ-कर्म करने की 'स्विष्टि' में ले-जाना चाहिये। अहा ! सब मनुष्य-समाज के व्यक्ति इस सत्य को समझें और सभी स्वेच्छा से यज्ञ-कर्म द्वारा जगत् के ऐश्वर्य को बढ़ाने में सहायक हों तो कैसा सुख हो ! किसी को अनुतप्त न होना पड़े, समाज की उन्नति होती जाये।

शब्दार्थ — मनुष्य-समाज में ये जो लोग सक्षयन्तः निरन्तर भोग करते हुए भी वसूनि न आनृधुः उन भोग्य-ऐक्वर्यों को बढ़ाते नहीं हैं और अतएव यान् जिन लोगों को धिष्ण्याः अग्नयः [परमात्मा द्वारा] जगत् में स्थापित प्राणादि अग्नियाँ अनु अतप्यन्त भोग के अनन्तर संताप देती हैं, जलाती हैं तेषां उन लोगों की या अवया दुरिष्टिः जो नीचे गिरानेवाली यह दुष्प्रवृत्ति या दुष्ट-यजन है तां उसे नः हमारे लिए विश्वकर्मा विक्वकर्ता परमेक्वर स्विष्टि सुप्रवृत्ति या ठीक यजन के रूप में कृणवत् कर दें।

APEN DIFFE FR TO DIRECT NO

205

र तम भी भी भी सार

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६ ज्येव्ड

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्भुखं च, वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि । इमं यज्ञं वितंतं विश्वकंभिणा, देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥

-अथर्वं० २।३५।५

ऋषिः अङ्गिरा । देवता विश्वकर्मा । छन्दः भुरिक् ।

विनय-मेरे जीवन-यज्ञ का भरण-पोषण करनेवाली मेरी दर्शनशक्ति है। इससे नित्य नया सत्यज्ञान पाता हुआ मेरा मनुष्य-जीवन उन्नत-से-उन्नत होता जा रहा है। इस यज्ञ का साधन-भूत जो मेरा स्थूल शरीर है, उसका भरण-पोषण मुँह द्वारा अन्न ग्रहण करने से हो रहा है। पर मेरा यह सब मानसिक पोषण और यह सब शारीरिक पोषण यज्ञ के लिए ही है। मैं उन्तत हुए मन से, शरीर से, इन्द्रियों से जो कुछ करता हूँ वह सब हवन ही करता हूँ। वाणी से जो बोलता हूँ वह हंवन ही करता हूँ; ऐसा कुछ नहीं बोलता जो कि प्रभु को साक्षी रखकर नहीं होता, जो कि अन्यों का हितकर नहीं होता। कानों से जो सुनता हूँ वह प्रभु-अपंण-बुद्धि से सुनता हूँ; वह श्रेष्ठ पवित्र ही श्रक्ण करता हूँ जो कि फलतः सर्वभूतहित के लिए हो। इसी तरह मन के भी एक-एक मनन-चिन्तन को ऐसा पवित्र, निर्विकार, हवनरूप करने का यत्न करता हूँ। मैं सदा स्मरण रखता हूँ कि यह मनुष्य-जीवन मुझे विश्वकर्मा प्रभु ने यज्ञरूप करके दिया है। मुझे यह ध्यान रहता है कि यह जीवन-यज्ञ उस प्रभु का आरम्भ किया हुआ, चलाया हुआ है। जिस यज्ञ-स्वरूप ने यह सब विश्व-ब्रह्माण्ड रचा है, उसी विश्वकर्मा ने अपने इस विश्व में मेरा यह छोटा-सा जीवनयज्ञ भी शतवर्ष तक चलने के लिए प्रारम्भ किया है। यही विचार है जो मुझे अपने एक-एक कर्म को संयमपूर्ण, पवित्र और त्यागमय बनाने को प्रेरित करता है। 🔻 सचिन्त और सावधान रहता हूँ कि कहीं यह विश्वकर्मा का विस्तृत किया हुआ पिक्त यज्ञ मेरे किसी कर्म से कभी भ्रष्ट न हो जाये। इसलिये, हे देवो ! प्रभु के संसार-यज्ञ को चलानेवाली दिव्य-शक्तियो ! तुम मेरे इस यज्ञ में भी प्रसन्निचत्त होकर आओ और इसे अधिक-अधिक यजिय, पविक बनाओ । तुम्हारा तो कार्य ही यज्ञ में आना है । अतः हे दिव्य गुणो ! तुम मुझमें आओ, प्रसन्त-चित्त होकर आओ। मैं अपने जीवन को यज्ञ बनाता हुआ तुम्हें बुला रहा हूँ। अतः, हे यज्ञिय दैवभावो ! तुम प्रसन्नतापूर्वक मुझमें वास करो । देवों के सब गुण, सब देवभाव, सब देवल मुझमें आ जायें, स्वभावतः मुझमें आ जायें, मुझमें बस जायें।

शब्दार्थ — यज्ञस्य मनुष्य-जीवन-यज्ञ के प्रभृतिः भरण-पोषण का साधन चकुः दर्शनशक्ति है मुखं च और मुख भी है। वाचा श्रोत्रेण मनसा वाणी से, कान से, और मन से जुहोमि मैं हवन ही करता हूँ। इमं यज्ञं यह मेरा जीवन-यज्ञ विश्वकर्मणा जगद्-रचयिता परमात्मा ने विततं विस्तृत किया है, इसमें देवाः सब देव, दिव्यभाव सुमनस्यमानाः प्रसन्न होते हुए आ यन्तु आयें।

वैदिक विनय

308

विस्न-यथं भिडिमा

३० ज्येक्ट

हुँयं समित् पृथिवी चौद्वितीया, जुतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। बसचारी समिधा मेखलया अमेण लोकास्तर्पसा पिपर्ति॥

-अथर्वे० ११।५।४

ऋषिः ब्रह्मा । देवता ब्रह्मचारी । छन्दः त्रिष्टुप् ।

ः विनय यह संसार ब्रह्मचर्य से ही पालित, पोषित और पूरित हो रहा है। इस जगत के आधार में यदि ब्रह्मचर्य का परमवीय न होता, तो यह जगत् कब का खत्म, खाली और छूछा हो चुका होता। अपने शारीरिक वीर्य की, ब्रह्मतेज की और आत्मिक वीर्य (आत्म-तेज) की रक्षा करनेवाले संयमी ब्रह्मचारी लोग ही हैं जो कि इस त्रिलोकी को निरन्तर जीवन-तेज से पूरित कर रहे हैं। ब्रह्मचारी अपने शरीर को, अपने मन को, अपनी आत्मा (विज्ञानमय) को तीन सिमधायें बनाकर बृहद् अग्नि (आचार्याग्नि या परमात्माग्नि) में रखता है, उसके अप्ण कर देता है। इसका फल यह होता है कि उसकी ये तीनों सिमधायें प्रदीप्त हो जाती हैं उसके शारीर में वीर्य का तेज आ जाता है, उसका मन ब्रह्म-तेज से समिद्ध हो जाता है, और उसका थात्मा आत्मतेज से सूर्यवत् जाज्वल्यमान, प्रकाशित हो जाता है। शरीर की समिधा से वह स्यूल पृथिवीलोक को तृष्त और परिपूर्ण करता है, मन की दीष्ति से अन्तरिक्षलोक को पूरित करता है, और आत्मप्रकाश से द्युलोक को। इस तरह से संसार का प्रत्येक सच्चा ब्रह्मचारी अपने इस संचित, रक्षित, त्रिविध तेज (सिमधा) द्वारा इन तीनों लोकों को पालित कर रहा है। मेखला का अर्थ है सदा कटिबद्ध, मुस्तैद, तैयार, सावधान रहना; आलस्य, खाली रहने की इंच्छा, शिथिलता, प्रमाद ब्रह्मचारी के घोर शत्रु हैं। इसी तरह खूब श्रम करना, शरीर और मन से खूब काम लेकर इन्हें थका देने पर ही विश्राम ग्रहण करना - यह ब्रह्मचारी का धर्म है; आराम-पसन्द, कामचोर मनुष्य के भाग्य में ब्रह्मचर्य का सुख नहीं है। तप करना, सब द्वन्द्वों का सहना, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि को प्रसन्नतापूर्वक सहना - यह ब्रह्मचारी का तीसरा परमावश्यक वृत है। कटिबद्धता, श्रम और तप के पालन द्वारा ही ब्रह्मचारी में त्रिविध तेज का (वीर्य का) रक्षण और संचय होता है और इन्हीं तीन के लगातार अनुष्ठान द्वारा ही ब्रह्मचारी अपने इस तेज का उपयोग करता हुआ लोकों का (त्रिविध संसार का, संसार के लोगों का) पालन-पोषण और पूरण करता है। इन्हीं में ब्रह्मचर्य की अपार महिमा का रहस्य है।

शब्दार्थ इयं समित् यह पहली सिमधा (पृथिवी) पार्थिव-जगत् की, द्वितीया दूसरी सिमधा ह्योः द्युलोक की, आरिमक जगत् की, उत और वह सिमधा अपनी तीसरी सिमधा द्वारा अन्तरिक्षं मध्य के मनोमय अन्तरिक्षं लोक को पृणाति पूर्ण करता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी सिमधा सिमधा से, त्रिविध दीप्ति से मेखलया मेखला से, कटिबद्धता से अमेण श्रम से और तपसा तप से लोकान् तीनों लोकों को, संसार के सब लोगों को पिपर्ति पालित, पोषित और पूरित करता है।

180.

RIVERS PARK

वैदिक वित्तय

2 ap 41 de (-1151) Ars

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३१ ज्येष्ठ

य अतिमदा वं<u>छ</u>दा यस्य विश्वं छपासते मुशिषं यस्यं देवाः। यस्य च्छायाऽमृतं यस्यं मृत्युः कस्मै देवायं हविषां विधेम॥

—ऋ० १०।१२१।२; यजुः० २५।३२; अथर्वे० ४।२।१

ऋषिः हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः । देवता कः । छन्दः निचृत्त्रिष्टुप् ।

विनय आओ, हम अपना सर्वार्पण करके भी उस सुखस्वरूप देव की पूजा करें जो हमारे आत्मस्वरूप का देनेवाला है। हम अपने-आप (आत्म) को ही भूलकर भटक रहे हैं। वह हमें इस अपने-आपको प्राप्त करा देता है। वही हमें बल भी देता है; अपने को खोकर, आत्म-शक्तिहीन हुए हम लोगों को वही अपनी करुणा से शक्ति भी प्रदान करता जाता है। और जब हम उस सब शक्ति के भंडार को कुछ अनुभव करने लगते हैं तो हम देखते हैं कि यह सब विश्व उसके आश्रित है, सब प्राणियों को सब-कुछ देनेवाला वही है, सब प्राणी उसी के प्रकृष्ट-शासन में रह रहे हैं। जाने या अनजाने सब उसी का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। उसके परिपूर्ण शासन का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके नियम अटल हैं। संसार में जो बड़ी-से-बड़ी शक्तियाँ (देव) काम करती दिखाई दे रही हैं, वे सब उसी की आज्ञा का पालन कर रही हैं। उसी की प्रेरणा से प्रेरित पृथिवी, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव अपने-अपने महान् कार्य ठीक-ठीक चला रहे हैं। ऋषि देखते हैं कि मृत्यु भी उसी के भय से उसकी आजा में दौड़ता फिर रहा है। अहो ! इस मौत से तो यह संपूर्ण ही संसार डरता है। सचमुच इस जगत् में जहाँ सुख-भोग हैं, वहाँ इन्हें क्षणिक बनानेवाला दु:ख-संताप भी जगत् में है और कोई भी ऐसा जन्म पानेवाला नहीं है जो कि मृत्यु का ग्रास न होता हो। देखो, यह "राम की चक्की" संसार में ऐसी चल रही है कि उसमें सब पिसते जा रहे हैं, मरते जा रहे हैं। इस मृत्यु के विकराल कालचक को चलानेवाला इसका शासक भी वही है। सब संसार दु:ख-पीड़ित और मौत का मारा हुआ पड़ा है। हे मनुष्यो! यदि तुम उसकी इस विकराल भय-रूपिणी मृत्युदेवी से घबरा चुके हो तो यह भी आश्चर्य देखो कि जब मनुष्य उस प्रभु की शरण में आ जाता है तो यही मृत्यु अमृत बन जाती है! उस प्रभु की मंगलमय छाया में कोई संताप नहीं रहता, मृत्यु भी मृत्यु नहीं रहती ! आत्मस्वरूप को देकर वह हमें क्षण में अमर कर देता है। आओ, हम उस आत्मस्वरूप को देनेवाले की शरण में आकर अमर बन जायें, उसी से बल की याचना करें जिससे कि हम सदा उसकी छाया में ही सुख से रहने में कृतकायं हो जायें।

शब्दार्थ — यः आत्मदाः जो आत्मस्वरूप को देनेवाला और बलदाः शक्ति को देनेवाला है, यस्य विश्व उपासते सब जिसकी उपासना करते हैं और यस्य देवाः प्रशिषं [उपासते] देव भी जिसके प्रसासन के आश्रित हैं — जिसकी सर्वोच्च आज्ञा से चलते हैं, यस्य छाया अमृतं जिसकी शरण या आश्रय पाना अमर होना है और यस्य मृत्युः जिसकी [जिससे दूर होना ही] मृत्यु है कस्मै देवाय उस "क" [सुखस्वरूप] देव का हम हविषा विधेम आत्मत्याग द्वारा पूजन करते हैं।

विदिक् वित्य

; ; ; ; ;

आषाढ़ मास

हमें इस अपने-अपने प्रस्त प्रत्येता है एक्से व्यक्ति है प्रत्येता है अपने क्षियां है। अपने क्षियां है। अपने क्षियां है। अपने क्ष्मित हैं। अपने क्ष्मित है। अपने क्षमित है। अपने क्ष्मित है। अपने

the first that the profit of the profit of the party of t

Safty PF

I eren ban buila fibrire best van insie insie p

i propriet in the state of the

मा वः स्तेन ईशत माघशंसः यजुर्वेद १।१

चुपके से धन लूटनेवाला और पाप फैलानेवाला तुझ पर हुकूमत न करे

the company of the contract of

thing to rate their the temper to represent to their and the little of the second party of their temperatures of their continues and the continues of their continues

in and an every every more thank and the first of a second term when he was first to be a first to b

याजना गरे दिसमें कि हुए सदा उसकी साता में हूं। हुए में दूर है कर कार्य ही बार क

र्विश्व

विदिक विनय

आषाढ़ (मिथुन) मास

। क्षांकार कार्य में कार्या में कार्य प्रकार कार्या ।

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

छाती, आमाशय और पेट में स्वस्थता लानेवाला

१—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े हो जाइये। भुजाएँ छाती के सामने कन्धों के साथ सम-कोण बनाती हुई समरेखा में फैला लीजिये। हथेलियाँ नीचे की तरफ हों। मुट्ठियाँ कस लीजिये और सारे शरीर को जहाँ तक हो सके वहाँ तक कसा हुआ रखिये।

अब पेट तक पहुँ चनेवाला एक गहरा स्वास अन्दर लीजिये और साथ ही हाथों को धीरे-धीरे इतना मोड़िये कि मुट्ठियाँ ऊपर की तरफ आ जायें। पेट को अन्दर सिकोड़ते हुए स्वास को धीमे-धीमे बाहर निकालिये। ऐसा करते हुए हाथों को पहली स्थिति में अर्थात् मुट्ठियों को नीचे की ओर ले आइये। इस सारे समय में शरीर की सारी मांसपेशियाँ पूरी तरह तनी रहनी चाहियें। अब शरीर को ढीला छोड़िये और इस व्यायाम को फिर-फिर कीजिये।

इस मास के लिए दूसरा व्यायाम निम्न है-

२—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े होकर किट-प्रदेश से ऊपर के भाग को इतना झुकाइये कि ऊपर का भाग टाँगों के साथ समकोण बना ले। हाथ नीचे लटके रहें। अब किट के निचले भाग की स्थिति को बिल्कुल न बदलते हुए दोनों हाथों को इस तरह ऊपर की तरफ ले-जाइमें कि उन दोनों हाथों की पीठ (पृष्ठभाग) कंधे के ऊपर मिल जायें। इस अवस्था में हाथों की मुट्ठियाँ कसी रहनी चाहियें। शरीर की अन्य मांसपेशियाँ ढीली रखी जा सकती हैं। हाथों को जब ऊपर की ओर ले-जा रहे हों तब अन्दर श्वास लीजिये, और जब नीचे की ओर ला रहे हों तब श्वास बाहर निकालिये।

शरीर को ढीला छोड़िये और इस व्यायाम को फिर-फिर कीजिये।

इन दोनों क्यायामों में मन को छाती, आमाशय और पेट पर एकाग्र करना चाहिये और मन में इनको पूर्ण स्वस्थ रूप में चित्रित करना चाहिये।

ध्यान मेरी छाती, आमाशय और पेट बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं और स्वस्थ हैं— इत्यादि प्रकार के शब्द बनाकर ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आदिवन और पौष मास के प्राणदायक व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

वैदिक विनय

PRINTED BY THE PERSON OF THE PERSON OF THE PERSON

नदीक पा

१ आषाढ़

अश्मन्वती रीयते संरंभध्वं, जिल्हित प्र तरता सखायः। अत्रो जहीमो अशिवा ये असेन, शिवान व्यमुत्तरेमाभिवाजान्।। —यजुः ३४।१०; ऋ०१०।५३।८; अथर्व० १२।२।२६

ऋषिः भृगुः । देवता अग्निः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-भाइयो ! सांसारिकता की नदी बड़े वेग से बह रही है। अपने अभीष्ट सुखों को, सच्चे भोगों को, बलों को हम इस नदी के पार पहुँचकर ही पा सकते हैं। पर हमें बहाये लिये जानेवाले विषयों के इस भारी प्रवाह को तर जाना भी आसान कार्य नहीं है। यह नदी वड़ी विकट है। इसमें पड़े हुए भोग्य-पदार्थों के बड़े-बड़े और फिसलानेवाले चिकने पत्थर हमारे पैरों को जमने नहीं देते । इधर शिलाओं की ठोकर खाकर क़दम-क़दम पर गिर पड़ने का डर है, उद्यर नदी का वेग हमें बहाये लिये जाता है। परन्तु पार पहुँचे बिना हमें सुख-शान्ति भी नहीं मिल सकती। अतः भाइयो ! उठो, मिलकर एक-दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढ़ो। हिम्मत करके उठ खड़े होओ और दृढ़ता के साथ प्रबल यत्न करते हुए इस नदी के पार उतर जाओ। पर सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है कि पहले ही पत्थरोंवाली और वेगवती इस नदी के पार उतरना इतना मुक्किल हो रहा है, ऊपर से हमने अपने बहुत-से 'अशिव' संग्रहों का बोझ भी सिर पर लाद रखा है। भोगेच्छा, कुंसंस्कार, अधर्म की वासना तथा पापों के भारी बोझ से हमने अपने को बोझिल बना रखा है। इसके कारण हमारा पार उतरना असंभव हो रहा है। आओ साथियो ! भाइयो ! पहले हम इन सब 'अशिव' वस्तुओं को यहीं फेंक दें । इन्हें छोड़कर हल्के हो जायें जिससे कि हम नदी पार उतरने के लिए आसानी से अपनी पूरी शक्ति लगा सकें। जितने गुभ, कल्याणकारी 'वाज' हैं, सच्चे भोग हैं, बल हैं, ज्ञान हैं, वे तो हमारे लिए बहुतायत में नदी के पार विद्यमान हैं, हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो हम मूर्ख लोग इन 'अशिव' वस्तुओं को किसलिये उठाये हुए हैं ? यह बोझ तो हमें डुबा देने में ही सहायक होगा। यदि इस बोझ के साथ हम स्वयं डूब मरना या नदी-प्रवाह हो जाना नहीं चाहते तो हमें इन सब बुराइयों का तो यहीं नदी-प्रवाह कर देना चाहिये। इन 'अशिव' संग्रहों के बोझ से छुटकारा पाकर हमें एक-दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढ़ना चाहिये। विषयों के प्रबल प्रवाह से बचने के लिए हम सबको परस्पर एक-दूसरे के 'संरम्भ' (आश्रय) की जरूरत है। हे कल्याण चाहनेवालो ! यह नदी चाहे कितनी विकट हो, पर इसे पार किये बिना कोई चारा नहीं है।

शब्दार्थं — अश्मन्वती पत्थरों, शिलाओंवाली नदी रीयते वेग से बह रही है। सखायः हे साथियो, मित्रो ! उत्तिष्ठत उठो, संरभध्वं मिलकर एक-दूसरे को सहारा दो और प्र तरत इस नदी को प्रबलता से तर जाओ। आओ, ये अशिवाः असन् जो हमारे अकल्याणकर संग्रह हैं उन्हें हम अत्र जहीमः यहीं छोड़ दें और शिवान् वाजान् अभि कल्याणकारी सुखों, बलों और जानीं को पाने के लिए वयं हम उत्तरेम इस नदी के पार हो जायें।

1011 2401 51 2 2 2 2 1 2 41 2

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२ आषाढ़

यस्तिष्ठं ति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति यः प्रतङ्केम् । द्वौ संश्विषद्य यन्मंत्रयेते, राजा तद् वेट वर्रणस्तृतीयः॥

-- अथर्वे० ४।१६।२

ऋषिः बह्या । देवता वरुणः । छन्दः अनुष्टुप् ।

: विनय - पाप से वास्तव में डरनेवाले मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं। आम तौर से तो लोग पाप करने से नहीं डरते, किन्तु पापी समझे जाने से डरते हैं। जहाँ कोई देखनेवाला न हो वहाँ अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाना, कोई पाप कर लेना, साधारण बात है। पाप व अप-राध-कर्म से बचने की कोई कोशिश नहीं करता; कोशिश तो इस बात की होती है कि हम वैसा करते हुए कहीं पकड़े न जायें। यही कारण है कि मनुष्य अपने बहुत-से कार्य छिपकर अकेले में करने को प्रवृत्त होता है। परन्तु यदि उसे इस संसार के सच्चे एकमात्र राजा वरुणदेव की खबर हो तो वह ऐसे घोर अज्ञान में न रहे। यदि उसे मालूम हो कि वे जगत् के ईश्वर वरुण भगवान् सर्वव्यापक और सर्वद्रष्टा हैं तो वह पाप के आचरण करने से डरने लगे; वह एकान्त में भी कभी पाप में प्रवृत्त न हो सके। यदि हम समझते हैं कि हम कोई काम गुप्त तौर पर कर सकते हैं तो सचमुच हम बड़े धोखे में हैं। उस सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक वरुण से तो कुछ भी छिपाकर करना असंभव है। जब हम दो आदमी कोई गुप्त मन्त्रणा करने के लिए किसी अँघेरी-से-अँघेरी कोठड़ी में जाकर बैठते हैं और सलाहें करने लगते हैं, तो यद्यपि हम समझ रहे होते हैं कि हम दोनों के सिवाय संसार में और कोई इन बातों को नहीं जानता, तथापि इन सब बातों को वह वरुण देव वहीं तीसरा होकर बैठा हुआ सुन रहा होता है। यदि हम वहाँ से उठकर किसी किले में जा बैठें, या किसी सर्वथा निर्जन वन में पहुँच जायें तो वहाँ पर भी वह वरुणदेव तो तीसरा साक्षी होकर पहले से बैठा हुआ होता है। उससे छिपाकर हम कुछ नहीं कर सकते हैं। यदि हम दूसरे किसी आदमी को भी कुछ नहीं बताते, केवल अपने ही मन में कुछ सोचते हैं, तो वह वरुण तो उसे भी जानता है, सब सुनता है। हमारे चलने या ठहरने को, हमारी छोटी-से-छोटी हरकत को वह जानता है। जब हम दूसरों को घोखा देते हैं, ठग लेते हैं और समझते हैं कि इसका किसी को पता नहीं लगा, तब हम खुद कितने भारी धोखे में होते हैं ! क्योंकि, उस वरुण को तो सब-कुछ पता होता है और हमें उसका फल भोगना पड़ता है।

शब्दार्थ — यः तिष्ठित, चरित जो मनुष्य खड़ा है, या चलता है, यः च वञ्चित जो दूसरों को ठगता है यः निलायं चरित जो छिपकर कुछ करतूत करता है यः प्रतङ्कं चरित जो दूसरों को भारी कष्ट आदि देकर अत्याचार करता है और द्वौ सन्निषद्य जब दो आदमी मिल्कर, एक-साथ बैठकर, यत् मंत्रयेते जो कुछ गुप्त मंत्रणायें करते हैं तत् उसे भी तृतीयः तीसरा होकर वरुणः राजा सर्वश्रेष्ठ सच्चा राजा परमेश्वर वेद जानता है।

वैदिक विनय

888

भीशवान के निन्तर से यह रिला नहीं है

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

३ आषाह

खुत यो द्यामीतिसपित् पुरस्तात्, न स सुच्याते वरुणस्य राज्ञः। ढिवः स्पशः प्र चेरन्तीदमस्य, सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्।।

-अथर्वे० ४।१६।४

ऋषिः ब्रह्मा । देवता वरुणः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-एक राष्ट्र (रियासत) के राजद्रोह का अपराधी भी उसके दंड से किसी दूसरे राष्ट्र में भागकर बच सकता है, परन्त्र इस संसार के परिपूर्ण राजा-पापनिवारक सच्चे राजा - वरुण का अपराध करके, इस संसार के अटल नियमों का भंग करके अर्थात् झुठ, द्रोह, हिंसा आदि करके, यदि कोई व्यक्ति चाहे कि वह कहीं भागकर इनके प्राप्तव्य प्रतिफलों से वच जायें तो यह असम्भव है। वरुण राजा के राज्य के बाहर मन्ष्य कभी भी नहीं जा सकता। इस विस्तृत, दुर्गम, विशाल भूतल के किसी भी प्रदेश में जा छिपे, उससे हो सके तो चाहे मंगल, शुक्र आदि किसी अन्य लोक में भी चला जाए और यदि सम्भव हो तो चाहे वह इस सौर-मण्डल (दिवः) से भी परे कहीं जा पहुँचे, तो भी वह वरुण राजा के राज्य के पार नहीं जा सकता। वह चाहे कहीं चला जाय, अपना प्राप्तव्य दंड उसे जरूर भोगना पडेगा, अपने किये हुए कमें के बन्धन से वह कहीं भी जाकर नहीं छूट सकता। ये दुनियावी राजाओं (राजा कहलानेवालों) के गुप्तचर तो हमारे-जैसे अज्ञानी मनुष्य भी होते हैं, उन्हें वहुत धोखे दिये जा सकते हैं और वे असंख्यों भ्रमों के भाजन होते हैं। परन्तु उस वरुण राजा के दिव्य गुप्तचरों से मनुष्य कभी नहीं बच सकता। वे सब-कुछ जान लेने में समर्थ होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड-भर में सर्वेत्र व्यापक हैं। वे उस स्वयंप्रकाश वरुणदेवरूपी सूर्य की अनन्त किरणें बनकर सब ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं। वे उसकी ज्ञानशक्तियों के रूप में हैं। अतः हम मनुष्य जब किन्हीं ईरवरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं (शरीर से, वाणी से, या मन के ममन से कोई भी अनिष्ट आचरण करते हैं) तो उसी क्षण, उसी स्थान पर ये दिव्य वरुण-दूत इन्हें जान लेते हैं, बल्कि हमें अपने अदृश्य पाशों से तत्काल बाँध भी लेते हैं, पर हमें कुछ मालूम नहीं होता। वरुण के 'स्पर्शों' (चरों) का यह कमाल देखो ! यह परम गुप्तचरता देखो ! वे हजारों आँखों वाले, असंख्यों प्रकार से देखनेवाले 'स्पश', देश-काल आदि के सब व्यवधानों का अतिक्रमण करके सब ठीक-ठीक देखते हुए ब्रह्माण्ड-भर में विचर रहे हैं।

शब्दार्थ — यः उत जो भी कोई जीव द्यां अति द्युलोक को पार करके परस्तात् उससे भी परे सर्पात् जला जाय स वह भी वरुणस्य राज्ञः वरुण राजा से न मुच्याते मुक्त नहीं हो सकता, बच नहीं सकता। दिवः अस्य प्रकाशस्वरूप इस वरुण के स्पशः गुप्तचर इदं इस सब ब्रह्माण्ड में प्र चरन्ति अच्छी तरह घूम रहे हैं जो सहस्राक्षाः हजारों आँखोंवाले होकर भूमि इस भूमि को अति पश्यन्ति अतिक्रमण करके देख रहे हैं — जिसे अन्य नहीं देख सकते उसे भी देख रहे हैं ।

११६

0 -01 01011

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आषाढ़

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः, सर्वी विभिषे सुमन्स्यमोनः। तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्, तासामेका वि पेपातानु घोषम्।।

-अथर्व० ७।४३।१

ऋषिः प्रस्कण्वः । देवता वाक् । छन्दः विष्टुप् ।

विनय हे मनुष्य ! जो तू वाणियाँ बोला करता है, उनमें कुछ तेरा कल्याण करने-वाली होती हैं और कुछ अकल्याण करनेवाली। जो वाणियाँ सच्ची और प्यारी होती हैं, जो दूसरे के हित के लिए, लाभ पहुँचाने के लिए, सत्य फैलाने के लिए बोली जाती हैं वे कल्याण-कारिणी होती हैं, और जिन वाणियों को तू छल-कपटपूर्वक, द्वेष व क्रोध के साथ, दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए बोलता है उनसे तेरा भारी अकल्याण होता है। पर तू वाणियों के इस महान् भेद को न समझता हुआ इन सब प्रकार की वाणियों को बोलता जाता है-अच्छी-बुरी दोनों वाणियों को एक ही प्रकार प्रसन्नतापूर्वक बेखटके बोलता जाता है। तू शायद समझता है कि तेरे बोले हुए शब्दों का जो कि उसी समय नष्ट होते दीखते हैं, तुझ पर कुछ असर नहीं होता या नहीं हो सकता। पर तुझे पता नहीं कि तू वाणी को केवल बोलता नहीं है किन्तु उसे घारण भी करता है। तू जो शब्दरूप में वोलता है वह तो वाणी का एक भाग (एक-चौथाई भाग) है; उस वाणी के शेष तीन भाग तो तेरे अन्दर छिपे हुए पड़े होते हैं, तुझमें रखे हुए होते हैं। जो अभिप्राय तू शब्दों में (इस चौथी वैखरी वाणी में) बोलता है, वह अभिष्राय तेरे मन में (तीसरी मध्यमा वाणी के रूप में) समाया रहता है और मन में बोले जाने से भी पूर्व वह अभिप्राय तेरे अंदर साकार व निराकार ज्ञान के रूप में रहता है (जिन्हें कि क्रमण: दूसरी और पहली, पर्यन्ती और परा वाणी कहते हैं)। एवं तेरी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वाणी तेरे अन्दर अपने तीन पाद रखे रहती है और चौथे पाद में वह वाहर शब्दरूप में दीखती है। यह शब्दरूप चौथाई वाणी चाहे तुझे अपने पर कुछ असर कर सकनेवाली न दीखती हो, पर वाणी के इस समूचे रूप पर-वाणी के अन्दर के इन तीनों रूपों पर-जब भी तू घ्यान देगा तो तुझे दी खेगा कि सच्ची कल्याणकारिणी वाणी तुझमें परा, पश्यन्ती और मध्यमारूप में ठहरी हुई तुझ पर कितना कल्याणकारी प्रभाव कर रही है, और बुरे अभिप्राय से परा, पश्यन्ती और मध्यमा-रूप में धारण की हुई अकल्याणकारी वाणी अन्दर-ही-अन्दर से तेरा कितना भारी अकल्याण कर STO SP SIN SPECIE YE TO PERSON HE PAR OF

शब्दार्थ हे मनुष्य ! ते तेरी एकाः एक शिवाः कल्याणकारिणी वाणियां हैं ते एकाः अशिवाः और एक अकल्याणकारिणी हैं, पर तू सर्वाः उन सब को सुमनस्यमातः प्रसन्न चित्त से बिर्माष धारण करता है। वाणी के तिस्नः वाचः तीन भाग अस्मिन् अन्तः निहिता तेरे इस देह के अन्दर छिपे रखे हैं तासां एका उनका एक हिस्सा ही घोषं अनु शब्द व आवाज के रूप में विषपात बाहर निकलता है।

वैदिकं विनय

\$50

आम कन्यण हो

प्र आषाई

श्चिन्णा श्चस्मित्रनृणाः पर्रस्मिन्, तृतीये लोके श्रनृणाः स्याम । ये देवयानाः पितृयाणांश्च लोकाः, सर्वान् पथो श्रनृणा श्राक्षियेम ॥

-अथर्वे० ६।११७।३

ऋषिः कौशिकः । देवता अग्निः । छन्दः विष्टुप् ।

विनय-मनुष्य तो जन्म से ही कुछ ऊँचे ऋणों से बँधा हुआ है। मनुष्य उत्पन्न होते ही ऋणी है और उन वास्तविक ऋणों से मुक्त होना ही मनुष्य-जीवन की इतिकर्त्तव्यता है। मन्त्य ने संसार के तीनों लोकों को भोगने के लिए जो तीन शरीर पाये हैं, उसी से वह तीन प्रकार से ऋणी है। हे प्रभो ! हम चाहे पित्याण मार्ग के यात्री हों या देवयान के, हम इन तीन लोकों की अनृणता करते हुए ही रहें। हम अपनी सब शक्ति और सब यत्न इन ऋणों को उतारने में ही व्यय करते हए जीवन बितायें। इस स्थल भूलोक का ऋण अन्यों को भौतिक सुख देने से, तथा समाज को कोई अपने से श्रेष्ठतर भौतिक संतान दे जाने से उतरता है। इसी तरह मनुष्यों को जगत की प्राकृतिक अग्नि आदि शक्तियों से तथा साथी मनुष्यों की निस्स्वार्थ सेवाओं से जो सुख निरन्तर मिल रहा है उसके ऋण को उतारने के लिए, इन यज्ञ-चक्रों को जारी रखने के निमित्त उसे यज्ञकर्म करना भी आवश्यक है। और तीसरे ज्ञान के लोक से मनुष्य को जो ज्ञान का परम लाभ हो रहा है, उसकी संतति भी जारी रखने के लिए स्वयं विद्या का स्वाध्याय और प्रवचन करके उससे उसे उऋंण होना चाहिये। जो त्यानी लोग सांसारिक भोग की कामना नहीं करते अतएव जिन्हें ये तीन ऋण इस तरह नहीं बाँधते, उन ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा के मार्ग से चलनेवाले देवयान के यात्रियों को भी अपने तीनों शरीरों के उपयोग लेने का ऋण चुकता करना चाहिये, अर्थात् अपने भौतिक शरीर से वे बेशक सन्तान उत्पन्न करना आदि न करें पर शरीर द्वारा सेवा के अन्य स्थूल कर्म उन्हें करने ही चाहियें; और अपने प्राण व मन के दूसरे शरीर से प्रेम, दया आदि की धारायें बहानी चाहियें; तथा बुलोक-सम्बन्धी तीसरे विज्ञानमय शरीर द्वारा ज्ञान-सूर्य बनकर ज्ञान की किरणें प्रसारित करते हुए तीसरे लोक में भी अनुण होना चाहिये।

ओह ! मनुष्य तो सर्वदा ऋणों से लदा हुआ है ! जो जीव इस त्रिविध शरीर को पाकर भी अपने को ऋणबद्ध नहीं अनुभव करता वह कितना अज्ञानी है ! हमें तो, हे स्वामी ! ऐसी बुद्धि और शक्ति दो कि हम चाहे देवयानी हों या पितृयानी, हम सब लोकों में रहते हुए, सब मार्गों पर चलते हुए, लगातार अनृण होते जायें। अगले लोक में पहुँचने से पहले पूर्वलोक के ऋण हम अवश्य पूरे कर दें। अगले मार्ग पर जाते हुए पिछले मार्ग के ऋण उतार चुके हों। इस तरह लगातार घोर यत्न करते हुए हम सदा, सब लोकों में अनुण होकर ही रहें।

शब्दार्थ अस्मिन् अनृणाः इस लोक में हम अनृण हों, परिस्मिन् अनृणाः पहले लोक में अनृण हों और तृतीये लोके अनृणाः स्याम तीसरे लोक में भी अनृण हों ये देवयानाः पितृ-याणाश्च लोकाः जो देवयान या पितृयान मार्गों के लोक हैं उनमें सर्वान् पथः सब मार्ग चलते हुए हम अनृणाः आ क्षियेम ऋणमुक्त होकर रहें, बसें।

115

नेका परा हिंसा की जिस में।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ भाषाढ़

हिवो नु मां वृंहतो <u>अन्तरिक्षात्</u>, अपां स्तोको अयुभ्यपप्तद् रसेन । समिन्द्रिये<u>ण</u> पर्यसाहमंत्रे, छन्दोभि<u>र्यं</u>ज्ञैः सुकृतां कृतेने ॥ —अथर्व० ६।१२४।१

ऋषिः अथवी । देवता विच्या आपः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय-हे महान् प्रभु ! हम स्वल्प मनुष्य अपनी तुच्छ कामनाओं को यूँ ही इतना भारी समझा करते हैं। हम मनुष्यों को जिस समय जो कामना होती है, उसे हम इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि हम समझते हैं यदि हमारी वह इच्छा पूरी न हुई तो हम मर जायेंगे, और यदि परी हो गई तो सदा के लिए उससे निहाल हो जायेंगे--मानो फिर हमें कुछ कामना ही न रहेगी। परन्तु हम अपनी इच्छाओं को इतना महत्त्व इसीलिये देते हैं क्योंकि हम तुम्हारे अनंत महत्त्व को अनुभव नहीं करते। हम यह अनुभव नहीं करते कि तुम तो जल के अपार समुद्र हो और हमारी प्रबल-से-प्रबल प्यास को (जिसके मारे हम मरे जाते हों) एक लुटिया-भर पानी से बुझा सकते हो। नहीं, तुम तो तुष्टियों के बरसानेवाले, सब तरफ फैले हुए असीम अन्त-रिक्ष हो, और तुम हमें अपनी इस अनंत वृष्टि में से केवल एक बूँद ही देकर तृप्त कर सकते हो छका सकते हो। तुम्हारे दिव्यज्ञानमय बृहद् आकाश से बरसनेवाले ज्ञान-बिन्दुओं में से एक बूँद में ही वह रस है, वह शक्ति है कि हम उन ज्ञान-बिन्दुओं को ही पाकर परितृष्त हो जाते हैं। हे प्रभु ! मुझे न जाने कितनी कामनायें थीं, मुझे अपने में न्यूनतायें ही न्यूनतायें दिखलाई देती थीं और मैं समझता था कि मेरी ये न्यूनतायें पूरा यतन करते हुए भी कई जन्मों में भी पूर्ण न होंगी। पर, हे पिता! मैं क्या बताऊँ, तेरे ज्ञानप्रकाशमय दिव्य अन्तरिक्ष से मुझ पर तेरी एक ही बूँद गिरी, पर उसमें वह रस था कि उस तेरे शक्तिकण द्वारा मुझमें इन्द्रिय (इन्द्रवीर्यं = आत्मशक्ति) जाग गयी, मुझको स्थिर पोषक रस मिल गया, मुझमें छन्दोबद्ध दिव्यज्ञान प्रकट होने लगा, मुझे यज्ञों का दर्शन होने लगा (अर्थात् मुझे किस समय किस प्रकार से आत्मत्यागमय शुभ कर्म करना चाहिये, यह भासित होने लगा) और पुण्यों द्वारा जिस सुख का अर्जन संसार करना चाहता है वह सुख भी मेरा साथी हो गया। इतनी सब वस्तुएँ मुझे इकट्ठी मिल गईं। लोगों को इस पर सहज ही विश्वास न होगा, पर यह सच है। सचमुच तेरे ज्ञान-भंडार का एक ज्ञानकण, तेरी बलराशि का एक अणु, इस तुच्छ मनुष्य को सर्वया भरपूर कर देता है।

शब्दार्थ—दिवः तेरे ज्ञानप्रकाशमय द्युलोकरूपी बृहतः अन्तरिक्षात् नु महान् अन्तरिक्ष से ही अपां स्तोकः तेरे ज्ञान-कर्म-शिवतरूप जलों का एक स्वल्पकण रसेन अपने तृष्तिदायक रस से युवत मां अभि मुझपर अपप्तत् गिरा; और अहं मैं अपने हे परमेश्वर! तेरे इस स्वल्प जलकण द्वारा इन्द्रियेण इन्द्रवीर्यं = आत्मबल से पयसा पोषक ज्ञान से छन्दोभिः वेदमंत्रों से यहैं। यज्ञों से, शभ कमौं से और सुकृतां कृतेन पुण्य कमों के फल अर्थात् सुख से सं संयुक्त हो गया है।

311

बैदिक विन्य

पंता सुले हैं

७ आषाढ्

सहस्राह्मचं वियंतौ अस्य पक्षौ, हरें हिंसस्य पतंतः स्वर्गम्। स टेवान्त्सर्वानुरस्युपदद्यं, संपश्यन् याति सुवनानि विश्वां।।

-अथर्व० १०। द। १८

ऋषिः कुत्सः । देवता आत्मा । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-मनुष्य प्रतिक्षण चेष्टायमान है। जीव को दिन-रात किसी-न-किसी अभीष्ट के पाने की चाह, या किसी के दु:ख को हटाने की चाह लगी रहती है और उसके लिए वह सदा कूछ-न-कुछ करता रहता है। जीव को तब तक चैन नहीं मिल सकता जब तक कि वह उस अवस्था में न पहुँच जाय जहाँ उसे कुछ कमी न रहेगी, जहाँ उसकी सब कामनायें पूर्ण हो जायेंगी, सब दु:खं समाप्त हो जायेंगे। उस स्वर्गलोक को पाने के लिए यह 'हरि' (इधर-उधर फिरनेवाला) हंस न जाने कब से उड़ रहा है। यह अपने अभीष्ट लोक को कब पहुँचेगा ? यह लंगातार ज्ञान और कर्म के सहारे से उस स्वर्ग को न जाने कब से ढुँढ रहा है ! सुख-प्राप्ति के विषय में उसे जो ज्ञान मिलता है उसके अनुसार वह कर्म करता है, कर्म करने के बाद उसे कुछ अन्य नया अनुभव (ज्ञान) मिलता है, तो वह फिर उसके अनुसार कर्म करता है। इस तरह यह हंस अपने ज्ञान और कर्म (अन्दर से बाहर की तरफ चेष्टा और बाहर से अन्दर की तरफ चेष्टा, प्राण और अपान) के पंखों को हिलाता हुआ उड़ा चला जा रहा है। हजारों दिन बीत गये हैं पर उसके पंख फैले ही हुए हैं। न उसे अभीष्ट स्वर्ग मिलता है और न वह अपनी उड़ान बन्द करता है। पर मज़ेदार बात यह है कि स्वर्ग के सब देवों को, सब देव-गुणों को अज़रत्व, अमरत्व, निष्कामत्व, पूर्णत्व आदि सब देवत्वों को अपने हृदय में लिये हुए फिर रहा है। वह लाखों योनियों में, लोकों में, नाना देशों में, उड़ रहा है। इस जगत् की सब उत्पन्न वस्तुओं, सब भुवनों को देखता हुआ जा रहा है। पर सब देश तो उसके हृदय में ही स्थित हैं। अतः उसे जब कभी स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसे अपने हृदय में ही होगी। तब तक वह असंख्यात स्थानों में, प्रभु की इस अगम्य सृष्टि के करोड़ों भुवनों को देखता हुआ विचर रहा है, चौबीस घंटे ज्ञान और कर्म की कुछ-न-कुछ चेष्टा करता हुआ स्वर्ग को ढूँढ रहा है, अपने इन पंखों को फड़फड़ाता हुआ निरन्तर गति ही कर रहा है। ओह ! यह कब अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा ? किस दिन अपने पंखों को समेटकर बैठेगा ? इसके पंख तो हजारों-हजारों दिनों से खुले हुए हैं !

शब्दार्थ स्वर्गं पततः स्वर्गं को जाते हुए अस्य इस हरेः हंसस्य हियमाण या हरणशील, जीवात्मा हंस के पक्षों पंख सहस्राह्मचं सहस्रों दिनों से वियतौ खुले हुए हैं, फैले हुए हैं सः वह हंस सर्वान् देवान् सब देवों को उरिस अपने हृदय में उपदद्य लिये हुए विश्वा भुवनानि सब भुवनों को संपश्यन् देखता हुआ याति जा रहा है।

हरय इति मनुष्य नामसु पठितम् ।
 हरिः—भोगों को हरण करनेवाला या इघर-उघर हियमाण ।

१२०

है जिसे देवर । पाणी अत्रमी की पर

द आषीढ़

या मां <u>छ</u>क्ष्मीः पंत<u>या</u>लूरजुंष्टा, अभि<u>च</u>स्कन्ट वन्दंनेव वृक्षम्। अन्यत्रास्मत् संवित्स्तामितो धाः, हिरंण्यहस्तो वस्तं नो रराणः॥

-अथर्वे० ७।११५।२

ऋषिः अथवाङ्गिराः । देवता सविता । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे जगदीस्वर ! मेरे पास जो ऐसी लक्ष्मी पड़ी हुई है जो कि 'अजुष्टा' है, जो कि सेवित नहीं होती, जो कि किसी की प्रीतिमय सेवा में नहीं आती, वह किस काम की है ? वह लक्ष्मी 'लक्ष्मी' नहीं है। वह लक्ष्मी दुराचार बढ़ाने का कारण होती है। 'अजुष्टा' लक्ष्मी पतन का भारी द्वारा होती है। ऐसा धन बुरे कार्यों में ही बरबाद हुआ करता है और मनुष्य को नीचे गिरा देता है। ऐसी लक्ष्मी को मैं मोह के मारे त्यागता (परहित में दे देता) भी नहीं हुँ और उस सब का स्वयं उपयोग भी नहीं कर सकता हूँ। इसलिये वह या तो बुरे काम में पतित हो जाती है या यूँ ही सड़कर नष्ट हो जाती है। पर सबसे बुरी बात तो यह है कि यह मेरी ऐसी 'लक्ष्मी' मुझे चिमटी हुई हर तरह से मुझे ही बरवाद करती है, मेरे जीवन-रस को चसती है। अत:, हे मेरे प्रेरक प्रभो ! मुझमें ऐसी हिम्मत दो कि मैं उस लक्ष्मी को इससे पहले कि वह पतित होने लगे और मुझे विनष्ट करने लगे—मैं उसे कहीं अन्यत्र धारित कर दूं-किसी अच्छे कार्य में लगा दूँ, उसे अपने पर लादे न रखूँ। हे सिवतः ! तुम ही उस दुर्लक्ष्मी को यहाँ से तो हटा दो। यह 'लक्ष्मी' नहीं है, किन्तु वह मेरे लिए विनाशक शापरूप है। वह मुझ पर मोह द्वारा चिमटी हुई केवल मेरे जीवन-रस को सुखा रही है। जैसे वन्दना बेल जिस वक्ष पर लगती है उस वृक्ष को बिल्कुल सुखा देती है, वैसे ही यह अजुब्टा लक्ष्मी मुझे घेरे हुए है, मेरा विनाश कर डालने के लिए मुझे आच्छादित किये हुए है। है प्रभो ! तुम मुझसे इसे छुड़ाओ। मेरे मोह का भंग करके इसे यहाँ से हटाने का मुझे सामर्थ्य दो, नहीं तो यह 'अजुष्टा' लक्ष्मी मुझे चस कर खत्म कर रही है-मेरी उन्नित को रोक रही है, मेरे आत्म-तेज को हरती जा रही है।

हे प्रेरक ! मेरी प्रार्थना है कि आगे से ऐसा धन तो मेरे पास आने ही न पाये । मुझे तुम बेशक थोड़ा-सा धन देना, पर वह धन चमकता हुआ, तेजस्वी, निष्कल इहा, हिरण्य हो, हितरमण हो । वह धन सर्वांश में उपयोगी हो, उसका एक-एक अंश मेरे तेज, मेरे आत्मवीयं को बढ़ानेवाला हो । तुम्हारे 'हिरण्यहस्त' से ही अब मैं धन चाहता हूँ । तेरे चमकते हुए 'हिरण्यहस्त' से अब मुझे सदा ऐसा तेजस्वी धन मिलता रहे जिसका कि एक-एक कण मेरे आत्मतेज को बढ़ाने में व्यय हो तथा वह अन्यत्र भी जहाँ जाये वहाँ मनुष्यों के तेज के बढ़ाने में ही

उपगुक्त हो।
शब्दार्थ अजुब्दा असेविता, काम में न आनेवाली अतएव पतयालूः दुराचार में गिरते-वाली, मुझे गिरानेवाली या जो लक्ष्मीः लक्ष्मी मा मुझे अभिचस्कन्द चिमटी हुई है वृक्षं वन्दना इव जैसे कि सुखा देनेवाली वन्दना बेल वृक्ष को चिमट जाती है तां उस ऐसी लक्ष्मी को सवितः हे प्रेरक परमेश्वर! अस्मत् इतः अन्यत्र तू हमसे, यहाँ से, जुदा धाः रख दे कर दे द्वरण्यहस्तः हिरण्यहस्त से लेजस्वी चमकते हाथ से तू नः हमें वसु ऐश्वर्य रराणः देता हुआ हो।

253

THE STATE AND RESIDENCE OF STATE

Britized of Flanks Foundation Side Minutes UTM

६ आषाढ़

<u>श्रका</u>मो धीरों <u>श्र</u>मृतः स्वयंभूः, रसेन तृष्तो न कुर्तश्<u>च</u>नोनः। तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः, <u>श्रा</u>त्मानं धीरमाज<u>रं</u> युवानम्।।

—अथर्वे० १०।८।४४

ऋषिः कुत्सः । देवता आत्मा । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे मृत्यु-भय से तर जाना चाहनेवाले मुमुक्षु ! तू उस एक सर्वव्यापक तत्त्व को देख जो कि सर्वथा 'अकाम' है, जिसमें किसी प्रकार की भी कोई कामना नहीं, अतएव जो कभी भी चलायमान नहीं होता, सदा सर्वथा धीर है; जो कि कभी न मरेगा और न कभी पैदा हुआ है; जो स्वयं ही अपने आधार से सदा विद्यमान है; जिसे कि कभी किसी अन्य ने जन्म नहीं दिया, जिस सनातन की सत्ता किसी अन्य के आश्रित नहीं, अतएव जिसकी अमृत सत्ता कभी खण्डित भी नहीं हो सकती, विनाश को नहीं प्राप्त हो सकती; जो कि आनन्दरस से सर्वथा परिपूर्ण है; हम लोग आनन्ददायक भोजन को यथेष्ट खाकर जैसे कुछ देर के लिए छके हए, परितृप्ति की अवस्था में रहते हैं वैसी ही आप्यायित अवस्था में जो सदा, त्रिकाल में रहता है, जो कि आप्तकाम है; जिसमें कोई किसी प्रकार की कमी, न्यूनता, अपेक्षा व आवश्यकता नहीं है, जो सर्वथा परिपूर्ण है, अखण्ड है, अतएव जो अकाम हुआ है उसे देख, उस एक तत्त्व को देख, उसे पहचान ! उस तत्त्व को अपने अन्दर खोज, अपने अन्दर पहचान ! वह दीखता है कि नहीं ? क्या तू अपने-आपको वैसा अजर, अमर तत्त्व नहीं देखता ? जब तू अपने-आपको अचलायमान, कभी बुड्ढा न होनेवाला, एकरस, नित्य, हमेशा एक-समान युवा (जवान) देख लेगा तभी - केवल तभी - तू मृत्युभय से पार होगा। उस सच्चे आत्म-स्वरूप को देख लेने के बाद तू शरीर नहीं रहेगा। तब तू वही धीर, अजर, अमर तत्त्व हो जाएगा। तब मृत्यु कहाँ रहेगी ? तब तो जीने-मरने में कोई भेद नहीं रहता, जीवन-मरण दोनों ही जीवन हो जाते हैं, एक नये प्रकार का नित्य जीवन हो जाते हैं। हजारों मृत्युओं के वीच में भी आत्मा अपनी अमरता को घोषित करता है। परन्तु जब तक इस आत्म-स्वरूप का साक्षात् न हो जाय, मनुष्य अपने देह से बिल्कूल जुदा अपने-आपको अजर-अमर न देख ले, तब तक मृत्युभय नहीं जा सकता। मृत्यु से निर्भय होने का संसार में अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं। जब तक मनुष्य ने यह आत्म-स्वरूप न पा लिया हो तब तक वह चाहे जितना विद्वान, हजारों ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने और बनानेवाला हो जाय, उपदेष्टा हो जाय, पर वह उसी तरह मृत्यु का मारा हुआ फिरता है जैसे कि एक चींटी या एक खटमल मरण-त्रास से डरकर भागती है। देखो, वह अखंड, एकरस, सर्वथा अकाम, अचल, अमर, अभय नित्यतत्त्व ! यदि मृत्यू को जीतना है तो देखो-यह धीर, अजर, अमत, अपना आत्मा !

शब्दार्थ — जो अकामः सर्वथा कामनारहित धीरः धीर अमृतः कभी न मरनेवाला स्वयंभूः स्वयं अपने आधार से सदा विद्यमान रसेन तृष्तः आनन्द-रस से परितृष्त तथा कुतश्चन न ऊनः किसी प्रकार की कोई भी न्यूनता न रखनेवाला है। तं उस धीरं, अजरं, युवानं, आत्मानं एव विद्वान् धीर, अजरं, सदा तरुण को आत्मस्वरूप जानकर ही मनुष्य मृत्योः न विभाय मृत्यु से नहीं डरता — मृत्यु से निभंग हो जाता है।

हमारे जीवन में श्रीत्य संकल्प शे उठे

१० आषाह

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः, याभिः सत्यं भवंति यद् वृ<u>णीषे ।</u> ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्व, अन्यत्रं पापीर्प वेशया धिर्यः ॥

-अथर्व० हारारप्र

ऋषिः अथर्वा । देवता कामः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे काम ! हे संकल्पमय देव ! भगवान् तुम द्वारा ही अपनी कामना-क्रिया करते हुए सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं। हे जगद्-व्यापक संकल्प ! हम मनुष्यों में जो असंख्यात इच्छायें, कामनायें, संकल्प उठा करते हैं, वे भी सब असल में तुम्हारी ही तरंगें हैं. तुम्हारे ही असंख्यात रूप हैं। पर जो तुम हममें अनिगनत रूप धारण करके प्रकट होते हो, जो हममें अनगिनत इच्छायें प्रकट होती हैं, उनमें से हम देखते हैं कि कुछ तो पूर्ण हो जाती हैं, सच हो जाती हैं और बहुत-सी अपूर्ण रहकर केवल हमें दु:खी ही करने का कारण होती हैं। अत: मैं अब चाहता हुँ कि मुझमें वहीं इच्छाएँ (संकल्प) उत्पन्न हों जो कि जरूर सत्य होनी हों। जो व्यर्थ रहनी हों, पूर्ण न होनी हों, ऐसी इच्छाएँ मुझमें प्रकट ही न हों, उत्पन्न ही न हों। मेरी चाहना है कि मैं 'सत्य-संकल्प' हो जाऊँ-ऐसा हो जाऊँ जिसमें संकल्प सत्य ही हों, पर यह तब होगा-यह मैं जानता हुँ कि यह तब होगा -जब मुझमें तुम्हारे मंगलरूप ही (मंगल-संकल्प ही) उत्पन्न होंगे। सब ऋषियों का अनुभव है कि जिन मनुष्यों के हृदय सर्वथा सत्यमय, पूर्णतः सत्यनिष्ठ, अतएव पवित्र होते हैं उनमें जो संकल्प उठता है, अपने संकल्प से वे जो कुछ चाहते हैं, जो कुछ वरते हैं वह अवश्य पूर्ण हो जाता है। चूंकि ऐसे सत्यनिष्ठ हृदय उस सत्यस्वरूप भगवान् से समरेखा में हो जाते हैं और अतः उनमें वे ही संकल्प उठते हैं जो कि सर्वथा मंगल होते हैं और सब जगत् के कल्याण के लिए होते हैं। यों कहना चाहिये उनमें ईश्वरीय संकल्प ही प्रतिध्वनित होते हैं। इस संसार में जो कुछ हो रहा है, सफल हो रहा है, वह सब ईश्वरीय संकल्प ही है और मंगलमय भगवान का हरेक संकल्प (हम चाहे ज़से समझ सकें या न समझ सकें) सर्व-कल्याण के लिए ही है। अतः अब मुझमें ऐसे ईश्वरीय, सत्य हो जानेवाले, भद्र संकल्प ही उठें। अभी तक तो मेरे हृदय में अच्छी-बुरी दोनों तरह की कामनायें उठती हैं, परन्तु हे संकल्पदेव ! अब सब पापी बुद्धियाँ मुझसे निकाल दो ! जिस संकल्प में जरा भी अहित की कालिमा हो, मैल हो, वह अब मुझमें न रह सके। मैं सत्य द्वारा अपने हृदय को शुद्ध करता हुआ यत्न करता हूँ कि अपने ज्ञान के अनुसार कोई भी अशिव, अभद्र संकल्प मुझमें न आयें।

शब्दार्थ — काम हे संकल्पदेव ! याः ते शिवाः जो तेरे मंगलमय और भद्राः कल्याणकारी तन्वः स्वरूप हैं. याभिः जिन स्वरूपों से तू यद् वृणीषे जो कुछ वरता है वह सत्यं भवति सत्य हो जाता है। ताभिः उन अपने स्वरूपों के साथ त्वं तू अस्मान् हममें अभिसंविशस्य सव तरफ से प्रविष्ट हो और जो पापीः धियः पापी बुद्धियां व संकल्प हैं, उनको अन्यत्र अपवेशय हमसे जुदा करके दूर कर दे।

वैदिक विनय

: १२३

Add Thinked Barla Samal Foundation Chennal and esangotist 27491

११ आषाढ़

र्<u>र्रेजानश्चितमारुं शट्</u>रिनं, नार्कस्य पृष्ठाद् दिवं मुत्प<u>तिष्यन् ।</u> तस्मै प्रभा<u>ति</u> नर्भसो ज्योतिषीमान्, स्वर्गः पन्थाः सुकृते देव्यानेः॥

-अथर्वे० १८।४।१४

ऋषिः अथवी । देवता यमः । छन्दः मुरिक् विष्टुप् ।

विनय - क्या तुम देवत्व पाना चाहते हो ? उस प्रसिद्ध बड़ी महिमावाले 'देवयान' मार्ग के पथिक बनना चाहते हो ? परन्तु शायद तुम उस देवों के चलने के मार्ग को अभी समझ ही न सकोगे। बात यह है कि संसार में दो मार्ग चल रहे हैं। एक मार्ग से संसार के लोग भोग में, प्रकृति में, प्रवृत्त हो रहे हैं--विश्व के एक-से-एक ऊँचे सुखभोग पाने के लिए दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं। दूसरे मार्गवाले लोग भोगों से निवृत्त होकर अपवर्ग की तरफ़, आत्मा की तरफ़, जा रहे हैं। ये कमशः पितृयाण और देवयान हैं। इन दोनों मार्गों द्वारा प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनों अर्थों को पूरा कर रही है। परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक-साथ कैसे हो सकती हैं ? इसलिए जो लोग भोगों में विश्वास रखते हुए मुँह उठाये उधर जा रहे हैं, उन्हें लाख समझाने पर भी वे आत्मा की बात नहीं सुनेंगे। देवयान मार्ग तो उन्हें ही भासता है जो भोगों की निस्सारता इतनी अच्छी तरह से समझ गये हैं, परम लुभावने बड़े-बड़े दिव्य भोगों को (जिनका कि हमें अभी कुछ पता भी नहीं है) देखकर जो उनसे भी ऐसे विरक्त हो चुके हैं कि वे अब संसार के सर्वश्रेष्ठ सुखभोग के इन्द्रासनों को छोड़कर ज्ञानस्वरूप तत्त्व की श्रारण पाने के लिए व्याकूल हो गये हैं-भोगों में अन्धकार-ही-अन्धकार पाकर अब जो ज्ञान-मय लोक में चढ़ना चाहते हैं। यही मार्ग 'स्वः' को, आत्म-सुख को, आत्म-ज्योति को प्राप्त करानेवाला है। यदि तुममें अभी भोगलिप्सा बाकी है तो तुम्हें अभी वह जगमगाता हुआ ज्योतिषीमान् मार्गं भी दिखाई नहीं दे सकता। जविक, संसार के लिए आकर्षक और प्रार्थनीय बडे-बडे स्वर्गिक भोगों और दिव्य विभूतियों के भोग भी आत्महीनता के कारण तुम्हें बिलकुल वेकार, निःसत्त्व लगेंगे और यह आत्मप्रकाशशून्य भोगदायक लोक अन्धकारमय दीखने लगेगा। तव उसी अँधेरे के बीच में सुवर्ण-रेखा की तरह और फिर विद्युत्-लता की तरह अन्त में चका-चौंघ करनेवाली, अनन्त सूर्यों के प्रकाश को भी मात करनेवाली ज्योति की तरह वह देवयान का दिव्य-प्रकाश तुम्हारे लिए उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा । तब भोगवादियों के लाख समझाने पर भी तुम्हें इन भोगों में राग नहीं पैदा होगा।

शब्दार्थ — जो मनुष्य नाकस्य पृष्ठात् सुखभोग के लोक से दिवं प्रकाशमय 'द्यौ' लोक के प्रित उत्पतिष्यम् ऊपर उठना चाहता हुआ और इस प्रयोजनं से ईजानः वास्तविक यजन करता हुआ चितं अग्नि पुण्यकर्मों द्वारा चिनी हुई अग्नि का, आन्तर अग्नि का आ-अरुक्षत् आश्रय ग्रहण करता है तस्में उस ही सुकृते शोभनकर्म करनेवाले मनुष्य के लिए ज्योतिषीमान् ज्योतिर्मय स्वर्गः आत्मसुख को प्राप्त करनेवाला देवयानः पन्थाः 'देवयान' मार्ग नभसः इस प्रकाशरहित संसार-आकाश के बीच में प्रभाति प्रकाशित हो जाता है।

1 848

प्रात्मा भरीन ते महाने क्री स्तू क्रम ते श्रुम

र्वते आधाहें <u>छतेयं भूमिर्वरुणस्य</u> राज्ञंः, छतासौ चौबृ<u>हिती</u> दूरे अंन्तो । छतो संमुद्री वर्रुणस्य कुक्षी छतास्मिन्नरूपं उद्वेक निल्लीनः ॥ —अथर्वे० ४।१६।३

ऋषिः ब्रह्मा । देवता वरुणः । छन्दः तिष्टुप् ।

विनय-इस सब संसार का एकमात्र राजा वरुण है, पापनिवारक परम श्रेष्ठ परमेश्वर है। उसके सिवा अन्य कोई इस विश्व में प्रभु (सर्वसमर्थ शासक) नहीं है। अन्य किसी दूसरे का आधिपत्य, शासन इस संसार पर नहीं चल रहा है। उसके सिवा और कोई संसार पर वास्तविक शासन कर भी नहीं सकता, क्योंकि वही ऐसा अद्भुत परिपूर्ण है कि वह महान् से भी महान् होता हुआ सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। हमारी बुद्धि चाहे ऐसे अलखस्वरूप को न मान सके परन्तु वरुण ईश्वर का स्वरूप ऐसा ही है। वह महान् तो इतना है कि यह विस्तृत विशाल भूमि ही नहीं किन्तु इससे भी लाखों गुना बड़ा चलोक भी उस वरुण राजा के हाथ में है। यह वड़ा भारी स्थूल दृश्य जगत् ही नहीं किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत वड़ा जो प्रकाशमय (मनोमय, विज्ञानमय आदि सूक्ष्म) संसार है, वह भी सर्वथा वरुण राजा के आधिपत्य में ही है। इस भू-लोक को तो हम कुछ जानते भी हैं, परन्तु वरुण राजा के अनन्त साम्राज्य के उस प्रकाशमय बड़े भारी विभाग को हम अभी नाम-मात्र को ही समझते हैं। और वह चुलोक भी इतना विलक्षण है कि वह "दूरे अन्ता" है, वह दूर भी है और समीप भी है। आधिभौतिक रूप से वह दूर होता हुआ भी आध्यात्मिक रूप से यही हमारे अन्दर मौजूद है। तो आध्यात्मिक रूप से उस 'द्यी' का अधिष्ठाता होता हुआ वह वरुण हमारे अन्दर भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होकर घुसा हुआ है, अर्थात् जहाँ वह वरुण गहराई में अनन्त है वहाँ वह विस्तार में भी अनन्त है। एवं, संसार के ये दो प्रसिद्ध बड़े भारी समुद्र—एक पार्थिव समुद्र, भूमि का तीन-पंचमांश भाग जलराशिमय पारावार तथा दूसरा इससे भी बहुत बड़ा अन्तरिक्ष समुद्र, जलवाष्पमय पारावार-ये दोनों समुद्र उस वरुण की कोख के समान हैं। परन्तु वरुण देव आकार में जहाँ इतने विशाल हैं, इतने विराट् शरीरवाले हैं कि ये बड़े जल-समुद्र उनकी कोख में रहनेवाले जरा-से पानी के समान हैं, तो साथ ही वे इतने सूक्ष्म भी हैं कि इतने विराट् शरीरधारी होकर भी इस जल के एक कण में (एक बिन्दु में) भी छिपे पड़े हैं, समाये हुए हैं, व्याप्त हैं। वरुण राजा ऐसे हैं। अहो ! वरुण प्रभु के इस महान्-से-महान् होने के साथ ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के स्वरूप की भी यदि हम उपासना करें, विस्तार के साथ गहराई में भी बढ़े हुए होने का हम यत्न करें, तो इस साधन से भी हम इतने शक्तिशाली हो जायें और इतने सम हो जायें कि हमारे सब पाप स्वय-मेव निवारण हो जायें, हमसे पापाचरण होना अस्वाभाविक हो जाय।

शब्दार्थे—इयं भूमिः यह भूमि उत भी वरणस्य राजः वरुण राजा की है तथा असी वह बृहती बड़ा तथा दूरे अन्ता दूरता और समीपता वाला छौः चुलोक उत भी वरुण राजा का है। उत उ तथा समुद्रौ ये दोनों समुद्र वरुणस्य वरुण देव की कुक्षी कोखें हैं उत और साथ ही वह अस्मिन् इस अल्पे उदके पानी की क्षुद्र बूँद में भी निलीनः छिपा हुआ है, व्याप्त है।

PL. TR PIRT IN THE SHORE SHORE STREET, WE

t die is consideren der piel die een wee de

१२्४

giagias ofpe

Samuel Foundation Chebral and ed

१३ आबांदे

र्इद्मुच्छ्रेयो अवसानुमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्। असप्ताः प्रदिशों मे भवन्तु, न वै त्वां द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥

-अथर्व० १६।१४।१

ऋषिः अथर्वा । देवता द्यावापृथिवी । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय-ऐ मेरे भाई! मैंने अब तक तुमसे बहुत द्वेष किया, खूब दुश्मनी की। तुमने मुझे नुकसान पहुँचाया तो बदले में मैंने तुम्हें पहुँचाया। तुमने फिर उसका बदला लिया तो मैंने उसका प्रत्युत्तर दिया। इस तरह हमारी द्वेषाग्नि दिनोंदिन बढ़ती ही गई है, भयंकर रूप धारण करती गई है। इस द्वेष से हम दोनों ही का बहुत नुकसान हो चुका है, हम शीर्ण हो चुके हैं। मैं देखता हैं कि क्रोध में आकर दाँत पीसते हए प्रत्यत्तर देते जाने का, ईंट का जवाब पत्थर से देते जाने का, कहीं अन्त नहीं है सिवा इसके कि हम दोनों का शीघ्र ही पूरा विनाश हो जाय। इसलिए कल्याण इसी में है कि अव हम इसे खत्म करें। हममें से कोई एक अब उत्तर का प्रत्युत्तर न देकर, क्रोध का जवाब क्रोध में न देते हुए शान्ति में देकर, इसमें विराम लगा दे। इसी में कल्याण है, निश्चय से इसी में कल्याण है। इसी तरह यह बढ़ती जाती हई, हमारा नाश करनेवाली कोधाग्नि शान्त होगी। द्वेष कभी प्रतिद्वेष से शान्त नहीं होता है। अतः तुम चाहो तो अब भी मुझसे द्वेष करो, मुझे चाहे कितनी हानि पहुँचाओ, पर मैं अब उसका जवाब नहीं दूँगा। मैं आज इस द्वेष-परम्परा का अवसान करता हैं। आज से तुम मेरे शत्र नहीं हो, तुम तो मेरे भाई हो। मेरे हृदय के किसी कोने में भी अब तुम्हारे प्रति द्वेष का लेश नहीं है। देखें, अब तुम मुझसे कब तक द्वेष करते रहोगे, कर सकोगे। मैं तो अब तुम्हारे क्रोध को, तुम्हारे क्रोध-प्रेरित सब नुकसान को प्रेमपूर्वक सहता ही जाऊँगा; प्रेम ही करता जाऊँगा। मैं आज अपने द्वेष के सब अस्त्र फेंक-कर, इस दिशा में पूरी हार मानकर निर्दिचत हो गया हूँ। द्वेष खत्म करते ही मैं तो आज बड़ा विश्राम अनुभव कर रहा हूँ। अब जबिक मैंने इस कल्याण-मार्ग का अवलम्बन किया है तो, हे चौ और पृथिव ! अब तुम भों मेरे लिए कल्याणकारी हो जावो । मेरे अन्तः द्वेष के कारण अब तक यह संसार भी मुझे तपता अनुभव हुआ करता था। पर अब तो यह सब आकाश और भूमि, आसमान और जमीन, यह सब संसार मेरे लिए कल्याणमय हो जाय । हे भाई ! केवल तुम्हारे प्रति ही नहीं, किन्तु किसी भी व्यक्ति के प्रति आज से मेरा द्वेष नहीं रहा है। अतः ये सब विस्तृत दिशायें मेरे लिए आज से बिल्कुल असपत्न हो गई हैं, शान्त और सुखदायिनी हो गई हैं।

शब्दार्थ इदं उत् श्रेयः अब यह ही कल्याणकर है कि अवसानं आ अगों में अब समाप्ति पर आ जाऊँ, द्वेष-परम्परा का विराम कर दूँ। अतः हे शत्रु! त्वां तेरे साथ न वं द्विष्मः मैं तो द्वेष करना छोड़ ही देता हूँ। द्यावापृथिवी द्यौ और पृथिवी भी में मेरे लिए शिवे अभूताम् अब कल्याणकारी हो जायँ, प्रदिशः में असपत्नाः भवन्तु सभी दिशायें मेरे लिए शत्ररहित हो जायँ नः अभयं अस्तु मेरे लिए अब अभय-ही-अभय हो जाय।

१२६

नियी मिन ही

Digitized by Arya Samaj Foundation Chemiai and eganger

१४ आषाढ़

अभयं <u>मित्रादर्भयमित्रात्, अभयं ज्ञातादर्भयं पुरो यः।</u> अभयं नक्तमभयं दिवां नः, सर्वा आशा मर्म मित्रं भवन्तु।।

—अथर्व० १६।१५।६

ऋषिः अथवा । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय - हे जगदीश्वर ! इस तेरे जगत् में, इस तेरे न्यायपूर्ण सच्चे शासन में रहते हुए मुझे कोई भी भय क्यों होना चाहिये ? तू सब जगत् में सदा कल्याण ही कल्याण कर रहा है तो फिर मुझे कभी डर क्यों हो ? भय करना नास्तिक होना है, तुझपर अविश्वास करना है, तूझे भलाना है, तेरा द्रोही होना है। अतः हे मेरे परम परमप्यारे, कल्याणस्वरूप स्वामी! आज से मैं मन की दुर्बलता छोड़कर अभय रहने का व्रत लेता हूँ। मैं अपनी शक्तिभर किसी भी भय के अधीन न होऊँगा। हे मेरे जगदीश्वर ! इसमें मेरी सहायता करो। भय न छोड़कर तो मैं संसार में कुछ भी नहीं कर सकता, सत्यपथ पर नहीं चल सकता, कभी भी तेरे दर्शन नहीं पा सकता। अतः हे प्रभो ! मुझे ऐसा बल दो कि संसार में किसी भी मनुष्य से मुझे भय न हो; न मित्र से भय हो, न अमित्र से। सत्यपथ पर चलते हुए मुझे न मित्रों की नाराजगी आदि का भय हो और न अमित्रों द्वारा केलेश पाने का। तेरे सामने मित्र-अमित्र सब समान हैं। तेरे सामने मित्रों के अमित्र हो जाने से क्या डरना और अमित्रों द्वारा जो मुझ पर कष्ट-विपत् आता है उससे क्या घबराना ! अनिष्ट तो मित्र और अमित्र दोनों द्वारा लाए जा सकते हैं और लाते हैं। अतः इन दोनों ही द्वारा मुझे इस भय से बचा। जो कुछ है और जो कुछ होगा, वह सब निस्सन्देह शुभ ही है। मेरा निर्बल मन बहुत-सी घटित, ज्ञात, परिचित बातों को अनिष्टकर मानकर उनसे तो भयत्रस्त होता ही है, पर वह आगे आनेवाली बातों में सदा अनिष्ट की आशंका करके भी यं ही भयपीडित बना रहता है - "आगे न जाने क्या होगा", मेरे इस कर्म की सिद्धि होगी कि नहीं", "कहीं इसका फल, परिणाम बुरा न निकले", इस प्रकार का जो मुझमें भय रहता है वह तो बड़ा ही आत्मघातक है। अतः, हे मेरे अन्तर्यामी ! मुझमें अब ऐसा ज्ञान प्रदीप्त कर दो कि मेरे सब मोह हट जायेँ और मैं तेरे कल्याणस्वरूप को सदा देदीप्यमान देखता हुआ दिन में या रात में, सदा सब कालों में, सब अवस्थाओं में अभय रहूँ। ऐसा बल दो कि अंधकार हो या प्रकाश, विपत् हो या संपत्, अनुकूलतायें हों या प्रतिकूलतायें, मैं इन सब दिशाओं में सदा निर्भय . रह सक् ।

शब्दार्थ — मित्रात् अभयं, अमित्रात् अभयं मुझे मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न रहे। ज्ञातात् अभयं जो मालूम हो गया है उससे भय न हो, और यः पुरः अभयं जो आगे है, आनेवाला है उससे भी भय न हो। नः नक्तं अभयं, दिवा अभयं हमें रात में भी अभय हो, दिन में भी अभय हो, सर्वा आशाः सब दिशायों, सब दिशाओं के वासी प्राणी मम मित्रं भवन्तु मेरे मित्र हो जायें, मेरे मित्ररूप रहें।

Digitized by Arva Semai Fundation Chennal and eCampain

१५ आषाढ

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपौ टीक्षामुप्निषेदुरग्रे । ततौ राष्ट्रं वल्रमोजेश्र जातं, तदंस्मै देवा उपसंनेमन्त ॥

-अथर्व० १६।४१।१

वैदिक विनय

ऋषिः ब्रह्मा । देवता तपः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय — हे राष्ट्रीय भाइयो ! क्या तुम जानते हो कि यह राष्ट्र कैसे उत्पन्न हुआ है ? हम वैयक्तिक पुरुषों के समूहात्मक इस राष्ट्र-पुरुष का कैसे जन्म हुआ ? यह हमारे पूर्व-ऋषियों के 'तप' (पिता) और 'दीक्षा' (माता) का पुत्र है। प्रारम्भ में उन सत्यदर्शी ऋषियों ने, जिन्हें स्वयं आत्मसुख प्राप्त था, जो आप्तकाम थे अतएव जिन्हें अपना कुछ भी स्वार्थ न था और इसलिये जो केवल लोक-कल्याण के लिए जी रहे थे, भद्र के लिए (लोक-कल्याण के लिए) तप का अनुष्ठान किया। उन्होंने देखा कि सर्वलोकहित के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक शक्ति (बल व ओज) से ऊपर एक ऊँची बड़ी उत्कृष्ट शक्ति (बल और ओज) व्यक्तियों के सामने हो। अतः उन्होंने अपनी इस भद्र-कामना का विस्तार किया — सब मनुष्य एक-दूसरे का भला चाहें; मनुष्यों में एक सामुदायिक भले की भावना उत्पन्न हो - इसका उन्होंने घोर यतन किया। चैंकि मनुष्यों के क्षुद्रस्वार्थ इस उच्च भावना के विरोधी हैं, अतएव उन ऋषियों को मनुष्यों में इस भावना के जमाने में बड़े कष्ट सहने पड़े, बड़ी-बड़ी तपस्यायें करनी पड़ीं। परन्तू वे दढ़-संकल्प ऋषि तो वृत ग्रहण किये हुए थे, दीक्षित थे, इसी प्रयोजन के लिए ही मानो जन्मे थे, अतः उन्होंने अपना वृत पूर्ण किया और इस भावना को उत्पन्न कर दिया। सब व्यक्तियों में उत्पन्न हुई इस भावना की मूर्ति ही राष्ट्र है। इस प्रकार, हे राष्ट्रीय भाइयो ! यह हमारा राष्ट्र जुत्पन्न हुआ है और इस राष्ट्र-पुरुष का वह अभीष्ट बल और ओज भी प्रकट हो गया है जिससे कि सब राष्ट्र का कार्य चलता है। अतः हे देवो ! ऋषियों की तपस्याओं से उत्पन्न हुए इस बलवान् तेजस्वी राष्ट्र-देव के सामने तुम भी झुको। यह राष्ट्रात्मा महादेवता देवों का भी वन्दनीय है। राष्ट्र का एक व्यक्ति बड़े से बड़ा, विद्वान् से विद्वान्, महात्मा से महात्मा, देव से देव. होता हुआ भी राष्ट्र का एक व्यक्ति - उस संघातमक राष्ट्र के सामने तुच्छ है। हे राष्ट्र के व्यक्ति देवो ! तुम इस राष्ट्र-देव की वन्दना करो । अपनी सन्मतियों को, अपने तूच्छ लाभों की, अपने शारीरिक एवं मानसिक या रुपये-पैसे के स्वार्थों को तथा अपनी बडी-से-बडी, प्यारी-से-प्यारी कामनाओं को राष्ट्रीय हित के सामने तूरन्त झका देने के लिए तैयार रहो। यही राष्ट्र-देव की वंदना है।

शब्दार्थ स्विदः आत्मसुख प्राप्त किये हुए ऋषयः ऋषियों ने मद्रं इच्छन्तः लोक-कल्याण की इच्छा करते हुए अग्रे प्रारम्भ में तपः उपनिषेदुः तप का अनुष्ठान किया और दीक्षां उपनिषेदुः दीक्षा को ग्रहण किया। ततः उस तप और दीक्षा से राष्ट्रं जातं राष्ट्र उत्पन्न हुआ तथा बलं भोजश्व जातं राष्ट्रीय बल और ओज भी उत्पन्न हुआ तत् इसलिये अस्मै इस राष्ट्र के सामने देवाः देव भी उपसंनमन्तु ठीक प्रकार झुकें, सत्कार करें।

्रेरंड

THHIM aland eGangotri

१६ आषाढ़

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्सा, अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि पस्ताः। दीर्षं न आयुः प्रतिबुध्यमाना, वयं तुभ्यं बलिहतः स्याम।।

- अथर्व ० १२।१।६२

ऋषिः अथर्वा। देवता भूमिः । छन्दः पराविराट् ।

विनय हे भूमिमातः! हम तेरे पुत्र हैं, तुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह पायिव देह हमें तेरे रज:-कणों से मिली है। है मातः ! हमें अपनी गोद में बिठाओ । तेरी आनन्दमयी गोद में बैठकर हम सम्पूर्ण मातृसुख को प्राप्त करें, तेरे दुग्धामृत का पान भी करें। तू हमें केवल सुख्मय आश्रय-स्थानों को ही नहीं प्रदान करती, अपितु अपने उन सर्वस्थानों में तू हमें हमारे उपयोगी भोग्य-पदार्थों को भी देती है। तेरी ऐसी गोद में हमारा आश्रय पाना, हमारे लिए रोगरहित, निरन्तर निर्बाध पुष्टि (उन्नित) का देनेवाला हो। है विस्तृत मातृभूमे ! तेरे आश्रय में रहते हुए हमें जो तेरे अन्न, फल, औषध, जल, वायु, धन, पशु, मान, रक्षा, विद्या, सुख आदि मिलते हैं वे हमें ऐसे शुद्ध और उचित रूप में मिलते रहें कि ये हमारे रोगों, भयों और दु:खों को हटा-कर हमारी स्वास्थ्यकर पुष्टि को ही करते जायँ; हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति ही साधते जायें। यह तेरा सब भोग्य-पदार्थरूपी पुष्टिकारक दूध हे मातः! तेरे हम बच्चों के लिए ही है -हम बच्चों की रोग-भयरहित पुष्टि के लिए ही है। हमारी शारीरिक उन्नति ऐसी अक्षुण्ण हो कि हम पूर्ण दीर्घ आयु को भोगें। हमारी मानसिक व आत्मिक उन्नति भी ऐसी अक्षुण्ण हो कि हम कमशः 'प्रतिबुध्यमान' होते जायँ, उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान और बोध से (आतम-जागृति से) युक्त होते जायाँ। एवं हम अबोध बालकों का ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ेगा, हम सब प्रकार के जानों में उन्नत होंगे, त्यों-त्यों, हे मातः ! हम तेरे अपने पर किए गये अपार उपकारों को भी तरे मातृत्व को भी हम अधिक अनुभव करने लगेंगे तथा तेरे प्रति अपने कर्त्तंव्यों के लिए भी जागृत हो जायेंगे। अतः तब हम राष्ट्र-कर के इस तुच्छ धन की विल, किसी भय से नहीं किन्तु 'प्रतिबृध्यमान' होते हुए, जानते हुए, इसे कर्त्तव्य समझते हुए-प्रेम से तुम्हारे प्रति दिया करेंगे। केवल यह तुच्छ, साधारण, नित्यप्रति की बलि ही नहीं, किन्तू हे मातः ! हममें तेरे प्रति कर्त्तव्य का बोध ऐसा जागृत हो जाय कि हम तेरे लिए सब-कुछ वलि-दान करने को सदा उद्यत रहें। तुझसे मिला हुआ यह शरीर, यह आयु, यह प्राण, यह पुष्टि, बह धन, यह सब-कुछ और किस काम के लिए है ? यदि ये तेरी वस्तुएँ आवश्यकता पड़ने पर तेरे लिए समर्पित न हो सकें - तेरे दूध को चुकाने का समय आने पर भी यदि हम इन्हें भेंट चढ़ाने से हिचकें —तो ऐसे धन, ज्ञान और जीवन को धिक्कार हैं! इन पापमय वस्तुओं का भूमि पर रहना व्यर्थ है ! नहीं, हम सर्वस्व तुझपर बलि चढ़ा देने को सदा उद्यत रहेंगे।

शब्दार्थ पृथिवि हे भूमे ! हम ते प्रसूताः तुझसे उत्पन्न, तेरे पुत्र हैं, अतएव उपस्थाः तेरी गोद, तेरे आश्रय-स्थानों के सब पदार्थ अस्मभ्यं हमारे लिए हों और अनमीवाः अयक्ष्माः सन्तु आरोग्यवर्धक व रोगनाशक हों नः दीर्घं आयुः हमारी आयु दीर्घ हो वयं हम प्रतिबुध्यमानाः जागते हुए, ज्ञान-सम्पन्न होते हुए तुभ्यं तेरे लिए बिलहृतः अपनी बिल देनेवाले स्थाम हों।

रंर्ष्ट

रन्देशम् क्लिए मित्रीहत

१७ आषाढ

यदचरस्तन्वां वावृ<u>धा</u>नो, बलांनीन्द्र प्र<u>मुवा</u>णो जनेषु । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः, नाद्य शत्रुं नतु पुरा विवित्से ॥

─ऋ० १०।५४।२

ऋषिः ब्हदुक्थो वामदेव्यः। देवता इन्द्रः। छन्दः विराट् विष्टुप्।

विनय हे इन्द्र परमेश्वर ! जो हम वेदों में भी युद्ध-वर्णन पाते हैं कि इन्द्र ने वृत्र को मारा, इन्द्र ने अपने वज्र से अमुक-अमुक असुरों का संहार किया, इन्द्र सोम को पीकर मस्त होकर बड़े पराक्रम के कार्य करता है, इन्द्र हिव को खाता है और हिव देनेवाले को धन देता है; तो ये सब वर्णन आलंकारिक हैं। स्थूल जगत् में रहनेवाले, स्थूल बुद्धिवाले हम मनुष्यों के हृदयों पर उसी वर्णन का प्रभाव होता है जो कि हमारे-जैसा वर्णन हो, अतएव तुम्हारे शरीर का वर्णन किया जाता है, तुम्हारे युद्धों का वर्णन किया जाता है। हम माया में रहनेवालों को माया-रूप से ही किया गया तुम्हारा वर्णन समझने योग्य होता है। असल में न तुम्हारा कोई शरीर है न कोई भौतिक वज्र है। तुम्हारा शत्र त्रिकाल में भी कौन हो सकता है? तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी माया, सब-कुछ अपने अटल नियमों से चल रही है। पाप का फल दु:ख और पुण्य का फल सुख स्वभावतः हो रहा है। तुम न किसी के शत्रु हो, और न मित्र हो। तुम्हारी असली शक्ति की हम कल्पना तक नहीं कर सकते; वह तो अविज्ञेय है। हम तो इतना ही देख सकते हैं कि जगत् में जो कुछ हरकत हो रही है, जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे सब नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं जो कि तुम्हारी ही एकमात्र शक्ति के एक अंश हैं। स्थूल रूप में सब शक्ति सफलता व विजय के रूप में दीखती है, अतः संसार की भाषा में तेरी अनन्त शक्ति का टूटा-फूटा वर्णन हम लोग इसी युद्ध के ढंग से किया करते हैं। तेरी अवर्णनीय शक्तियों का, बलों का ख्यापन हम मनुष्यों द्वारा और दूसरे किस तरह किया जाय ?

पर साथ ही यह भी ठीक है कि हमारे ये सब वर्णन माया हैं, अधूरे हैं, यह अवर्णनीयों का वर्णन है; यह अज्ञेय का काम-चलाऊ ज्ञान कराना है।

शब्दार्थ — इन्द्र हे इन्द्र ! यत् तन्वा वावृधानः जो तू शरीर के साथ बढ़ता हुआ अचरः विचरा है जनेषु बलानि प्रसुवाणः मानो मनुष्यों में अपने बलों को ख्यापित करता हुआ विचरता है। यानि युद्धानि आहुः या जो यह वर्णन है कि तूने युद्ध किए हैं, सा ते माया इत् यह सब तेरी माया ही है। न अद्य शत्वं असल में तो न तेरा कोई आज शत्रु है ननु पुरा विवित्से और न कभी पहले तूने अपना कोई शत्रु जाना है।

330

यदा महिमा

१ंद ओंबाई

त्रुतं शंसन्त त्रुज दीध्याना, <u>दि</u>वस्पुत्रासौ त्रसुरस्य <u>वी</u>राः। विमं पदमङ्गिर<u>सो</u> दर्धाना, युक्कस्य धार्म प्रथमं मनन्त।।

—ऋ० १०।६७।२; अथर्वे० २०।६१।२

ऋषिः अयास्यः । देवता बृहस्पतिः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

विनय—'यज्ञ यज्ञ' सब कहते हैं, पर यज्ञ के मूलतत्त्व को जाननेवाले कोई बिरले ही होते हैं। हम तो इतना जानते हैं कि जगत्-हित के लिए स्वार्थत्याग के कार्य करना यज्ञ है। इतना ठीक भी है, पर यज्ञ के प्रथम रूप से हम बहुत दूर हैं। यदि हमें कहीं वह रूप दीख जाय तब तो हम देख लें कि यज्ञ ही हमारा प्राण है, हमारा जीवन है; यज्ञ तो हमारे एक-एक खास में होना चाहिये। इस यज्ञ के 'प्रथम धाम' (मुख्य स्थान) को जो साक्षात् देख लेते हैं अंगिरस् कहाते हैं; क्योंकि ऐसे लोग इस जगत्-शरीर के अंगों के रस होते हैं। ये वे महात्मा पुरुष होते हैं जो कि संसार को ठीक रास्ते पर ले-जाते हुए संसार के प्राणरूप होते हैं। संसार में जो पाप, अधर्म और स्वार्थ की शक्तियाँ प्रवृत्त हो रही हैं उनसे संसार का जीवन-रस सूख जाय यदि ये 'अंगिरस्' उसमें निरन्तर धर्मधारा न बहाते रहें। इन अंगिरसों को बार-बार प्रणाम है।

पर हमें तो यह जानना चाहिये कि ये 'अंगिरस' महात्मा कैसे बनते हैं ? इसके लक्षण क्या हैं ? इनके चार लक्षण हैं—(१) ये सत्य ही बोलते हैं, ये सत्य का ही वर्णन करते हैं। (२) केवल वाणी में ही सत्य नहीं होता किन्तु इनके ध्यान व विचार में भी कुटिलता नहीं आने पाती; इनके विचार में—मन में—भी असत्यता नहीं आती (अतएव) इनकी बुद्धि इतनी सच्ची और प्रकाशपूर्ण होती है कि इन्हें समिष्ट-बुद्धि-रूप जो 'द्यों है उसके पुत्र कहना चाहिये; और (३) ये वीर-पुत्र होते हैं क्योंकि संसार सदा अज्ञान-शत्रु पर विजय पाने के लिए अग्रसर रहता है, (४) और ये 'द्यों के पुत्र' अपने में 'विप्रपद' को, ज्ञानमय व्यापक पद को धारण किये होते हैं—भगवान को, भगवान के एक ज्ञानमय व्यापक रूप को, अपने में धारण किये फिरते हैं।

हे यज्ञकर्मों द्वारा ऊँचे चढ़ने की इच्छा रखनेवाले और यत्न करनेवाले भाइयो ! अंगि-रसों के इन चार लक्षणों को अपने में रमाते चलो, रमाते हुए चढ़ते चलो ।

शब्दार्थ — ऋतं शंसन्तः सत्य ही कहनेवाले, ऋजु दीध्यानाः अकुटिल ध्यान करनेवाले, असुरस्य प्रज्ञावाले दिवः दिव के, 'द्यों' के वीराः पुत्रासः वीर पुत्र, विप्रं पदं दधानाः और जो ज्ञान-मय या व्यापक पद को धारण किये हुए हैं ऐसे अंगिरसः अंगिरस लोग यज्ञस्य प्रथमं धाम यज्ञ के परम मुख्य स्थान को मनन्त जानते हैं।

त्रभा। भरा त्रभार द्राच

MPHONIVA-040VVANVANSAMAN HOUNGARION Chennal and eGangotri

१६ आषाढ़

त्रातार् मिन्द्रं मिन्द्रं, हवें हवे सुहवं शूर् मिन्द्रंम् । ह्वयां मि शक्तं पुरुहृतमिन्द्रंम् । ह्वयां मि शक्तं पुरुहृतमिन्द्रं, स्वस्ति नो मुघवां धात्विन्द्रंः ।।

—ऋ० ६।४७।११; यजुः० २०।५०; सा० पू० ४।१।५।२; अथर्वे० ७।८६।१ ऋषिः गर्गः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराट् तिष्टुप् ।

विनय-यह संसार एक रणस्थली है। इसमें हरेक मनुष्य अपनी समझ के अनुसार किसी-न-किसी विजय पाने में लगा रहता है और उसके लिए दिन-रात संघर्ष में लग जाता है। यद्यपि इन संघर्षों में विजय पाने के लिए मनुष्य प्रायः अपने शरीर-बल, बुद्धि-बल, संगठन-बल, विज्ञान-वल, मित्र-बल, सैन्य-बल आदि वलों का प्रयोग करता हुआ अभिमान से समझता है कि मैं इन वलों द्वारा ये सब लड़ाइयाँ जीत लुंगा, परन्तू एक समय आता है जब कि मनुष्य इन सब बाह्य-बलों से हारकर, निराश होकर, संसार की किसी अज्ञात शक्ति को ढंढने व पुकारने लगता है। 'हे राम', या 'अल्लाह' या 'O my God' आदि कहकर किसी-न-किसी नाम से, हे इन्द्र ! असल में वह तुझे पुकार उठता है । तव पता लगता है कि, हे संसार की अज्ञात अदृश्य शक्ति ! तू ही एकमात्र शक्ति है। संसार के शेष सब बल तेरे ही आधार से बल हैं। जब तू चाहता है तब वे वल होते हैं, तेरी जब इच्छा नहीं होती तब किसी भी बल में शक्ति नहीं रहती। इसलिये, हे इन्द्र ! तू ही मेरा सच्चा पालक है और तू ही एकमात्र सब आपत्तियों से मेरा रक्षक है। तुझ ही महापराक्रमी को हर संग्राम में पुकारना चाहिये। तेरा ही पुकारना शोभन हैं, सुफलदायक है। और किसी को पुकारना निष्फल है, बेकार है। पुकारा हुआ तू भक्तजनों के संकट एक क्षण में दूर कर देता है। तू सर्वशक्तिमान् है। अतएव तू 'पुरुहूत' है, सदा से जब से सृष्टि चली है सन्त लोग तुझे आड़े समय में पुकारते रहे हैं, याद करते रहे हैं। हे शक्र ! तुझे छोड़कर मनुष्य और किसे पुकारे ? इसलिये, हे इन्द्र ! मैं भी तेरी पुकार मचा रहा हूँ। मघवन् ! तू मेरे लिए कल्याणकारी होता हुआ मेरी पुकार सुन । मैं निश्चय से जानता हूँ कि मैं तेरा पवित्र नाम लेता हुआ अपने इस जीवन की सब लड़ाइयों में विजय पाता चला जाऊँगा। मुझे किसी युद्ध में किसी भी अन्य हथियार की ज़रूरत नहीं। बस, तू मेरी वाणी पर रहे, यही चाहिये। तेरा नाम पुकारना मुझे सव विपत्तियों से पार कर देगा।

शब्दार्थ — त्रातारं इन्द्रं पालन करनेवाले इन्द्र को, अवितारं इन्द्रं रक्षा करनेवाले इन्द्र को हवे हवे सुहवं एक-एक संग्राम में सुख से पुकारने योग्य शूर इन्द्रं पराक्रमी इन्द्र को और शक्तं इन्द्रं सर्वशक्तिमान् इन्द्र को पुरुहूतं इन्द्रं जिसे कि असंख्यों सत्पुरुषों ने समय-समय पर पुकारा है जस इन्द्र को मैं भी ह्वयामि पुकारता हूँ, बुलाता हूँ। मघवा इन्द्रः वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र नः स्विति धातु हमारा कल्याण करे।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२० आषाद

न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नदो मनसा चरामि। यदामार्गन्त्रथम्जा ऋतस्य, त्रादिद् वाचो त्रंशतुवे मागमस्याः॥

—ऋ० १।१६४।३७; अथर्वे० ह।१०।१५

ऋषिः दीर्घतमा । देवता विश्वे देवाः । छन्दः विष्टुप् ।

विनय में क्या कहूँ ? क्या मैं यह शरीर हूँ ? इसमें चेतना कहाँ से आई है ? मैं क्या वास्तव में अमर हूँ ? यह कुछ समझ में नहीं आता। या क्या मैं बिल्कुल परिस्थितियों का गुलाम हूँ ? परिमितता के इन बंधनों से क्या मैं कभी छूट सकता हूँ ? यह संसार किसलिये है ? किधर जा रहा है ? मेरा इससे क्या सम्बन्ध है ? कुछ नहीं समझ पाता । हमारे दर्शनों में कोई कुछ कहता है और कोई कुछ । उधर पश्चिम के दार्शनिक कुछ, और वैज्ञानिक कुछ कहते हैं। मैं सब तरफ से बँघा हुआ अपने को अनुभव करता हूँ; संशयों से दबा हुआ इधर-उधर भटकता फिरता हूँ; पर ज्ञानतृष्ति कहीं नहीं होती है। कहते हैं कि जब 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का उदय हो जाता है तब कोई संशय नहीं रहता। उसके प्रकाश में प्रत्येक वस्तु बिल्कुल यथावत् दिखाई देती है; वहाँ संशय और भ्रम हो ही नहीं सकता। वह यौगिक प्रत्यक्ष है, उससे हरेक तत्त्व का साक्षात्कार, प्रत्यक्ष हो जाता है। ओह! यदि वह 'ऋतंभरा प्रज्ञा' मुझे प्राप्त हो जाय तो संसार की वाणियाँ, वेद-शास्त्र, दर्शन (Philosophies) और विज्ञान (Science) जो कुछ कहते हैं, उस सब का मतलब हल हो जाय। ये भिन्न-भिन्न वाणियाँ, सब नव्य और पुरातन प्रन्य जो कुछ कहते हैं, उनकी प्रतिपादित वस्तु मिल जाय। फिर ये परस्पर-विरुद्ध दीखनेवाले शास्त्रवचन मुझे बहुका न सकेंगे। बस, वह ऋतंभरा प्रज्ञा, वही चाहिये—और कुछ नहीं चाहिये। वही मेरे इस भयंकर संनिपात रोग का एकमात्र इलाज है। मुझे उसके बिना अब किसी सांसारिक ज्ञान से चैन नहीं मिल सकता। आह ! ऋतंभरा प्रज्ञा ! ऋतंभरा प्रज्ञा !! उसी के लिए हैं मेरे सारे यत्न।

शब्दार्थ - यदि वा इदमस्मि मैं यह हूँ या नहीं, क्या हूँ, न विजानामि यह कुछ जान नहीं पाता, निण्यः दबा हुआ, सन्नद्धः पूरी तरह बँधा हुआ मनसा चरामि संशयित मन से फिरता हूँ। यदा यदि मा मुझे ऋतस्य प्रथमजाः सत्यस्वरूप की प्रथमोत्पन्ना बुद्धि आगन् प्राप्त हो जाय आत् इत् तो मैं अस्याः वाचः भागं वाणी मात्र के प्रतिपाद्य विषय को अश्नुवे पा जाऊँ।

to lead have the sales and the sales of the

पुरसामा में मू स्वाम-याचि हो हर समूचे विशास स्पूच के पार्च को सब

PINIS OFFE

१३३ ।

१. "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" "श्रुतानुमानप्रज्ञास्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्"।—योग-दर्शन १।४७-४८ । विकार का प्रमुख राज्य हैं। वर्तर स्वापन

२. ऋतं सत्यमेव बिभर्तीति ऋतम्भरा।

2 3 201 8 204 (3.91

Digitized by Arva Samai Foundation Chennai and eGangotri

रेव आषाङ्

खुद्यानं ते पुरुष नाव्यानं, जीवातुं ते दर्भताति कृणोमि। त्रा हि रोहेममुमृतं सुखं रथं, अथ जिविविद्यमा वदासि॥

-अथर्वे० दाशह

ऋषिः ब्रह्मा । देवता आयुः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे पुरुष ! तू इस सृष्टि में मुरझाया हुआ, गिरी हुई तबीयत से क्यों रहता है ? तू उठ ! तुझे तो दिनों-दिन उन्नत होना चाहिये। तू अपने-आपको विकसित करने के लिए ही संसार में आया है। तुझे जीवन द्वारा आत्मा की शक्तियों का प्रकाश करना है। तेरे जीवन को, प्राण को, बल से संयुक्त करता हूँ। तेरे प्राण में महाबल भरा हुआ है, इस बल को पाकर लगातार तेरा उत्थान, उन्नति होती जाय। अपने-आपको पतित करने का, या हिम्मत हारने का क्या काम है ? इस बल को तू जगाता जायेगा तो तेरा 'जीवातु' (जीवन) एक उत्तरोत्तर आनन्द-दायक यात्रा हो जाएगी। अतः तू इस 'दक्ष' से युक्त होकर अब इस शरीररूपी रथ पर सवार हो जा। अभी तक तू इसपर सवार नहीं था, किन्तु शायद यह शरीर तुझपर सवार रहा है। उठ, इस शरीर का तू अधिष्ठाता है, यह रथ तेरा है। इसे अपने अधीन रखकर चला तो पता लगेगा कि यह रथ कितना सुख से चलनेवाला है। तब शरीर के क्लेश, रोग आदि का तुझपर प्रभाव न हो सकेगा। बल्कि, तेरे प्रभाव से यह शरीर रोगादि से रहित स्वस्थ हो जायगा। यही नहीं, यदि तू इस रथ का पूरा सवार, रथी अधिष्ठाता हो जायगा तो तू चाहे तो तेरा अमर आत्मा उस प्राण-बल द्वारा इस रथ को अमृत भी बना सकता है; सब अणि-मादि सिद्धियाँ और 'काय-संपत्' इसमें प्रकट हो सकती हैं। इसीलिये कहता हूँ कि तू उठ! इस मुखमय अमृत-रथ पर चढ़ जा और इस द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-विकास को करता हुआ उन्नत-से-जन्नत होता जा। इस बल को पा लेने के बाद, इस रथ पर चढ़ जाने के बाद, कभी 'ऋमिक ह्रास' का नियम नहीं लग सकता है। वह प्राण-बल तुझमें दिनोंदिन बढ़ता ही जायेगा। स्वभा-वतः वृद्धावस्था के आने पर भी तेरी शक्ति में ह्रास नहीं आना चाहिये। उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्राण-बल तो वृद्धावस्था में पूर्ण विकसित हो जाता है, 'वसु' और 'रुद्र' अवस्था से उठकर उस समय प्राण 'आदित्य'-रूप हो जाते हैं। जैसे प्राण-भंडार आदित्य सब जगह अपनी किरणों को फैलाता है, उसी तरह वृद्धावस्था में तू अक्षीण-शक्ति होकर अपने विशाल अनुभव-ज्ञान को सब मनुष्य-समाज के लिए प्रदान करता रह।

शब्दार्थ — पुरुष हे जीव ! ते उद् यानं तेरा उत्थान ही हो, उन्नित ही हो; न अवयानं नीचे पतन कभी नहीं। ते जीवातुं तेरे जीवन को दश्तताित बल से युक्त कुणोिम करता हूँ। इमं इस विद्यमान अमृतं अमृतयुक्त सुखं सुखकारी रथं रथ पर हि निश्चय से आरोह तू चढ़ं जा। अथ फिर जिविः जीणं होकर, बढ़ापे में भी विदथं ज्ञान का आवदािस प्रचार करता रह। जोट—'जीवातुं ते दक्षताितं कुणोिम' ये शब्द मुक्ते परमात्मा कह रहे हैं और उन्होंने मेरे शरीर में दक्ष (बल) का संचार कर दिया है, ऐसा अनुभव कीजिये।

858

यायन धारक

२२ आषाढ़

सत्यं बृहदृतमुत्रं दीक्षा त<u>पो</u> ब्रह्म युज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । सा नो भूतस्य भव्यंस्य पत्नी, <u>उ</u>रुं <u>छो</u>कं पृथिवी नेः कृणोत्त ॥

-अथर्व० १२।१।१

ऋषिः अथवी । देवता भूमिः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे प्रभो ! जिस भूमि पर हम रहते हैं वह भूमि हमें उन्नत करे, हमें विशाल बनाये। हम इसे धारण करने का पूरा यत्न कर रहे हैं। जब कभी हम मोहवश यह समझ लेते हैं कि कूटनीति अर्थात् झूठ, कपट, चालाकी आदि से अपने देश, राष्ट्र व मातृभूमि की धारणा होगी तब हम भूले होते हैं। पृथिवी को धारण करनेवाले जो आवश्यक गुण हैं, उनमें तो सबसे पहला सत्य है। वह महान् सत्य, जिससे विश्वब्रह्माण्ड स्थित है, हमारी भूमि को भी वह ही धारण किये हुए है और केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं, किन्तु उसका आचरण राष्ट्र को स्थिर रखता है। हमें कठोरता के साथ, तेजस्विता के साथ, पूरा-पूरा सत्याचरण करना चाहिये। हममें जितना सत्य होगा, जितनी उग्र सत्यचर्या होगी, जितना हम दृढ़संकल्प होकर ग्रहण किये वर्तों को निबाहनेवाले होंगे, जितने हम राष्ट्र के लिए कष्ट सह सकेंगे, जितना हमें अनुभूत ज्ञान होगा और जितना हम निस्स्वार्थ होकर परोपकार-वृत्तिवाले होंगे, उतना ही यह हमारा देश अचलतया स्थित रहेगा। भूमि को कोई राजा, शासन या प्रजा नहीं धारण करते, किन्तु वहाँ के वासियों में स्थित ये छः गुण ही एकमात्र भूमि के धारण करनेवाले होते हैं। यह जानकर इन गुणों को हम अपने में लाने का पूरा यत्न करते हुए ही यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्यारी मातृभूमि हमें विस्तृत और विशाल बनाये। हम इन गुणों की साधना द्वारा अपनी मातृभूमि को धारण करें और यह भूमि हमारे भूत और भव्य की रक्षा करनेवाली होकर हमें उन्नत करे। हम अपने भूत के आधार पर ही भविष्य में उन्नत हो सकते हैं और जितना ही हम अपने राष्ट्र के साथ एक होंगे, तादात्म्य करेंगे, उतना दूर तक हम अपने राष्ट्र के भूत में प्रविष्ट होंगे और उतना ही अपने भविष्य को उज्ज्वल और महान् बना सकेंगे। इस तरह मातृभूमि की हमारी उपासना हमें सुविशाल कर दे। राष्ट्र का व्यक्ति मातृभूमि के जीवन और मरण के साथ ही जीता या मरता है। मातृभूमि की अनन्यभाव से उपासना मनुष्य को कितनी विस्तृत आयु (जीवन) प्रदान कर देती हैं ! तब मनुष्य क्षुद्र बातों से कितना ऊँचा हो जाता है ! आओ, हम आज से उन सत्य आदि महान् [बृहत्] गुणों को अपने में धारण करते हुए अपनी मातृभूमि की सच्ची पूजा किया करें जिससे यह भगवती मातृभूमि हमारे भूत के दृढ़ चट्टान पर हमारे उज्ज्वल भव्य की रचना को सुरक्षित करती हुई हमारे लिए उतने विशाल क्षेत्र को खोल दे-उस भूत और भव्य को व्याप्त कर लेनेवाले विस्तृत लोक को हमारा बना दे।

शब्दार्थ बृहत् सत्यं महान् सत्य उग्नं ऋतं कठोर सत्याचरण दीक्षा व्रतग्रहण तपः कष्ट-सहन ब्रह्म अनुभव-ज्ञान यज्ञः निस्स्वार्थं कर्म ये छः गुण पृथिवीं धारयन्ति पृथिवी को धारण कर रहे हैं। भूतस्य भव्यस्य पत्नी भूत और भव्य की रक्षा करनेवाली सा नः पृथिवी वह हमारी मातृ-भूमि नः हमारे लिए उदं लोकं विस्तृत लोक को, विशाल क्षेत्र को कृणोतु करे।

This is it is not the table to wie inc

मन में मारा जान विज्ञान

२३ आषाढ

यस्मिन्नृचः साम् यर्जूषि यस्मिन, प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिरिच्तं सर्वेमोतं प्रजानां, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्त ॥

-यजुः० ३४।५

ऋषिः शिवसंकल्पः । देवता मनः । छन्दः विराट् विष्टुप् ।

विनय-हे प्रभो ! मेरे चित्त का मैल अभी तक नहीं निकलता । स्वार्थ-कामना, राग-द्वेष. मोह आदि मलिनता इससे सुक्ष्मता से ऐसी चिमटी हुई हैं कि इस सुक्ष्म मैल के कारण मेरे बिना जाने भी इसमें अशभ संकल्प पैदा हो जाते हैं। हे नाथ ! मेरे मन को इतना मजबत कर दो कि कम-से-कम इसमें अशभ राग-द्वेषात्मक संकल्प तो न उठें, 'उदार' रूप में न आयें। मुझे तो इस मन से परम पूरुषार्थ साधना है, सत्यज्ञान को प्राप्त कर लेना है। पर यह मन अभी इतना भी शद्ध और वलवान नहीं हुआ है कि सदा शिवसंकल्प बना रहे। मन में तो सब देव-ज्ञान भी मौजद है। ऋक, यज, साम, तीनों प्रकार का वेदज्ञान मन के ही आश्रित है। मैं देख रहा हैं कि जैसे रथनाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे सब वेद मन में रखे हए हैं। हे परमेश्वर ! यह प्रलय में भी नष्ट न होनेवाला तुम्हारा अनन्त नित्य वेदज्ञान तुम्हारे सर्वव्यापक परम शद्ध मन में ही तो- 'प्रकृष्ट चित्तसत्तव' में ही तो--रहता है। और वहीं से यह वेदज्ञान ऋषियों ने अपने शुद्ध मनों में पाया है और वे मंत्रद्रव्टा ऋषि वने हैं। सचमूच वेद-ज्ञान पुस्तकों में नहीं है, यह मन में है। मैं जानता हूँ कि संपूर्ण वेदराशि, तीनों प्रकार का वेद-ज्ञान, मेरे भी मन में रखा हुआ है। मेरे भी मन के उच्च, पवित्र होने पर वे तीन अवस्थायें आ सकती हैं जिनमें कि ऋक-ज्ञान, यजु:-ज्ञान, और साम-ज्ञान स्वभावतः मुझमें प्रकाशित हो सकेंगे। सभी प्रजाओं के, सभी मनुष्यों के मनस्तत्त्व में जहाँ उनका सब प्रकार का चित्त, उनके संस्कारों का महाकोष, उनका अनन्त वासनाजाल, सब योनियों की सब प्रकार की असंख्यात वासनायें मौजूद हैं, वहीं मन में सब सत्यज्ञान भी मौजूद है। पर यह सव जानते हुए भी मैं लाचार हूँ। बलिक, मैं इसके इस अनन्तभण्डार को जानता हूँ इसीलिये छटपटा रहा हूँ। मुझे तो अपने मन में वेदज्ञान को प्रका-शित करना है, पर मन अभी कुसंस्कारों से भरा पड़ा है। मेरे मन को तो सत्य-संकल्प बनना है, पर यह अभी शिव-संकल्प भी नहीं बना है। हे हृदयवासी ! कृपा करके मेरे मन को ऐसा दृढ़ कर दो कि मुझमें चाहे कितने संकल्प उठें और जब जो संकल्प चाहे वही उठें, पर वे सब संकल्प मुभ ही मुभ हों; उनमें कोई अशिव न हों। मूझमें अकल्याणकारी संकल्प उठने तो अब बंद ही हो जायें। मन की इतनी शुद्धि, इतनी प्रबलता तो प्रदान कर ही दो !

शब्दार्थ — यस्मिन् जिस मनस्तत्त्व में ऋचः साम ऋक्-ज्ञान और साम-ज्ञान तथा यस्मिन् यजूंषि जिसमें सब यजुः-ज्ञान भी प्रतिष्ठिताः इस तरह स्थापित है इव जैसे कि रथनाभौ अराः रथनाभि में अरे लगे रहते हैं, जड़े रहते हैं और यस्मिन् जिस मनस्तत्त्व में प्रजानां सर्व वित्तं प्रजामात्र का संपूर्ण चित्त, सब संस्कारों से चित्रित और सर्ववासना-जाल से युक्त चित्त ओतं ओत-प्रोत हुआ-हुआ, पिरोया हुआ है तत् मे मनः वह मेरे अन्दर स्थित मन शिवसंकल्पं अस्तु सर्वथा शुभ ही संकल्प करनेवाला हो जाय।

348

Digitized by Ana Sama Foundation Chennal and eGangotri

२४ आषाढ़

वृत्रस्यं त्वा श्<u>वसथात्</u> ईषंमा<u>णाः</u>, विश्वे ट्वाः श्रंजहुर्ये सर्वायः । <u>म</u>रुद्भिरिन्द्र सर्व्यं ते श्रस्त्वयेमा विश्<u>वाः</u> पृतंना जयासि ॥

—ऋ० दाहदा७

ऋषिः तिरश्चीर्युतानो वा मारुतः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराट् विष्टुप् ।

विनय-हे मेरे आत्मा ! तेरे असली साथी तो प्राण ही हैं। जबतक प्राण तेरे साथी नहीं हो जाते तबतक अन्य देवों का साथ बेकार है, बिल्क समय पर घोखा देनेवाला है। मैं जब उत्तम ग्रन्थ पढ़ता हूँ, सन्तों की वाणी सुनता हूँ, पवित्र उपदेश श्रवण करता हूँ तब मन में बड़े दिव्य, उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं; आन्तरिक मनन और भावना से मन की अवस्था ऐसी ऊँची हो जाती है कि हृदय में मानो देवसमाज लग जाता है। मैं अपने को बिलकूल निर्विकार, निष्काम, और पवित्र समझने लगता हूँ। परन्तु पाप-प्रलोभन के आते ही यह सब-का-सब उलट जाता है, व्त्रासूर के सम्मुख आने पर इस सब देव-समाज में भग्गी पड़ जाती है, उसकी फूंकार से सब दिव्य विचार क्षण में उड़ जाते हैं, जरा-सी देर में हृदय में महाबली वृत्रासूर का राज्य जम जाता है। उस समय यह जानता हुआ भी कि मैं बुरा कर रहा हूँ, पाप कर रहा हूँ, पाप की ही तरफ खिचा चला जाता हूँ। मनुष्य इस अवस्था से कैसे पार हो ? - इसका एक ही इलाज है कि मन्व्य प्राणों की समता प्राप्त करे। प्राणों का सम होना ही प्राणों का (मरुतों का) आत्मा के साथ मैत्री होना है। आत्मा के साथ जुड़ने पर, आत्मा के समीप होने पर प्राण सम और शान्त हो जाते हैं। ये सम हए प्राण कार्य करने के बड़े प्रबल साधन बन जाते हैं। प्राण की सम अवस्था में जो विचार होते हैं, वे स्थिर और दृढ़ होते हैं; इस अवस्था में किये गये संकल्प बड़ा विस्तृत प्रभाव रखते हैं। आत्म-शक्ति जब प्राणों को आत्मगृहीत करके उन द्वारा प्रकट होती है तो उसके सामने कोई नहीं ठहर सकता, सब वासनायें दब जाती हैं, कोई भी पाप-विचार सिर ऊपर नहीं उठा सकता । बड़े-बड़े प्रलोभन, पाप की बड़ी-बड़ी फौजें आत्मा के एक संकल्प के द्वारा दव जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं; आत्माग्नि की एक लपट में भस्म हो जाती हैं, जब कि वह आत्म-संकल्प सम हुए, सखा बने हुए प्राणों द्वारा प्रकट होता है, और जब कि आत्माग्नि प्राणमाध्यम द्वारा सहस्र-गुणित होकर जल उठती है। प्राणों की इस मैत्री को, दोस्ती को पाकर आत्मा क्या नहीं कर सकता ? प्राण महाबली है। वह जबतक असम रहता है तबतक उसका बल वृत्रा-सुर के काम आता है, पर जब वह सम हो जाता है तो वह आत्मा का हो जाता है। आत्मा का सखा प्राण अजेय है।

शब्दार्थ—इन्द्र हे आत्मन् ! विश्वे देवाः सब देव, सब दिव्यभाव ये सखायः जो कि तेरे साथी बनते हैं वृत्तस्य श्वसथात् पापासुर के साँस से, फुंकार से, बल-प्रदर्शन से ईषमाणाः डरकर भाग जाते हुए त्वा तुझे अजहुः छोड़ देते हैं। हे इन्द्र ! ते सख्यं तेरी मैत्री, तेरा साथ मरुद्भिः प्राणों के साथ अस्तु यदि होता है या हो अथ तो तू इसाः विश्वाः पृतनाः पाप की इस सब बड़ी फौज को जयासि जीत लेता है।

है। इन्हें । साथ ने प्रति के विकास

वैदिक विनय

-१३७

अनेला रवानवाला पाप

२५ आषाढ़

मो<u>धमलें विन्दते</u> अप्रचेताः, सत्यं ईवीमि वंध इत् स तस्य । नार्थमणं पुष्यंति नो सर्वायं, केव<u>ला</u>यो भवति केवलादी ॥

一ऋ० १०।११७।६

ऋषिः आङ्गिरसो मिक्षुः । देवता इन्द्रः धनान्नदान प्रशंसा । छन्दः तिष्दुप् ।

विनय संसार में धनी दीखनेवाले दुर्बृद्धि (पापबृद्धि) मनुष्यों के पास जो अन्त-भण्डार और नाना भोग-सामग्री दिखाई देती है, क्या वह भोग्य-सामग्री है ? अरे, वह सब भोग-विलास कां सामान तो उनकी 'मौत' है। वे भोग्य-वस्तुएँ नहीं हैं, किन्तु उनको खा जानेवाले ये इतने उनके भोक्ता हैं, भक्षक हैं। भोग्य-सामग्री का मनोहर रूप धरके आया हुआ उनका काल है, उन्हें खा जाने के लिए आया हुआ काल है। मनुष्यो ! तुम्हें इस विचित्र बात पर विश्वास नहीं होता होगा, किन्तु मैं सच कहता हूँ, सच कहता हूँ और फिर सच कहता हूँ कि पापी दुर्बुद्धि पुरुष के पास एकत्रित हुआ सत्र सांसारिक भोग का सामान उसकी मृत्यु का सामान है, केवल मृत्यु का ही सामान है; इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। क्योंकि, वह पुरुष अपने इस धन-ऐश्वर्य द्वारा केवल अपने देह को ही पोषित करता है। न तो वह उस द्वारा अपने अन्य मनुष्य-भाइयों को पोषित करके अपने स्वाभाविक यज्ञ-धर्म को पालता है, न ही वह अर्यमादि देवों के लिए आहुति देकर आधिदैविक जगत् के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित रखता है। यदि वह आधिदैविक आदि जगत् को पोषित करता हुआ इसके यज्ञ-शेष से अपने को पोषित करे, तब जो भोग-सामग्री उसके लिए अमृत हो सकती थी वही भोग-सामग्री उसकी 'मौत' बन जाती है। मनुष्यो ! याद रखो कि अकेला भोगनेवाला, औरों को बिना खिलाये स्वयमेव अकेला भोगनेवाला मनुष्य, केवल पाप को ही भोगता है। जब कि चारों तरफ असंख्यों पुरुष एक समय भी भरपेट भोजन न पा सकनेवाले, भूखे-नंगे, झोंपड़ों में पड़े हों तो उनके बीच में जो हलुवा-पूरी खानेवाला, महल में रहनेवाला, पलग पर सोनेवाला 'अप्रचेताः' पुरुष है उससे तुम क्या ई व्या करते हो ? तुम्हें वेशक वह मज़े में हलुवा-पूरी खाता हुआ नजर आता है, पर जरा सूक्ष्मता से देखो तो वह बेचारा तो केवल अपने पाप को भोग रहा होता है, वह केवल शुद्ध पाप का भागी होता है और इस अयज्ञ के भारी पाप-बोझ को वह अकेला ही उठाता है; इसमें उसका कोई और साथी नहीं होता। "केवलाघो भवति केवलादी" यह संसार का परम सत्य है। इसे कभी मत भूलो ! (शरीर, मन और आत्मा तीनों को पुष्टि करनेवाले) सच्चे भोजन में और (शीघ्र ही विनाश को पहुँचा देनेवाले) पापमय भोजन में भेद करो! पाप से सना हुआ हलूवा-पूरी खाने की अपेक्षा रूखा-सूखा खाना या भूखा रहना हजारों गुणा श्रेष्ठ है। पहले तरह का भोजन मौत है; दूसरा अमृत है।

शब्दार्थ — अप्रचेताः दुर्बुद्धि मनुष्य मोघं व्यर्थं ही अन्नं भोग-सामग्री को विन्दते पाता है। सत्यं बवीम सच कहता हूँ कि स वह भोग-सामग्री तस्य उस मनुष्य के लिए वध इत् मृत्यु- रूप ही होती है— उसका नाश करनेवाली ही होती है। ऐसा दुर्बुद्धि न अर्थमणं पुष्यित न तो यज्ञ द्वारा अर्थमादि देवों की पुष्टि करता है नो सखायं और न ही मनुष्य-साथियों की पुष्टि करता है। सचमुच वह केवलादी अकेला खाने—भोग करनेवाला मनुष्य केवलाघो भवति केवल पाप को ही भोगनेवाला होता है।

ः ११व

विदिक विनय

थन का स्रध्याग

र्इ आषाह

पृ<u>णी</u>यादिकार्धमाना<u>य</u> तच्यान्, द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् । त्रो हि वर्तनिते रथ्येव चका, अन्यर्मन्यमुपं तिष्ठन्त रायेः ।।

一ऋ० १०।११७।५

ः ऋषिः आङ्गिरसो मिक्षुः । देवता धनान्नदान प्रशंसा । छन्दः विराट् त्रिष्टुप् ।

विनय-धन को जाते हुए कितनी देर लगती है ? व्यापार में घाटा हो जाता है, चोर लुटेरे धन लूट ले जाते हैं, बैंक टूट जाते हैं, घर जल जाता है आदि सैकड़ों प्रकार से लक्ष्मी मनुष्य को क्षणभर में छोड़कर चली जाती है। वास्तव में लक्ष्मीदेवी बड़ी चंचल है। वह मनुष्य कितना मूर्ख है जो यह समझता है कि बस, यदि मैं दूसरों को धन दान नहीं करूँगा तो और किसी तरह मेरा धन मुझसे जुदा नहीं हो सकेगा। अरे, धन तो जब समय आयेगा तो एक पलभर में तुझे कंगाल बनाकर कहीं चला जायगा। इसलिये, हे धनी पुरुष ! यदि इस समय तेरे शुभ कर्मों के भोग से तेरे पास धन-सम्पत्ति आई हुई है तो तू इसे यथोचित-दान में देने में कभी संकोच मत कर। जीवनमार्ग को जरा विस्तृत दृष्टि से देख और सत्पात को दान देने में अपना कल्याण समझ, अपनी कमाई समझ। सच्चा दान करना, सचमुच जगत्पति भगवान् को उधार देना है जो कि बड़े भारी दिव्य सूद के साथ फिर वापस मिलता है। जो जितना त्याग करता है वह उससे न जाने कितना गुणा अधिक प्रतिफल पाता है; यह ईश्वरीय नियम है। दान तो संसार का महान् सिद्धान्त है। पर इस इतनी साफ बात को यदि लोग नहीं समझते हैं तो इसका कारण यह है कि वे मार्ग को दूर तक नहीं देखते हैं। जीवन-मार्ग कितना लम्बा है, यह संसार कितना विस्तृत है और इस संसार में जीवों को उनके कब के शुभ-अशुभ कर्मों का फल उन्हें कब मिलता है, यह सब-कुछ नहीं दिखाई देता। इसीलिये हमें संसार में चलते हुए वे अटल नियम भी दिखाई नहीं देते जिनके अनुसार सब मनुष्यों को उनके शुभ-अशुभ कर्मी का फल अवश्यम्भावितया भोगना पड़ता है। यदि इस संसार की गति को हम जरा भी ध्यान के साथ देखें तो पता लगेगा कि धन-सम्पत्ति इतनी अस्थिर है कि यह रथचक की तरह घूमती फिरती है--आज इसके पास है तो कल दूसरे के पास है। पर हम इतनी क्षुद्र दृष्टिबाले हैं और इसीलिये इस 'आज' में ही इतने ग्रस्त हैं कि हम 'कल' को देखते हुए भी देखते नहीं हैं! संसार में लोगों का नित्य धननाश होता हुआ देखते हुए भी अपने धननाश के समय से एक पल पहले तक भी हम इस घटना के लिए कभी तैयार नहीं होते और इसीलिये जरा-से धननाश होने पर इतने रोते-चीखते भी हैं। यदि हम मार्ग को विस्तृत देखें तो इन धनागमों और धननाशों को अत्यन्त को अत्यन्त तुच्छ बात समझें। यदि संसार में प्रतिक्षण चलायमान, घूमते हुए, इस धन-चक्र को देखें, इस बहते हुए धनप्रवाह को देखें, तो हमें धन जमा करने का जरां भी मोह न रहे।

शब्दार्थ — तब्यान् धन से बढ़े हुए समृद्ध पुरुष को चाहिये कि वह नाधमानाय माँगनेवाले शब्दार्थ — तब्यान् धन से बढ़े हुए समृद्ध पुरुष को चाहिये कि वह नाधमानाय माँगनेवाले सत्पात्र को पृणीयात् इत् दान देवे ही; पन्थां सुकृत मार्ग को द्वाघीयांसं दीर्घतम अनुपश्येत देखे। सत्पात्र को पृणीयात् इत् दान देवे ही; पन्थां सुकृत मार्ग को दाघीयांसं दीर्घतम अनुपश्येत देखे। इस लम्बे मार्ग में रायः धन-सम्पत्तियाँ उ हि निश्चय से रथ्याः चका इव रथ-चकों की तरह इस लम्बे मार्ग में रायः धन-सम्पत्तियाँ उ हि निश्चय से रथ्याः चका इव रथ-चकों की तरह आ वर्तन्ते ऊपर-नीचे घूमती रहती हैं, बदलती रहती हैं और अन्यं अन्यं उपतिष्ठन्ते एक को छोड़कर दूसरे के पास जाती रहती हैं।

ै १३६

I TO THE THE THE

FUHUET OF 27HIN

२७ आषाढ

अपाम सोमममृता अभूमार्गनम् ज्योतिरविदाम देवान्। कि नूनमस्मान् कृणवदरातिः, किम्रं धूर्तिरंमृत् मत्यस्य।।

一港० दा४दा३

ऋषिः प्रगायः काण्यः । देवता सोमः । छन्दः विराट् तिष्टुप् ।

विनय मैंने अमर करनेवाले ज्ञानामृत का पान कर लिया है, मैं तृप्त हो गया हूँ, अमर हो गया हूँ। अब मैं मृत्यु से पार हो गया हूँ, क्योंकि मैंने देख लिया है कि मैं अजर-अमर हूँ, नित्य हूँ, सनातन हूँ, न कभी पैदा हुआ हूँ और न कभी मर सकता हूँ। यह सब मैं ज्ञान के प्रकाश में साफ देख रहा हूँ। मैं प्रकाश के राज्य में पहुँचा हुआ हूँ, किसी भ्रम व संशय को स्थान नहीं है। मैं अब मरनेवाला मनुष्य नहीं रहा हूँ, देव हो गया हूँ, मैंने देवलोक पा लिया है। अब मेरा न कोई मित्र है और न शत्रु है। मेरे लिए संसार में विघन-बाधा कोई वस्तु नहीं रही है। जो बेचारे अज्ञानी मुझे अपना शत्रु समझते हैं, मुझे सहायता देना रोककर हानि पहुँचाना चाहते हैं —वे जानते नहीं। उनके किये से भला मेरा क्या बिगड़ सकता है ? मुझ परितृप्त निष्काम पुरुष को वे क्या हानि पहुँचा सकते हैं ? मुझ अमर को मरणशील मनुष्य की कौन-सी हिंसा, कौन-सा वध मार सकता है ? हे मेरे अमृत परमेश्वर ! वे अमृतपान को कुछ भी नहीं जानते। तू उन्हें भी अमृत का जरा मजा चखा दे, तो वे जान जायें कि मरणशील मनुष्य कितना तुच्छ है और उसके हाथ में पकड़ा हुआ और भी अधिक क्षणभंगूर हिंसा का हथियार कितना अधिक तुच्छ है! मनुष्य अपने मर्त्यपन की अवहेलना को अनुभव करने लगे तो वह अमर बनने के लिए, देव बनने के लिए व्याकुल हो उठे। तब मार-काट, हिंसा, द्वेष कहाँ रहे ? तब किसी को बिगाड़ने की ज़रूरत न रहे, सबको बनाना ही काम हो जाय; किसी को मारने, नाश करने की जरूरत न रहे; सबको जीवित करने का ही काम रह जाय। अहो, अमर को मारने की इच्छा करनेवाले कितना व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं ! परितृप्त ज्ञानी देव को नुकसान पहुँचाना चाहनेवाले कितने भ्रम में हैं ! अपनी शक्ति का कितना दुरुपयोग कर रहे हैं ! हे परमेश्वर ! तु उनपर दया कर।

शब्दार्थ—सोमं अपाम मैंने सोम का पान किया है, अमृताः अभूम अमर हो गया हूँ। ज्योतिः अगन्म प्रकाश पा लिया है। देवान् अविदाम देवों को प्राप्त हो गया हूँ, देव हो गया हूँ, मैंने दिव्यता पा ली है, सो अब नूनं निश्चय से अरातिः शत्रु, दान का अभाव अस्मान् कि कृणवत् हमारा क्या करेगा और मर्त्यस्य धूर्तिः मरणशील मनुष्य की हिंसा अमृत हे अमृतदेव! कि मेरा क्या विगाड़ेगी!

हम यान का प्रश्र की

रेद आषाई

त्रातारो देवा अधिवोचता नो, मा नो निद्रा ईशत मात जिल्पः। व्यं सोमस्य विश्वहं प्रियासंः, सुवीरांसो विद्यमा वेदेम।।

一港० दारदा १४

ऋषिः प्रगाथः काण्वः । देवता सोमः । छन्दः विराट् विष्टुप् ।

विनय—हे प्राकृतिक देवो ! तुम हमसे बात करो । तुम हमारे से इतने स्वाभाविक और नजदीकी सम्बन्ध में हो जाओ कि हम तुम्हारे अभिप्राय को सदा समझते रहें। हे रक्षक देवो ! तुम तो हमारे इतने आत्मीय हो कि यद्यपि हम अप्राकृतिक जीवन बिताते हुए अपनी हानि करने में कभो कुछ कसर नहीं छोड़ते हैं, तो भी तुम्हारी प्रवृत्ति सदा अन्त तक हमारी रक्षा करने की ही रहती है। हमें हानि तभी पहुँचती है जब कि हम तुम्हारी बात अन्त तक नहीं सूनते, तुम्हारे बार-बार सावधान करने पर भी हम तुम्हारी चेतावनी को नहीं सुनते । और तुम्हारी जोरदार आवाज भी हमें सुनाई इसीलिये नहीं देती चूँिक हम तुमसे समस्वर (In tune) नहीं रहते, तुम्हारे यंत्र से अपना यंत्र मिलाये नहीं रखते। पर इस समता में ही सब-कुछ है। हम या तो तमोगुण में पड़े रहते हैं या उससे उठते हैं तो रजोगुण हमें अपने चक्र पर चढ़ा लेता है। इन दोनों की समता (सत्त्व गुण) में हम टिक नहीं सकते। हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम अपनी निद्रा को या अपनी बोलने आदि की किया को अपने काबू में रख सकें। जब 'तम' का वेग आता है तो हम आलस्य में दब जाते हैं और जब 'रज' का वेग आता है तो हम बोलते चले जाते हैं। इस असमता को, हे देवो ! अब हमसे हटा दो। अब 'निद्रा' और 'जल्पि' हमपर अपना प्रभुत्व न कर सकें। हम अब जब चाहें तभी आराम करें, अपनी निद्रा लेवें और अपने भाषण आदि कर्म पर अपना पूरा संयम रख सकें। इस समता, संयम रख सकने में ही श्रेष्ठ वीरता है, सुवीरता है। यदि हम ऐसे हो जायेंगे तो, हे देवो ! तुम सब देवों के देव उस सोमदेव के भी हम प्यारे हो जायेंगे। अब हमारी यही इच्छा है कि उस सोम प्रभु के प्यारे होते हुए और समता में रहनेवाले ऐसे 'सुवीर' होते हुए ही हम अपना जीवन बितायें। ऐसे तुम्हारे भाई बनकर तुमसे जो कुछ ज्ञान पायें उसे अपने जीवन द्वारा फैलाते रहें - तुमसे जो कुछ सुनें उसे औरों को भी सुनाते रहें । इसलिये, हे देवो ! तुम अब हमें सुनाओ, हमसे बात करो ।

शब्दार्थ — त्रातारः देवाः हे रक्षक देवो ! न अधिवोचत हमसे बात करो, हमें बताओ । नः निद्रा मा ईशत हम कभी निद्रा, आलस्य के वशीभूत न हों और मा उत जिल्पः और न ही बकवासं, व्यर्थ बोलने की इच्छा हमें दबाये । वयं विश्वह सोमस्य प्रियासः हम सदा सोम के प्यारे होते हुए और सुवीरासः श्रेष्ठ वीर होते हुए विदयं आवदेम ज्ञान को फैलाते रहें ।

1888

राज्या आनवर

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

र्हे आषाहै

श्रक्षेमी दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, वित्ते रंमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गार्वः कितव तत्रं जाया, तन्मे वि चेष्टे सवितायमर्थः॥

一ऋ० १०।३४।१३

ऋषिः कवष ऐलूषः अक्षो वा मौजवान् । देवता कृषि प्रशंसा । छन्दः तिष्टुप् ।

विनय---बिना परिश्रम किये फल चाहनेवाले भाइयो ! बिना पसीना बहाये सुख-सम्पत्ति के उम्मीदवारो ! तुम बड़े भारी भ्रम में हो । तुम्हारी यह इच्छा इस जगत् के महान् सिद्धान्त के विपरीत है। इस जगत् के स्वामी, सर्वान्तर्यामी प्रेरक प्रभु ने यह बात आज मुझे साफ-साफ दिखला दी है, मेरे अन्त:करण में इसका प्रकाश हो गया है। पहले मैंने भी सुख पा लेने के बहुत-से छोटे रास्ते (Short cuts) ढूँढे, पर आज प्रभु-कृपा से मुझे साक्षात् हो गया है कि बिना स्वयं परिश्रम किये कोई सच्चा सुख नहीं मिल सकता है। यह अटल नियम है। इसलिये आज मैं ऊँचे पर खड़ा होकर सब संसार को कहना चाहता हूँ, मनुष्यमात्र को सुना देता हूँ -- 'हे मनुष्य ! तू जुआ मत खेल, तू खेती कर !" आज संसार के मनुष्य नाना तरह से जुआ खेल रहे हैं, भिन्न-भिन्न जातियों ने अपने-अपने ढंग-सभ्य या असभ्य-निकाल रखे हैं। पर इन सब ढंगों में दो मुलभूत बात रहती हैं अर्थात् (१) बिना श्रम किये समृद्धि पाने का लोभ, और (२) इसके लिए अपने-आपको भाग्य की अनिश्चित, संशयित संभावना पर छोड़ देना। इस लोभ और आलस्य में फँसकर मनुष्य जुए के पाप में पड़ता है। पर लोभ और आलस्य के कारण वैयक्तिक ही नहीं, किन्तु सामाजिक सम्पत्ति का भी हास होता है तथा कौटुम्बिक जीवन (जो कि मनुष्य के विकास का साधन है) का नाश होता है। मनुष्यो ! तुम्हें संपत्ति का सुख (जिसका कि उपलक्षण 'गावः' है) और कौटुम्बिक सुख (जिसका कि उपलक्षण 'जाया' है) इस कृषि से ही मिलेगा, जुए से नहीं; खुद श्रम करके कमाने से मिलेगा, दूसरे को ठगने द्वारा मिली प्राप्ति से नहीं। इसलिये ऐसी थोड़ी कमाई को ही तू बहुत समझ। ईमानदारी और परिश्रम से ही कमाया हुआ थोड़ा-सा धन भी बहुत है; वह वास्तव में बहुत अधिक है। किसी प्रकार के भी जुए (बूत) से रहित सच्ची कमाई का एक-एक पैसा एक-एक हीरे के बराबर है, उतना ही सुख देनेवाला है। इसलिये, हे प्यारे ! तू अपनी शुद्ध कमाई की रूखी-सूखी में अमृत का आनन्द लें और अपनी शुद्ध कमाई के दो पैसों पर ही बादशाह को मात करनेवाले गर्व के साथ सच्चा आनन्द लुट।

शब्दार्थ अक्षै: मा दीव्यः तू कभी जुआ मत खेल किन्तु कृषि इत् कृषस्य खेती ही का काम परिश्रमपूर्वक कर वित्ते बहु मन्यमानः परिश्रम से मिले धन को ही बहुत मानता हुआ उसी में रमस्य आनिन्दत, प्रसन्न और सन्तुष्ट रह। कितय हे जुआ खेलनेवाले! तत्र इसी परिश्रम की कमाई में ही गावः गौ आदि सब सच्ची सम्पत्ति हैं और तत्र जाया इसी में सब गृहस्थ-सुख हैं। तत् यह बात अर्थः अयं सविता मेरे स्वामी इस प्रेरक प्रभ ने मे मुझे वि चष्टे अच्छी तरह दिखला दी है। □

3883

वैविक विनय

3712-421

३० आषाढ़

<u>विधुं</u> दं<u>डाणं</u> समेने बहूनां, युवा<u>नं</u> सन्तं प<u>छि</u>तो जेगार । देवस्य पश्^य काव्यं म<u>हि</u>त्वा, अद्या मुमार स हाः समान ॥

一ऋ० १०।१५।५; साम० उ० ६।१।७; अथर्व० ६।१०।६

ऋषिः बृहदुक्थो वामदेव्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृद् त्रिष्टुप् ।

विनय—हे मनुष्यो ! यह आश्चर्य देखो कि जवान को बुड्ढा निगल जाता है। उस पराक्रमी जवान को, जो कि रणस्थली में बहुतों को मार भगानेवाला है और जो कि बड़े-बड़े विविध कर्म करनेवाला है, एक न जाने कवका बुड्ढा, सफेद बालोंवाला बुड्ढा निगल जाता है। मनुष्यो ! तुमने वेशक बहुत-से मनुष्यकृत किताबी और काल्पनिक काव्य पढ़े होंगे, पर आज जरा इस जीते-जागते सामने होते हुए देव के महान् काव्य को भी देखो, जरा इस महाकाव्य के भी पन्ने पलटो और पढ़ो जिसमें लिखा है कि "जो अभी कल जी रहा था वह आज मरा पड़ा

है।" बस, इस दिव्य महाकाव्य में यही लिखा हुआ है।

भाई! क्या तुमने उस जवान के निगलनेवाले बुड्ढे को पहचाना? क्या तुम अपनी आँखों के सामने इस दिव्य-काव्य को नहीं देख रहे? क्या देखते हो कि दुनिया में रोज जो हजारों (एक क्षण पहले तक दूसरों को मार भगाने की भिक्त का गर्व रखते हुए) आदमी मर रहे हैं, उन्हें कौन निगल रहा है? यदि नहीं देखते, तो वेद की किताब में यह पढ़ लेने पर कि आत्मा अपने में प्राणों और इन्द्रियों को रोज निगलता है, आदित्य भिक्त 'चन्द्रमस्' को निगलती है और परम बुड्ढा कालरूप परमेश्वर एक दिन इस सब बड़े वेग से कियाशील, अगम, महान् ब्रह्माण्ड को (इस चलते-फिरते नौजवान संसार को) भी निगल लेता है, तो यह पढ़ लेने पर भी नहीं देखोंगे, यदि तुम्हें यह सहस्रों चतुर्युगियोंवाला कल्पान्त संसार ब्रह्मा का केवल एक दिन नहीं नजर आता जो कि उसके अगले ही दिन—उसके 'कल' में ही—मरा पड़ा है, और यदि तुम्हें इस जगत् की एक-एक घटना इसकी क्षणभंगुरता को नहीं दिखाती, तो तुम्हें वह देव ही एक दिन अपना महत्त्वशाली काव्य पढ़ायेगा और तुम्हें पदार्थ-पाठ देगा—"कल जो जीता था वह आज मरा पड़ा है।"

भाई ! देव के इस संसार में आकर यदि हम केवल इस 'अनित्यता' को ही सचमुच जान जाय, केवल यह पाठ पढ़ लें और अतएव कम-से-कम अपने बल का, नौजवानी का, कर्म-शक्ति का और दूसरों को मार भगा सकने का घमण्ड छोड़ दें तो बस, यह पर्याप्त है। तो

हमने सब काव्य पढ़ लिये और पढ़ाई का फल पा लिया।

शब्दार्थ — युवानं सन्तं एक ऐसे नौजवान को विधुं जो कि विविध काम करनेवाला है और समने रण में बहूनां बहुतों को दद्राणं मार भगानेवाला है उसे पिततः एक बुड्ढा जगार निगल जाता है देवस्य देव के महित्वा इस बड़े महत्त्ववाले काव्यं काव्य को पश्य देख कि ह्यः सम्—आन कल जो जी रहा था, साँस ले रहा था, सः वही अद्य आज ममार मरा पड़ा है।

1885

NA(4) 41 2003

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

३१ आषाढ़

माता रुद्राणां दुहिता वसू<u>नां</u>, स्वसांदित्यानां मुर्ह्तस्य नाभिः। प्र तु वोचं चिकितुषे जनाय, मा गामनांगामदिति विधष्ट।।

一ऋ० 51१०१1१५

ऋषिः जमदग्नि भागंवः । देवता गौः । छन्दः विष्टुप् ।

विनय हे मनुष्य ! तू गौ को कभी मत मार । इस निरपराध वेचारी गौ को कभी मत मार । तू चेतनावाला है, तुझे परमात्मा ने कुछ समझ, अक्ल, बुद्धि दी है । इसलिये तुझे कहता हुँ तु गो-घात कभी मत करना ! तू जरा-सा अपनी समझ का उपयोग करेगा तो तुझे पता लग जाएगा कि यह गौ यद्यपि वड़ी भोली, बेचारी, बिलकुल निर्दोष है, इसलिये इसे कोई भी कभी मार सकता है, मारने से यह मर जायगी, कोई प्रतिरोध न करेगी; पर साथ ही यह इतनी महत्त्वशालिनी है, सब देवों की सम्बन्धिनी और अमरपन का एक केन्द्र है कि इसका मारना अपना नाश करना है, इसका घात करना आत्मघात है। यह गौ कहीं और नहीं, हमारे ही अन्दर है। यह 'अदिति' आत्म-शनित है, वाणी है, अन्तरात्मा की वाणी है, अन्दर की आवाज है। इसे तुम दवाओंगे तो बेशक यह चुपचाप दब तो जायगी, पर इससे तुम्हारा आत्मा नष्ट हो जायगा। यह 'अदिति' वाणी (यह आदित्यों की वहिन) वसूओं - आत्मा की वासक अग्नियों —से प्रकट होती है (इनकी पुत्री है) और मनुष्य के सब रुद्रों - प्राणों - की और सब चेष्टाओं की माता है। यह ऐसी अमृत वस्तु है कि इसे मारने का यत्न करनेवाला खद मर जाता है, और इसकी रक्षा करनेवाला ही सुरक्षित रहता है। इसी अन्दर की 'गौ' की प्रतिनिधि आधि-दैविक में भूमि है, आधिभौतिक में राष्ट्रदेवी है, और पशुओं में गौ माता है। हे चेतनावाले मनुष्य ! तू समझ कि इन गौओं का भी घात कितना भय द्धार परिणाम लानेवाला है। भूमि, राष्ट्र और गौओं की रक्षा करने में ही मनुष्यों की, मनुष्य-जाति की रक्षा है। देखना, इस भूमि-गौ की, इस राष्ट्र-गौ की तथा इस गौ-पशु की जरा भी हिंसा करनेवाला कर्म तुझसे न हो। जब कभी इन सर्वथा अप्रतिरोधिनी गौओं की हिंसा करने का प्रलोभन आये तो याद कर लेना कि ये सब अमृत की नाभियाँ हैं और अपने-अपने क्षेत्र के आदित्यों, वसुओं, और रुद्रों से सम्बन्धित दिव्य शक्तियाँ हैं। इनको मारकर तू कभी फल-फूल नहीं सकता। पर अन्त में सब बाह्य गौओं की गौ तो अन्तरात्मा की वाणी है। इस गौ को तो कभी मत छेड़ना, इसे सदा पालना, पोसना और इसकी आज्ञा को सदा मानना। अपना सर्वस्व स्वाहा करके भी इस गौ की रक्षा करना। इसे जरा भी नहीं दवाना। यदि इस अमृतनाभि 'अदिति' गौ का रक्षण, पोषण और वृद्धि होती गई तो तू भी एक दिन अमृत हो जायगा, देवों का राज्य पा जायगा। देखना, इस सर्वथा अप्रतिरोधिनी परम शान्त गौ का तेरे यहाँ जरा भी तिरस्कार न होने पाय, इसे जरा भी क्षति न पहँचने पाय।

शब्दार्थ — मैं चिकितुषे जनाय प्रत्येक चेतनावाले मनुष्य को नुप्रवोचं कहे देता हूँ कि अनागां निरपराध अदिति अहन्तव्या गां गौ को मा विधष्ट कभी मत मार, क्योंकि यह रुद्राणां माता रुद्र देवों की माता है, वसूनां दुहिता वसु देवों की कन्या है और आदित्यानां स्वसा आदित्य देवों की बहिन है तथा अमृतस्य नाभिः अमरपन का केन्द्र है।

. 588

To Gibilized by Arva Sarkai Foundation Cheronal and econgotro US

३२ आषाढ

श्रजीत्ये श्रहंतये पवस्व, स्वस्तये सर्वतांतये वृहते। तदुंशन्ति विश्वं हमे सर्वायस्तद्वहं वंश्मि पवमान सोम।।

न्द्रः हाहदा४

ऋषिः प्रतर्दनो देवोदासिः । देवता सोमः । छन्दः निचृत्त्रिष्टुप् ।

विनय-हम चाहते हैं कि हम अजित रहें, कभी हार न खायें; हम अहत रहें, कभी मारे न जायें; हमारा कल्याण ही हो, कभी हमारा कोई अकल्याण न हो। परन्तु इस सब के लिए, हे सोम ! हम तुम्हारे रस के भिक्षुक हैं। तुम्हारा रस मिल जाये तो यह और सव-कुछ हमें स्वयमेव मिल जाय । जैसे कि ग्रीष्म के बाद मेघवृष्टि उद्यान व खेत की सब वृक्ष-वनस्पतियों को जिस समय सजीव करती है तो उनमें सरसता, उनमें हरियाली, उनमें नवपल्लवों का फटना, उनमें पूष्प और फल का आना आदि सब-कुछ उस एक वर्षारस के पा जाने से ही जाता है, उसी तरह यह संसाररूपी महा उद्यान भी, हे बरसनेवाले सोम ! तुम्हारा रस पाकर ही नाना तरह से फलता-फलता और जीवित रहा करता है। इस संसारोद्यान का प्रत्येक जीवरूपी वृक्ष तुमसे जीवन पाकर ही नाना प्रकार से आत्म-विकास पा रहा है। हम किसी भी प्रकार की उन्नति चाहें, किसी भी दिशा में आत्म-विकास पाना चाहें, सदा हमें जिस एक वस्तु की जरूरत है, वह है तुमसे मिलनेवाला जीवन-रस, सोम-रस। इसलिये, हे पवमान सोम! संसार के ये सब मेरे मनुष्य-साथी तुमसे यह जीवन-रस माँग रहे हैं - तुमसे यही चाह रहे हैं। मैं तुमसे इसी की माँग मचा रहा हूँ। तो हे सोम ! अब तुम मेरे लिए क्षरित होओ - मेरे इन सब मनुष्य-संखाओं के लिए क्षरित होओ; हमारी अजीति, अहति, स्वस्ति आदि सब कामनाओं को पूरा कर डालने के लिए क्षरित होओ। नहीं-नहीं, तुम तो हे अमृत बरसानेवाले! इस सब चर, अचर, बृहत् संसार के लिए ही अपनी अमृत-वर्षा का दान करो। ऐसा बरसो कि तुम्हारे अमृत से सीचे जाते हुए इस विशाल ब्रह्माण्ड में सब जीवों, सब प्राणियों की सदा ठीक तरह से सर्वेविध सर्वोन्नित व सर्वोदय ही होता जाये। इस तरह सब जगत् और प्राणीमात्र का अमृत-सिचन करते हुए ही तुम मुझको, इस अपने एक तुच्छ प्राणी को भी अपना यह अमृत-रस प्रदान करो। जरा देखो, यह सब संसार इस अमृत-रस पाने के लिए कैसा व्याकुल हो रहा है! मैं इसके लिए कैसा तड़प रहा हूँ !

शब्दार्थ— पवमान सोम हे क्षरित होनेवाले सोम ! अजीतये हमारे अजित होने के लिए अहतये हमारे अहत रहने के लिए स्वस्तये हमारे कल्याण के लिए तथा बृहते सर्वतातये इस महान् संसार की सर्वविध सर्वोन्नित व सर्वोदय के लिए पवस्व तुम क्षरित होओ। तत् इसे ही इसे विश्वे सखायः वे सब मनुष्यसाथी उशन्ति चाह रहे हैं, माँग रहे हैं और तत् इसे ही अहं मैं विश्वे सखायः वे सब मनुष्यसाथी उशन्ति चाह रहे हैं, माँग रहे हैं और तत् इसे ही अहं मैं विश्वे चहुन हूँ—इसके लिए व्याकुल हो रहा हूँ।

पत्त में वस कहा स्थित नीजा का बहुत जांदक प्रयोग भी नहीं पत्ता

IS STOLE BUT PER BOIL BUT THE THE TER BE

वैदिक विनय

5.88

वर्षा की ऋतुचर्या

लक्षण—जब ग्रीष्म की कठोर गर्मी से वाष्प बनकर ऊपर गये हुए पृथिवी के रस (जल) सूर्य के दक्षिणायन में हो जाने से फिर पृथिवी पर जल बनकर बरसते हैं उस काल को वर्षाऋतु कहते हैं।

साधारणतः वर्षा के चार मास (चातुर्मास) प्रसिद्ध हैं आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, और

आश्विन । इनमें से वर्षाऋतु के मुख्य मास श्रावण और भाद्रपद ही समझने चाहियें।

महिमा ग्रीब्मकाल में मानो भूलोक तपस्या करता है। हमारी इस तपस्या को सफल करते हुए मानो ऊपर से इन्द्रदेव वर्षा के रूप में हमपर अमृत बरसाकर हमें कृतकृत्य करते हैं। वर्षामृत पाकर गर्मी से झुलसे हुए सब स्थावर और जंगम प्राणी, सब वनस्पितयाँ, पशु और मनुष्य नवीन प्राण से युक्त हो जाते हैं। वर्षा द्वारा भूलोक को दूसरे प्रकार का प्राण मिलता है। इसे रियस्थ प्राण या अपान प्राण कहा जा सकता है। अन्न-जल ग्रहण करने से हमें जो प्राण मिलता है, वह वर्षा द्वारा ही आता है। अथवंवेद के प्राण-सूक्त में इस प्राण-वर्षा का सुन्दर वर्णन है। अथवं ११-४-२, ३, ४, ५, ६। नवीन प्राण पाकर सब वृक्ष-वनस्पितयाँ हरी-भरी हो जाती हैं, पश्-पक्षी हरियावल देखकर प्रसन्नचित्त होते हैं, मेंदक जैसे मट्टी में दबे जीव पुन-रुजीवित हो जाते हैं, मयूर नाचने लगते हैं। प्राचीन काल में संन्यासो लोग इस ऋतु में भ्रमण करना छोड़कर एक स्थान पर ठहरकर स्वाध्याय किया करते थे। आश्रमों में वेदपाठ शुरू हो जाते थे।

गुण-यह ऋतु शीतल, दाह्कारक, (जठर) अग्नि को मन्द करनेवाली तथा वात-

कारक है। इस ऋतू में सब प्राणियों के बल तथा जठराग्नि न्यून अवस्था में होते हैं।

पथ्यापथ्य चूंकि ग्रीष्मकाल की लघुता और रूक्षता के कारण संचित वात इस ऋतु में गर्मी और ठंडक पाकर सहसा प्रकुपित हो जाता है, अतः इस ऋतु में वातनाशक अर्थात् मधुर, खट्टें, और नमकीन रसों का सेवन करना उचित है। इस ऋतु में शरीर भींजा हुआ रहता है अतः उसकी शान्ति के लिए तीक्ष्ण, कसेले और कड़वे रसों का सेवन भी करना चाहिये। चावल, जौ, गेहूँ, घृत, दूध, उड़द, गरम तथा स्निग्ध (वातनाशक) पदार्थों का उपयोग करना अच्छा रहता है। इसके विरुद्ध अतिपरिश्रम, रूक्ष तथा अतिशीत पदार्थों का सेवन वातकारक होने के कारण नहीं करना चाहिये। नदी-तालाबों के (मलिन हुए) जल का भी पान नहीं करना चाहिये।

पर इस ऋतु में गर्म तथा स्निग्ध चीजों का बहुत अधिक प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। इस ऋतु में अम्लविपाकी (खट्टे) जल तथा ऐसी अन्य औषध सेवन करने से पित्त का संचय होता है। यद्यपि वर्षा की नमी के कारण इस समय पित्त प्रकुपित नहीं हो पाता, तथापि चूँकि वह शरद् में प्रकुपित होता है, अतः यदि इस ऋतु में गर्म तथा स्निग्ध पदार्थों का बहुत अधिक सेवन किया जायगा तो शरद् के प्रारंभ में पित्त का बहुत अधिक प्रकोप होगा।

इस ऋतु में आकाश के मेघाच्छन्त रहने से मनुष्य का जिगर (यकृत्) अच्छी प्रकार काम नहीं करता, अतः ऐसे गरिष्ठ भोजन नहीं खाने चाहियें जिनसे जिगर को अधिक काम करना पड़े।

186

श्रावण (कर्कं)

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

हृदय, पीठ और रीढ़ की स्वस्थता करनेवाला

प्रारंभिक स्थिति में खड़े हो जाइये, हाथ नीचे लटके हों और छाती आगे उभरी हुई हो। हथेलियाँ शरीर के साथ लगी हों। अब किट-प्रदेश को चूल बनाकर ऊपर के शरीर को कमशः दायें और बायें को झुकाइये। दायों तरफ झुकाते समय बायें हाथ को इतना ऊपर उठाइये कि उसकी अंगलियाँ बगल तक पहुँच जायें, और बाईं तरफ झुकाते हुए दायें हाथ को इसी तरह ऊपर उठाइये। इस व्यायाम के लिए मांसपेशियाँ ढीली छोड़ दी जा सकती हैं। जब शरीर सीधा किया जा रहा हो तब श्वास अन्दर लीजिये और जब किसी तरफ झुकाया जा रहा हो तो श्वास बाहर निकालिए। इस व्यायाम को १०-१२ बार की जिये।

इस मास के लिए दूसरा व्यायाम निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

पीठ के बल भूमि पर सीधा लेट जाइये। दोनों हाथ सिर के नीचे लगे हों। सारे शरीर की मांसपेशियाँ पूरी तरह तान लीजिये। एक ऐसा पूर्णश्वास धीरे-धीरे अन्दर भरिये कि पेट और फेफड़े सब भर जायँ और अधिक-से-अधिक फूल जायँ। उसके बाद अन्दर रोके श्वास को धीरे-धीरे ऐसे बाहर निकालिये कि छाती और पेट बिल्कुल खाली हो जायँ। अब मांसपेशियों को ढीला छोड़ दीजिये और यही व्यायाम फिर कीजिये।

इन व्यायामों को करते हुए हृदय और रीढ़ (मेरुदण्ड) को सर्वथा स्वस्थ, और नीरोग

अवस्था में ध्यान कीजिये।

the property was proported and the

ध्यान—मेरा हृदय दढ़ता और पूर्णता से काम कर रहा है। यह मेरा एक-एक गहरा रवास हृदय को ऐसा चैतन्ययुक्त कर रहा है कि उससे मेरे शरीर का एक-एक घटक उत्तम पुष्टि पाये बिना नहीं रह सकता।

इसी तरह रीढ़ के विषय में ध्यान कीजिये। इन अंगों को गौणतया वैशाख, कार्तिक और माघ के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

520

THE SERVICE THE PERSON IN

स्यामया जा भी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व श्रावण

पृथक् प्रायंन् प्र^थमा टेवहूं<u>त</u>योऽकृंण्वत श्र<u>व</u>स्यांनि दुष्टरां । न ये <u>शेकुर्य</u>क्<u>ञियां नार्वमारुईमी</u>र्मैव ते न्यंविशन्त केर्पयः ॥ —ऋ० १०।४४।६; अथर्व० २०।६४।६

ऋषिः आङ्गिरसो कृष्णः । देवत्। इन्द्रः । छन्दः निचृत् जगती ।

विनय -भाइयो ! इस संसार-सागर से हमें तरा सकनेवाली नौका यज्ञमयी ही है। हम यदि यज्ञकर्म नहीं करेंगे तो हम न केवल मनुष्यत्व से ऊपर नहीं उठ सकेंगे अपितु मनुष्यत्व को भी कायम नहीं रख सकेंगे; तब हमें नीचे पश्तव में अधःपतित होना पड़ेगा। देखो, बहत-से "देव-हृति" पुरुष उन देवलोक, पितृलोक, ब्रह्मलोक, आदि दुष्प्राप्य यशोमय उच्च लोकों को पहुँच गये हैं; बड़े भारी यत्न से इस मनुष्यावस्था को तरकर देव हो गये हैं। ये लोग यज्ञिय नाव पर चढ़कर ही वहाँ पहुँचे हैं। इन्होंने अपने में देवों का, दिव्यताओं का, आह्वान किया है और 'प्रथम' बने हैं। दूसरी तरफ वे दुर्भागे मनुष्य हैं जो कि थोड़ा-सा स्वार्थत्याग न कर सकने के कारण, अयज्ञिय हो ऋणबद्ध रहने के कारण, उस नाव का आश्रय नहीं पा सके हैं, अतः यहीं बँधे पड़े रह गये हैं। ये बेचारे 'केपि' - कुत्सिताचरणी लोग यहाँ भी नीचे धँसते जा रहे हैं, पश्तव में गिर रहे हैं। इनका फिर पवित्र बनना अब अत्यन्त कठिन हो गया है। अतः आओ, मनुष्य-योनि पाकर हम कुछ-न-कुछ तो स्वार्थत्याग करें, इतना यज्ञ-कर्म तो करें कि ऋणबद्ध न बने रहें। हमपर जो माता, पिता, गुरु, समाज, राष्ट्र, मनुष्यता, प्रकृतिमाता, और परमेश्वर आदि के ऋण हैं, उन्हें उतारने के लिए तो अपने स्वार्थों का नित्य हवन किया करें। हम यदि इतना करेंगे, केवल परमावश्यक पंचयक्षों को यथाशक्ति करते रहेंगे, तो भी हम इस यज्ञिय नौका पर चढ़ सकेंगे और देवयान लोकों को नहीं तो कम-से-कम पितृयाण लोकों को तो जा पहुँचेंगे, अपने मनुष्यत्व को तो नहीं खो देवेंगे। भाइयो ! यज्ञमधी नौकां खड़ी है। हम चाहें तो देवहूति होकर, दिव्यस्वभाव धर्मशील होकर, यज्ञ-नौका द्वारा इस दुस्तर सागर को तरकर ज्ञानैश्वर्यमय उच्च-से-उच्च लोकों तक पहुँच सकते हैं; नहीं तो, फिर यदि हम इस नौका में स्थान न पा सके तो हम ऐसी खराब परिस्थिति में आ पड़ेंगे, और वहाँ ऐसे निर्लज्ज बन जायँगे कि हम कुत्सित अपवित्र कर्मों के करने में ही सुख पायँगे और नीचे ही नीचे गिरते जायँगे; फिर हमारे उद्धार का दूसरा अवसर कितने काल बाद आवेगा यह कौन जानता है ?

शब्दार्थ - प्रथमाः जो प्रथम प्रकार के या विस्तृत ज्ञानी देवहूतयः देवों अर्थात् दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले मनुष्य होते हैं वे पृथक् जुदा ही प्रायन् प्रकृष्ट मार्ग से [अपने-अपने लोकों को] पहुँचते हैं। वे दुष्टरा वड़े दुस्तर श्रवस्यानि ज्ञानैश्वर्यों को, श्रवणीय यशों को अकृष्वत प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु ये जो यज्ञियां नावं इस यज्ञमयी नाव पर आरुहं चढ़ने में न शेकुः समर्थ नहीं होते ते वे केपयः कुत्सित, अपवित्र आचरणवाले होकर ईमा एव यहीं इस लोक में न्यविशन्त नीचे-नीचे जाते हैं।

68E

भात्मा का तिहनांद

र आवण

ं <u>श्र</u>हमिन्<u>टो</u> न पर्राजिग्य इद् धनं, न मृत्यवेऽवेतस्<u>ये</u> कदां<u>च</u>न । स्रोमिमिन्मां सुन्वन्तो याचं<u>ता</u> वसु, न में पूरवः सुरूये रिषाथन ॥

一港०१०१४६१

कृषिः इन्द्रो वैकुण्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराट्-जगती ।

विनय मैं इन्द्र आत्मा हूँ। मैं कभी भी हराया नहीं जा सकता। मेरा ऐश्वर्य कभी भी छीना नहीं जा सकता। प्रकृति के साथ मेरी लड़ाई ठनी है। प्रकृति मेरे ऐश्वर्य छीनना चाहती है, पर मैं प्रकृति के साथ लड़ी गयी अपनी प्रत्येक लड़ाई में विजयी होता हूँ और जितना-जितना विजयी होता जाता हूँ उतना-उतना मुझमें मेरा नया-नया ऐश्वर्य प्रकट होता जाता है। मैं कभी भी प्रकृति से हार नहीं खा सकता हूँ। ऐसा क्यों न हो ? मैं तो मौत को भी खा जानेवाला हूँ। सब दुनिया को खानेवाली मौत भी मेरे सामने नहीं ठहर सकती। मैं अमर आत्मा हूँ। मृत्यु से बढ़कर और किस हथियार से प्रकृति मुझे जीतेगी ? हे मनुष्यो ! तुम मेरे पास खड़े होकर देखो और बोलो—''मैं अमर हूँ ! मैं अमर हूँ !" तुम कहाँ प्रकृति की मोहिनी मूर्ति के सामने ऐश्वयों के लिए गिड़गिड़ाते फिरते हो ? यह माया तुम्हें घोखा ही दे सकती है; ऐंश्वर्य नहीं दे सकती। इससे जो कुछ ऐश्वर्य मिलते तुम्हें दीखते हैं वे सब वास्तव में मेरी शक्ति से ही मिलते हैं। इसलिए आओ, मनुष्यो ! तुम मुझसे ऐश्वर्य माँगो । मैं तुम्हें सब-कुछ दूंगा। पर एक शर्त है। सोम का सेवन करते हुए - यज्ञार्थ कर्म करते हुए - ही तुम मुझसे ऐश्वर्यं माँगो। संसार में सच्चा सोम का रस आत्म-ज्ञान ही है - सच्चा ज्ञान, भिवतभरा आत्म-ज्ञान ही है। इस ज्ञान के निष्पादन करने में सहायक तुम्हारे जितने कमें हैं वे सब सोम-सवन ही हैं। ये यज्ञार्थ कर्म हैं। ये यज्ञ-कर्म तुम्हें अमर बनाते हैं, तुम्हें मुझ आत्मा के पास लाते हैं, ये 'आत्म'-विशुद्धवे' होते हैं। अतः खूब यत्न-उद्योग के साथ इस सोम का सवन करते हुए तुम मुझसे जो कुछ माँगोगे वह मैं तुम्हें जरूर दूंगा। अरे! तुम्हें एक के बाद एक अनमोल ऐरवर्य मिलता जायगा। तुम कहाँ इस माया के पीछे पड़े हुए ठीकरियाँ वटोर रहे हो ? मुझसे तुम अन्दर का खजाना क्यों नहीं माँगते ? हे मनुष्यो ! तुम मुझ आंत्मा से मैत्री करो तो तुम .विनाश से पार हो जाओगे। इन प्रकृति के गुणों से बहुत दिन दोस्ती कर ली। मेरे से मैत्री करके देखो ! यह दावा है कि मेरे मित्र का इस संसार में कोई नाश नहीं कर सकता।

हे नर-तन पानेवालो, सुनो ! तुम्हारे ही आत्मा का यह सिंहनाद है। तुम्हारा आत्मा

गरज रहा है, सुनो !

शब्दार्थ अहं इन्द्रः मैं आत्मा हूँ धनं न पराजिग्ये इत् मैं ऐश्वर्य को कभी हार नहीं सकता । मृत्यवे न कदाचन अवतस्थे मृत्यु कभी भी मुझे नहीं आ सकती । हे पूरवः हे मनुष्यो ! सोमं सुन्वन्तः इत् मा वसु याचत यज्ञार्थ कमं करते हुए ही मुझसे ऐश्वर्यों को माँगो । में सख्ये न रिषायन मेरी मैत्री [सख्य] में रहते हुए तुम कभी नष्ट नहीं होवोगे ।

-1.86.

FIE BUT THE THE

१. गीता ५।११

वैदिक विनय

यीम समल्त है। न्यार

· Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

३ श्रावण

श्री नो <u>भंदाः</u> ऋतंवो यन्तु विश्वतोऽदंब्धा<u>सो</u> अपरीतास <u>ज</u>िद्धदंः। टेवा नो यथा सद्भिद्दृषे असुन प्रायुवो रक्षितारो टिवे दिवे।। —ऋ० १।८६।१; यजुः० २५।१४

ऋषिः गोतमो राहूगणो पुतः। देवता विश्वे देवाः। छन्दः निचृण्जगती।

"मनुष्य ऋतुमय (संकल्पमय) है, अतः मनुष्य को ऋतु अर्थात् संकल्प व अध्यवसाय करना चाहिये" पर यह संकल्प हम किस प्रकार से करें ?

पहले तो हमारे ऋतू (संकल्प) 'भद्राः' होने चाहियें। हम श्रेष्ठ संकल्प ही करें कल्याण-कारी संकल्प ही करें। जो अभद्र संकल्प हैं उन्हें देवता स्वीकृत नहीं करते, अतएव उनसे कुछ बनता नहीं। इसलिये हमारा यह आग्रह है कि हमारे पास शभ संकल्प ही आवें जिससे देवता अर्थात् संसार को चलानेवाली ईश्वरीय शक्तियाँ हमें उन्नत करती रहें। परन्तु संकल्पों के केवल शुभ होने से ही काम नहीं चलेगा, ये हमारे शुभ संकल्प बलवान् भी होने चाहियें। ये 'अदब्ध' हों, किसी विरोधी शक्ति से दबनेवाले न हों। और फिर ये संकल्प उद्भेदन करनेवाले हों अर्थात् मार्गं की सत्र विघ्न-बाधाओं का उद्भेदन करते हुए, सब गुत्थियों को सुलझाते हुए और सब बंद किवाड़ों को खोलते हुए सफलता तक पहुँचानेवाले हों। हमारे शुभ संकल्पों में ऐसा बल भी चाहिए। और ये संकल्प (परीत) पहले से घिरे हुए भी, अर्थात् किसी बड़ी अच्छाई के विरोधी भी, नहीं होने चाहियें; हमारे संकल्प किसी भी महान् सिद्धान्त में दस्तन्दाजी करनेवाले भी नहीं होने चाहियें। यदि ऐसा होगा, तो भी हमारे संकल्प जगत् के देवों द्वारा प्रतिहत हो जायंगे, मारे जायंगे। इसलिये आज से हममें शुभ और ऐसे बलवान् संकल्प ही आवें जिससे कि (इन संकल्पों के ईश्वरीय नियमों के अनुकूल होने के कारण) देवता हमारी सदा उन्नति कराते जाय और दिन-रात अप्रमाद होकर हमारे रक्षक बने रहें। प्रभु के ये देव तो हमारी उन्नति के के लिए ही हैं और निरन्तर बिना भूल-चूक के हमारी रक्षा करने को तैयार हैं। पर हम भी बड़े-बड़े अभद्र संकल्प करके या यूँ ही निर्बल-से बहुत-से संकल्प करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि इन देवों की बड़ी भारी सहायता पाने से अपने-आपको वंचित कर लेते हैं। इसलिये आज से केवल भद्र निश्चय ही हममें आवें, तथा न दबनेवाले, उद्भेदन करते हुए चले जानेवाले, और अपरीत, महान् भद्र निरुचय ही हममें आवें और चारों ओर से आवें, जिससे कि हम जगत्-शासक के देवताओं की अनुकूलता में ही सदा बढ़ते हुए जीवनमार्ग पर चलते जाय ।

शब्दार्थः नः भद्राः ऋतवः विश्वतः आयन्तु हमारे पास श्रेष्ठ ही संकल्प सब तारफ से आवें। अवब्धासः जो कि कभी न दबनेवाले हों अपरीतासः जो किसी से घिरे हुए न हों उद्भिदः और जो उद्भेदन करनेवाले हों यथा देवाः न सदिमद् वृधे असन् जिससे कि देवता हमारे लिए सदा उन्नित के लिए होवें दिवे दिवे अप्रायुवो रिक्षतारश्च असन् और प्रतिदिन प्रमादरहित होकर हमारे रक्षक होवें।

हम सिवता देव का औटर दान ही मिले

४ आवण

देवस्यं व्यं संवितुः सवीमनि श्रेष्ठं स्याम् वस्नुनश्च दावने । यो विश्वंस्य द्विपटो यश्चतुष्पदौ निवेशने प्रस्वे चासि भूमनः ॥

一港० ६।७१।२

ऋषिः भारद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता सविता । छन्दः निचृष्जगती ।

विनय सब जगत् की स्थिति करनेवाले और सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले तुम ही हो। ये जो जगत् में असंख्य चेतन प्राणी दिखाई देते हैं - जो दो पैरवाले मनुष्य विचरते हैं या जो चार पैरों पर ये 'पशु' नामक प्राणी फिरते हैं -इन सब की स्थित व पालन करनेवाले तुम हो, तुम ही इन सब के पैदा करनेवाले भी हो। यह अखिल ब्रह्माण्ड तुमसे शुरू हुआ है, और तुम्हारे ही अखण्ड शासन में चल रहा है। इस अपिरमेय संसार में जो हिलना-जलना हो रहा है, जो इसमें एक-एक चेष्टा, एक-एक क्रिया हो रही है उसके आदिप्रवर्तक तुम हो। हवा द्वारा जो एक तिनका भी हिलता है वह तुम्हारी आज्ञा से हिलता है। इसलिए हे सर्वप्रेरक देव! हे संवित: ! हमारी तुमसे एक प्रार्थना है। हम चाहते हैं कि हम सदा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा में हों और तुम्हारे ऐश्वयों के श्रेष्ठ दान में हों। इस जगत् में जो कुछ श्रेष्ठ व अश्रेष्ठ हो रहा है, वह सब-कुछ तुम्हारी ही दी हुई शक्ति से हो रहा है। पर हम चाहते हैं कि हमारे शरीरों से, मनों से, वाणियों से जो कुछ भी हरकत हो वह सब श्रेष्ठ ही हो। हमारे शरीरों, मनों, द्वारा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा का ही प्रवाह बहे। अच्छा-बरा सब प्रकार का सब ऐश्वयं बेशक तुम द्वारा ही संसार में बरस रहा है, पर हमें तुम्हारे ऐश्वर्य का श्रेष्ठ दान ही मिले । संसार में बुरी कमाई से पैदा हुआ और बुरे काम में उपयुक्त होनेवाला ऐश्वर्य भी होता है, तथा अच्छी कमाई का और सदुपयुक्त होनेवाला श्रेष्ठ ऐश्वर्य भी होता है। हमारे पास यह दूसरा ऐश्वर्य ही हो। यह ऊँचा-नीचा, अच्छा-बुरा, उत्तम-अधम जो यह नाना प्रकार का संसार है यह समग्र ही विश्व तुम्हारी विभूति है। हम चाहते हैं कि हम तुम्हारी ऊँची विभूति के अंश बनें। अपने को उच्च बनाने के लिए जिन-जिन साधनों को जानते हैं उन्हें हम बड़े यत्न से कर रहे हैं, अपने को अधिकारी बना रहे हैं; इसलिये हमें तुम श्रेष्ठ प्रेरणा का पात्र बनाओ और हमें श्रेष्ठ प्रेरणा करो, हमें श्रेष्ठ ऐववर्य का पात्र बनाओ और श्रेष्ठ ऐववर्य प्रदान करो।

शब्दार्थ — यः विश्वस्य द्विपदः जो तू सब दो पैरवालों तथा चतुष्पदः जो तू चार पैर-वाले जीवों का निवेशने असि आश्रय देनेवाला है भूमनः प्रसवे च [असि] और बड़े भारी संसार को प्रेरणा देनेवाला है सवितुः देवस्य उस तुझ प्रेरक देव के श्रेष्ठे सवीमनि श्रेष्ठ प्रेरणा में वयं स्थाम हम हों वसुनश्च तथा तेरे ऐश्वयं के श्रेष्ठे] दावने श्रेष्ठ दान में हों।

कि प्रदेश कार का कहि कही लीका का का का लोग कि वा है।

128

ज्ञानी भन्त क्री विख्यारी नेत

प्र भावण

यो अस्मे <u>घंस उत वा</u> य ऊर्<u>धान</u> सोमं सुनोति भवंति चुमाँ अहं। अपाप शकस्तेतनुष्टिमूहति तनूशुंभं मुघवा यः कवासकः॥

一港 ० राइ४।३

ऋषिः संवरणः प्राजापत्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

· विनय—मैं इन दो प्रकार के आदिमियों में से कौन-सा हूँ ? क्या मुझे दिन-रात भगवान् के भजन में मस्त रहने में मजा आता है ? क्या मैं चौबीस घण्टे उसके भजन में लीन रहता हूँ। चौबीस घंटे न सही, क्या मैं दिन-रात में से एक घंटा भी भगवान के प्रति अपना हार्दिक ब्रेमरस पहुँचाने में बिताता हूँ ? अथवा मैं 'ततनुष्टि' हूँ ? दिन-रात विषयों में फँसा रहता हूँ ? न खत्म होनेवाले विषयों की तृष्ति में लगा रहता हूँ ? स्वार्थ के लिए धन कमाने की फिक में, और धन के लिए दूसरों के क्लेशों की कुछ परवाह न करके और धोखा-फरेब भी करके उनके चसने की नाना नयी-नयी तरकी बें सोचने और करने की फिक में तो कहीं मेरे दिन-रात नहीं बीतते हैं ? क्या अपने शरीर की शोभा बढ़ाने, सँवारने, सिंगार करने में ही जीवन के अमूल्य समय के प्रतिदिन कई घंटे मैं नहीं खो रहा हूँ ? क्या मैंने अपने अन्दर के मानसिक शरीर को भी बलवान, स्वच्छ और सुन्दर (पवित्र) करने का भी कभी यत्न किया है? इसके लिए समय दिया है ? मेरे साथी-संगी कैसे लोग हैं ? कहीं मेरे इर्द-गिर्द बुरे आचरणवाले लोग तो इकट्ठे नहीं हों गये हैं ? कहीं मैं कुत्सित कर्म करनेवाले दुष्ट मनुष्यों से (जो ऊपर से आकर्षक होते हैं) मिलने-जुलने में आनन्द तो नहीं पाता हूँ ? ओह, उस सर्वशक्तिमान् - इन्द्र के नियम अटल हैं, मैं जैसा करूँगा वैसा ही मुझे भरना पड़ेगा। मैं तेजस्वी बनूँगा या मेरा विनाश होगा ? भगवान् तो दिन-रात सोम सवन करनेवालों को तेजस्वी बना रहा है और विषय-प्रस्त पुरुषों का नाश कर रहा है।

> तो विदय कुरतारी विवास है। हम बाहरे हैं कि इस सुरहारों जैनी विवास को उस्य बनारे हे लिए जिन्नीयुक्त साधकों का जायते हैं स्थ इस बच्चे बख

। किंग माहर पेहना देश हैं कि कि कि कि कि कि कि कि कि

शब्दार्थ — यः जो घ्रंस उत वा यः ऊधिन दिन होवे या रात सदैव ही जो अस्मै इस परमेश्वर के लिए सोमं सुनोति ज्ञानपूर्वक भिवत में रहता है, यजन करता है अह द्युमान् भवित वह निश्चय से तेजस्वी [प्रकाशवान्] हो जाता है और इसके विपरीत ततनुष्टि विषयों में दिनों-दिन फँसते जानेवाले को, स्वार्थरत, अयजनशील को, तनूशभ्रं शरीर की सजावट-बनावट में लगे रहनेवाले को यः कवासखः और जो बुरी संगत में रहनेवाला है, जिसके कि यार-दोस्त कुत्सितकर्मा लोग हैं, उस पुरुष को भी शकः मघवा सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्यवाला इन्द्रदेव अप अप ऊहित मिटा देता है, विनाश कर देता है।

को अधिकारी सेवा पत्रे हैं, उसक्ति हमें तब शब्द प्रस्था का बाद बसाबों और हमें बाठ प्रस्था

१४२

परम देवां की महरी महिमा

६ श्रावण

ये <u>देवा देवेष्विध देवत्वमाय</u>न् ये ब्रह्मणः पुरऽ<u>ए</u>तारों <u>ब्र</u>ह्मणः येभ्<u>यो</u> न <u>स</u>ृते पर्वते धा<u>म किंच</u>न, न ते <u>दि</u>वो न पृ<u>थि</u>व्या ब्र<u>िध स्तुर्षु</u> ॥

—यजुः० १७।१४

ऋषिः लोपामुद्रा । देवता प्राणः । छन्दः आर्षीजगती ।

विनय-क्या तुम उन पूर्ण देवों को भी जानते हो जो कि देवों में भी और ऊँचे देव होते हैं और जिनके कि हाथ में इस महान् संसार की बागडोर रहती है ? ये वे मुक्तात्मा हैं जो कि मुक्त होकर भी जगत् के कल्याण में रत होते हैं। ये देवत्व का भी बन्धन छोडकर सम्प्रण ब्रह्माण्ड के हो जाते हैं, ब्रह्माण्ड की आत्मा से अपनी आत्मा को मिलाकर देवों से भी ऊपर 'पूरे देव' हो जाते हैं। यह सब संसार जो अपनी परम आत्मा की तरफ धीरे-धीरे जा रहा है उसमें ये ही अग्रणी हैं। उस परम आत्मा के सबसे निकटस्थ साधन बनकर ये ही इस संसार का संचालन कर रहे हैं। संसार में जो ईश्वरीय शक्तियाँ जीवों को असत से सत की तरफ, तम से ज्योति की तरफ और मृत्यू से अमृत की तरफ ले-जा रही हैं, एक शब्द में जो शक्तियाँ हरदम इस संसार को पवित्र कर रही हैं, वे शक्तियाँ इन्हीं पूर्ण देवों के आनन्दमय व विज्ञानमय आदि केन्द्रों से प्रवाहित हो रही हैं। इसका यह मतलब नहीं कि ये देव किसी खास स्थान पर रहते हैं, जैसे कि साधारण देव लोग चुलोक (प्रकाशमय लोक) में रहते हैं। ये किसी जगह भी नहीं रहते, पर शक्तिप्रवाह करने के लिए किसी भी जगह अपना केन्द्र वना सकते हैं। इनके बिना कोई भी स्थान (धाम) पवित्र नहीं हो सकता, पर ये किसी स्थान पर भी रहते नहीं हैं। ये तो ब्रह्म में रहते हैं। सब ब्रह्माण्ड में रहते हैं। अपने शक्ति-प्रवाह से सब ब्रह्माण्ड को पवित्र कर रहे हैं। ये न तो द्यलोक के किन्हीं प्रान्तों में मिलेंगे, न पृथिवी के किन्हीं कोनों में मिलेंगे। पर इस संसार का कोई भी धाम, कोई भी क्षेत्र, कोई भी लोक ऐसा नहीं है जिसकी कि पवित्रता इन द्वारा न हो रही हो।

इन परम देवों को हम बद्ध जीवों का बार-बार नमस्कार ही, अवनतिशरा होकर बार-

I THE REAL PROPERTY OF THE REAL PROPERTY.

बार नमस्कार हो।

शब्दार्थ — ये देवाः जो देव देवेषु अधि देवों के बीच में भी देवत्वं और ऊँचे देवत्व को आयन् प्राप्त हुए हैं, ये जो अस्य बहाणः इस बृहत् संसार के पुरः एतारः आगे चलनेवाले व चलानेवाले हैं, येभ्यः ऋते और जिनके बिना किंचन धाम कोई भी धाम, कोई भी स्थान न पवते पिवित्र नहीं होता । ते वे पूर्ण देव न दिवो स्नुषु अधि न तो द्युलोक के किन्हीं प्रान्तों में रहते हैं न पृथिव्याः और न पृथिवी के ।

रतद्यात भारा

७ श्रावण

देवा देवानांमसि <u>भित्रो अद्भुंतो</u> वसुर्वस्रेनामसि चार्र्रध्<u>व</u>रे । शर्मेन्त्स्याम् तर्व समर्थस्तमेऽग्ने स्राख्ये मा रिषामा व्यं तर्व ॥

一ऋ० ११६४।१३

ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः विराड् जगती ।

विनय हे प्रभो ! हम चाहते हैं कि हम तेरी विस्तीर्णतम शरण में रहने लगें। तेरी शरण इतनी फैली हुई है कि उसमें आकर मनुष्य किसी भी देश में व किसी भी काल में दु:ख नहीं पा सकता। संसार की और किसी भी वस्तु का आश्रय ऐसा नहीं है। सब सुख, सब आश्रय और सब शरणें इसके सामने अत्यन्त तुच्छ हैं, क्योंकि संसार के सव देवों के भी देव तुम हो। सब देवों में देवत्व तुम्हारे द्वारा ही आया है। तुम्हारे आश्रय बिना इन अग्नि आदि महान् दीखनेवाले देवों में कुछ नहीं है। इन सब बसानेवालों के बसानेवाले तुम हो। सब धनों के धन तुम हो। तुम्हें पाकर और सब धन बेकार हो जाते हैं। सब पुण्य यज्ञों के अन्दर तुम ही शोभायमान होते हो। यज्ञों का सौन्दर्य तुम हो। तुम्हारे बिना कोई यज्ञ, यज्ञ नहीं रह सकता और तुम अद्भुत मित्र हो। ओह ! ऐसा मित्र और कौन हो सकता है ? यदि सर्व-शक्तिमान् और तीनों कालों का जाननेवाला मित्र किसी को मिल सके तो उसे और क्या चाहिये ! इसीलिए अब हम तेरे सख्य में (मैत्री में) आना चाहते हैं। हमने तुझे देवों का देव, वसुओं का वसु समझ लिया है। अतः हमें अब किसी अन्य देव व वसु की प्राप्ति की चाहना नहीं रही है; हमने तुझे "सब यज्ञों का सौन्दर्य" रूप में देख लिया है, अतः हमें अब किन्हीं कर्मकाण्ड-मय यज्ञों के करने में आर्कषण नहीं रहा है; तेरे निरन्तर ध्यान का यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ लगता है। और हमने तुझे अद्भृत मित्र देखा है--ओह, ऐसा अद्भृत ! ऐसा विलक्षण !! तुझ सर्वज्ञ सर्वसमर्थ मित्र की अद्भुतता दूसरे न जाननेवाले को कैसे समझाई जावे ? ओह, तुम कैसी विलक्षणता से हम सब के साथ आठों पहर, हर घड़ी, हर पल परम मित्रता निभा रहे हो ! तुम जैसे अद्भुत मित्र को देखकर अब हमें और किसी की मैत्री की जरूरत नहीं है। अरे, वे अनजान लोग हैं जो संसार में और किसी की मैत्री पाने के लिए टक्करें मारते फिरते हैं। तेरी विस्तृत शरण में तो और सब शरणें समा जाती हैं। अतः हे स्वामी ! हमें तू अपनी मैत्री प्रदान कर, तब हमें कोई खतरा न रह सकेगा ! हे प्रभो ! तू हमें अपनी अनन्त अपार शरण में जगह दे दे, तब हमें किसी विनाश का भय न रह सकेगा।

शब्दार्थ — अग्ने हे परमेश्वर ! देवानां देवः असि तू देवों का देव है अद्भुतः मित्रः तू अद्भुत मित्र है ! वसूनां वसुः असि तू सब वसुओं का वसु, धनों का धन है ! अध्वरे चारुः यज्ञ में तू शोभायमान है । अतः हम चाहते हैं कि वयं हम तव तेरी सप्रथस्तमे शर्मन् विस्तीर्णतम शरण में स्थाम होवें, और तव सख्ये तेरे सख्य में मा रिषाम हम नष्ट न होवें।

if ele or fed the pas of he res is

मानव श्रीरिकण यहाशाला

दे श्रावण

सुप्तऽत्रृषंयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षान्ति सद्मप्रमादम् । सप्तापः स्वर्पतो छोकमीयुस्तत्रं जागृतो अस्वप्नजी सत्रसदौ च देवौ ॥

—यजुः० ३४।५५

ऋषिः कण्वः । देवता अध्यात्मं प्राणाः । छन्दः भुरिग् जंगती ।

विनय-यह शरीर भगवान् ने तुझे यज्ञ करने के लिए दिया है। यह देह पवित्र यज्ञ-शाला है। इसमें बैठे हुए सात ऋषि उस भगवान् का यजन कर रहे हैं। आँख देख रही है, कान सून रहा है, नासिका सूँघ रही है, त्वचा स्पर्श कर रही हैं, जिह्वा रस ले रही है, मन मनन कर रहा है और बृद्धि निश्चय कर रही है। ये सातों ऋषि शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श का ज्ञान करते हुए, मनन और अवधारण करते हुए अपनी इन ज्ञान-क्रियाओं द्वारा भगवान का यजन कर रहे हैं। ये ज्ञानशक्तियाँ हमारे अन्दर भगवद्यजन के लिए ही रखी गई हैं। हमारी प्रत्येक ज्ञान-प्राप्ति भगवत्प्राप्ति के लक्ष्य से ही होनी चाहिए और इन सातों ज्ञानेन्द्रियों (बाह्य और अन्दर के करणों) के साथ एक-एक प्राणशक्ति भी काम कर रही है, जिन्हें सात शीर्ष प्राण कहते हैं। ये सात प्राण इस 'सद' की --इस यज्ञशाला की -रक्षा पूरी सावधानता के साथ, बिना प्रमाद किये, कर रहे हैं। इस तरह इस यज्ञशाला में निरन्तर यह यज्ञ चल रहा है। हम हमेशा कुछ-न-कुछ ज्ञान (अनुभव) करते रहते हैं; देखते, सुनते या मनन आदि करते रहते हैं। स्वप्नावस्था में भी यह देखना-सुनना बन्द नहीं होता। पर हाँ, सुषुप्त-अवस्था में जब इन सात ऋषियों के 'आपः' (ज्ञानप्रवाह) सुष्टित के लोक में लीन हो जाते हैं, हमें कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा होता, तब क्या यह यज्ञ भंग हो जाता है ? नहीं, तब भी दो देव जागते हैं। ये दोनों देव कभी भी सोनेवाले नहीं; इन्हें कभी नींद दबा नहीं सकती। अतः ये "सत्रसदी" तब भी यज्ञ में बैठे हुए जागते रहते हैं। ये हैं—(१) आत्म-चैतन्य और (२) प्राण। इन सात ऋषियों को दर्शन-शक्ति देनेवाला देव एक है और इन रक्षक प्राणों को प्राण-शक्ति देनेवाला दूसरा है। ये दोनों देव - ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति के देव - तब भी जागते रहते हैं, और ज्ञान तथा कर्म द्वारा चलनेवाले इस यज्ञ की इन दोनों शक्तियों को निरन्तर कायम रखते हैं, बल्कि पुष्ट करते रहते हैं। इस तरह यह यज्ञ चौबीसों घंटे निरन्तर चलता है, सौ वर्ष तक चलता रहता है, जबतक जीवन है तबतक चलता रहता है।

पर क्या हम इस शरीर-यज्ञशाला को यज्ञशाला की तरह पवित्र रखते हैं ? कहीं यज्ञ करनेवाले ये सात ऋषि ज्ञानिकया द्वारा भगवद्यजन करना छोड़कर अपने ऋषित्व से भ्रष्ट

तो नहीं हो जाते ? शब्दार्थ शरीरे सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीर में सात ऋषि स्थापित हैं सप्त सबं अप्रमादं रक्षन्ति सात हैं जो कि इस सद [स्थान, यज्ञशाला] की प्रमादरहित होकर रक्षा करते रहते हैं। स्वपतः सप्त आपः लोकं ईयुः सुषुप्तावस्था में ये सात ज्ञानप्रवाह अपने लोक में लीन हो जाते हैं, तन्न च तो वहां भी सन्नसदी यज्ञ में बैठे रहनेवाले अस्वपनजी कभी न सोनेवाले देवी दो देव जागृतः जागते रहते हैं।

वैदिक विनय

Pigitized by - 2717475119T

हं श्रावण

यत्रां सुपूर्णा <u>अ</u>मृतंस्य <u>भा</u>गमनिमेषं विदथां भिस्वरंन्ति । इनो विश्वंस्य सुवंनस्य गोपाः स मा धीरः पाक् मत्राविवेश ॥

-- ऋ० १।१६४।२१; अथर्वे० ६।६।२२

ऋषिः बीर्घतमा । देवता विश्वे देवाः । छन्दः त्रिष्टप् ।

विनय-मनुष्य एक कच्चे घड़े के समान है जबतक कि वह आत्मज्ञान की अग्नि में पक नहीं जाता। मैं कच्चा घड़ा इस संसार-सागर में पड़ा हुआ घुल रहा हूँ, नष्ट होता जा रहा हूँ। हे जगदीश्वर ! यदि तुम्हारे ज्ञान की अग्नि की आँच मुझे शीघ्र पका न देगी तो मैं जल्दी ही खत्म हो जाऊँगा। मैं अभी तक 'पाक हूँ'-पनतव्य हूँ, कच्चा हूँ। तुम पनव हो, विपनवप्रज्ञ हो। तुम शीघ्र मुझमें प्रवेश करो। तुम अमृत हो, मैं अभी तक मर्त्य हूँ। तुम इस भुवन के ईश्वर हो, मैं अनीश हैं। जिस दिन मुझे आत्मा का ज्ञान हो जायगा, अपनी अमरता का भान हो जायगा तो मैं भी पक जाऊँगा। आत्मज्ञानी, अमर, परिपक्व होकर मैं तो संसार में पड़ा हुआ भी गल नहीं सक्गा। मुझमें प्रविष्ट होकर मुझे अमर कर दो, पका दो। इस कच्चे घड़े में (शरीर में) यद्यपि इन्द्रियाँ लगातार कुछ-न-कुछ ज्ञान लाती हुई चल रही हैं, पर उनके लाए हुए ज्ञान में जुगन के-से तुच्छ प्रकाश में -वह अग्नि नहीं है जो मूझे पका सके। सच तो यह है कि वे इन्द्रियाँ जिस पूर्ण अमर ज्ञान के एक अंश को अपने वेदन में लाती हैं, उसी की अभिलाषा अब मुझे लग गई हैं। उन्हीं द्वारा पता लगा है कि कोई अमृत ज्ञान भी है जिसके द्वारा मैं पूरा पक सकता हैं। इन्द्रियों में जो वेदन है वह तुम्हारे ही अपार ज्ञान, अनन्त चैतन्य से आता है। यह समझ आ जाने पर आज ये इन्द्रियाँ मेरे लिए जो कुछ ज्ञान लाती हैं उसमें मुझे अमरता का ही संदेश सुनाई देता है। ये जो भी कुछ वेदन करती हैं उसमें मुझे वे यही बोल रही हैं "तू अमर बन, अमर वन ! अपने को पका ले, पका ले !" अतः हे सब ब्रह्माण्ड के स्वामी ! मुझे पक्का करने के लिए तुम मेरे इस शरीर के भी स्वामी हो जावो। हे त्रिभुवन के रक्षक ! इस शरीर की भी रक्षा करो। हे धीर! ज्ञानमय! तुम्हारे प्रविष्ट हुए बिना यह कच्चा घड़ा कब तक रक्षित रह सकता है!

शब्दार्थ यत्र जहाँ इस शरीर में सुपर्णाः सुपतनशील इन्द्रियाँ अनिमेषं निरन्तर अमृतस्य अमृतज्ञान के भागं अपने भाग को लाकर विदया वेदन के साथ अभिस्वरन्ति चल रही हैं, मानो बोल रही हैं अत्र उस इस मेरे शरीर में विश्वस्य भुवनस्य सब ब्रह्माण्ड का इनः ईश्वर गोपाः और सब भुवन का रक्षक सः धोरः वह धीमान् ज्ञानमय पाकं मा मुझ पक्तव्य में [अपरिपक्व में] आविवेश प्रविष्ट होवे।

द्वी क्षी क्षित्र कार्या

१० श्रावण

देवानां भदा सुमितिर्शृजूयतां, देवानां रातिर्भि नो निवर्तताम्। देवानां सरूपमुपेसेदिमा व्यं, देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ —ऋ० १।८६।२; यजुः० २५।१५

ऋषिः गोतमो राहूगणपुत्रः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः जगती ।

विनय—संसार दो प्रकार का कहा जा सकता है—एक देवों का संसार, दूसरा असुरों का संसार। देवों की मुख्य पहचान यह है कि ये ऋजुगामी होते हैं। इनका गमन, इनका व्यवहार सरल, सीधा और सच्चा होता है। इसके विपरीत असुर वे लोग होते हैं जिनका व्यवहार कुटिल, टेढ़ा और असत्यमय होता है। हमें ऋजुता प्रिय है। अतः हम देवों के संसार में रहना चाहते हैं। अपने चारों तरफ, ऊपर-नीचे, अन्दर-बाहर, हमें देव-ही-देव दिखाई देते हैं। अपने सत्य नियमों के अनुसार चलनेवाले, अपने सत्य-धर्मों से कभी न डिगनेवाले ये सूर्य, पृथिवी, अग्नि, वायु, जल आदि बाहर के देव हैं; सत्यनिष्ठ, सत्यज्ञानी मनुष्य भी देव हैं; अन्दर प्राण-मन-बुद्ध-इन्द्रियाँ, सब देव हैं। इन देवों के बीच में रहनेवाले हम चाहते हैं कि चूंकि हमें ऋजुता प्रिय है, अतः ऋजुता चाहनेवाले इन देवों की कल्याणी मित हमपर सदा रहे—इनसे हमें सदा सच्ची ज्ञानप्रेरणा मिलती रहे। ये देव जो हमें सदा रक्षा, शान्ति, तेज, स्वास्थ्य, शक्ति, अन्न, पान, नाना प्रकार के सुखों का दान कर रहे हैं, ये शुभ दान हम ऋजुगामियों पर सदा बरसते रहें। हमारा इन देवों से सख्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाय। हम इन देवों के साथी हो जायें। बल्क अपने अन्दर देवों को बसाकर, पूरे ऋजु होकर हम ही देव बन जायें। और जब हमारे अन्दर देव बस जायेंगे, हमारे सब कार्य ठीक-ठीक सत्य नियमों से हुआ करेंगे तो इन देवों के द्वारा हम अपनी पूर्ण आयु तक जीवन को भी प्राप्त करेंगे, और यह जीवन सच्चा जीवन होगा।

आओ, हम सब इस भूमि पर रहते हुए ही देवों के संसार के वासी हो जायें, दिव्य-सुमित और दिव्य-दान पाते हुए देव बनकर देवों की तरह परिपूर्ण आयु-भर इस भूमि पर बसें।

निमान क्या वर्षा के किया किया किया किया किया कि एका के लिए पूर्वा के

शब्दार्थ ऋजूयतां देवानां ऋजुगामी या ऋजु लोगों को चाहनेवाले देवों की महा सुमितः कल्याणी सुमित नः हमपर बनी रहे देवानां रातिः ऐसे देवों का दान नः हमपर अभि निवर्ततां सब तरफ से निरन्तर बरसता रहे। वयं देवानां हम इन देवों की सख्यं उपसेदिम मैत्री प्राप्त करें, इनकी समानता में बैठें देवाः ये देव जीवसे जीवित जीवन के लिए नः आयुः हमारी आयु प्रतिरन्तु बढ़ावें।

वैदिक विनय

SAP

सन्ज्या २ राम प्रगदेशिवर

वंव श्रावण

तमीशांनं जर्गतस्तुस्थुष्रपति धियं जिन्वमवंसे हूमहे व्यम्। पूर्वा नो यथा वेदंसामसंदृष्ट्घे रंक्षिता पायुरदंब्धः स्वस्तये ॥

—ऋ० शाद्धाप्र; यज्ः० २**प्रा**श्द

ऋषिः गोतमो राहूगणपुतः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः निचृष्जगती ।

विनय इस विषम संसार में हम जब किसी क्लेश में होते हैं तो रक्षा के लिए जगदीश्वर को ही पुकारते हैं। वह जगदीश्वर इस सब ब्रह्माण्ड का ईश्वर है। स्थिर, अस्थिर, चर, अचर जो भी कुछ संसार है उस सबका वही पित है, वही स्वामी है। उसके सिवाय संसार में और दूसरा कौन रक्षा कर सकता है ? और वह "धियंजिन्व" ईश्वर रक्षा के लिए आता भी है। वह कोई हमारे जैसा हाथ-पैरवाला साकार तो है नहीं जिसे कि चलकर हमारे पास पहुँचना हो और अपने हाथों से हमारी रक्षा करनी हो। वह सर्वगत हमारी बुद्धि या कर्म के प्रीणन करने द्वारा हमारी रक्षा कर देता है। वह प्रभु जो कि "सर्वभूतों के हृदेश में बैठा हुआ सबको घुमा रहा है" हमारी बुद्धि को ठीक ज्ञान देकर, हमसे ठीक काम कराकर हमारी रक्षा कर देता है। बुद्धि व कर्म के अधूरे रहने से ही मनुष्य सदा कष्ट में पड़ता है। जगदीश्वर उसे किसी-न-किसी ढंग से तृप्त करके पूरा कर देता है। अपनी या अपने किसी साथी की समझ बदल जाती है या उससे ऐसा कर्म हो जाता है कि विपत्ति कल्याण के रूप में परिणत हो जाती है। प्रभु हमें बचा लेता है।

यदि वह न बचायेगा तो और कौन बचायेगा ? वह पूषा है तो वही हमारा 'रक्षिता पायुं भी होगा। जैसे उसने हमारे लिए इस जगत् में ये इतने ऐश्वर्य बढ़ाये हैं यह शरीर, मन, बुद्धि आदि देकर इस ऐश्वर्य-जगत् को हमारे सामने रख दिया है, वैसे ही जब कभी इस संसार में हम संकट में पड़ जायेंगे और हमारे प्राप्त ऐक्वर्यों में से कोई नष्ट हो रहा होगा तो वही (यदि इनकी रक्षा में हमारी स्वस्ति देखेगा) इनकी पूर्ण रक्षा भी करेगा। उसके दिये हुए घनों की रक्षा भी वही करेगा। हमें क्या चिन्ता ? और जब वह हमारी स्वस्ति (कल्याण) के लिए हमारे प्राप्त ऐश्वर्य (धन, शरीर आदि) की रक्षा करने की आवश्यकता समझता है अर्थात् इनकी रक्षा में ही हमारा वास्तविक कल्याण देखता है तो वह रक्षा करता है, जरूर रक्षा करता है और उसकी यह रक्षा पूर्ण 'अदब्ध' होती है, उसकी रक्षाओं को संसार में कौन रोक सकता है? अतएवं हम सदा उस 'धियंजिन्व' को, उस 'अदब्ध रक्षिता' को रक्षा के लिए पुकारते

है।

शब्दार्थं तं उस जंगतः तस्थुषः पति जंगम और स्थावर संसार के पति धियं जिन्वं बुद्धि व कमें के प्रीणन करनेवाले ईशानं ईश्वर को वयं हम अवसे हमहे रक्षा के लिए पुकारते हैं। पूषा वह पोषक यथा जहाँ नः हमारे वेदसां धनों की वृधे वृद्धि के लिए असत् हुआ है वहाँ वही स्वस्तये हमारे कल्याण के लिए अदब्धः रिक्षता पायुः [हमारे धनों का] अहिंसित रक्षक और पालक भी होवे।

1X5

वेदिक विनय

ALCIN WO WAGOL

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangori

१२ आवण

डमे ते इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो। न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सद्येत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचंः॥

—ऋ० १।५७।४; अथर्वे० २०।१५।४

ऋषिः सन्य आङ्गिरसः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय हे महान् ऐश्वर्यवाले प्रभु ! हमने तेरा अवलम्बन ग्रहण कर लिया है। हमने देखा कि सब ज्ञानी तेरी ही स्तुति करते हैं। अतः हमने भी अब अन्य सब सहारे छोड़कर एक तेरा ही सहारा ले लिया है। हम इस जगत् में अपना एक-एक व्यापार, एक-एक काम-काज तेरे ही भरोसे करते हैं। और कोई हमें क्या कहेगा, क्या समझेगा, हमें इस कार्य के करने से क्या दु:ख आयेंगे, संसार हमारी कितनी निन्दा करेगा यह हम कुछ नहीं देखते। वस तेरी इच्छा (आज्ञा) क्या है इसे यथाणिकत जानकर इसे ही तेरे भरोसे करते जाते हैं। अतः हे इन्द्र प्रभो ! अब हम तेरे हैं। तू हमारा है और हम तेरे हैं। संसार में अब कोई और हमारा नहीं है। हमारे सब सम्बन्धी, हमारे घनिष्ठ-से-घनिष्ठ मित्र, हमारा धन, हमारी बुद्धि, शरीर आदि किसी का भी हमें सहारा नहीं है। इनका जितना सहारा है वह सब तेरे द्वारा ही है। इसलिये हे हमारे स्वामी ! हे हमारे ! हमारी प्रार्थनायें तेरे सिवाय और किसके पास पहुँच सकती हैं ? ऐसा संसार में और कौन है जिसके आगे हम विनती करेंगे ? विनती करने की हीनता करेंगे ? और किसी के आगे हम दीन नहीं बन सकते। इसलिए हे प्रार्थनाओं के सुननेवाले! हे वाणियों की पूजा ग्रहण करनेवाले ! हम जो प्रार्थनायें तेरे चरणों में पहुँचा रहे हैं उन्हें तुम भी चाहो। तुम भी उन्हें अपनी तरफ इस तरह खींचो जैसे यह विशाल भूमि अपनी आकर्षण-शक्ति से सब पार्थिव वस्तुओं को अपनी तरफ खींचती रहती है। हम कोई वस्तु ऊपर या इधर-उधर किसी विरुद्ध दिशा में फैंकें, तो भी वह वस्तु अन्त में खिचकर पृथिवी के पास पहुँच जातो है। इसी तरह हे हमारे देव ! हमारी प्रार्थनाओं में यदि कोई त्रुटि हो, इनमें आत्मसमर्पण की कमी होने के कारण ये प्रार्थनाएँ ठीक तुम्हारी तरफ जाने योग्य न हों, तो भी हे देव ! इन्हें तुम अपनी तरफ खींच लो। जब हम तुम्हारी कामना करते हैं तब तुम हमारी कामना न करो-यह कैसे हो सकता है ? नहीं, तुम भी पृथिवी की तरह हमें खींच रहे हो। हम तो तुम्हारी तरफ आ ही रहे हैं, अतः हमारी कामनाओं के पाने की तुम भी प्रतिकामना करो। हमारी प्रार्थनाओं को प्रतिप्रहण करो। तुम्हारे सिवाय अब हमारा और कोई नहीं रहा।

शब्दार्थ — प्रभूवसो हे महान् ऐश्वर्यवाले ! पुरुष्टुत हे बहुतों से स्तुति किए जानेवाले ! ये जो हम त्या तेरा ही आरभ्य अवलम्बन करके चरामिस चलते हैं ते इसे वयं वे ये हम इस हे इन्द्र ! ते तेरे हैं। गिर्वणः हे वाणियों से पूजनीय इन्द्र ! गिरः हमारी वाणियों को, प्रार्थनाओं को त्ववन्यः तेरे सिवाय और कोई न हि सद्यत् नहीं प्राप्त करता, नहीं सुनता नः तब् वचः अतः हमारी इन प्रार्थनाओं को क्षोणीः इव पृथिवी की तरह प्रतिहर्य प्रतिकामना करो, आकर्षण करो।

दैव्यजन अगेर मन्य जन

१३ श्रावण

यत्किचेदं वेरुण देव्ये जर्नेऽभि<u>द्</u>योहं मेनुष्याश्चरांमसि । ग्राचि<u>त्ती</u> यत्तव धर्मी युयोपिम मा नस्तस्मादेनेसो देव रीरिषः ॥

—ऋ० ७।८६।५; अथर्व० ६।५१।३

ऋषिः वसिष्ठः । देवता वरुणः । छन्दः पादनिचृष्जगती ।

विनय-हे वरुण ! तुम जन हो तो दैव्य जन हो-पर हम गिरते-पड़ते उठने का यत्न करनेवाले जन हैं। हे देव ! हम मनुष्यों पर दया करो, हम तुम्हारी दया के पात्र हैं। हम बेशक तम्हारा द्रोह करनेवाले बड़े भारी अपराधी होते रहते हैं। तुम्हारे धर्मों का लोप करना सचमूच बडा द्रोह है। जो कुछ हमें मिल रहा है वह सब-कुछ तुम्हीं से मिल रहा है और वह सब इसी-लिए मिल रहा है क्योंकि तुम्हारे धर्म सत्य हैं, अखण्ड हैं। यदि तुम्हारे धर्म कभी खण्डित हो सकें तो तुम तुम न रहो। पर इन्हीं तुम्हारे सत्यधर्मीं को (जिनके कारण हमें यह सब-कुछ मिल रहा है) हम लोग अपने व्यवहार में लोप कर देते हैं। यह कितना द्रोह है ? ये तुम्हारे सनातन-धर्म हमारे व्यवहार में धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय आदि रूपों में प्रकट होते हैं। पर हम इनका परिपालन न कर तुम सर्वदाता प्रभु के द्रोही होते रहते हैं। पर फिर भी हे देव ! हमारी तुमसे प्रार्थना है कि हमें क्षमा करो, हमें कठोर दण्ड देकर हमारा नाश मत करो ! क्योंकि, यह सब धर्मभंग हम जान-बूझकर नहीं करते। जो कुछ हमसे धर्म-लोप होता है वह अज्ञान से, प्रमाद से, असावधानी से होता है। अब हम कभी जान-बूझकर अधर्माचरण में नहीं प्रवृत्त होते। पर ये अज्ञान की, बेखबरी की भूलें होते रहना तो हम मनुष्यों के लिए अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए हम तुम्हारी दया के पात्र हैं। वरुण राजन् ! हम जानते हैं कि राजद्रोह बड़ा भारी अपराध है। तुम्हारे सच्चे, पूर्ण कल्याणमय राज्य का द्रोह करना आत्मघात करना है। अतएव अब हम अपनी शक्ति-भर और जान-बूझकर तुम परम प्यारे का द्रोह कैसे कर सकते हैं ? पर तुम भी हमारे अज्ञान से किए अपराधों को क्षमा करो। किन्तु नहीं, तुमसे हम क्षमा के लिए क्यों कहें? तुम तो हमारा विनाश कर ही नहीं सकते। तुम जो भी कुछ करोगे हमारा कल्याण ही करोगे— यह निश्चित है। फिर तुमसे प्रार्थना तो इसलिए है कि इस द्वारा हम तुम्हारे कुछ और अधिक नजदीक हो जायँ, हमारा हृदय शुद्ध हो जाय। क्योंकि, तुम्हारे आगे रो लेने से हृदय की शुद्धि हो जाती है और भविष्य के लिए धर्म-भंग होने की सम्भावना और-और कम होती जाती है।

शब्दार्थ —वरुण हे वरुण मनुष्याः हम मनुष्य देव्ये जने तुझ दिव्य जन में इदं यत् किंच अभिद्रोहं यह जो कुछ द्रोह चरामिस किया करते हैं और अचित्तीः अज्ञान और असावधानता से यत् तव धर्मा युयोपिम जो तेरे धर्मों का लोग किया करते हैं देव हे देव तस्मात् एनसः उस पाप के कारण नः मा रीरिषः हमारा नाश मत करो।

a state of the second s

- 880

रान्ही योगमहिमा

१४ भावण

युञ्जते मन जत युञ्जते धियो विशा विश्रस्य बृहतो विशास्त्रिताः। वि होत्रा दिथे वयुनाविदेक इन्मही हेवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

—ऋ० प्रादशाशः यजुः० प्राश्क

ऋषिः श्यावाश्व आत्रेयः । देवता सविता । छन्दः जगती ।

SINGIE; MARO SOLENIE

विनय - विप्र लोग उस महान् विप्र के साथ अपना मन जोड़ते हैं। इसी का नाम योग है। ये योगी, ज्ञानी, महात्मा लोग केवल अपने मन को ही उस चिन्मय प्रभ के साथ नहीं जोड़ते अपितु बुद्धि को भी जोड़ते हैं। अपने क्षुद्र मन को उसके विभु मन के साथ जोड़ने से हमारा मन एकाग्र हो जाता है, रक जाता है; परन्तु अपनी बुद्धि के उसमें जुड़ने से हमें उसके आत्मज्ञान में से हमारे लिए उपयोगी सत्यज्ञान भी मिलने लगता है। इस प्रकार योगी सन्त-पुरुष उस सर्व-प्रेरक देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने सब कर्म किया करते हैं। उनके ये सब शारीरिक वा मानसिक कमें फिर उस परमदेव में आहुतिरूप होते हैं। प्रभु उन सब के उन होत्रों को स्वीकार करते जाते हैं और प्रतिदान में उन्हें उनके अनुकूल अपने ज्ञान को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार उस एक महान् आत्मा में संसार के सब वित्र (सब साधु, महात्मा, योगी) हवत कर रहे हैं और अपना-अपना अभीष्ट पा रहे हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि उस अकेले ही देवता ने अपने-आपको इन सब जीवात्माओं के साथ ठीक-ठीक न्याययुक्त सम्बन्ध से जोड़ रक्खा है, और सम्बन्ध जुड़ने पर उस सम्बन्ध को परिपूर्णता के साथ निभा रहा है ! वह कैसा वयुनावित् है कि अकेला ही इन सब प्राणियों के एक-एक ज्ञान व कर्म को अलग-अलग कैसे जान रहा है! जरा देखों कि ये ज्ञानी पुरुष ही नहीं, किन्तु न जानते हुए अनिच्छा से तो संसार के प्राणीमात्र ही उस एक यज्ञपुरुष के साथ जुड़े हुए हैं और वह अकेला ही उन सब अनगिनत जीवों के साथ न जाने कैसे परिपूर्ण न्याय कर रहा है ! ऐसे अद्भुत देव की, उस अकेले सर्व-प्रेरक देव की हम जितनी स्तुति करें वह थोड़ी है, हम जितनी स्तुति करें वह थोड़ी है।

शब्दार्थ — विपश्चितः उस चित्स्वरूप बृहतः विप्रस्य महान् ज्ञानी के सनसा मन के साथ विप्राः संसार के ज्ञानी लोग मनः युञ्जते अपने मन को जोड़ते हैं, उत धियः युञ्जते और अपनी बुद्धियों को भी संयुक्त करते हैं। वयुनावित् सबके ज्ञानों व कमों को जाननेवाला एक इत् वह अकेला ही होता इन सब के सत्यकमों को, यज्ञकमों को वि वधे विविध प्रकार से धारण करता है। यह सवितुः देवस्य इस सर्व-प्रेरक देव की मही परिष्टुतिः महान् स्तुतिः अद्भुत प्रशंसा की बात देखो।

Digitized by Ar Palarice of Mation Chestaland e Caron

१५ भावण

प्र मंहिष्ठाय बृह्ते बृह्द्रीये सत्यशुष्माय त्वसे मृति भरे।

श्रापामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शर्वसे ग्रापावृतम् ।।

—ऋ० १।५७।१; अथर्व० २०।१५।१

ऋषिः सन्यं आङ्गिरसः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय है परमदानी ! मैं तेरे सामने झुकता हूँ। मेरा मन और बुद्धि तेरे सामने झुकते हैं। तेरे अपरिमित ऐश्वयों को जो हमपर अनवरत वर्षा हो रही है उसे देखकर मैं अवाक और स्तब्ध रह गया हूँ। मेरी बुद्धि तेरी महत्ता, तेरी अनन्तैश्वर्यता को समझ सकने से भी हार मान रही है। तू गुणों में अनन्त है, तू आकार में अनन्त है, तेरा धन अनन्त है और तेरा बल कभी झूठा नहीं हो सकता। तेरा बल जहाँ प्रयुक्त होता है वह जरूर सफल होता है। तू सच्चे बलवाला है। और फिर तू परमदानी है। अपने अनन्त ऐश्वर्य की हमपर इसलिए वर्षी कर रहा है कि उसे पाकर हममें भी बल बढ़े, आत्म-शक्ति बढ़े, हम भी सच्चे बलवाले हो जायें। तेरा यह ऐश्वयं हमारे लिए खुला पड़ा है, और यह विश्वभर के लिए खुला पड़ा है, सवके लिए खुला पड़ा है। जो चाहे इसे यथेच्छ लेकर अपना बल बढ़ा लेवे। जरा देखो, इस ब्रह्माण्ड का स्थूल ऐश्वर्य, मानसिक अद्भुत ऐश्वर्य और अलौकिक अपार शक्तिवाला आत्मिक ऐश्वरं —ये सब एक-से-एक ऊँचे, एक-से-एक अधिक शक्ति देनेवाले ऐश्वर्य हमपर बरस रहे हैं। ऐश्वर्यं की कमी नहीं है, हमारी ग्रहण-शक्ति ही की कमी है। ऐश्वर्य को लूटो और इससे अपनी शक्ति बढ़ाओ। अरे, यह तो बेरोक-टोक हमारी तरफ बह रहा है। जैसे कि नदी का जल नीची भूमि पर स्वभावतः जाता है, उसे रोका नहीं जा सकता, वैसे ही परम प्रभु का ऐश्वर्य उनकी सर्वशक्तिमत्ता और उनकी बृहत् की ऊँचाई से हम नीचे खड़े अल्पशक्तिवालों की तरफ स्व-भावतः आ रहा है। यह तो आ ही इसलिए रहा है कि हमारी कमी, हमारी निर्वलताएँ भर जायें। प्रभु का ऐश्वर्य-जल हमें भरपूर करने के लिए, हमें पूर्ण कर देने के लिए नीचे अनवरत खुला बह रहा है। ओह! यह अनन्त काल से बह रहा है। और इस ऐश्वर्य का कहीं अन्त नहीं है। इसे देखकर हे परमदानी ! मैं तेरे चरणों में गिर पड़ा हूँ - सर्वभाव से तेरे चरणों में गिर पड़ा हैं। बद्धि तक मेरा सब-कुछ तेरे समर्पित है, हे महादानी !

शान्दार्थ यस्य राधः जिस प्रभु का ऐश्वर्य प्रवणे अपामिव नीची भूमि पर बहते पानी की तरह दुधरं दुधरं है, रोका नहीं जा सकता और जिसका ऐश्वर्य विश्वायु सबके लिए शावसे सबका बल बढ़ाने के लिए अपावृतं खुला पड़ा है उस बृहते बृहद्रये अनन्त गुणवाले और अनन्त धनवाले सत्यशुष्माय सत्य-बलयुक्त मंहिष्ठाय महादानी तवसे महान् प्रभु के लिए मित प्रभरे में अपनी बृद्धि समर्थण करता हूँ।

तपावन की महती सिहमा

र्इ श्रावण

प्वित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते <u>मधुर्गात्राणि</u> पर्येषि विश्वतः । अत्रत्ततनूर्ने तदामो अश्नुते श्रृतास इद्वहंन्त्रस्तत्समाशत ॥

ऋषिः पवितः । देवता पवमानः सोमः । छन्दः निचुज्जगती ।

विनय हे ब्रह्माण्डपति ! मैंने जाना कि मेरा शरीर अपवित्र क्यों है। यद्यपि तुम्हारा पवित्रताकारक सामर्थ्य जगत् में सब कहीं फैला हुआ है, तुम ही उस पवित्र के साथ मेरे शरीर के रोम-रोम में रम रहे हो, तो भी यह शरीर पवित्र नहीं है इसका कारण मैंने जाना। इसका कारण यह है कि मैंने तप की अग्नि से अपने शरीर को पकाया नहीं है। बिना आग में तपाए मिट्टी के घड़े में पवित्रताकारक जल कैसे ठहर सकता है ? इसी तरह तपोरहित मेरे शरीर में तुम्हारी पावनी शक्ति नहीं ठहर सकती। बिना इसे शरीर में धारण किए इससे लाभ कैसे उठाऊँ ? और इसे धारण करने के लिए तो पका हुआ शारीर चाहिए। एवं इसे धारण न कर सकने के कारण मैं अभी तक इसके सब आनन्द से, सब रस से विञ्चत हूँ। सचमुच तपोहीन पुरुष के लिए इस जगत् में कुछ भी रस नहीं है, कुछ भी सुख नहीं है। मैंने जाना कि यदि मैं अपने अन्नमय शरीर को ब्रह्मचर्य, व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि तप से तपा-कर इसे पका लूँगा, तभी मेरा यह शरीर तेरी पावनी शक्ति को धारण करके शारीरिक सौख्य को पा सकेगा। मैंने जाना है कि यदि मैं वृत्तिनिग्रह, योग, एकाग्रता आदि तपों की अग्नि से अपने मानसिक शरीर को पका लूँगा, तभी यह शरीर तुम्हारे पावन ज्ञान-रस को धारण कर सकेगा। तप की अग्नि से जब स्थूल व सूक्ष्म शरीर के स्थूल-सूक्ष्म मैल निकलते हैं तो तेरी सर्वव्यापक शक्ति इनमें आने लगती है, भरने लगती है। इस तरह तप से पवित्रता और शक्ति आती है, शरीर परिपक्व होते जाते हैं। आहा ! पिवत्र होने से कैसा अद्भुत आह्नाद मिलता है! शक्ति भरने पर कैसा सुख अनुभव होता है ! तप न करनेवाले लोग इसे क्या जानें ? अतपस्वी लोगों का काम न दे सकनेवाला मिलन रोगग्रस्त (स्थल) शरीर और अतपस्वियों का इधर-उधर भटकनेवाला, असंयत भय, चिन्ता, क्रोध, इच्छादि से पीड़ित मन (मानसिक शरीर) किस काम का होता है ? यदि प्रभु के पवित्रताकारक सामर्थ्य के समुद्र में बैठे हुए भी उससे विञ्चत नहीं रहना है तो जल्दी करो; तप करो, तप से अपने देहों को परिपक्व बनाते रहो। तप से पके शरीरों से ही यह प्राप्त किया जाता है।

शब्दार्थ — ब्रह्मणस्पते हे ब्रह्माण्ड के पित ते पिवत्नं तेरा पिवत्रताकारक पिवत्र ज्ञान-सामर्थ्यं विततं सब कहीं फैला हुआ है। प्रभुः [इस पिवत्र के साथ] तुम प्रभु गात्राणि मेरे शरीरों, अवयवों में भी विश्वतः पर्येषि सब तरफ से प्राप्त हुए हो। परन्तु अतप्ततन्ः जिसने अपने शरीर को तप से तपाया नहीं है अतएव आमः जो कच्चा है वह तत् उस पिवत्र को न अश्नुते नहीं पाता। श्रुतासः इत् जो पके हुए हैं वे ही वहन्तः उसे धारण करते हुए तत् समाशत उसे अच्छी तरह प्राप्त करते हैं।

देवी नाव

१७ श्रीवणे

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामेनेहसं सुशर्माण्यविति सुप्रणीतिम् । देवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥

ऋषिः अथर्वा । देवता अवितिः । छन्दः विराड् जगती ।

विनय-आओ, अब हम विकृत जीवन को छोड़ प्रकृति की तरफ आयें, खण्डित अव-स्थाओं से निकल अखण्डित की तरफ आयें, दिति के संसार को त्यागकर अदिति का अवलम्बन ग्रहण करें। अप्राकृतिक, बनावटी, विकारमय जीवन बिताकर हमने बहुत कष्ट पाए हैं, इस भवसागर में बहत-से गोते खाए हैं, अब तो आओ, हम अपनी प्राणरक्षा के लिए इस प्राकृतिक जीवनरूपी दैवी नाव का आश्रय लेवें। यह दैवी नाव हमें भवसागर में डूबने से बचा लेगी। हमारी ठीक प्रकार से रक्षा करेगी। जरा देखों कि इसका आश्रय बड़ा विस्तृत है; प्राकृतिक जीवन बितानेवाले को इस महान् प्रकृति का सम्पूर्ण अवलम्बन मिल जाता है और उसे एक खुलेपन का आनन्ददायक अनुभव होता है। ज्यों-ज्यों हमारा जीवन नैसर्गिक होता जाता है, प्राकृतिक देवों के अनुकूल होता जाता है, त्यों-त्यों हममें ज्ञान का प्रकाश भी बढ़ता जाता है। यह प्राकृतिक जीवन हमें कभी हानि कैसे पहुँचा सकता है ! यही तो हमारा स्वाभाविक, असली जीवन है, अतः यह तो हमें बड़े प्रेम से अपनी शरण देता है; बड़े उत्तम प्रकार का सुख हमें देता है 1 हम लोग सुखभोग के ही लिए तो विकृत जीवन को पसन्द करते हैं, पर हमें मालम नहीं कि आकृतिक जीवन में जो एक ऊँचा सात्त्विक उत्तम प्रकार का सच्चा सुख है उसके सामने ये बनावटी सुख तो दु:ख हो जाते हैं। ओह, देखों कि यह प्रकृति अपने में इतनी अखण्डित, परिपूर्ण है कि यदि हम केवल श्रद्धापूर्वक अपने-आपको इस प्रकृति के हवाले कर दें, अपने जीवन को प्राक्तितक सीध-सादे नियमों में एक बार ढाल दें, तो फिर हमें और कुछ चिन्ता करने की जिक्रत नहीं रहती। प्रकृति माता अपनी उत्तम प्रणीतियों (मार्गों, तरीकों) से शेष सब-कुछ अपने-आप कर लेती है। देव परमेश्वर के अपने प्राकृतिक देवों द्वारा बनाई इस देवी नाव पर चढ़ने की केवल एक ही शर्त है, वह कि हम 'अनागस्' अर्थात् निष्पाप हों, प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन न करनेवाले हों। बस, हम केवल इतना करें तो हम इस नाव के सौभाग्यशाली यात्री हो जायेंगे । इतना करके हम निश्चिन्त हो जायें कि यह कभी न चू सकनेवाली और सद्गुणों के उत्तम पतवारोंवाली नौका हमें बैठे-ही-बैठे सर्वथा कुशलपूर्वक पार लगा देगी।

शब्दार्थ सुन्नामाणं ठीक प्रकार से रक्षा करनेवाली पृथिवीं विस्तृत आश्रय देनेवाली वां ज्ञान-प्रकाशवाली अनेहसं कभी हानि न पहुँचानेवाली सुग्नमाणं उत्तम प्रकार के सुखवाली सुप्रणीति श्रेंक्ठ मार्ग से ले-चलनेवाली स्वरित्रां उत्तम पतवारोंवाली अस्रवन्तीं कभी न चूनेवाली, अखिद्रा अदिति परिपूर्णा, अखिष्डता प्रकृतिकृपिणी देवीं नावं देवी [देव ईश्वर की या उसके प्राकृतिक देवों की] नाव पर हम अनागसः निष्पाप होते हुए स्वस्तये कल्याण के लिए आरुहेम चढ़ें।

838

नित्य क्रमरपर प्राप्ति

१८ भावेंण

्त्वं तमेग्ने अमृतत्व उत्तमे मती दघा<u>सि</u> श्रवंसे <u>दि</u>वे दिवे । यस्तांतृ<u>षाण उभयाय जन्मंने</u> मर्यः कृणो<u>षि</u> प्रय आ चे सूर्ये ॥

—ऋ० १।३१।७

ऋषिः हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः जगती ।

विनय हे प्रभो ! संसार में ऐसे भी मर्त्य हैं जिन्हें कि तुम्हारी कृपा से नित्य अमरपद मिलता है, जिन्हें कि तुम प्रतिदिन अमृत का आनन्द चखाते हो। वे कौन हैं ? वे वही हैं जिन्हें कि प्राणिमात्र का हित करने की प्यास लगी हुई है, जिन्हें और कोई इच्छा नहीं है, कोई कामना नहीं है सिवाय इसके कि उनके द्वारा सदा प्राणिमात्र का (मनुष्यों का ही नहीं, किन्तु पश्-जाति का भी) भला होता रहे, जो कहते हैं 'नाऽहं कामये राज्यं, न स्वर्गं ना पूनर्भवं, कामये बु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्', जिन्हें दु:खितों की पीड़ा शमन किए बिना चैन नहीं मिलता, जिन्हें परदु:ख-शमन की उत्कट प्यास लगी हुई है। उन प्यासों को तुम नित्य अमत पिलाकर तुप्त किया करते हो। यद्यपि वे मर्त्यं हैं तो भी उन्हें तुम नित्य अमरपद देते हो। क्योंकि परसेवा करते ही उनकी अमृताभिलाषा तृप्त हो जाती है। उनका अपने अमर आत्मा से मेल हो जाता है। हम मर्त्य इसोलिए रहते हैं क्योंकि हम अपने में ही आत्मा को देखते हैं, स्वार्थी हैं। जब मनुष्य एक-एक प्राणी में अपना-सा आत्मा देखने लगता है तो उसे आत्मा की अमरता दीखने लगती है-सब भूतों में व्याप्त एक अमर आत्मा दीखने लगती है। तब मनुष्य सुरि (ज्ञानी) हो जाता है। तब उस ज्ञानी को सब पर-प्राणियों का क्लेश अपना क्लेश लगता है, उस पर-पीड़ा (जो कि उसकी आत्मपीड़ा हो जाती है) को बिना हटाए उसे अपनी आत्मा की अमतता भंग हुई दीखती है। अतएव वह परसेवा के लिए प्यासा होता है। परसेवा कर लेने पर उसे उस पीड़ित प्राणी की आत्मा से एकता मिल जाने से फिर अमृतत्व मिल जाता है। हे मृत प्रभी ! एवं तुम उस धन्य पुरुष को प्रतिदिन श्रेष्ठ अमृतत्व देते हो । संसार द्वारा उसे 'श्रवस्' (यश) तो मिलता ही है, पर इस परसेवा से मिलनेवाला जो अलौकिक अवर्णनीय "मयः" (सुंब) है वह भी तुम उसे देते हो। हम मरे रहनेवाले स्वार्थियों को उस स्वार्थ-त्याग के परमसुख का कुछ पता नहीं है। हम 'मर्त्य' तो डरते रहते हैं कि यदि हम परसेवा में, सर्वभूतास्मा में, अपने-आपको स्वाहा कर देंगे तो हम मर ही जायेंगे, हमें खाने को भी न मिलेगा। पर ऐसे अंमृतत्व को पानेवाले मनुष्य अपने शरीर की चिन्ता छोड़ चुके होते हैं, वे अपने शरीर का धारण केवल पर-सेवा के लिए ही किए होते हैं, अतः हे प्रभो ! उस अमृत को भोगनेवाले महात्मा के मत्यं शरीर के लिए अन्न भी तुम दिया करते हो।

शब्दार्थ — अग्ने हे प्रकाशक देव ! यः जो उभयाय जन्मने द्विपद् या चतुंष्पद्, मनुष्य या मनुष्येतर दोनों प्रकार के जीवों के भले के लिए तातृषाणः अत्यन्त तृषित है, प्यासा है तं मत्यं उस मनुष्य को त्वं तू श्रवसे यश के लिए दिवे दिवे प्रतिदिन उत्तमे अमृतत्वे श्रेष्ठ अमृत पद में वधासि पहुँचाता है सूरये और उस ज्ञानी पुरुष के लिए तू मयः सुख आकृणोषि करता है प्रयः च और अन्न भी।

Pidle of P

दिति क्लीर क्लिटिन के मार्ग

१६ श्रीवर्ण

दिते: पुत्राणामदितेरकारिष्मवं देवानां बृहतामंनर्वणाम्। तेषां हि धार्म गिम्षक् संमुद्<u>तियं</u> नैनान् नर्मसा परो श्रस्ति कश्चन ॥

—अथर्वे० ७।७।१

ऋषिः अथवा । देवता अदितिः । छन्दः आर्षी जगती ।

विनय-दिति और अदिति दोनों मुझमें हैं। खण्डित होनेवाली विकृति (माया) दिति है और खण्डित न होनेवाली प्रकृति (मूलशक्ति) अदिति है। दैत्यों और आदित्यों (देवों) की ये दोनों मातायें अपने पुत्रों द्वारा मेरे हृदय में संघर्ष किया करती हैं। दिति मेरे हृदय में स्वार्थ, ईष्या, द्रेष, भय, काम, लोभ आदि असनातन विकारी भावों को जनित करती है और अदिति से परोपकार, करुणा, प्रेम, निर्भयता, वैराग्य, निष्कामता आदि सनातन भावों के पुत्र पैदा हो रहे हैं। पर मेरे इस हृदय के संघर्ष में मैं इन दिति के पूत्रों को, इन दैत्य भावों को, अदिति के बना देता हैं। उन महान सनातन देवों द्वारा इन दैत्यों को दबा देता हैं, नीचा कर देता हैं। वे देव बृहत् हैं और अपराश्रित हैं; ये दैत्य (आसुरभाव) तो इन देवों के ही आश्रित हैं। संसार में ये देव-भाव न हों, तो ये आसुरी भाव चल ही न सकें। संसार में सत्य के आश्रय से ही झूठ चल रहा है। अतएव मैं उन सत्य-सनातन दैवी भावों (अक्लिष्ट वृत्तियों) द्वारा इन आसुरी विचारों (क्लिष्ट वृत्तियों) को सदा दबा देता हैं। यह क्यों न हो जब कि उन देवों का तेज अति गंभीर है। वे दैवभाव अपना तेज उस अखण्ड-प्रकृति (परमात्मा) के अक्षय समुद्र द्वारा ग्रहण करते हैं। अतएव मेरे क्षुद्र दुर्भाव इन दैवभावों के धाम (तेज) का पार नहीं पा सकते। इन दुर्भावों में अपनी कुछ शक्ति नहीं होती, इनका अपना कोई आधार नहीं होता; अतः ये कुछ समय तक उछल-कूद करके अपनी उत्तेजना और अशान्ति-सहित स्वयमेव विनष्ट हो जाते हैं। दैवभावों की अगाध नम्रता ही इन्हें हरा देती है। दैवभावों में यह राजसिक उछल-कृद व अशान्ति नहीं होती, उनकी सात्त्विक नमस् (नम्रता) में ही सबको नमा देने की अक्षय शक्ति होती है। देवों की इस नम्रता की अगाध शक्ति को हरा सकनेवाली और कोई शक्ति संसार में नहीं है। अतः सचमुच इस नम्र, गम्भीर, अचलप्रतिष्ठ दैवभावों की ही सदा विजय होती है एवं मेरी इस हृदयभूमि में देव-दैत्यों के संग्राम में दिति से उत्पन्न होनेवाले पुत्र अदिति (नित्यशक्ति) की अखण्डित शक्ति के अधीन हो जाते हैं, उनके दैवी तेज के सामने ये दब जाते हैं, वहीं विलीन हो जाते हैं।

शब्दार्थ दितेः पुत्राणां दिति के पुत्रों [दैत्यों] को अदितेः अकारिषम् मैंने अदिति का कर लिया है, बृहतां अनर्वणां देवानां इन्हें मैंने उन महान् अपराश्रित, देवों के अव [अकारिषम्] आधीन [नीचे] कर लिया है। तेषां हि उन देवों का धाम तेज गिमषक् बड़ा गंभीर है क्योंकि वह समुद्रियं नित्य शक्ति के तेजः समुद्र से उत्पन्न हुआ है, नमसा नम्रता की शक्ति से युक्त एनान् इन देवों से परः कश्चन न अस्ति परे, बढ़कर और कोई नहीं है।

338

37797 Mily Bland

२० आवण

अनुवताय <u>र</u>न्धयमपेवतान् <u>आभूभि रिन्द्रः श्रथयमनीसुवः ।</u> वृद्धस्यं चिद्वधै<u>तो</u> द्यामिनेक<u>्षतः</u> स्तवांनो <u>व</u>स्रो विजीवान संदिर्हः ॥

一港० शाप्रशह

ऋषिः सव्य आङ्गिरसः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय-परमेश्वर इस संसार को सदा नवजीवन देते हुए जीवित रख रहे हैं। वे संसार के सच्चे व्रतपालक मनुष्यों को स्थान देने के लिए व्रत-भंग करनेवालों का विनाश कर रहे हैं और संकुचित लोगों को जल्दी खत्म करके व्यापक विचारवालों को स्थिरता दे रहे हैं। इस तरह संसार जीवन पा रहा है और विकसित हो रहा है। देखनेवाले देखते हैं कि इस विश्व में उच्च आदर्शवालों, व्यापक भावनाओं से प्रेरित होकर कर्म करनेवालों का ही प्रभुत्व है। इस विश्व में संसार के सत्य नियमों का अवलम्बन करनेवालों के पास ही सच्ची विजयदायिनी शक्ति है। इस विश्व में काल सब संकुचित दृष्टिवालों को मारता हुआ चल रहा है। उसकी मार से वे ही उतनी देर तक बचते हैं जब तक वे ऊँचे और व्यापक दृष्टिवाले होते हैं। पर साधारण लोगों को इस ईश्वरीय सत्य नियम में सन्देह रहता है; उन्हें तो प्रायः संसार में नियम भंग करनेवाले और संकुचित लोग ही विजय पाते दीखते हैं। ऐसे सन्देह होना स्वाभाविक है। ये सन्देह तो तब विनष्ट होते हैं जब चुलोक तक व्यापक इस अद्भुत विशाल इन्द्र के दर्शन पाकर मनुष्य उसका सच्चा स्तोता "वम्र" बन जाता है, जब इस दिव्यदर्शन में मस्त हो उसकी वाणी से स्वभावतः स्तोत्र उद्गिरण होने लगते हैं। तब उसके सामने कोई विघ्न-बाधा नहीं ठहर सकती। उस समय वह अपने उस चुलोकवासी ('द्यां इनक्षतः') तक पहुँचने की अपनी उडान में बाधक देखकर अपने सब बड़े-से-बड़े पार्थिव उपचयों को - उन भौतिक बड़े-बड़े संग्रहों को जिनकी कि हम लोग जी-जान से रक्षा करने में लगे रहते हैं - बन्धन की तरह तोड़ डालता है. उन्हें लात मार जाता है, त्याग जाता है। क्योंकि वह देखता है कि उसके इन्द्र मात्र इस भूलोक में नहीं हैं किन्तु चुलोक तक व्यापे हुए हैं और वह चुलोक के इस रहस्य को देखता है कि वृद्ध पुरुष की यद्यपि शारीरिक उन्नति पूरी हो चुकी होती है, तो भी उसकी दैवी (आध्यात्मिक) उन्नति के लिए असीम क्षेत्र खुला होता है, उसमें वह और जितना चाहे उतना बढ़ सकता है, अर्थात् वह अध्यातम की इस महिमा को देख लेता है कि इस विश्व में यद्यपि भौतिक (भूलोक की) उन्नति की एक सीमा है जिससे अधिक उसमें मनुष्य वृद्ध (उन्नत) नहीं हो सकता, तथापि विश्व में एक ऐसा चुलोक (ज्ञान का लोक) भी है जिसमें कि ऐसी कोई सीमा नहीं, जिसमें मनुष्य अनन्तरूप से बढ़ता जा सकता है।

शब्दार्थ अनुवताय अपवतान् रन्धयन् नियम-पालकों के लिए नियम-भंग करनेवालों का नाश करते हुए और आभूभिः अनाभुवः श्रथयन् असंकुचित मनुष्यों द्वारा संकुचित मनुष्यों का नाश करते हुए इन्द्रः परमेश्वर हैं। उस वृद्धस्य चित् वर्धतः वृद्ध के भी बढ़ानेवाले और डां इनक्षतः द्युलोक तक व्यापे हुए परमेश्वर की स्तवानः स्तुति करनेवाला वन्नः स्तोता, स्तोत्र उद्गिरण करनेवाला संदिहः अपने सन्देहों को या पार्थिव उपचयों को विज्ञधान नष्ट कर देता है, समाप्त कर देता है।

वैदिक विनय

240

Digitized BArva Sunal Foundation Chennal and

२१ श्रावण

यस्यास्त <u>श्रा</u>सिन <u>धोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।</u> भू<u>मिरिति</u> त्वा<u>मि</u> प्रमन्वते जना निर्श्वतिरिति त्वाहं परिवेद सर्वतः।।

-अथर्वे० ६। दश १; यजुः० १२। ६४

ऋषिः भगः । देवता निऋंतिः । छन्दः भुरिक् जगती ।

. विनय-हे निऋ ते ! हे स्थूल जगत् के देवते ! तुझमें स्थूल भोग भोगने में मनुष्य बडा सुख मानते हैं। वे तेरी इस भूमि पर, इस स्थूल जगत् में खाने-पीने, सन्तान उत्पन्न करने तथा इन्द्रियों के अन्य भोग प्राप्त करने में बड़ा आनन्द पाते हैं और वे इसीलिये जीते हैं। तूझको. तुझरूप इस भूमि (स्थूल जगत्) को, वे सब सूखों की भूमि, सब भोगों का आश्रय, सब आनन्दों को पैदा करनेवाली मानते हैं। परन्तु मैं तो तुझे निऋ ति ही समझता हूँ, कुच्छापत्ति ही देखता हैं। इस स्थूल जगत् में पड़ा हुआ मैं अपने-आपको एक महान् गहन आपत्ति में फँसा हुआ पाता हैं। सब तरफ से मैं एक भारी विपत्ति में फँसा हुआ हूँ —यह स्पष्ट देखता हूँ। स्थूल जगत के भोग मुझे सुखदायक नहीं लगते; ये मुझे परिणाम, ताप, संस्कार, आदि सब तरह से क्लेशरूप लगते हैं; ये मुझे फँसानेवाले, बाँधनेवाले, गला घोंटनेवाले लगते हैं। आत्मा स्थूल भोग भोगने के लिए स्यूल देहों को घारण करता है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह स्थूलता की तरफ जाता है त्यों-त्यों वह परिमित, बद्ध, निरुद्ध, सीमित शक्तिवाला होता जाता है। इस स्थूलतम 'पार्थिव' शरीर को पाकर तो आत्मा बिल्कुल ही बँध गया है। स्थूल शरीर में वह आत्मा इन्द्रियों की प्रणालिका से बाहर कोई ज्ञान नहीं पा सकता और हाथ-पैर आदि से जितना परिचित कर्म किया जा सकता है उससे अधिक कर्म नहीं कर सकता। केवल वह पशु-सुलभ भोग जरूर भोगता है। ओह! हे निऋ ते ! मैं तो ज्ञान और शक्ति के रोकनेवाले इस स्थूल बन्धन से घबरा गया हूँ। मनुष्य-योनि पाकर मुझे तो अपने आत्मा की बन्धनरहित अवस्था की कुछ स्मृति-सी आ गयी है, झलक दीखने लगी है। मुझमें उच्च, विस्तृत, शान्त सुखों की चाह पैदा हो गयी है। अतएव मैं तो इन स्थूल बन्धनों को तोड़कर उड़ना-सा चाहता हूँ। पर ये बँधे हुए बन्धन यूँ टूटनेवाले भी नहीं हैं। इन्हें इन्हीं के सहारे धैर्य से तोड़ना होगा। अतएव मैं तेरे स्थूल भोगों को त्यागपूर्वक, हवनपूर्वक भोग रहा हूँ। खाना-पीना, देखना-सुनना आदि स्थूल भोगों को समर्पण-बुद्धि से करता हुआ मैं अनुभव करता हूँ कि इन कर्मों को मैं तेरे घोर भयंकर मुख में हवन कर रहा हूँ। ये भोग मुझे रमणीय नहीं लगते, किन्तु घोर नरकरूप लगते हैं।

शब्दार्थ यस्याः ते जिस तेरे घोरे आसिन घोर मुख में जुहोिम मैं हवन करता हूँ कि एवां बद्धानां इन स्थूलता के बँधे हुए बन्धनों से अवसर्जनाय कं छुटकारा पा सकूँ, त्वा उस तुझको जनाः मनुष्य तो भूमिः तू भोगों की भूमि है इति अभिप्रमन्वते ऐसा मानते हैं परन्तु अहं मैं त्वा तुझे निऋं तिः कृच्छापत्ति, भारी विपत् इति ऐसा सर्वतः सब तरफ से परिवेद ठीक-ठीक जानता है।

3,45

STANIS OF

, वैदिक वितय

नोट—(१) वेद में 'निऋंति' शब्द का अर्थ भूमि भी है (निरमित इति); (२) और इसका अर्थ कुच्छापत्ति, बड़ी भारी विपत्ति या पाप भी है।

विदादिन भी भाइमा

२२ श्रावण

य<u>दाशसा</u> वर्दतो मे विचुक्षुभे यद् <u>या</u>चमानस्य चर<u>तो</u> ज<u>नाँ</u> अनु । यदात्मानि तुन्वो मि विरिष्टं सर्रस्वती तद् आपृंणद् घृतेने ॥

- अथर्वे० ७।५७।१

ऋषिः वामदेवः । देवता सरस्वती । छन्दः जगती ।

विनय सार्वजनिक जीवन बिताना बड़ा कठिन है। बिलकुल निःस्वार्थं भाव से लोक-सेवा करते हुए भी बहुत बार जो कुछ सुनना पड़ता है और जो कुछ व्यवहार सहना पड़ता है उससे मन प्राय: विक्षुब्ध हो जाता है, हृदय को भारी चोट पहुँचती है। कई बार तो इनसे इतना मन खिन्न हो जाता है कि लोकसेवा छोड़ देना ही ठीक लगता है। परन्तु हृदयवासिनी सरस्वती देवी का ध्यान करके मैं रुक जाता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि यदि मैं सचमुच सर्वथा निःस्वार्थ हूँ, सच्चा सेवक हूँ तो ऐसा भारी-से-भारी विक्षोभ और चोटें भी मेरे लिए क्षणिक हैं, और ये मेरी आत्मिवशुद्धि करनेवाली और मुझे बलवान् बनानेवाली ही हैं। ऐसी चोटें लगने पर ज्यों ही मैं कुछ देर के लिए अपने हृदयमन्दिर में बैठकर आत्मचिन्तन कर लूँगा तो अन्दर की ज्ञानमयी स्नेहस्वरूपिणी सरस्वती देवी की कृपा से मेरी ये चोटें क्षण में ठीक हो जायेंगी और मैं तब अपने को पहले से अधिक पवित्र तथा अधिक बलवान् भी पाऊँगा। सरस्वती देवी के पास वह घृत है, ज्ञान और स्नेह का वह अद्भुत मरहम है, शान्ति और प्रफुल्लता देनेवाला वह स्निग्ध ज्ञान है जिससे कि सच्चे पुरुष के सब घाव आत्मचिन्तन करने से जादू की तरह जरा-सी देर में बिलकुल ठीक हो जाते हैं। मनुष्य आत्मस्वरूप को सदा स्मरण न रख सकने के कारण ही विक्षुब्ध व व्याकुल हो जाता है। अतएव विचार व आत्मचिन्तन कर लेने से देखा जाता है कि मनन करनेवाले के भारी-से-भारी मानसिक आघातों की भी पीड़ा बहुत-कुछ उसी समय चली जाती है। यद्यपि नाना प्रकार की सद्-आशाओं के भंग हो जाने से या भलाई के बदले घोर अपमान व आपत्ति मिलने से मेरा आन्तरिक, मानसिक शरीर चूर-चूर हो जाता है, क्षत-विक्षत हो जाता है, तथापि हे सरस्वती देवी ! मेरी प्रार्थना है कि तुम सदा उन सब मेरे घावों को अपनो इस स्नेह-रसमयी चैतन्यकारिणो शान्तिदायिनी दिव्य मरहम से जादू की तरह भरकर ठीक करती रही।

शब्दार्थ —जनान् अनुचरतः मनुष्यों की सेवा करते हुए आशसा वदतः उनके साथ आशा से बोलते हुए, भाषण करते हुए, में मेरा यत् जो कभी-कभी विचुक्षुमें मन विक्षोभ को प्राप्त होता है और याचमानस्य लोगों के हित के लिए उनसे प्रार्थना करते हुए या भिक्षा करते हुए यत् जो मेरा मन विक्षोभ को प्राप्त होता है तथा आत्मिन तन्वः अपने अन्दर अन्तःशरीर पर, अन्तः करण पर मे यत् विरिष्टम् मुझे जो चोट पहुँचती है, घाव होते हैं तत् उस सब को सरस्वती विद्या देवी घृतेन अपने ज्ञानपूर्ण और स्नेहमय मरहम से आपृणात् भर दे, पूर दे।

Digitized by Arya Sanai Foundation her

२३ श्रावण

शर्चीव इन्द्र पुरुकुद् द्युमत्तम, तवेदिद्मिभितंश्चेकिते वस्तं । श्रातंः संग्रभ्यांभिभूत श्राभंर, मा त्वांयतो जेरितः कामंमूनयीः ॥

—ऋ० शार्या३; अथर्व० २०।३।२१

ऋषिः सन्य आङ्गिरसः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय-हे परमैश्वर्यवाले इन्द्र ! इस संसार में चारों तरफ दिखाई देनेवाला और नाना तरह भोगा जाता हुआ जो ऐश्वर्य है वह सब तेरा है। पहले मैं इन ऐश्वर्यों को मनुष्य का ऐश्वर्य समझता था, पर अब खुब अच्छी तरह जान गया हैं कि यह सब तेरा है-एकमात्र तेरा ही है। सेरे ही दिये अनन्त ऐश्वर्य को संसार भोग रहा है। ये भौतिक सुख देनेवाली सब वस्तुएँ-प्रतिष्ठा, यौवन, प्रभुत्व आदि ऐश्वर्य, अभय, सत्त्वसंशद्धि आदि दैवीसंपत और बड़ी-बड़ी आर्टिमक सिद्धियाँ और विभूतियाँ, इन सब प्रकार के एक-से-एक ऊँचे ऐश्वर्य को यह संसार तुमसे ही पाकर भोग रहा है। हे संपूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी ! हे अतिशय ज्योतिवाले ! हे सर्वशक्तिमन ! मैं तूझे एक बार देखकर तेरा हो चुका हूँ, अपना सर्वस्व तुझे सौंपकर तेरा हो चुका हूँ। अब तू ही मेरा अपना है। इस विश्व में मेरा अब और कोई नहीं है। तो फिर मैं अपनी प्रार्थना किस और के सामने कहूँ? अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए किस अन्य की तरफ देखूँ ? तुझे अपनाकर, हे सर्वें इवर्यवाले ! हे सर्वशक्तिमय! तुझे अपनाकर मेरी शुभ अभिलाषा कैसे अपूर्ण रह सकती है ? तू पुरुकृत है। तूने बहुत-से भक्तों के लिए बहुत-कुछ किया है, इस संसार का सब-कुछ तूने ही बनाया है। तू एक क्षण में अभिलिषत ऐश्वर्य की रचना करके दे सकता है। हे अभिभूते ! सब विघ्नों और आवरणों के हटा देनेवाले ! तुम अपने अपरिमित ऐश्वर्य में से उठाकर मेरी इच्छा-भर जरा-सा ऐश्वर्य मुझे दे दो। मेरी अभिलाषा, कितनो ही कठिन, कितनी ही असम्भव-सी दीखती हो, पर तुम सब विघ्न-बाधाओं को अभिभव कर सकते हो। हे सब विघ्नों का विनाश कर सकनेवाल ! तेरे जैसे स्वामी को अपनानेवाले भक्त की प्रार्थना कैसे अधूरी रह सकती है ? हे प्रभो ! बाधा हटा-कर इसे पूर्ण कर दो, पूर्ण कर दो ! अपने अनन्त ऐश्वर्य में से उठाकर यह एक मुट्ठी-भर ऐश्वर्य मुझे दे दो। यह मेरी इतनी बड़ी भारी अभिलाषा तुम्हारे लिए सचमुच मुट्ठी-भर ही है।

शब्दार्थं—शबीव हे सर्वशिक्तमन् ! पुरुकृत् बहुत-कुछ करनेवाले ! द्युमत्तम अतियश दीिम्तिवाले ! इन्द्र परमेश्वर अभितः सव तरफ जो इदं यह वसु ऐश्वर्य है वह तब तेरा इत् ही है ऐसा मैं चेकिते खूब अच्छी तरह जानता हूँ । अतः इसिलए इसमें से अभिभूते हे विघ्नविनाशक ! संगृम्य मेरे योग्य धन उठाकर आभर मुझे दीजिए त्वायतः मुझे अपनानेवाले जरितुः मुझ स्तोता की कामं इच्छा, प्रार्थना को मा कनयीः अपूर्ण मत रिखए।

160

मानिया मा प्रशास

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेष श्रीवर्ण

स इन्महानि सामिथानि मुज्मना कृणोति युध्म श्रोजंसा जनैभ्यः। श्रधा चन अदंधति त्विषीमत् इन्द्रांय वर्ज्नं निधनिस्तते वैधम्।।

─ऋ० शार्रार

ऋषिः सन्य आङ्गिरसः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय-किसी लड़ाई में, किसी जीवन-संघर्ष में, जब मनुष्य को विजय मिलती है तो वह फूला नहीं समाता है। वह समझता है मेरे शस्त्र-बल की, बुद्धि-बल की या तपोबल की विजय हुई। परन्तु संसार के सब महासंग्रामों के विषय में जो सच्चा रहस्य है, उसे विरले ही मनुष्य समझते हैं। सच तो यह है कि संसार की सब सच्ची (अन्तिम) विजयें परमात्मा की ही विजय हैं। हम अधिक ज्ञान-प्रकाश में होकर देखें तो हमें दीखेगा कि वह परमेश्वर ही महायोद्धा होकर हम मनुष्यों के लिए सब संग्रामों को लड़ रहा है। मनुष्य की स्वार्थमयी आसुरी प्रवृत्ति के कारण संसार में सब लड़ाइयों के प्रसंग उपस्थित हो रहे हैं और जगदीश्वर की देवी शक्ति उसे अन्त में विजित करके उसे शान्त कर रही है। मनुष्य की न्यूनता पर परमेश्वर की पूर्णता विजय पा रही है। हमें जो यह दीखता है कि बहुत-से मनुष्य सत्य के पक्ष में महासंग्राम लड़ रहे हैं, वह असल में सत्यप्रेमी मनुष्यों के लिए स्वयं भगवान् वह युद्ध कर रहें होते हैं और अतएव उसमें विजय अवश्यंभावी होती है। परमात्मा का पवित्रताकारक ओज ही लड़कर जगत् में सदा विजयी हो रहा है। सत्य के लिए युद्ध करनेवालों को तो सदा समझना चाहिए, स्पष्ट देखना चाहिए कि उनका योद्धा स्वयं जगदीश्वर है, जगदीश्वर ही है (स इत्), अहंकार से विमूढात्मा हुए मनुष्य यूँ ही अपने को योद्धा और विजयी समझते हैं। अन्त में जब उनका अहंकार का पर्दा हटता है और जगद्-व्यापक ज्योति मिलती है तब ही उन्हें इस असली सत्य में श्रद्धा जमती है। तब उन्हें पाप के विजयी होने का भी भ्रम नहीं होता; क्योंकि उन्हें तब इन युद्धों का महान्पन (महानि समिथानि) स्पष्ट दिखाई देता है। अतः अधूरे युद्ध में पाप की क्षणिक विजयों से वे भ्रम में नहीं आते, उनकी श्रद्धा में जरा भी धक्का नहीं लगता। अपने उस निर्वाध व्यापक प्रकाश में उन्हें सब संग्रामों का यह सच्चा रूप दृष्टिगोचर हो रहा होता है कि एक तरफ मनुष्यों के स्वार्थ दूसरों के नाना प्रकार से हिंसन (वध) करने के रूप में उठ रहे हैं, पर जहाँ तक उनको स्वाधीनता है वहाँ तक उठकर वे सब दूसरी तरफ़ महाते जस्बी इन्द्र के ओज के सामने नष्ट होते जा रहे होते हैं - इन्द्र का पापवर्जक, कर्मफल देनेवाला वज्र उनके वध का ही वध करता हुआ सदा समता स्थापित कर रहा है।

शब्दार्थ स इत् वह इन्द्र ही युष्मः योद्धा होकर मज्मना ओजसा अपने पवित्रकारक ओज से महानि सिमथानि बड़े-बड़े संग्रामों को जनेभ्यः मनुष्यों के लिए कृणोति करता है। परन्तु लोग अधा चन अनन्तर ही, पीछे से ही त्विषीमते इन्द्राय उस महातेजस्वी इन्द्र में श्रद्धित श्रद्धा करते हैं, जो कि वधं संसार के सब वध को, सब हिंसा को वर्ष्यं निघनिष्नते वच्च मारता है, अपने वच्च से हनन किया करता है।

व्रष्टानारी की महिमा

२५ श्रावणं

<u> महाचा</u>रीष्णंश्चरित रोदंसी <u>उ</u>मे तस्मित् देवाः संमेनसो भवन्ति । स दांधार पृ<u>थि</u>वीं दिवं <u>च</u> स त्रां<u>चा</u>यें तपसा पिपर्त्ति ।।

-अथर्वे० ११।५।१

कृषिः ब्रह्मा। देवता ब्रह्मचारी। छन्दः त्रिष्टुप्।

विनय-ब्रह्मचारी वह है जो कि ब्रह्म के लिए (महान् सत्यज्ञान के लिए या परमेश्वर-श्राप्ति के लिए) सब आचरण करता है, तपश्चरण करता है। वह उस सत्य की खोज के लिए कुछ उठा नहीं रखता है। इस स्थूल बाह्य जगत् अर्थात् पृथिवी में तथा सूक्ष्म अंदर के जान-जगत अर्थात् द्यौ में वह उस परम सत्य को खोजता हुआ फिरता है। उसे जहाँ भी कोई ब्रह्म अर्थात् सत्य-ज्ञान मिलता है तो वह फिर उसी (ब्रह्म) के अनुसार अपना आचरण करने लगता है। घोर से घोर तपस्या करके भी वह उस ब्रह्म (सत्य ज्ञान) के विपरीत चलने से अपने को बचाता है। ऐसे सच्चे ब्रह्मचारी में ऋमशः सब देवता, सव ईश्वरीय शक्तियाँ अनुकूल हो जाती हैं, जब कि वह अपना सर्वार्पण करता हुआ भी देवों के सत्य नियमों का पूर्णतः पालन करता है तो वे देव उससे एक मनवाले क्यों न हो जायेंगे ? बाहर के अग्नि, वायु, आदित्य आदि देव उसके वाणी प्राण-दर्शनेन्द्रिय आदि अन्दर के देवों के साथ समस्वर हो जाते हैं। इस प्रकार बाहर का पृथिवी और चुलोक ही उसके अन्दर ठीक प्रकार धारित हो जाता है। सचमुच जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह संभी वास्तव में पिण्ड में भी है। ब्रह्मचारी अपने शारीरिक वीर्य की रक्षा द्वारा जहाँ स्यूल पृथिवीलोक को अपने में घारण करता है, वहाँ अपने आत्मवीर्य (तेज) की रक्षा द्वारा सब द्युलोक को भी अपने में समाए होता है। धन्य हैं वे ब्रह्मचारी, जो अपने आत्म-वीर्यं को अपने में अक्षुण्ण स्थापित रखते हुए इसे अधिक-अधिक जागृत करते जाते हैं। ऐसे ही लोगों के प्रताप से यह संसार - यह स्थूल (दृश्य) और सूक्ष्म (ज्ञानमय) संसार, यह पृथिवी और यह द्यौ-स्थित हैं। परम ब्रह्मचारी भगवान् जो कि वास्तव में सब जगत् के धर्ती हैं इन्हीं वसु, और आदित्य ब्रह्मचारियों को साधन बनाकर जगत् का धारण कर रहे हैं। उस सर्वथा 'अनश्नन्', त्रिकाल में भोगवासना-रहित, परमेश्वर से तेज को लेते हुए इन ब्रह्मचारियों में बह आत्म-वीर्य पैदा होता है जिससे कि ये दैवी नियमों का ठीक पालन कर सकते हैं और अतएव जगत् में दैवी नियमों का ठीक संचालन होता है और सब जगत् कायम है। मनुष्यो ! ब्रह्मचर्यं की इस परम महिमा को देखो ! और अपनी परिपूर्ण शक्ति लगाकर महान् ब्रह्मचर्य की तरफ अग्रसर होओ।

शब्दार्थ — ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी उमे रोबसी दिव् और पृथिवी दोनों लोकों में इष्णन् ब्रह्म को खोजता हुआ, चाहता हुआ चरित विचरता है तिस्मिन् उस ब्रह्मचारी में देवाः सब दिव्य शिक्तयाँ संमनसः अनुकूल मनवाली भवन्ति हो जाती हैं। अतः सः वह पृथिवीं दिवं च पृथिवीं और चुलोक को दाधार अपने अन्दर धारण करता है, एवं वाहर के भी इन दोनों लोकों को वह धारण करता है। सः ऐसा ब्रह्मचारी तपसा इस तप से आचार्यं अपने आचार्यं को भी पिपित परितृष्त करता है, पूर्णं करता है, पालन करता है।

१७२

SEVERISION

गार्वाया भा हमा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र्द श्रोवंण

विपश्चिते पर्वमानाय गायत मुही न धारात्यन्धौ अर्षति। अहिन जूर्णामति सर्पाते त्वचमत्यो न क्रीळेन्नसर्द्<u>युषा</u> हरिः॥

一港० हाद्दाप्रथः सा० उ० ७।३।४१

ऋषिः अत्रिः । देवता पवमान सोमः । छन्दः विराड् जगती ।

विनय उस ज्ञानमय आत्मा के स्तुति-गीत गाओ जो कि महा अद्भुत है। यह आत्मा समरस होकर अपने विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय विस्तारों में नानारूप से पवमान हो रहा है। इन आन्तरिक शारीरों में जो लोग आत्मा के इन अद्भुत कौतुकों को देख पाते हैं वे आवेश में आकर अवश होकर उसकी स्तुतियाँ गाने लगते हैं। अहो ! मनुष्य अपने ही आत्मा को नहीं जानता ! यदि वह इसके सामध्यों, कार्यों और गतियों को जान जाय तो संसार की अन्य सब बाहरी बातों की प्रशंसायें करना छोड़कर आत्मा के ही स्तोत्रगान में मग्न हो जाय। जब आध्यान द्वारा आत्मा की शक्ति विज्ञानमय शरीर में विशेषतया प्रकट होती है तो मनुष्य में चैतन्य (उच्च ज्ञान) की बाढ़ आ जाती है। जैसे कोई बड़ी जलधारा बढ़ने पर अपने तटों को लाँघकर इधर-उधर के क्षेत्र में भी भर जाती है, वैसे ही आत्मा में ज्ञानप्रकाश होने पर वह आत्मा इस स्थूल शरीर को और इन्द्रियों को अतिक्रमण कर जाता है, शरीर से बाहर भी उसका साक्षात् अनुभव होता है और उसे अतीन्द्रिय ज्ञान हुआ करते हैं। उसके विज्ञानमय आदि आन्तर शरीर परिपक्व हो जाने पर उसके लिए स्थूल देह परम तुच्छ वस्तु हो जाती है। हम तो इस स्थूल देह को छोड़ने का खयाल करते ही डरते हैं और जब छोड़ना पड़ता है तो रोते-चीखते हुए इसे छोड़ते हैं। परन्तु वह जागृत आत्मा स्थूल शरीर को इस तरह आसानी से और स्वभावतः त्याग देता है जैसे कि साँप आन्तर नयी त्वचा के तैयार हो जाने पर जीण हुई केंचुली को सहजं में छोड़ जाया करता है। वह जागृत आत्मा तो एक शरीर से दूसरे शरीर में या आन्तरिक संसार में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इस तरह चला जाता है जैसे कि एक बलवान् और गतिशील घोड़ा एक स्थान को छोड़कर दौड़ता हुआ—विहार करता हुआ—दूसरे स्थान पर जा पहुँचता है। वह बलवान् आत्मा अपने साथ प्राणों, इन्द्रियों आदि का हरण करता हुआ आनन्द से नये-नये स्थान पर चला जाता है। मरना-जीना आदि संसार की सब घटनायें उसे लीला और खेल नजर आती हैं। सचमुच वह खेलता हुआ ही आन्तर संसार में विचरता है, इस स्थल देह को तो वह सर्वथा भूला-सा रहता है जिसके कारण हम मौत से डरते हैं।

शब्दार्थ — विपिश्चते ज्ञानमय पवमानाय सोमरूप आत्मा की गायत स्तुतिगान करो अन्धः वह आध्यायनीय आत्मा महीधारा न बड़ी जलधारा के समान अति अपंति अपने तटों रूप देहबंधनों को तोड़कर चला जाता है अहिः जूणाँ त्वचं न साँप जैसे अपनी जीणं त्वचा को वैसे वह अपने जीणं शरीर को अतिसपंति छोड़कर चला जाता है, और अत्यः न घोड़े के समान वृषा हरिः यह बलवान् और गतिशील आत्मा ऋडिन् खेलता हुआ असरत् एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर चला जाता है।

अनिमीत क्रन्वत महान र्यान

२७ श्रावणंः

यानि चकार सुर्वनस्य यस्पतिः प्रजापंतिर्मातरिश्वां प्रजाभ्यः । प्रदिशो यानि वसते दिशंश्च तानि मे वमीणि बहुलानि सन्तु ॥

-अथर्व० १६।२०।२

ऋषिः अथर्वः । देवता मन्त्रोक्ता । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय मुझे अब फिक नहीं है कि यदि कोई मुझे हानि पहुँचायेंगे तो मैं उनसे कैसे अपने को बचाऊँगा। जो लोग अज्ञान से मुझे अपना शत्रु जानकर मुझे कभी विपद्ग्रस्त करना चाहेंगे तो उनसे बचने के लिए अब मैं न तो जेब में पिस्तौल रखता हूँ, न अंगरक्षकों की तरह किन्हीं साथियों से घरा रहता हूँ। इसके लिए न तो सार्वजनिक जीवन में किसी दल (पार्टी) बनाने की आवश्यकता समझता हूँ, न ही विरोधी समझे जानेवाले के विरुद्ध कोई प्रचार (प्रोपेगेन्डा) करने की। एवं विरोधियों से बचने के लिए अब कभी मुझे कोई भी योजनायें (Schemes) बनाने और करने की चिन्ता नहीं होती। क्योंकि मैंने देख लिया है कि प्रभु ने, जो कि इस सब भवन के पित हैं, रक्षक हैं, उन्होंने हम सब की रक्षा का स्वयं ही पूरा प्रवन्ध कर रखा है। उस प्रजापित ने हम प्रजाओं की रक्षा के लिए सब स्थानों पर दिव्य वर्म (कवच) बना रखे हैं।

इन अदृष्ट कवचों का स्वरूप क्या है ? ये हमारे व्यष्टि प्राणों में समष्टि प्राणों द्वारा मिलनेवाले हमारे शुभकमों के फलरूप हैं। जगत्व्यापक सूक्ष्म प्राण, मातरिश्वा या सूत्रात्मा वायु (हमारे अपने पापों से आयी विपत्तियों के अतिरिक्त अन्य) सब क्लेशों-भयों से हमारी निरन्तर रक्षा कर रहे हैं। यदि हमारा भोग नहीं है तो संसार में कोई भी हमारा बाल बाँका नहीं कर सकता। जब हम देखते हैं कि हमें गोली मारनेवाले का वार चूक जाता है, हमें हानि पहुँचाने की सब योजनाओं का ऐसा प्रभाव होता है कि उल्टे उनसे हमारा कल्याण हो जाता है, तब उस समय मातरिश्वा प्रजापित के इन अदृश्य कवचों की सत्ता सबको अनुभव हो जाती है। इन्हीं ईश्वरीय कवचों से सदा सुरक्षित देखते हुए ही सत्यनिष्ठ आस्तिक वीर लोग हजारों विरोधियों के बीच में निर्भय विचरा करते हैं। संसार के सब सच्चे आस्तिक पुरुषों को सर्वथा निर्भय, निश्चन्त बनानेवाले ये ही प्रजापित के कवच हैं। इन्हीं न देखकर हम तो यूँ ही हजारों काल्पनिक भयों से पीड़ित तथा उनके प्रतिविधान के लिए सदा चिन्तित रहते हैं। हे भुवनपित ! मेरी तुमसे यही प्रार्थना है, यही याचना है कि मेरे लिए तुम्हारे दिये ये कवच सदा वहुत रहें, पर्याप्त रहें। मुझे किन्हीं अन्य निरर्थक दुनियावी कवचों की, रक्षा-साधनों की जरूरत न हो। मैं सदा तुम्हारे इन्हीं महान् दुर्भेंद्य, सर्वसमर्थ कवचों की रक्षा में रहाँ।

शब्दार्थ यः भुवनस्य पितः जो इस संसार का पित है उस मातरिश्वा प्रजापितः प्राण-स्वरूप, सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा संसार को चलानेवाले, प्रजाओं के रक्षक ने प्रजाश्यः अपनी प्रजाओं के लिए यानि जिन कवचों को चकार बनाया है और यानि जिन कवचों को प्रविशः विशश्च ये दिशायें और प्रदिशायें वसते पहने हुई हैं तानि वर्माणि वे कवच मे मेरे लिए बहुलानि सन्दु बहुत हों, प्रबल हों, पर्याप्त हों।

108:

गार्वाच्डर दि वीच

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२८ शावण

न घां त्वद्विगपं वेति मे मनुस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय। राजेव दुस्म निष्दोऽधि बुर्हिष्यास्मिन् सुसौमे अवुपानंमस्तु ते॥

—अथर्वं० २०।१७।२; ऋ० १०।४३।२

ऋषिः कृष्णः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय हे देव ! मैंने संसार में बहुत विहार किया, बहुत इच्छायें-कामनायें पालीं, बहुत भटका; परन्तु जब से मेरा मन तेरी तरफ गया है, जब से शास्त्रश्रवण द्वारा, तेरे एक सच्चे भक्त (गुरु) द्वारा तेरे स्वरूप की एक झाँकी मुझे मिली है, तब से मेरा मन मुग्ध होकर ठहर गया है। हे दर्शनीय ! तुझे देखकर मैंने सब-कुछ पा लिया है। जिस प्यारे अमर तत्त्व को न पा लेने से सब व्याकुलता थी, वही पा लिया है। तेरे स्वरूप की झाँकी ने मुझे ऐसा मोहित कर लिया है कि अब मेरा मन हे परमसुन्दर ! तु असे जरा देर को भी हटना नहीं चाहता है। मैं अब अन्य किस वस्तु की कामना कहूँ ? मेरी सब इच्छा, कामना, अभिलाषा, मनोरथ, सबका तू ही एक आश्रय हो गया है। अब मुझमें दीखनेवाली कुछ स्वाभाविक कामनायें भी जिसमें अवलम्बित हैं, वह एक तेरी ही कामना रह गई है। हे मेरे हृदय को सब अन्य कामनाओं से शुद्ध कर देनेवाले देव ! अब तुम मेरे इस निष्काम हृदयान्तरिक्ष को अपने इस मुग्ध करनेवाले दृश्यमान स्वरूप से परि-पूर्ण कर दो, मेरे अन्त:करण के आसन पर आ विराजो। राजा की तरह मेरे हृदय के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाओ। हे अभीष्ट देव ! तुम मेरे हृदय के शासक, नियंत्रक, राजा, स्वामी हो जाओ। हे समस्त प्रजाओं द्वारा पुकारे गए पुरुहूत ! मेरे महाभाग्योदय से जब तुम मुझे एक बार मिल गए हो तो मैं तुम्हें क्यों गँवा दूं। अतः अब तुम मुझमें स्थिर हो जाओ, आ बैठो। हे दर्शनीय ! तुम्हें एक बार देख लेने पर अब मैं तुम्हें आँखों से क्षण-भर के लिए भी ओझल नहीं करना चाहता। अतएव कहता हूँ कि इस मेरे हृदय को अपना निवासस्थान बना लो। है "रसेन तृप्त'' ! तुम अपने परिपूर्ण स्वरूप के सोमरस से सदा ही तृप्त हो, मैं तुम्हें अपने हृदय में निमंत्रित करके क्या सुख दे संकूँगा ? परन्तु नहीं, मेरा भक्त मन कहता है तुम्हें भी विशुद्ध हुई आत्मा को देखकर अवश्य सुख-तृष्ति मिलती होगी। अतः तुम मेरे हृदय में बैठकर मेरे शुद्ध हुए, उत्तम हुए, आत्मा से स्वभावतः निकलनेवाले भिक्तरस का-सुसोम का-आस्वादन करो। अपने उच्च सिंहासन से उतरकर मेरे इस तुच्छ पान को ग्रहण करो। मेरा यह कामना-मल से रहित हुआ निर्लेप आत्मा तुम्हारा सोम होकर सर्वभाव से तुम्हें समर्पित है, तुम इसे ग्रहण करो, स्वीकार करो, अपना लो।

शब्दार्थ — [हे इन्द्र] में मेरा त्वद्रिक् मनः तेरी तरफ गया मन न घ अपवेति अब कभी लौटता नहीं, तुझसे हटता नहीं, पुरुह्त हे बहुतों से पुकारे गए ! कामं अपनी सब इच्छा, मनोरथ, कामना को त्वे इत् तुझमें ही शिश्रिय मैंने आश्रित कर दिया है। दस्म हे दर्शनीय ! हे परम-सुन्दर ! तू राजा इव राजा की तरह बहिषि अधि मेरे हृदयासन पर निषदः बैठ जा अस्मिन् सुसोमे इस उत्तम सोम आत्मा में अब ते तेरा अवपानं अस्तु अवपान हो, उतरकर पीना हो। []

परमञ्जराय नमें नमः

२६ श्रावण

नमों उस्तु त निर्ऋते तिग्मतेजो, अयुस्मयान् विचृंता वन्धणाशान् । यमो मह्यं पुनिरित् त्वां दंदाति तस्मै युमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥

-- अथर्वे० ६।६३।२

ऋषिः दुह्वणः । देवता यमः । छन्दः जगती ।

विनय हे मुझपर आई हुई भारी विपत्ति ! मैं तुझे नमस्कार करता हूँ । मैं जानता हुँ कि इस संसार में हमपर जो कष्ट, क्लेश, दु:ख-दर्द आते हैं वे हमारे भले के लिए, हमें हल्का करने के लिए ही आते हैं। अतः मैं तेरा स्वागत करता हूँ। हे भारी-से-भारी विपत्ति ! तूम आओ, और मेरे भारी-से-भारी बन्धनों को, पाशों को, काट जाओ। तुम तो बंधन काटने के लिए ही आया करती हो। हमने पाप करके अपने-आपको बाँध लिया होता है, तुम दु:ख भुगा-कर हमें उस पाप के बंधन छुड़ा जाती हो। हे विपत्तियो ! तुम तो बड़ी कल्याणकारी, मंगलकारी वस्तु हो। हम जो पहले बड़े-बड़े पाप कर चुके हैं उनके कारण हमारी उन्नित रुक जाती है, उनके बोझ से हम दब गए होते हैं। जबतक वह बोझ उतर न जाय, वह ऋण अदा न हो जाय, तबतक हम आगे . इने से वंचित हो जाते हैं। विपत्तियाँ तो हमें आगे बढ़ने से रोकने वाली हमारी इन बेडियों को काट जाती हैं। इसलिए हे भारी विपत्ति ! तू मुझपर अपने तीक्षण-तेज के साथ आ। तू मेरे किसी बड़े भारी पाप-समूह का फल दीखती है। इसीलिए तू इतने तीक्षण क्लेश-संतापवाली है। परन्तु तू आकर मेरी उतने ही बड़े सुदृढ़, उतने ही बड़े कठोर और उतने ही भारी बाधा डालनेवाले पाश को काट जा। तेरा जितना ही तीक्ष्ण संताप है, उतनी भारी मेरी बेड़ी कटेगी, यह मुझे विश्वास है। अतएव मैं, हे घोर विपत्ति ! तुझसे घबराता नहीं हूँ। मैं तेरा प्रसन्तता से स्वागत करता हूँ। पहले भी मुझे कई बार घोर कष्ट आ चुके हैं। पर उस सर्वनियन्ता प्रभु ने आज फिर मेरे लिए तुझे भेजा है। पिछली विपदों से भी मैं कुछ हल्का हुआ था, पर आज उस यम प्रभु ने फिर से मेरे लिए भारी विपत्ति को दिया है कि इसकी असह्य तीक्ष्णताओं से तो मेरे वे सब लोहमय दुर्भेंद्य पाश, जो और किसी तरह कट नहीं सकते थे वे भी कट जायेंगे। अतः मैं उस मृत्युरूप को भी आज नमस्कार करता हूँ। उसका रुद्ररूप भी शिव होता है, संहारकरूप भी कल्याणकारी होता है-यह मैं जानता हूँ। उसके सुख-शान्तिदाता सौम्य रूप को तो मैं सदा नमस्कार करता ही रहा हूँ, पर आज तुझ घोर विपत्ति के भेजनेवाले उसके मत्युरूप को भी नमस्कार करता हूँ। हे उसकी भेजी हुई मेरी विपत्ति ! तू आ, तेरा स्वागत है।

शब्दार्थ — निऋं ते हे कुच्छापत्ते ! हे भारी विपद् ! ते नमः अस्तु मैं तुझे नमस्कार करता हूँ तिरमतेजः हे तीक्षण तेजवाली ! तू मेरी अयस्मयान् बंधपाशान् बड़ी सुदृढ़ बाँधनेवाली बेड़ियों को विचृत काट डाल । यमः नियमन करनेवाला परमेश्वर पुनः इत् फिर भी मह्यं मेरे लिए त्वां तुझे ददाति दे रहा है तस्म उस मृत्यवे मृत्युरूप, संहारक यमाय नियमन करनेवाले परमेश्वर को भी नमो अस्तु मेरा नमस्कार है ।

१७६

Light Ava Sama Foundard Chenna Kill Con 24

३० श्रावण

अध्यक्षी वाजी मम कार्म खुग्रः कृषोतु महामसपुत्नमेव। विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमार्यन्तु मे इमम्।।

-अथर्वं ० हारा७

ऋषिः अथवा । देवता कामः । छन्दः जगती ।

विनय-मैं चाहता हूँ कि मुझमें जो आत्मा का संकल्प-बल निहित है उसके द्वारा मैं सपत्नरहित हो जाऊँ। हर समय जो मुझे अब अपने प्रतिद्वनिद्वयों से लड़ने में लगा रहना पड़ता है, वह मेरी विषम अवस्था हट जाय। इसके बिना मैं देवों के साथ कभी अपना सहज सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। अतः मैं तो संकल्प-बल द्वारा अन्य कुछ सिद्ध नहीं करना चाहता, केवल अपने में देवों को स्थापित कर लेना चाहता हूँ और इस प्रयोजन के लिए इससे पहले इन देवों के सब सपत्नों को, सब प्रतिद्वन्द्वियों को, काम-क्रोध आदि को, निर्मल कर देना चाहता है। यह हो जायगा तो बाकी सब अपने-आप सिद्ध हो जायगा । ज्ञान, सत्य, प्रेम, यज्ञ, संयम, धैर्य आदि देव मुझमें सदा बसने ही चाहियें। ये मेरे आत्मा के स्वाभाविक साथी हैं। परन्तु इनके मुकाबिले में इन्हें हटाकर मेरे हृदय में प्रभुत्व जमाने के लिए जो निरन्तर अविद्या, अस्मिता, राग (काम), द्वेष (क्रोध), लोभ आदि आते रहते हैं, ये ही मेरे प्रतिद्वन्द्वी सपत्न हैं जिन्हें बिना हटाए मुझमें मेरे इन देवों का वास नहीं हो सकता है। अतः मैं अपने प्रबल महान् संकल्प द्वारा इन अविद्या आदि व काम-क्रोध आदि सपत्नों को हटा दुंगा। परन्तु संकल्प का अर्थ इच्छा नहीं है। केवल प्रबल इच्छा होने से ये सपत्न नहीं हट सकते। इसके लिए ज्ञान ज़रूरी है। बिना ज्ञान हुए, काम-क्रोध आदि को नहीं हटाया जा सकता। यूँ ही दबाने से ये दबनेवाले नहीं हैं, बल्कि हठात् दबाने से तो ये और जोर से उठते हैं। इसके लिए मुझे जरूरत है आत्मसंकल्प की, आत्मा के संकल्प की, 'कामः' की। क्योंकि आत्मसंकल्प 'वाजी' होता है, ज्ञान-बल से युक्त होता है और यह 'अध्यक्ष' होता है। यह मेरे मूर्घा में, ब्राह्मस्थान पर अपर आत्मा के साथ स्थित रहता है और वहीं से सब कियाओं की अध्यक्षता करता है। यही मनुष्य में एक आत्मबल है; यही सच्चा संकल्प है; इच्छा का नाम संकल्प नहीं है। इस वाजी, अध्यक्ष, आत्मसंकल्प द्वारा गहरे-से-गहरा बद्धमूल काम-क्रोध व राग-द्वेष आदि सपत्न उखड़ जायगा। अतः मैं अपनी ज्ञानमय बलवान् अध्यक्षे आत्म-शक्ति को ऊपर से प्रेरित करता हूँ कि यह अपने अदम्य अमोघ बल से काम-क्रोध आदि प्रतिद्वन्द्वियों को निवृत्त करके मुझे असपत्न कर दे और तब सब मेरे आत्मीय देव मुझसे सहज सम्बन्ध से जुड़े हुए हो जायेँ। असपत्न हो जाने पर मेरे संकल्प की इस पुकार से सब-के-सब दिव्यभाव मुझमें आ जाय। ये देव मुझमें ऐसे बस जाये, मुझमें ऐसे सम्बद्ध हो जायँ, कि मैं अपने संकल्प द्वारा जब जिस दिव्यभाव को, जब जिस देव को, उद्बुद्ध करना चाहूँ उसी समय वह उद्बुद्ध हो जाय।

शब्दार्थ मम उग्नः कामः मेरा प्रबल संकल्प वाजी ज्ञान-बल से युक्त है और अध्यक्षः ऊपर से ठीक-ठीक देखनेवाला है। यह संकल्प मह्यम् मेरे लिए संसार को असपत्नम् एव सर्वथा प्रतिद्वन्द्वीरहित कृणीतु कर देवे। विश्वे देवाः सब देव मम नाथं मेरे सम्बन्ध में मवन्तु हो जायँ, सर्वे देवाः और ये सब देव मे इमं हवम् मेरी इस पुकार पर आयन्तु आ जायँ।

. 200

न्त्र भारत खल की महर्ग माइमा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

३१ श्रावण

अवं<u>षीत् कामो मम</u> ये सपत्नां उरुं <u>लोकमंकरन्मह्ममेषतुम् ।</u> मह्मं नमन्तां <u>मदिश्</u>यश्चतंस्रो मह्मं षडुर्वीर्घृतमावंहन्तु ।।

अथर्व ० ह। २। ११

ऋषिः अथवी । देवता कामः । छन्दः भुरिक् विष्टुप् ।

विनय-मेरा संकल्प-बल जाग गया है। मनुष्य के संकल्प में बड़ा बल छिपा हुआ है, भगवान जिसं अपने 'काम' से-ईशण-शक्ति से-सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं वह संसार की असीम शक्ति मनुष्य के संकल्प में आई हुई है यह बात अब मुझे अपनी संकल्प-शक्ति के जागने पर अनुभव हो रही है। मेरे जागे हुए संकल्प-बल ने, उस काम ने, सबसे पहले मेरी बाधाओं को, रुकावटों को हटाने में अपनी शक्ति लगाई है। मेरे संकल्प ने काम, क्रोध, लोभ आदि सपत्नों को, रिपुओं को मार गिराया है। इच्छामूलक (वासनामूलक) काम-क्रोधादि दुर्भाव ही मेरे एकमात्र सपने थे जो कि मेरे आत्म-मूलक देवभावों के मुकाबिले में आते थे और उन्हें दबाए रखते थे। पर मेरे दृढ़ संकल्प ने इन्हें बड़े यत्न से अब मार दिया है, बेजान कर दिया है। इन बाघाओं को हटाकर मेरे संकल्प ने मुझे एक विस्तृत निर्वाध खुले लोक में पहुँचा दिया है। मेरे लिए एक नया अमित क्षेत्र खुल गया है। मैं वढ़ गया हूँ, इस विस्तृत क्षेत्र-भर में फैला हुआ मैं अपने को अनुभव करता हूँ। अब मैं जो संकल्प करता हूँ। वह सीधा वेग से बेरोक-टोक अपने दूर-से-दूर स्थित लक्ष्य पर जा पहुँचता है और उसपर अपना प्रभाव करने लगता है। जब मैं तृष्णाओं का मारा काम-क्रोधादि सपत्नों से आक्रान्त रहता था, तब मैं जो कोई संकल्प किया करता था उनका शीघ्र ही व्याघात हो जाता था इद्यर एक निश्चय करता था तो उधर दूसरी तरफ का ध्यान न रहने से उधर से मुझे चोट पहुँचती थी, इस तरह बड़ी मुक्तिल में रहता था। पर अब मेरे आत्म-संकल्प ने मुझे इनसे ऊपर उठा दिया है और मुझे एक खुले लोक में पहुँचा दिया है। अब मेरे बढ़ते जाते हुए संकल्प-बल के सामने कौन ठहर सकता है ? इस विस्तृत लोक में प्रतिष्ठित होकर मैं अब जो संकल्प करूँगा उसे प्रकृति को, सब संसार को पूरा करना होगा। ये विस्तृत छहों दिशायें और चारों उपदिशायें मेरे सामने झुक जावें, इन सब दिशाओं का संसार मेरी संकल्पित वस्तु को क्षरित करने के लिए तैयार रहे। पूर्व में, पश्चिम में, उत्तर में, दक्षिण में, नीचे या ऊपर जहाँ भी अपने आत्म-संकल्प को चलाऊँ, भेजूं, वहाँ का संसार मेरे संकल्प से क्षरित हुए उस अभीष्ट फल को (घृत को) मेरे लिए उपस्थित कर देवे। संसार में अब ऐसी कौन-सी दिशा या स्थान रहा है जहाँ से कि मेरा महान् संकल्प आत्म-संकल्पित वस्तु को क्षरित नहीं कर सकता !

शब्दार्थ — कामः मेरे संकल्प-बल ने मम ये सपत्नाः मेरेः जो प्रतिद्वन्द्वी बाधक हैं उन्हें अवधीत् नष्ट कर दिया है, मह्यं मेरे लिए उरलोकं विस्तृत खुला हुआ लोक अकरत् कर दिया है, एधतुं [अकरत्] मेरे लिए वृद्धि व विस्तार कर दिया है। अब मह्यं मेरे लिए चतस्रः प्रदिशः चारों उपदिशायें नमन्तां झुक जायें और षट् उिवः छहों विस्तृत दिशायें मह्यं मेरे लिए घृतं क्षरित हुए इष्ट फल को आवहन्तु ले आयें।

१७इ

भाद्रंपद मास

जिल्हा रहित प्रकार में में याद रखना अध्यानी के बहुतिया अध्यान प्रकार

1 Pain Par in pie is inte

-feire ar so i lie ya fee of the neath liefe i is bush in one include a feet in apply star in the first apply the same apply the sa

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् यजुर्वेद ४०।१७

> > सत्य का स्वरूप सुनहरे चमकीले ढकने से ढका हुआ है

भाद्रपद (सिंह) मास

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

पेट और अन्तड़ियों को स्वस्थ करनेवाला

पूर्ववर्णित स्थिति के अनुसार भुजाओं को नीचे लटकाए हुए तथा मुट्ठी बाँधकर खड़े हो जाइये। हथेलियाँ बाहर की तरफ हों। दोनों हाथ तथा पैर तने हुए हों। पेट तक पहुँचने-वाला पूर्ण श्वास लीजिए और इसको अन्दर ही रोके रिखए। अब पेट को क्रमशः अन्दर सिको- डिए और फुलाइए, सिकोड़ने के लिए पेट से वायु को छाती में पहुँचाइए और फुलाने के लिए छाती से वायु को पेट में लाइए।

इस तरह क्वास को अन्दर रोके हुए इस सिकोड़ने तथा फैलाने की क्रिया द्वारा पेट अन्दर और बाहर की तरफ गति करेगा, पिचकेगा और उभरेगा।

रवास निकालने से पूर्व प्रया १० बार तक कीजिए। श्वास निकालने के बाद शरीर को ढीला छोड़ दीजिए; और फिर दुवारा-तिवारा इसी तरह व्यायाम कीजिए।

ध्यान — यह व्यायाम मेरे पाचक अंगों को शक्ति दे रहा है, मेरे सारे शरीर को बड़ा लाभ पहुँचाता हुआ प्रभावित कर रहा है । ।

पेट और अंतिड़ियों को गौणतया ज्येष्ठ, मार्गशीर्ष और फाल्गुन के व्यायाम द्वारा भी लाभ पहुँचता है। पडारपद्मानकता इन्द्र

"Digitized by Arya Samar Foundation Chennar and eGangot

वे भारपर्दे

उलूंकयातुं ग्रुशुलूक्यातुं जिहि श्वयातुमुत कोक्यातुम्।
सुप्रणयातुमुत ग्रुश्रयातुं दृषदे<u>व</u> प्रमृ<u>ण</u> रक्षं इन्द्र॥

-अथर्व ० ८।४।२२; ऋ ० ७।१०४।२२

ऋषिः चातनः। देवता मन्त्रोक्ता । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय हे जीव ! तूने दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर भी अभी तक अपने में से पश्ताओं को नहीं निकाला है। तुझमें छः प्रकार के पशुत्व अबतक बसे हुए हैं। मनुष्य-योनि ही वह उच्च योनि है जिसमें आत्मशक्ति जागृत की जा सकती है। अतः तू अब अपने इन्द्रत्व को पहचान और अपनी आत्म-शक्ति से इन 'षड्रिपुओं' को, छ: राक्षसों को, अपने में से विनष्ट कर दे। इनसे अपनी रक्षा करनी चाहिए। अतः ये ही तो असली राक्षस हैं जो तेरे वध्य हैं। तुझमें जो कभी को कपक्षी की तरह अत्यन्त कामविकार का राक्षस आता है उसे तू मार डाल। तूतो संयम कर सकनेवाला मनुष्य है। तूजो कभी क्रोधाविष्ट होकर अपने भाइयों पर निर्दय अत्याचार कर डालता है, यह तुझमें भेड़ियापन है। जो भी कुछ द्वेष व हिंसा तू करता है वह सब तुझ मनुष्य में जीवों को मारकर खा डालनेवाले भेड़िए का-सा आचरण है। और जिस तरह गिद्ध मरते-सिसकते प्राणियों के भी मांस पर ही दृष्टि रखता है, उस तरह तुझमें जो दूसरों के नाश पर पुष्ट होने की घृणित, लोभमयी वृत्ति उठती है यह भी एक बड़ा दुष्ट राक्षस है; तू इसे भी नष्ट कर दे। एवं तू उल्लू के आचरण को भी छोड़ दे। जैसे उल्लू को प्रकाश से घृणा होती है उसी तरह जो तुझमें तमोमयावस्था में पड़े रहने की प्रवृत्ति है और जहाँ सात्त्विक भाव तथा ज्ञानप्रकाश की चर्चा देखता है, वहाँ से तू दूर भागा करता है-यह जो प्रवृत्ति है, इसे तू त्याग दे। इसी तरह अहंकार वड़ा बुरा राक्षस है, बाज (गरुड़) के समान गर्व-घमंड के भाव को भी अब तुझे सर्वथा निकाल देना होगा। और तू अब कुत्तापन कबतक करता रहेगा! कुत्तों की तरह आपस में लड़ना और पराए के सामने दुम हिलाना, या जैसे कुत्ता अपने वमन किए को भी चाट लेता है वैसे व्रत करके त्यागी हुई चीज को भी फिर ग्रहण कर लेना, इस तरह की पशुं-तायें तू कबतक करता रहेगा ? तू तो इन्द्र-आत्म है, तेरी आत्म-शक्ति के सामने ये विकार कैसे ठहर सकते हैं ? जैसे दृषत् अर्थात् शिला पर टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता हैं वैसे ही, हे आत्मा, हे इन्द्र ! तेरी भी एक 'मही दूषत्' दारणशक्ति है, तू इसे पहचान !

शब्दार्थ — [हे जीव] उल्कयातुं उल्लू के समान आचरण [मोह] को शुशुल्कयातुं भेड़िये के चलन [क्रोध] को श्वयातुं कुत्ते जैसे व्यवहार [मत्सर] को उत और कोकयातुं कोक चिड़िया के आचरण [काम] को जहि नष्ट कर दे। सुपर्णयातुं बाज की चाल [मद] को उत तथा गृष्ट्रयातुं गिद्ध-जैसे वर्ताव [लोम] को भी रक्षः इन छहों में से एक-एक राक्षस को इन्द्र हे आत्मन् ! तू दषदा इव प्रमृण अपनी दारणशक्ति द्वारा इस तरह विनष्ट कर दे जैसे शिला से मिट्टी का ढेला या मिट्टी का बर्तन फूट जाता है।

121

संसाधित कर पूर्ण विवासी हो वाला

अमिन्ध्याक्तियकत संकल्पवास्थारी - महात्मा

रे भाद्रपद

श्रहंमेताञ्छाश्वंसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वतं। श्राह्मयमानां अव इन्मनाहनं दृळ्हा वद्कनमस्युर्नम्स्विनेः॥

一港० १०।४८।६

ऋषिः इन्द्रो वैकुष्ठ । देवता इन्द्रः । छन्दः आर्ची स्वराड् जगती ।

विनय—मैं आत्मा अपरिमित बलवाला हूँ। पर फिर भी संसार के द्वन्द्व मुझसे युद्ध करने के लिए आते हैं। ये मुझे दबाना चाहते हैं। ये नहीं जानते कि मैं वज्जवाला हूँ, अमोघ-शक्तियुक्त संकल्प-बल रखता हूँ। ये द्वन्द्व बड़े शक्तिशाली दीखते हैं और वास्तव में सब संसार इंन्होंने दबा भी रखा है। सब प्राणी गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व से सताए हुए हैं; सुख-दु:ख के द्वन्द्व के चक्र में सब संसार घूम रहा है। सूक्ष्म राग-द्वेषरूप में रहता हुआ यह द्वन्द्र बड़े उच्च पुरुषों का भी पीछा नहीं छोड़ता। पर द्वेन्द्वों का यह सब बल तभी तक है जब तक कि इनका साम्मुख्य मुझ आत्मा से नहीं होता । यद्यपि दो-दो (युगल) का नया-नया रूप घर-कर सब संसार में व्यापा हुआ यह महाबली द्वन्द्व मुझ आत्मा के सामने भी बड़ा बल दिखाता हुआ और ललकारता हुआ आता है, पर मेरे सामने उसे सम होना पड़ता है। गर्मी-सर्दी, सुख-दु:ख, जय-पराजय, मान-अपमान, इन सब द्वन्द्वों को, इसकी जगह कि ये अपनी द्वन्द्वता में मुझे बाँघें, स्वयं अपनी द्वन्द्वता छोड़कर एक होकर सम हो जाना अर्थात् समाप्त होना पड़ता है। ये चाहे कितने बली हों, पर अन्ततः ये परिणामी अनित्य प्रकृति के बने हुए हैं। इनमें परिणाम व परिवर्तन आ जाना, इनका झुक जाना स्वाभाविक है। मैं नित्य, अपरिणामी, कभी न झुकने-वाला आत्मा हूँ। मैं कैसे दब सकता हूँ ? मेरे तेज, वाग्वज्र, संकल्पबल के सामने इन्हें ही दबना होता है। क्या मनुष्य शीतोष्ण, लाभ-हानि, हर्ष-शोक को सह नहीं सकता? जिस-जिस शरीर में आत्मा इन सबको सहना चाहता है, वहाँ-वहाँ आत्मा की दृढसंकल्पमय सहनशक्ति के सामने ये ठहर नहीं सकते । मैं आत्मा जब दृढ़ता से कहता हूँ कि "मुझे गर्मी, सर्दी, नुकसान नहीं पहुँचा संकती", "मैं सुख से सुखी और दु:ख से दु:खी नहीं होऊँगा", "मैं सिद्धि और असिद्धि में सम रहुँगा" तो मेरे इन दुढ़वचनों के उच्चारण के साथ चलाए गए मेरे महान् वाक्-वज्र, संकल्प-वज के सामने ये महाबली द्वन्द्व मर जाते हैं। मेरा यह वज्ज अमोघ है। इस वज्ज से मैं द्वन्द्व बलिष्ठ-से-बलिष्ठ रूप में विद्यमान द्वन्द्व को-मार डालता हैं। अंत में मैं सुक्ष्म राग-द्वेष की भी समाप्ति कर पूर्ण विजयी हो जाता हैं।

शब्दार्थ ये द्वा द्वा जो ये दो-दो करके आनेवाले द्वन्द्व वर्ष्ट्र मुझ वर्ष्ट्रवाले इन्द्र को युध्ये अकृष्वत युद्ध के लिए बाधित करते हैं, एतान् शाश्वसतः आह्वयमानान् नमस्विनः उन इन बड़े बलवान् दिखाई देनेवाले और ललकारनेवाले किन्तु अन्त में झुक जानेवाले द्वन्द्वों को अहं. अनमस्युः मैं कभी न झुकनेवाला वृल्हा वदन् दृढ़ वाणियाँ बोलते हुए मैं आत्मा हन्मना अपने हिययार से, अपनी वाक्-शक्ति से या संकल्प-बल से अब अहनं मार गिराता हूँ।

१६२

श्मिएवं लालान रिकलप

३ भाद्रपद

त्राकूर्ति देवीं सुभगौ पुरो दंघे चित्तस्यं माता सुहवां नो अस्तु। यामाशामें मि केवं छी सा में अस्तु विदेयमेनां मर्निस प्रविष्टाम्।।

—अथर्वं० १९।४।२

ऋषिः अथर्वाङ्गिराः । देवता अग्निः । छन्दः जगती ।

विनय वहुत बार मैं स्वयं नहीं जानता होता कि मेरा अभिप्राय क्या है। उस अपने आन्तरिक अभिप्राय को स्पष्ट सामने नहीं ला सकता होता। असत्य भाषण, असत्य चिन्तन करते, नाना भयों या रागों के वशीभूत होते रहते मेरा मानसिक व्यापार इतना कलुषित और कृत्रिम हो गया है कि मैं उसकी गड़बड़ में अपने वास्तविक अभिप्राय को ही खो देता हूँ। अपने सच्चे आशय को दूसरों से छिपाते-छिपाते, वह मुझसे भी छिप जाता है। परन्तु मैं अब इस आत्म-वञ्चना की अवस्था को त्यागता हूँ और आज से सदा अपनी आकृति (अभिप्राय) को स्पष्ट सामने लाकर रखा कलँगा। मन की इच्छायें, अभिलाषायें जब बुरी होती हैं, दुर्भगा तथा आसुरी होती हैं, तभी हम प्राय: इन्हें छिपाते हैं। जब ये सुभगा और देवी होती हैं, जब उत्तम ऐस्वयों की इच्छा या सबके भले की कल्याणी इच्छा होती है तब भी यदि हम इन्हें छिपाते हैं तो केवल निर्वलता के कारण या किन्हीं झूठे भय व लज्जा के कारण ही ऐसा करते हैं। अतः जब कि मेरी आकूति सुभगा और देवी है तो मैं क्यों डहूँ ? क्यों छिपूँ ? मैं तो अब इसे सामने स्पष्ट रखता हूँ। मैं आज से अपने जीवन को इतना सच्चा बनाता हूँ, अपने मानसिक क्षेत्र को सत्यज्ञान के प्रकाश से ऐसा प्रकाशित रखता हूँ कि अब मैं मन में घुसी हुई अपनी इस अभिप्राय देवता को हे प्रभो ! जब चाहूँ तब तुरन्त जान सकूँ, पा सकूँ, निकाल सकूँ। मन (अन्त:करण) का जो निचला 'चित्त' नामक भाग है जहाँ कि विचार, अभिप्राय सुप्त रूप में पड़े रहते हैं या यूँ कहना चाहिये कि जो चित्त इनका बना हुआ है (जिस चित्त की अभिप्राय माता है) उस स्थान से जब मैं चाहूँ तभी अपने अभिप्राय को पुकारकर ला सकूँ। आकृति मेरे लिए सदा सुहवा हो, सुगमता से पुकारने योग्य हो। जब आवश्यकता हो तब मैं उसे पुकारकर वैखरी वाणी के रूप में लाकर खड़ा कर सकूँ। हे प्रभो ! अब मेरी मनोराज्य की सब अव्यवस्था, गड़बड़ दूर कर दो। मैं जब जिस आशा व इच्छा को लेकर चलूँ, जिस दिशा में चलूँ, तब वही केवल अकेली आशा (इच्छा) मेरे सामने रहे, शुद्ध रूप में वही प्रकाशमान रहे; और सब गौण विचार (इच्छायें) गड़बड़ न मचाते हुए यथास्थान पीछे रहें। यदि ऐसी व्यवस्था स्थापित हो जाएगी तो मेरी सब आकू-तियाँ (अभिप्राय) संकल्पशक्ति बन जायेंगी और वे पूर्ण व सफल हुआ करेंगी।

शब्दार्थं सुभगां उत्तम ऐश्वर्यं-विषयक आकृति देवीं अभिप्राय देवता को पुरो दधे में सामने रखता हूँ, वह चित्तस्य माता चित्तभाग की माता, निर्मात्री, बनानेवाली, आकृति तः सुहवा अस्तु मेरे लिए सुगमता से बुलाने योग्य होवे। यां आशां एमि मैं जिस आशा को कहँ, जिस दिशा में आऊं सा मे केवली अस्तु वही केवल शुद्धरूप में मेरे सामने हो। मनिस प्रविद्धां अन्तः करण में घुसी हुई एनां इस अभिप्राय देवता को विदेयं मैं सदा जान सकूँ, पा सकूँ।

वैदिक विनय

१८३

721 M Fil 12 AT HIEHI

४ भाद्रपद

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रं यत्र कामयंते सुषार्थः । अभीशूनां महिमानं पनायत् मनः पश्चादत्तं यच्छन्ति रशमयः ॥

—ऋ० ६।७५।६; यजुः० २६।४३

ऋषिः पायुर्भारद्वाजः । देवता सारथिः, रश्मयः । छन्दः जगती ।

विनय-रथ में पीछे बैठा हुआ भी सारथि आगे-आगे चलनेवाले घोड़ों को ऐसा काब रखता है, अपने वश में रखता है कि उन्हें जिधर चाहता है उधर हो ले जाता है। यह कुशल सारिथ की महिमा है। पर पीछे बैठा सारिथ आगे लगे हुए घोड़ों से जिस साधन द्वारा अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, जिस साधन द्वारा दूर से ही उन्हें काबू में रखता है, असल में तो उस साधन की अर्थात् अभीशुओं (बागडोर) की स्तुति करनी चाहिये। ये रिश्मयाँ (रासें) ही हैं जो कि घोड़ों को सारिश की इच्छा अनुकल संयत रखती हैं; घोड़ों को लगाम लगाए रखती हैं। क्या तुमने इन (अभीशुओं) बागडोरों के महत्त्व को समझा ? पर ये तो बाहरी अभीश या रिमयाँ हैं। असली रिमयाँ तो वे हैं जो कि मन नामक आन्तर ज्योति की वृत्तिरूप किरणें हैं। अन्तरात्मारूपी सूर्य की किरणें ही वास्तविक अभीशु या रिश्मयाँ हैं जिनके द्वारा वह अन्दर का देव बाहर के साथ सम्बन्ध जोड़े हुए है और अपने सब बाह्य जगत को वश में रख रहा है। वेद ने तो कहा है कि यह मन देव ही है जो कि कुशल सारिथ की तरह सब मनुष्यों को घोड़ों की तरह इधर-उधर लिये फिरता है (यजु:० ३४.६)। वास्तव में यह पीछे बैठा हुआ अन्तरात्मा (मनोदेव) अपनी रिहमयों द्वारा ही, अपनी वृत्तियों व संकल्पों द्वारा ही आगे बैठे हुए और स्वतन्त्र दीखनेवाले सब बाह्य जगत् को चला रहा है। हे मनुष्यो ! इन मनोवृत्तियों, मनः-संकल्पों की महिमा को अनुभव करो। इन रिशमयों को, इन बागडोरों को दढता से अपने हाथों में पकड़कर कूशल सारिथ की तरह अपने-आप को चलाओ, अपने-आपपर शासन करो; अपने शरीर को, अपने हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों और अपनी ज्ञानेन्द्रियों को जुड़े हुए अपने घोड़ों की तरह अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो वहाँ ले जाओ और जहाँ न चाहो वहाँ न ले जाओ। वास्तव में इन रिश्मयों को हाथ में रखकर तुम जो चाहो वह कर सकते हो। बस, केवल इन मनोवृत्तियों, मनःसंकल्पों को दृढ़ता से पकड़ लेने की देर है। फिर तुम अपने-आपको जहाँ जैसा चलाना चाहोगें वैसे ही तुम्हारी इन्द्रिय आदि सबको चलना होगा। तुम आत्मवशी हो जाओगे, तब तुम देखोगे कि तुम जहाँ अपने-आपको जैसा चाहते हो वैसा हिलाते हो, वहाँ अपने सब बाह्य संसार को भी जैसा चाहते हो वैसा हिला रहे हो। यह सब अभी शुओं की, रिश्मयों की महिमा है।

शब्दार्थ — रथे तिष्ठन् रथ पर पीछे बैठा हुआ सुषारिथः अच्छा सारिथ पुरः आगे लगे हुए, आगे-आगे चलनेवाले वाजिनः घोड़ों को यत्न-यत्न कामयते जहाँ-जहाँ चाहता है वहाँ नयित ले जाता है। अभीशूनां बागडोरों की, या मन की वृत्तिरूप की महिमानं महिमा की पनायत स्तुति करो। क्योंकि पश्चात् पीछे लगी हुई भी ये मनः मन [सारिथ] की रश्मयः रिहमयाँ, रासें, आगे लगे हुए घोड़ों को अनुयच्छन्ति अपने अनुकूल संयत रखती हैं।

328

वैदिक वितय

Housed by Arva Samai Foundation Chennai and edangeri HT

५ भाद्रपव

विजेषकृदिन्द्रं इवानव<u>बवो ।</u> ऽस्माकं मन्यो अधिपा भेवेह । भियं ते नामं सहुरे गृणीमसि विद्या तमुत्सं यतं आ<u>ब</u>भूयं ॥

一ऋ० १०। प्राप्तः अथर्वे० ४। ३१। प्र

ऋषिः मन्युस्तापसः । देवता मन्युः । छन्दः आचीं स्वराड् जगती ।

विनय हे मन्यु ! हम चाहते हैं कि तू हमारे अन्दर रहे, हमारे अन्दर उत्पन्न हुआ करे। हे मन्यु ! तू देव है। तू हममें निवास कर। यद्यपि कोध भी तुझ मन्यु से मिलती-जुलती-सी चीज है, पर असल में क्रोध में और तुममें आकाश-पाताल का फ़र्क है। हे मन्यु! तुम देव हो, पर क्रोध असुर है। तुम दोनों का उद्भव-स्थान ही बिल्कुल उलटा है। हे मन्यु ! हम तेरे उद्भव-स्थान को जानते हैं, उस स्रोत को जानते हैं जहाँ से कि तू निकलता है। निर्मल मन के मूल में विद्यमान. जो विशुद्ध आत्मा है वह तेरा स्रोत है। वहाँ से तेरा उद्भव होता है। इसलिये तू देव है। क्रोध का उद्भव तो विकारयुक्त मन से होता है, द्वेषदूषित मन से होता है, दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना से होता है। क्रोध में मनुष्य स्वयं पागल हो जाता है, विवेकहीन हो जाता है। दूसरे को हानि-लाभ पहुँचाने की वास्तविक शक्ति कोध में नहीं होती। क्रोध निर्वीर्य होता है। पर हे मन्यो ! तुम तो एक बड़ी प्रबल शक्ति हो, तुम विजय लानेवाली दैवी शक्ति हो। विशुद्ध आत्मा के स्रोत से जो एक इच्छा-सी उठती है, जो एक राग-द्वेष से शून्य इच्छा होती है, जो पाप को हटाने के लिए एक शान्त-गम्भीर प्रबल प्रेरणा होती है, वह एक अद्भुत शक्ति होती है। और वही हे मन्यो ! तुम्हारा स्वरूप है। उस रूप में तुम जो चाहते हो उसे कोई रोक नहीं सकता। तुम जो बोलते हो उसे कोई दबा नहीं सकता, नीचा नहीं कर सकता। इन्द्र (आत्मा) ही की-तरह तुम्हारी आवाज भी अदम्य है। तुम्हारे आगे कोई ठहर नहीं सकता। तुम पाप को जब से उखाड़ फेंकते हो। इसलिये हे मन्यो ! इस संसार में, इस जीवनसंग्राम में तुम मेरे अधिष्ठाता होकर मेरी रक्षा करते रहो। तुम 'सहरि' हो, तुममें असीम सहनशीलता है। तुम्हें 'सहरि' इस नाम से पुकारना मुझे बड़ा प्रिय है। जहाँ कोध जरा भी सहन नहीं कर सकता वहाँ तुममें अनुन्त सहनशक्ति होती है; इसी कारण से तुम अजेय हो। अन्त में अवश्य ही विजय लानेवाली अखण्डनीय शक्ति हो। हम तुम्हें पुकारते हैं। जब-जब संसार में पाप व अत्याचार के विनाश के लिए तुम्हारी जरूरत हो तब-तब तुम मेरे विशुद्ध आत्मा में से आके प्रकट होती रहो।

शब्दार्थ सन्यो हे मन्यो ! तं उत्सं विद्यः हम उस स्रोत को जानते हैं यतः आवसूथ जहाँ से तुम उत्पन्न होते हो । तुम विजेषकृत् विजय करनेवाले हो और इन्द्रः इव अनवब्रवः इन्द्र 'आत्मा' की तरह तुम भी कभी न दबाई जा सकनेवाली आवाजवाले हो । इह अस्माकं अधिपा भव तुम इस संसार में हमारे अधिष्ठाता, पालक होओ । सहुरे हे सहुरि ! हे सहनशील ! ते प्रियं नाम गृणीनसि हम इस तेरे प्यारे नाम से तेरी स्तुति करते हैं ।

१८४

दान- प्रशंशा

६ भाद्रपद

न वा <u>उदे</u>वाः क्षु<u>ध</u>मिद् वधं दंदुक्ताशित्मुपंगच्छन्ति मृत्यवं:। <u>उतो रियः पृंण</u>तो नोपंदस्यत्युतापृंणन् मर्द्धिता<u>रं</u> न विन्दते।।

一港० १०।११७।१

ऋषिः भिक्षुः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृज्जगती ।

विनय -देवों ने मन्ष्य को भूख क्या दी है, एक मौत दे दी है। दुनिया भूख के मारे, वेरोजगारी, गरीबी के मारे मरी जा रही है। इसलिये दूसरे को खिलाकर खाना, गरीवों के पेट के सवाल को हल करना वास्तव में बड़ा भारी पुण्य है, बड़ा भारी कर्त्तव्य है। यह मरने से बचाना है। पर इसका यह मतलब नहीं कि भूख और गरीबी का ही कोई मरने से सम्बन्ध है। परमेश्वर ने केवल भूखरूप में ही मौत नहीं दी है, अपितु जो खूब खाते-पीते अमीर लोग हैं उन पर भी उनकी मौत नाना प्रकार से पहुँचती है। ऐसा अमीर-से-अमीर कौन मनुष्य है जो मरेगा नहीं ? अतः दूसरे वेशक कहीं भूखे मरते हों, मेरा तो पेट भर रहा है इस तरह निश्चिन्त हो जाना मर्खता है। जिसके पास है, उसे जरूरतवाले को देना ही चाहिये। हम अकेले नहीं हैं, किन्तू हमारा जीवन सम्पूर्ण जनसमाज के साथ जुड़ा हुआ है। यदि हम इतना समझते हों तो हमारा यह डर हट जाये कि दूसरे को दान देने से हमारा धन घट जायेगा। हम जिस पात्र को धन देते हैं वह हम ही हैं और उस दान से जो एक आवश्यकता पूरी होती है उससे हमारी उन्नति होती है और अन्त में हमारा वैयक्तिक सुख और धन भी बढ़ता है। हम रोज़ देखते हैं कि जो ज़रूरत पर देता है, उसे ज़रूरत पर उदारतापूर्वक मिलता है। जो न देनेवाले होते हैं वे समाज से कटे हुए-से रहते हैं, उनका न कोई मित्र होता है न उन्हें कोई सुख-सहायना पहुँचाने की आवश्यकता समझता है। मनुष्य धन से नहीं जीता है। जिनके बिना वह रह नहीं सकता है वह तो ज्ञान, बल, सुख, सौहार्द, प्रेम आदि अत्यन्त मूल्यवान् वस्तुएँ हैं। इसलिये यद्यपि इतना ठीक है कि संसार में भूखे के साथ पेट भरे भी मरते ही हैं और दान देनेवाले और न देनेवाले दोनों प्रकार के पेट भरे मरते हैं; तो भी भेद यह है कि देनेवाले को तो ये अमूल्य जीवनदायी सम्पत्तियाँ मिलती हैं और उसका धन भी घटता नहीं; पर न देनेवाला पुरुष इनसे वंचित होकर अपना मुखहीन संकुचित मुदी-सा ही जीवन बिताता है।

शब्दार्थ—देवा: देंवों ने न व उ न केंवल क्षुधं इत् भूख ही भूख के रूप में ही वधं मौत वदुः दी है उत अपितु आशितं खाते-पीते अमीर को भी मृत्यवः नाना तरह से मौत उपगच्छन्ति आती हैं। उत उ और पृणतः देनेवाले की रियः धन-संपत्ति न नहीं उपवस्यित क्षीण होती, कम होती उत अपितु अपृणन् जो दान न देनेवाला है वह कभी मिडतारं अपने किसी सुख देनेवाले को न विवन्ते नहीं पाता, नहीं प्राप्त करता।

858.

Digitized by Art & St. E. S. T. C. S. T. T. S. T

७ माद्रैपर्वे

श्रद्रांभ्यो भुवनानि मुचाकशद्, वृतानि देवः संविताभि रंक्षते । प्रास्नाग् बाह् भुवनस्य मुजाभ्या, धृतव्रंतो महो अञ्मस्य राजति ॥

-ऋ० ४।५३।४

ऋषिः वामदेवः । देबता सविता । छन्दः स्वराड् जगती ।

विनय सिवता देव के परम शासन को देखो ! यह धृतव्रत देव इस महान् ब्रह्माण्ड पर कैसे हुकूमत कर रहा है यह देखा ! इस 'अदाभ्य' सच्ची सरकार के कुछ सच्चे कानून हैं, वत हैं, जिन्हें कि कभी दबाया नहीं जा सकता। ये व्रत, कानून इस संसार में अखण्ड, अटल, परिपूर्ण रूप से चल रहे हैं, वह अपने इन व्रतों की सब तरह सतत रक्षा कर रहा है, इसलिये उसकी यह सरकार परिपूर्ण और अखण्ड चल रही है। इन व्रतों की सतत रक्षा के लिए उसने इस विश्व के सब भुवनों को, सब क्षेत्रों को प्रकाशित किया है, ज्ञान-प्रकाश से युक्त किया है। बिना ज्ञान-प्रसार किये, बिना सत्य ज्ञान को आधार बनाये कोई भी कानून रक्षा नहीं पा सकता, नहीं चलाया जा सकता; और फिर उसका यह ज्ञान-प्रसार भी इतना परिपूर्ण है तथा इतना प्रेममय और सर्वगत है कि उसने अपने इस ब्रह्माण्ड के राज्य की एक-एक प्रजा तक-एक-एक जीव तक अपनी ज्ञान-किरणों की प्रेममय बाहुओं को फैला रखा है और इन्हीं प्रेममय बाहुओं द्वारा वह प्रत्येक प्रजाजन के अन्दर घुसकर अपने कानून का पालन करवा रहा है। पर उसके ये व्रत जो इतने परिपूर्ण अखण्ड रूप से चल रहे हैं इसका सबसे बड़ा और मूल कारण तो यह है कि उसने स्वयं इन व्रतों को अपने में परिपूर्णतया धारा हुआ है, वह स्वयं घृतव्रत है। वह व्रतमय है। वह इन व्रतों का धारक महासूर्य हैं। हमें इस संसार में जो सत्य नियमों के रूप में ये व्रत दिखाई देते हैं वे तो उसी की किरणें मात्र हैं जो कि उस व्रत-महासूर्य से कोटि-कोटि प्रलयों तक, अनन्तकाल तक हमपर आती रहेंगी और हम जीवों को नित्य नया जीवन-ज्ञान और बल देती रहेंगी।

आओ, हम उसकी फैली हुई इन प्रकाशयुक्त प्रेममय बाहुओं का संस्पर्श सदा अनुभव करते रहें और उसकी प्यारी प्रजा बनी रहें।

शब्दार्थ — सविता देवः सर्वप्रेरक देव भुवनानि प्रचाकशत् भुवनों को ज्ञान से प्रकाशित करता हुआ अदाभ्यः अदभ्य, न दबनेवाला होकर व्रतानि संसार में अपने सत्यनियमों की, कानूनों की अभिरक्षते पूरी तरह रक्षा कर रहा है। उसने भुवनस्य संसार की प्रजाभ्यः सब प्रजाओं के लिए बाहू अपने बाहू प्रास्नाक् फैलाये हुए हैं, इस तरह वह धृतव्रतः धृतव्रत होकर महः अज्मस्य इस महान् जगत् पर राजित राज्य कर रहा है।

वैदिक विनय

१५७

प्रतिमाताका यादमतापिताए

द सावपद

एकः सुपुर्णः स संमुद्रमाविवेशः स इदं विश्वं भुवेनं विचेष्टे। तं पाकेन मनसा पश्यमन्तित्सतं माता रेळि्ड स उ रेळि्ह मातरम्।।

一港० १०।११४।४

ऋषिः सिध्नवेरूपो धर्मी वा तापसः। देवता विश्वे देवाः। छन्दः जगती।

विनय संसार में आया हुआ जीव क्या है ? यह एक सुपर्ण पक्षी है जो कि अन्तरिक्ष-समुद्र में विहार करने आया हुआ है। यह अपने ज्ञान और कर्म के पंखों से इधर-उधर उडता हुआ इस सब भावन को विविध प्रकार से देखने का मजा ले रहा है। संसार-सागर में मनो-मयादि सुक्ष्म संसारान्तरिक्ष में एक योनि से दूसरी योनि में भोग भोगने के लिए फिरता हुआ और वहाँ विविध प्रकार के भोगों को प्राप्त करता हुआ यह जीव गति कर रहा है, उड़ रहा है। अभी तक जीव को मैं इसी संसाराकाश के विहारी सुपर्ण के रूप में देखता रहा हूँ, पर आज समीपता से देखा है, ज्ञानपरिपक्व हुए मन से इसे समीपता से देख रहा हूँ, तो इस जीव-प्रकृति-संयोग को मैं और ही रूप में देख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि उसे माता चूम रही है और वह माता को चाट रहा है। प्रकृति माता मैं कहूँगा परमेश्वरी प्रकृति जीव से प्रेम कर रही है और जीव इस माता से सुख पा रहा है। जीव के प्रकृति से जुड़ने का, जीव के संसार में आने का यही रहस्य है। कई ऋषि कहते हैं कि जीव और प्रकृति का संयोग लले और अन्धे का संयोग है, पर यह बात शायद परमेश्वरहीन प्रकृति के विषय में होगी। परमेश्वरी प्रकृति तो अन्धी नहीं है। मुझे तो यह सम्बन्ध माता और पुत्र का लगता है। इसलिये यह सम्बन्ध केवल भोग में नहीं किन्तू अपवर्ग में (अपवर्ग के भोग में) भी बना रहता है। पुत्र माता के बिना नहीं रह सकता, और माता पुत्र को चाहती है। ऋषि ने ठीक कहा है "पृथिवी सब भूतों को मधु है और सब भूत पृथिवी को मधु हैं।" वास्तव में दोनों एक-दूसरे से सुख पा रहे हैं और एक-दूसरे को सुख दे रहे हैं। क्या हम ही प्रकृति से मुख पाते हैं और प्रकृति हमसे सुख नहीं पाती ? नहीं। जरा प्रकृति को बेजान मत समझो, प्रकृति को "परमेश्वर की प्रकृति" के रूप में देखो ।

शब्दार्थ एकः सुपर्णः एक सुपर्णं पक्षी है सः वह समुद्रं इस संसारान्ति स्थि के समृद्र में आविवेश आया है सः वह [अन्तिरिक्ष में विहार करता हुआ] इदं विश्वं भुवनं इस सम्पूर्ण संसार को विचष्टे विविध प्रकार से देखता है, इसका मजा लेता है। परन्तु तं उसे पाकेन मनसा परि-पन्व ज्ञानवाले मन से अन्तितः समीपता से अपश्यं देखा है तो मैं देखता हूँ कि तं उसे माता माता रेलि चूम रही है सः उ और वह मातरं माता को रेलि चाट रहा है।

१. प्रसिद्ध मधुविद्या के ऋषि दघ्यङ् आथर्वण के ये वचन हैं, देखो बृह० उ० अध्याय २ का पञ्चम ब्राह्मण।

१५५

य रापरायणाः वाद्व सा भाइमा

Digitized by Arya Samar Poundation Chemiar and Gangoth

हे भावपद

त्रा वो घियं युक्तियां वर्त <u>कत्ये</u> देवां दैवीं यं<u>जतां युक्तियांमिह</u>। सा नो दुहीयद् यवंसेव गुत्वी सहस्रंधारा पयसा मुही गीः॥

—ऋ० १०।१०१।६

ऋषिः बुधः सौग्यः । देवता विश्वे देवा ऋत्विजो वा । छन्दः विराइ जगती ।

विनय—हे देवो ! मैंने तुम्हारी कामधेनु को जान लिया है। मैंने देख लिया है कि सचमुच इस धेनु से मैं अपनी सब कामनायें दुह सकता हूँ। वह कामधेनु 'यिज्ञया धी:' है, यज्ञपरायणा बृद्धि है। इस यज्ञबृद्धि को पाकर—इस दिव्य, सर्वपूजित यज्ञपरायणा बृद्धि को पाकर—
मैं क्या नहीं पा सकता ! क्या कृष्ण भगवान् ने भी अर्जुन को नहीं सुनाया था कि प्रजापित ने
हम प्रजाओं के साथ ही यज्ञ-भावना को पैदा करके हमें कह दिया है 'अनेन प्रसविष्यध्वं, एष
वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। हममें यज्ञ-भावना पैदा करनेवाले उस प्रजापित परमदेव की यह आवाज
मैं तो आज भी सुन रहा हूँ। "इस यज्ञबुद्धि द्वारा तुम सब-कुछ उत्पन्न करो, यह तुम्हारी सब
इष्ट कामनाओं को दुहनेवाली हो।" परन्तु मुश्किल यह है कि यज्ञभावना मुझमें स्थिर नहीं
रहती, वहुत बार स्वार्थभावना इसे दवा देती है। इसलिए मैं इसे फिर-फिर अपने अन्दर लाता
हूँ, यज्ञ के सर्वहितकारी, स्वार्थसंहारी, संगमनकारी स्वष्प को बार-बार हृदय में स्थापित करता
हँ। इस भाव का सतत चिन्तन व जप करता हूँ।

संचमुच इसके बिना हम मनुष्यों का रक्षण व पालन नहीं हो सकता। यही देखकर हम लोग इस धेनु को अपने अन्दर लाना चाहते हैं। हमारी सांसारिकता, स्वार्थबृद्धि बहुत बार इसे बिदकाकर भगा देती है, तब हम सर्वहित-चिन्तन द्वारा इसे फिर लाते रहते हैं। हे देवो! अब तो यह 'यज्ञिया धी:'-रूपी धेनु हममें स्थिर हो जाए और जौ के हरे खेत खाकर आई बड़ी गौ की तरह हमें अपने दूध की सहस्रौं धाराओं से परिपूर्ण कर देवे, परिपूर्ण कर देवे।

I that it the left out they woulded by tak note obst to use

शब्दार्थ—देवाः हे देवो ! मैं वः तुम्हारी देवीं दिव्य यजतां पूज्य यज्ञियां यज्ञपरायण यज्ञियां धियं यज्ञिय बुद्धि को, यज्ञ-भावना को, ऊतये अपने रक्षण-पालन के लिए इह अपने जीवन में आवर्ते फिर-फिर लाता हूँ, स्थापित करना चाहता हूँ। सा वह यज्ञिय बुद्धि यवसा गत्वी इव जैसे जो के खेत में जाकर आई हुई सहस्रधारा मही गौः दूध की सहस्रों धारा देनेवाली बड़ी भारी गौ पयसा हमें दूध से भर देती है वैसे नः हमें दुहीयत् प्रपूरण कर देवे, हमारी सब कामन नाओं को पूरण कर देवे।

वैदिक विनय

- भागनेदेव सी भहती सहिमा

१० भाद्रपद

सं दंशीतश्रीरतिथिर्गृहेर्गृहे वनेवने शिश्रिये तक्ष्वीरिव । जनैजनं जन्यो नार्तिमन्यते विश्व आक्षेति विश्यो ।

一港० १०1६१1२

ऋषिः अक्णो वैतहच्यः । देवता अग्निः । छन्दः विराड् जगती ।

विनय अग्निदेव की विभूति देखो ! अग्नि घर-घर में जल रहा है, अग्निहोत्री पुरुष अतिथि की तरह प्रात:-सायं इस अग्नि को अपने घर में उदबद्ध और सत्कृत कर रहे हैं तथा दिव्य लाभ पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रदीप्त इस स्थल अग्नि से जो अन्य अनगिनत सांसारिक कार्य और उपकार हो रहे हैं उन्हें भी हम सब जानते हैं। पर यह अग्नि अपने सूक्ष्म, अप्रदीप्त रूप में तो प्रत्येक जंगल में, प्रत्येक वक्ष में, प्रत्येक सिमधा में भी चीर की तरह छिपा बैठा है। प्रत्येक लकडी में ही नहीं, किन्तू पानी में, किरण में, प्रत्येक सेवनीय पदार्थ में छिपा हुआ है. और वैज्ञानिक लोग इस प्रत्येक वस्तु में व्यापक भौतिक अग्नि का असंख्यों प्रकार से उपयोग ले रहे हैं। पर भौतिकी के वैज्ञानिक भी जिस सूक्ष्मता में नहीं घुस पाते उसमें घसकर देखें तो हमें दीखता है कि ये अग्निदेव प्रत्येक जीवित प्राणी में भी उसका जीवन (Life) और आत्मा होकर विराजमान हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाता हुआ यह अग्नि जन-जन में बैठा हुआ है। इसी के कारण प्रत्येक जन अपने व्यक्तित्व में बँधा हुआ है, अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण नहीं कर सकता। इस आत्माग्नि की ही अनन्तप्रकारता को हम देखने लगें और इस अग्नि की विविध किरणों और रूपों को देखने लगें तो इसका ही हम पार न पा सकें। परन्तु इस जन्य (जन-हित-कारी) अग्नि के अतिरिक्त अन्य भी रूप यह अग्नि धारण करती है। यह अग्नि एक विश में, एक प्रजा में, एक जनसमूह में भी निवास करती है। एक-एक प्रजाजन में बसकर भी उसका अतिक्रमण करके यह अग्नि सम्पूर्ण प्रजा की हितकारी, विश्य, अग्नि होकर सम्पूर्ण प्रजा का जीवन व आत्मा भी बनती है। यही विश्य अग्नि समाजाग्नि व राष्ट्राग्नि के रूप में प्रकट होती है, जिसमें कि बड़े-बड़े जनसमूह भी समय आने पर आत्महवन किया करते हैं। इस तरह इस अग्नि देवता की विभूति अनन्त प्रकार से दर्शनीय है, इसका पार वाणी नहीं पा सकती।

शब्दार्थ वर्शतश्रीः दर्शनीय विभूतिवाला सः वह अग्निदेव गृहे-गृहे घर-घर में अतिथिः अतिथि बना हुआ है और वने-वने वन-वन में, हरेक वस्तु में तक्ववीः इव चोर की तरह शिक्षिये छिपा पड़ा है। जन्यः जन-हितकारी रूप में वह अग्नि जनं-जनं व्यक्ति-व्यक्ति में ठहरा हुआ न अतिमन्यते व्यक्तित्व का अतिक्रमण नहीं करता और विश्यः सम्पूर्ण प्रजा के हितकारी रूप में वह अग्नि विशं विशं एक-एक प्रजाजन में बसता हुआ विशः सम्पूर्ण प्रजा में आक्षेति निवास करता है।

160.

लियन क्लाउनयों का महान विस्तार

११ भाद्रपद

सुद<u>क्षो</u> दक्षेः क्रतुंनासि सुक्रतुरग्ने किवः काव्येनासि विश्<u>व</u>वित्। वसुर्वसूनां क्षया<u>सि</u> त्वमेक इद् द्यावां <u>च</u> यानि पृथिवी च पुष्येतः॥

一種०१०१६११३

ऋषिः अरुणो वैतहव्यः। देवता अग्निः। छन्दः निचुज्जगती।

विनय-हे परम अग्ने, हे परमेश्वर ! इस जगत् की नानाविध अग्नियों से जो नाना प्रकार के बल प्रकट हो रहे हैं, वे सब असल में तेरे ही बल हैं। भेद इतना है कि इनके ये अपूर्ण बल तो बहत बार दूषित बल होते हैं, पर इनके मूल में रहनेवाला तू सदा परिपूर्ण बली और शोभन बली है। इसी तरह जगत् की भौतिक-अभौतिक अग्नियों द्वारा जो निरन्तर अनिगनत क्रियायें और चेष्टायें की जा रही हैं वे भी असल में तुझ सुक्रत से, तुझ शोभनकर्मा से, ही प्रवा-हित हो रही हैं। तुझसे तो ये सब कर्मप्रवाह निर्मलरूप से ही निकल रहे हैं, किन्तु आगे चलकर ये नाना प्रकार से मलिन और दूषित हो जाते हैं और जगत् में जो बहुत-सी आत्माग्नियाँ, जनाग्नियाँ अपने थोड़े-बहुत ज्ञान से, क्रान्तदर्शी ज्ञान से, कवित्व से प्रकाशित हो रही हैं उनका भी कारण तू ही परिपूर्ण और सर्वज्ञ किव है। संसार के ऊँचे-से-ऊँचे किव ज्ञानी तेरे ही अक्षय नित्य काव्य से, तेरे ही ज्ञान-महाग्नि से चिनगारियाँ प्राप्त करके चमक रहे हैं। यही नहीं, किन्तु सब वसुओं का वसु, सब धनों का धन तू ही है। इस सम्पूर्ण द्यावापृथिवी में जो वसु, जो ऐश्वर्य उपजते हैं - द्युलोक के ऊँचे-से-ऊँचे अकल्पनीय, आध्यारिमक ऐश्वर्य तथा भूलोक के सब भौतिक ऐश्वर्य —ये सब तुझमें ही निवास करते हैं। इन वसुओं का वासक —एकमात्र वासक — तू ही है। हम नासमझी से समझते हैं कि ऐक्वर्य उस-उस लोक के हैं, किसी और के हैं। इसलिए, हैं सब बलों से सुबली ! हे सब कर्मों के शोभन आधार ! हे परमकिव ! हे सब रत्नों के भण्डार ! तुम्हें हमारा बार-बार नमस्कार है।

शब्दार्थ अग्ने हे अग्ने ! तू दक्षैः बलों से सुदक्षः शुभ बलवाला, ऋतुना कर्म से सुऋतु शोभन कर्मवाला असि है और काव्येन अपने काव्य से विश्ववित् कविः सर्वेज्ञ किव असि है। वसूनां वसु वसुओं का भी वसु [वासक], धनों का धन होकर, यानि जिन ऐश्वयों को खावा च पृथिवो च सम्पूर्ण द्युलोक और पृथिवी लोक पुष्यतः उपजाते हैं, बढ़ाते हैं उन सब ऐश्वयों को त्वं तू एक इत् अकेला ही क्षयसि अपने में बसाता है।

388

पवित्र क्रियामा व्याप्त उत्तर उर्ग के उत्तर कारी

१२ भाद्रपद

धृतव्रताः श्रृत्रियां यज्ञानिष्कृतों बृहाद्दिवा अध्वराणांमाभिश्रियः। अगिनहोतार अतुसापों अदुहोऽपो अस्रजनातुं वृत्रतूर्ये।।

-ऋ० १०।६६।८

ऋषिः वसुकर्णो वा वासुकः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः विराड् जगती ।

विनय असल में प्रत्येक संग्राम पाप का विनाश करने के लिए ही लड़ा जाना चाहिये। इसीलिए संग्राम का वैदिक नाम 'वृत्रतूर्य' होता है। पर ऐसे पवित्र संग्राम को लड़ने का अधिकारी हर कोई नहीं हो सकता। क्या तुम भी चाहते हो कि तुम किसी 'वृत्रतूर्य' में सैनिक बन सको ? तो तुम्हें अपने-आपको निम्न प्रकार के आठ गूणों से विशिष्ट बनना होगा।

[१] सबसे पहले इस पिवत्र कार्य के लिए त्रत को या त्रतों को धारण करो और उन पर अडिंग रहो, धृतत्रत होवो । [२] सच्चे क्षत्रिय अर्थात् क्षत से त्राण करनेवाले होवो । पीड़ित लोगों की रक्षा करने के भाव से ही युद्ध में प्रवृत्त होवो । [३] यज्ञ के, स्वार्थ-त्यागमय और सर्व-हितकारी कर्म के करनेवाले, सर्वाटमभाव से करनेवाले बनो; अपने पिवत्र संग्राम को भी यज्ञ ही समझकर करो । [४] वड़े दीप्तिमान् बनो, तप-ब्रह्मचर्य आदि द्वारा महान् तेज का अपने में संग्रह करो । [४] तुम्हारी शोभा तुम्हारा अहिंसामय व्यवहार हो । तुम सर्वथा अहिंसामय, यित्रय, प्रेमभरे कर्मों के सेवन करनेवाले होवो और इसके लिए प्रसिद्ध होवो । [६] अग्निहोत्र करनेवाले, अग्निदेव को अपने में आह्वान करनेवाले बनो । [७] पूरे सत्यनिष्ठ होवो, ऋत के साथ सत्यनियम के साथ अपने-आपको एक कर दो । सर्वथा सत्य का ही सेवन करो [६] और अद्रोही होवो । तुम्हारे व्यवहार से कभी किसी को धोखा न पहुँचे, तुम्हारा मन कभी किसी का बुरा न चाहे । जो इस प्रकार के वीर महानुभाव होते हैं वे ही पवित्र 'वृत्रत्य' संग्रामों में चल सकते हैं, वे ही इन दिव्य युद्धों में इनके अनुकूल ठोक-ठीक काम कर सकते हैं ।

शब्दार्थ धृतवताः व्रत धारण किए हुए सित्रिया सच्चे अथौं में क्षित्रिय यज्ञनिष्कृतः यज्ञकर्मों को निःशेषेण करनेवाले बृहिद्वाः महातेजस्वी अध्वराणां अभिधियः अहिंसामय कृतियों के
सेवन करनेवाले, उनसे शोभनेवाले अग्निहोतारः अग्नि का हवन या आह्वान करनेवाले
ऋतसापः सत्य से समवेत हुए-हुए अद्रुहः कभी द्रोह न करनेवाले पुरुष ही वृत्रतूर्ये पापनाशक
संग्राम में अनु तदनुकूल अपः कर्मों को असुजन् करते हैं।

१. वृत्र अर्थात् पापबाघा या पाप के अन्धकारमय विस्तार को तूर्य अर्थात् विनाश करनेवाला ।

दवा का भड़ता माईमा

१३ भाद्रपद

ऋतूयन्ति क्रतंवो हुत्सु धीतयो वेनेन्ति वेनाः प्तयुन्त्या दिशंः।
न मंर्डिता विचते अन्य एभ्यो देवेषुं मे अधि कामां अयंसत ॥

—ऋक्० १०।६४।२

ऋषिः गयः प्लातः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः विष्टुपु । .

विनय-देवों की शरण में जाए बिना अब मुझे चैन नहीं मिल सकता। ज्ञान और प्रकाश की इस देवी अवस्था में ही सुख है। संसार में और कहीं सुख नहीं है। लोग भले ही मोह, आलस्य और निष्क्रियता में भी सुख मानते हों, पर मुझे तो यह तामसिक अवस्था सह्य नहीं है। जो दूसरे रज:-प्रवृत्त लोग सुख पाने के लिए दिन-रात विषयों में दौड़घूप कर रहे हैं उनकी उस आसूरी अवस्था से भी मेरा जी घबराता है। उनका यह उत्तेजनापूर्ण 'सुख' मुझे काटता है, दु:खरूप लगता है। सचमुच सुख तो दैवी भाव में रहने में ही है। सुख 'सत्त्व' का ही धर्म है और देव लोक (खुलो क) की ही वस्तु है। तब देवों के बिना और कहाँ से हमें सुख मिल सकता है ? इसलिए अब मैं सदा दैवी भाव में, सदा देवसंसार में ही रहना चाहता हूँ। यद्यपि मेरे हृदय में धरे हुए नाना संकल्प संकल्पित हुआ करते हैं, उठा करने हैं, नाना प्रेम-मय कामनायें अपने विषय को चाहती हुई उदय होती हैं और नाना निर्देश व प्रेरणायें इघर-उधर से आती रहती हैं, परन्तु अब मैं अपने इन सब संकल्पों, कामनाओं और प्रेरणाओं को देवों में ही नियमन करता हूँ। नियम और संयम द्वारा अपनी सब कामनाओं को देवसंसार से बाहर नहीं जाने देता। मेरे अन्दर जो इन्द्रिय आदि देव, भन की सात्त्विक अक्लिष्ट-वृत्तिरूप देव तथा सूक्ष्म संसार के देव हैं, एवं बाहर के सच्चे सरल ज्ञान-प्रकाशवाले पुरुष-देव तथा सत्य नियमों से चलनेवाले अग्नि आदि प्राकृतिक देव हैं, इन्हीं के विषय में अब मेरे सब हृदयस्थ संकल्प संकल्पन कर रहे हैं, उन्हें ही ये मेरी सब प्रेममय अभिलाषायें चाह रही हैं और उन्हीं के सम्बन्ध में अब मुझमें तरह-तरह के निर्देश व प्रेरणायें आती व उठती रहती हैं। मैं और क्या करूँ ? इन देवीं के सिवाय और कोई इस संसार में सुख दे सकनेवाला नहीं है।

शब्दार्थ हृत्सु धीतयः हृदय में घरे हुए कतवः संकल्प कत्यन्ति [देवों का] संकल्पन कर रहे हैं, वेनाः प्रेममय कामनायें, इच्छायें वेनन्ति [देवों की] कामना कर रही हैं, चाह रही हैं, और दिशः [देवों के सम्बन्ध में] निर्देश, प्रेरणायें आपतयन्ति इघर-उघर से आ रही हैं, पहुँच रही हैं। निःसन्देह एश्यः इन देवों के अन्यः सिवाय और कोई मिंडता सुख दे सकनेवाला न नहीं विद्यते है, अतः मे मेरी कामाः सब कामनायें, सब संकल्प, अभिलाषा तथा प्रेरणायें देवेषु अधि देवों में ही अयंसत नियमित हो गई हैं।

वैदिक विनय

F35

दैवा भी महिमा

वृष्ठ माद्रपद

नृचक्षं<u>सो</u> अनिमियन्तो अर्हुणां वृहद्देवासो अमृत्त्वमानशुः । । क्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वृष्माणं वसते स्वस्तये ॥

—ऋक्० १०१६३१४

ऋषिः गयः प्लातः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः निचृद् जगती ।

विनय देव लोग कैसे होते हैं ? वे कहाँ रहते हैं ?

देव स्वयं अमरपन को पाकर भी लोककल्याण के लिए अपना जीवन धारण करते हैं।

ये सदा अपने दैवी भाव में रहते हैं।

1127107 07.

ये अपने ज्ञान-प्रकाश द्वारा मनुष्यों को ठीक-ठींक देखते हैं, प्रत्येक मनुष्य के असली रूप को पहचान लेते हैं। ये कभी अपनी आंख नहीं बन्द करते, सदा जागरूक रहते हैं, तमोगुण के कभी वशीभूत नहीं होते हैं। ऐसे ये पूज्यदेव, सम्पूर्ण लोक के कल्याण में रत होने के कारण सम्पूर्ण लोक के पूज्य ये देव, महान् अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। सापेक्षिक और स्वल्पकालिक अमरपन तो हमें भी प्राप्त हुआ करता है, पर ये देव उस महान् ऊँचे अमरपन को पहुँचे होते हैं जहाँ मृत्यु कोई चीज नहीं रहती, मरना-जीना एक हो जाता है।

ज्योति, प्रज्ञालोक ही इनका रथ होता है। अपने प्रज्ञालोक पर चढ़कर ये जहाँ चाहते हैं, वहाँ विचरते हैं। इनकी इस प्रकाशमयी प्रज्ञा (माया) को कोई दबा नहीं सकता, इनकी प्रज्ञा को धोखे में नहीं डाला जा सकता। ऐसे ये निष्पाप देव सदा द्युलोक के शरीर में रहते हैं,। भौतिक तौर पर ये कहों न रहते हुए आध्यात्मिक तौर पर सदा अपनी देवी समा-वस्था में बसते हैं, मानो द्युलोक के सत्त्व को सदा ओढ़े रहते हैं; इस दिव्य वस्त्र से अपने को आच्छादित किए फिरते हैं और इस दिव्य जीवन को ये 'स्वस्ति' के लिए, सब जगत् के कल्याण के लिए धारण किए होते हैं।

के चिताय और कोई एस संसाद में नम दे सकत्वामा नहीं है।

शब्दार्थ नृवक्षसः मनुष्यों को ठीक-ठीक देखनेवाल अनिमिषन्तः कभी न सोनेवाले अहंणाः सर्वपूष्य देवासः देवलोग बृहत् अमृतत्वं महान् अमरपन को आनशुः प्राप्त हुए हैं। ज्योतीरथाः ज्योति ही जिनका रथ है और अहिमाया जिनकी प्रज्ञा का घात नहीं किया जा सकता अनागसः ऐसे ये निष्पाप देव दिव वर्षमणि वसते द्युलोक के शरीर में रहते हैं, दिव के श्रेष्ठ सत्त्व से अपने को आच्छादित किए रखते हैं।

368

- वैदिकं विनय

१. योगदर्शन पार्व ३, सूत्र ५-६

8 0 WISE 1 9 0 01

Digitized by Arya Sama Foundation Chennar and eGangetin

. १५ मार्डपर्द

तन्तुं तन्वन रर्जसो भाजुमन्विहि, ज्योतिष्मतः प्रथो रक्ष धिया कृतान् । अनुरुवणं वयत् जोगुंवाम्पो मर्नुर्भव जन्या दैव्यं जनम्॥

—ऋक्० १०।५३।६

ऋषिः देवाः । देवता अग्निः सौचीकः । छन्दः निचुज्जगती ।

विनय हे जुलाहे ! तू बुन, तू दिव्य खद्दर बुन।

हे जीव ! तू हमेशा कुछ-न-कुछ बुनता रहता है। अपने भाग्य को, अपने भविष्य को, अपने जीवन को बुनता रहता है। जीवन इसके सिवाय और क्या है कि मनुष्य अपने ज्ञान (समझ) के अनुसार कुछ दूर तक देखता है और फिर उसके अनुसार कर्म करता जाता है। इस तरह जीव अपने ज्ञान के ताने में कर्म का बाना डालता हुआ निरन्तर अपने जीवन-पट को बनाया करता है। किन्तु हे जीव-जुलाहे! अब तू अपना यह मामूली रही कपड़ा बुनना छोड़कर दिव्य-जीवन का खद्दर बुन, 'दैव्य-जन' को उत्पन्न कर । इसके लिए तुझे बड़ी सुन्दर और बड़ी लम्बी तानी करनी पड़ेगी। तू अपने रजः के, ज्योति के, ज्ञान-प्रकाश के चमकीले ताने को तनता हुआं भान तक, द्युलोक तक चला जा। द्युलोक तक विस्तृत प्रकाशमान ताना तन। दिव्य पट के लिए यह जरूरी है। ऐसे दिव्य वस्त्र बनाने की लुप्त हुई कला की रक्षा इसी तरह हो सकती है। अतः इस उद्योग में पड़कर तू उन ज्ञान-प्रकाशमय प्रणालियों की रक्षा कर जिन्हें कि कलाविदों ने अपनी कुशल बुद्धि द्वारा बड़े यत्न से आविष्कृत किया था। दिव्य-जीवन बनाने में पड़कर उन देवयानादि प्रकाशमान मार्गों की रक्षा कर जिन्हें कि इनके ज्ञानो यात्रियों ने चलाया था। अस्तु, ज्ञान के इस दिव्य ताने को तू फिर भक्तों के कर्म द्वारा बुन, इस ताने में भक्ति-रस से भिगोया हुआ अपने व्यापक कर्म का बाना डालता जा। और ध्यान रख, तेरी बुनावट एकसार हो, कभी ऊँची-नीची या गठीली न हो। सावधान रह कि सदा उस ज्ञान के अनुसार ही तैरा ठीक-ठीक कर्म चले, और वह कर्म सदा प्रभु-भिक्त से ही प्रेरित हो। इस सावधानी के लिए तुझे पूरा मननशील होना पड़ेगा, सतत विचार-तत्पर होना होगा। तभी यह दिव्य जीवन का सुन्दर पट तैयार हो सकेगा। अतः हे जुलाहे ! तू अब दिव्य जीवन बुनने के लिए उठ और इस लुप्त हो रही अमृल्य दिव्य कला की रक्षा कर ।

शब्दार्थ रजसः अपने ज्योति के, ज्ञान-प्रकाश के तन्तुं ताने को तन्वन् तनता हुआ त् भानुं द्युलोक तक अनु इहि अनुसरण करता जा, चला जा। इस तरह धिया कृतान् [कलादिदीं या ज्ञानियों के] बुद्धि-कौशल से बनाए गए ज्योतिष्मतः पथः ज्ञान-प्रकाशमय तरीकों की, प्रणा-लियों की, मार्गों की रक्ष तू रक्षा कर। इस ताने में जोगुवां भक्तों के अपः व्यापक कर्मों को अनुल्वणं एकसार वयत बुन, मनुःभव मननशील हो और एवं देव्यं जनं दिव्य जन [के जीवन] को, इस 'देव्यजन' रूपी वस्त्र को जनय पैदा कर, बना।

वैदिक विनय

35%

H2 a21 al-

वर्द भाद्रपद

विशंविशं मुघवा पर्यशायत जनां<u>नां</u> धेनां श्र<u>वचाकंशद् दृषां ।</u> यस्याहं शकः सर्वनेषु रण्यंति स तीकैः सोमैंः सहते पृतन्यतः ॥

-ऋक्० १०।४३।६

ऋषिः कृष्ण आङ्किरसः। देवता इन्द्रः। छन्दः जगती।

विनय-इन्द्र नारायण हरेक मंनुष्य के हृदयकूटीर में आंकर लेटे हुए हैं, हम इसे जानते हों या न जानते हों। सबमें चुपके से लेटे हुए ये नारायण प्रत्येक मनुष्य की ज्ञान-कियाओं को भी साक्षात देख रहे हैं, बिल उन ज्ञानिकयाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। ये नारायण हममें जागते तब हैं जब इन्हें अपने इस ज्ञान की, अपने श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ ज्ञान की, भेट चढायी जावे, जर्ब यह सोमरस इन्हें पिलाया जावे। सर्वश्रेष्ठ भिवत और सर्वश्रेष्ठ सोमसवन, तत्त्वज्ञान का निष्पादेन ही हैं। भगवान इसी के भूखे हैं। इसी के लिए प्रत्येक के अन्दर बैठे उसकी ज्ञानिकयाओं को निहार रहे हैं। हरेक हो मनुष्य कुछ-न-कुछ अपना सोमसवन कर रहा है, हरेक मनुष्य कभी-न-कभी विवेक करने, तत्त्वज्ञान के खोजने और ज्ञान का निष्कर्ष निका-लने के लिए बाधित होते हैं; अतः वे सबके अन्दर बैठे धैर्य से प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह सच है कि जिसके अन्दर यथेच्छ सोमरस को पाकर वे भगवान जाग उठते हैं वह निहाल हो जाता है। उसमें ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि उसके सामने संसार की कोई भी शक्ति ठहर नहीं सकती। बस, देर यही है कि वे किसी के सोमसवन को स्वीकार कर लेवें, किसी को अपना लेवें। जिसे वे अपना लेते हैं, वर लेते हैं उसके सामने तो वे अपने सम्पूर्ण सर्वसमर्थ रूप में, अपने सम्पूर्ण 'शक' और 'वृषा' रूप में प्रकट हो जाते हैं। सचमुच ज्ञान ही सर्वोच्च शक्ति है। ज्ञानी ही संसार के विकट-से-विकट पाप-आक्रमणों को सह सकता है। ज्ञान के बिना शैतान की फौजों के सामने कोई नहीं ठहर सकता; 'प्रसंख्यान' के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के भी प्रभ-अर्पण कर देने पर भक्त योगी को अपनी धर्ममेघ समाधि में जो सोम की वर्षा मिलती है उन तीव सोमों (उच्च ज्ञानों) के सामने शैतान की सैकड़ों आक्रमणकारी फौजें भी एक क्षण में परास्त हो जाती हैं; संब पाप और क्लेश खत्म हो जाते हैं।

शब्दार्थ — मधवा परमैश्वर्यवान् ईश्वर विशं विशं प्रत्येक मनुष्य में परि अशायत लेटे हुए हैं, चुपके से व्यापे हुए हैं और वृषा वे सुखवर्षक ईश्वर जनानां सब मनुष्यों की घेनाः ज्ञानिकयाओं को अंवचाकशत् देख रहे हैं या प्रकाशित कर रहे हैं। अह परन्तु शकः ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर यस्य जिसके सवनेषु सवनों में, ज्ञान-निष्पादनों में रण्यति रम जाते हैं, इन्हें स्वीकार कर लेते हैं सः वह पुरुष तीवः सोमैः अपने इन तोव्र सोमों द्वारा, महाबली उच्च ज्ञानों द्वारा पृतन्यतः सव आक्रमणकारियों को, बड़े-से-बड़े हमलों को सहते सहता है, जीत लेता है।

१. योगदर्शन पाद ४, सूत्र २१-३०

11 (5) ap 1 2 1 2 1

Digitized by Arya Samaj Foundato Chennai and eGangotri

१७ भाद्रपद

सा मां सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावां च यत्रं ततन्त्रहानि च। विश्वमन्यनि विशते यदेजीत विश्वाहापों विश्वाहोदेंति सूर्यः॥

-ऋक्० १०।३७।२

ऋषिः अभितपाः सौर्याः । देवता सूर्यः । छन्दः निचुज्जगती ।

विनय-हे भगवन् ! मैं सत्य ही भाषण करने का व्रत ग्रहण करता हैं। यह महाव्रत मेरी रक्षा करे, सब तरफ से रक्षा करे। दूनिया तो कहती है कि झूठ के विना काम नहीं चल सकता, कि असत्य द्वारा ही बहत बार रक्षा मिलती है। परन्तू मैं देखता है कि एकमात्र रक्षा कर सकनेवाले, हे सत्यस्वरूप ! तुम ही हो, तुम्हारा सत्य ही है। सत्य वह महान् प्रकाशरूप वस्तु है जिसके प्रकाश से संसार के सब चुलोक जगमगा रहे हैं और जिसके आंशिक प्रकाश को पाकर ये हमारे दिन अनन्तकाल से प्रकाशित होते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक प्रकाशित होते रहेंगे। सत्य प्रकाश है और असत्य अन्धकार है। सत्य सनातन है, असत्य क्षणभंगूर है। भला अन्धकार हमारी कैसे रक्षा कर सकता है ? भंगुर वस्तु का आश्रय हमें कवतक वचा सकता है ? जो इसे समझते हैं वे सत्य के कारण आई विपत्तियों को देखकर कभी घबराते नहीं और दीन होकर कभी असत्य का आश्रय नहीं पकड़ते। क्योंकि, वे देखते हैं कि सत्य के अतिरिक्त संसार में जो भी कुछ है वह सब विनश्वर है। असत्य चाहे कितना जीता-जागता दीखता हो-चाहे कितने बड़े आकारवाला, चाहे कितना शक्तिशाली, चाहे कितना कीमती दीखता हो-पर वह सब थोड़ी देर में विलीन हो जानेवाला है, राख हो जानेवाला है, मिट जानेवाला है। सत्य ही अचल है। झूठ-कपट की आलीशान दीखनेवाली विजयें भी संसार में बेशक होती हैं, पर वे क्षण में चली जाती और हमें वहीं-का-वहीं गिराकर छोड़ जाती हैं। देर तंक ईश्वरीय सत्य-नियमों को दबाया नहीं जा सकता। घोर-से-घोर रात्रियाँ आवेंगी, पर फिर सूर्योदय होना निहिचत है। सदा प्रकाशमान सूर्य को केवल थोड़ी देर के लिए ही किसी आवरण द्वारा ओझल रखा जा सकता है। जरा देखों, जो अप्रतिहत रूप से बह रहा है वह तो ईश्वरीय व्यापक सत्य-नियमों का प्रवाह ही है, और जो प्रतिदिन उदय हो रहा है और असल में सदा उदित रहता है वह [महान् सत्य का] सूर्य ही है।

शब्दार्थ — यत्र जिस [सत्य-प्रकाश] में द्यावा च द्युलोक भी अहानि च और सब दिन भी ततनन् विस्तृत हुए हैं, विस्तार को प्राप्त हुए हैं, सा वह सत्योक्तिः सत्यभाषण का वत मा मुझे, मेरी विश्वतः सब तरफ से परिपातु रक्षा करे। अन्यत् सत्य के अतिरिक्त विश्वं और सब-कुछ यत् एजित जो हिल रहा है, आकार, बल व जीवनयुक्त दीखता है वह निविशते लीन हो जाता है, मिट जाता है, विश्वाहा सदैव तो आपः व्यापक सत्यनियमों का प्रवाह [चल सहा है] और विश्वाहा सदा तो सूर्यः उदित सूर्यं उदय होता रहा है।

= 760

4021 2110

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

ं १८ भारतपर्द

न ता नशन्ति न दंभाति तस्केरो नासामामित्रो व्यथिरा दंधर्षति । देवाँश्च याभिर्यजेते ददाति च ज्योगित ताभिः सचते गोपतिः सह।। Clasios of

-ऋक्० ६।२८।३; अथर्व० ४।२१।३

वह विकास सद्य कर । सर्व हो है ।

A collection of the collection of the let

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता गावः । छन्दः जगती ।

विनय हे गौओं वालो ! हे गोपतियो ! क्या तुम ऐसी गौओं को भी जानते हो जो न तो कभी भाग खड़ी होती हैं, न जिन्हें चोर उड़ा के ले-जा सकते हैं और न जिन्हें हमारे शत्रु सता सकते हैं या आघात पहुँचा सकते हैं ? ये गौएँ 'इन्द्र' की दी हुई हैं, इनसे देवों का यजन होता है और ये अपने गोपित के साथ सदा रहती हैं, कभी बिछड़ती नहीं। ये गौएँ हममें से हर एक को मिली हुई हैं। क्या अब भी समझे कि ये गौएँ कौन-सी हैं?

ये हमारी इन्द्रिय-गौएँ हैं। इनका गोपित हमारा मन व मनोमय आत्मा है। इस आत्मा के साथ ये सदा जुड़ी रहती हैं। ये तो शक्तिरूप से मोक्ष-सुख की अवस्था में भी आत्मा के साथ रहती हैं, एक शरीर से दूसरे शरीर में तो आत्मा के साथ जाती ही हैं। इनके गोपित से इन्हें कोई छीन नहीं सकता। ये इन्द्र परमेश्वर की दी हुई दिव्य अमर गौएँ हैं। प्रभु ने ये गौएँ अपने देवों के यजन के लिए ही प्रत्येक जीव को दी हैं, बल्कि इन देवों को दे देने के लिए, अपंण कर देने, सौंप देने के लिए दी हैं। इन गौओं को हमें शुभ कार्य में लगाने के लिए किए गए पवित्र निक्षेप की वस्तुओं की तरह रखना चाहिए। यदि हम इन चक्षु आदि गौओं से सदा यिज्ञय = पवित्र कर्म ही करेंगे और इन चक्ष आदि को बाह्य आदित्य आदि देवों को समर्पित किए रखेंगे तो जहाँ ये हमारी स्थूल इन्द्रियाँ भी सर्वथा स्वस्थ, समुन्नत, अविकृत और शतवर्ष तक अविकल बनी रहेंगी, वहाँ असली सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी ऐश्वर्ययुक्त बड़ी-बड़ी योग-विभूतियों को ला सकनेवाली हो जायेंगी। क्या तुमने प्रभु से मिली हुई अपनी इन दिव्य गौओं की अमूल्य सम्पत्ति को पहचान लिया ? तब तुम बाहर की लाखों गौओं के स्वामी बनने की जगह अब इन दस दिव्य गौओं के स्वामी—सच्चे अर्थों में स्वामी—बनना पसन्द करोगे।

शब्दार्थ ताः वे गौएँ न नशन्ति न नष्ट होती हैं, न भाग जाती हैं, न न इन्हें तस्करः चोर दमाति सताता है और न ही आसां इनको अमिन्नः व्यथिः शत्रुकृत आघात आ दधवंति पीड़ित करता है। वह याभिः जिन इन गौओं से देवान् यजते देवों का यजन करता हैं बदाति च बल्कि देवों को अर्पण कर देता है ताभिः उन इन गौओं के सह साथ गोपितः इनका गोस्वामी जीवात्मा ज्योक इत् चिरकाल तक, सदैव ही सचते संयुक्त रहता है।

नियम है। इस है से हैं और को प्रतिहास इस्य से एसा है कोर असले से सही है कि स

03.25

दु िक भी राज्या की नहीं तर तकते

१६ भाद्रपद

मत्नान्मानाद्ध्या ये समस्वर्ष्टञ्ञ्लोकयन्त्रासो रसस्य मन्तवः। अपनिक्षासो विधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतेः॥

—ऋक्० हा७३१६

ऋषिः पवित्र आङ्गिरसः । देवता पर्वमानः सोमः । छन्दः जगती ।

विनय-देखो, स्वर्गिक गान के स्वर सुनाई दे रहे हैं, दिव्यप्रकाश की किरणें दृष्टि-गोचर हो रही हैं। ये और कुछ नहीं हैं, सत्यिनयम (ऋत) ही मिलकर ठीक धुन में ताल-स्वर के साथ बज रहे हैं। सत्यनियम ही हमारे अनुकूल रूप घारण करके दीख रहे हैं। ये दिव्य शब्द व प्रकाश की किरणें ऊपर से आ रही हैं, चुलोक से आ रही हैं। वहीं हम सब का प्राना सनातन उत्पत्तिस्थान है, निर्मा नस्थान है। वहीं से इस अनादि ब्रह्माण्ड-वीणा के सब स्वर निकल रहे हैं, सदा से निकलते रहे हैं और सदा निकलते रहेंगे। ये जिस वीणायन्त्र से निकल रहे हैं वह प्रभ-वाणी की वीणा है, उसकी श्लोक, ईक्षणशक्तिरूपी वीणा है। इसीलिए उसकी ये रिवमयाँ इस संब वेगवान् महान् संसार को जानती हुई चल रही हैं, अपने प्रभु के सर्वगत चैतन्य के स्पर्श से कभी वियुक्त नहीं होतीं। इन किरणों और इन स्वरों के अनुसार जो लोग अपने-आपको चलाते हैं, इनकी ताल पर ताल देते हुए इनके अनुसार अपने शरीर-मन-बुद्धि को हिलाते नचाते और ठीक करते जाते हैं, वे तो बड़ी आसानी से ऊपर-ऊपर चढ़ते जाते हैं। पर दु:ख है कि यह अन्धा और बहरा संसार न उन्हें देख रहा है और न सुन रहा है। हम लोग बड़ी बेपरवाही के साथ सब-कुछ अनसुना करते हुए अन्धाधुन्ध अपनी हाँकते जा रहे हैं, तभी दु:ख पा रहे हैं और जहाँ-के-तहाँ पड़े हुए हैं; उन्नित-पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते । सचमुच अपने इन दु:खदायी प्रतिकल कर्मों को, दुष्कर्मों को हम इसीलिए करते हैं-करने में प्रवृत्त होते हैं-चूंकि हम इन स्वर्गिक लहरों को सुन व देख नहीं रहे हैं। अतः आओ, भाइयो ! हम अब अपने उन कानों और आँखों को खोल लेवें जिनसे कि प्रभुधाम से अनवरत आनेवाले ये दिव्य स्वर सुनाई और दिखाई देते हैं। ऐसे कान और आँख तो हम सबके पास हैं।

शब्दार्थ—श्लोकयन्त्रासः इलोक-यंत्रवाली, ईश्वरीय वाणी से निकलनेवाली रमसस्य मन्तवः और इस वेगवान् महान् संसार को जाननेवाली ये जो [दिव्यप्रकाश और दिव्यशब्द की किरणें] प्रत्नात् मानात् अधि पुराने निर्माणस्थान, उत्पत्तिस्थान से आ आकर सम् अस्वरन् मिलकर बज रही हैं या प्रकाशित हो रही हैं उन्हें अनक्षासः न आंखोंवाले तथा बिधराः बहिरे, न सुन सकनेवाले [संसारी पापी] लोग अप अहासत छोड़ देते हैं, उन्हें देखते-सुनते नहीं, इनका लाभ नहीं उठाते। इसोलिए दुष्कृतः दुष्कर्म करनेवाले ऋतस्य पन्थां सत्य के मार्ग को न तरन्ति तर नहीं,सकते।

विदिक विनय

€ \$ ₹ €

वाणी भी पवित्रहा

२० भाद्रपद

सहस्रंघांरे वितंते प्वित्रे, त्रा वाचं पुनन्ति क्वयों मनीिषणः। रुद्रासं एषां इषिरासं श्रद्धाः स्पशाः स्वंचः सुदृशों नृचक्षंसः॥

—ऋक्० हा७३।७

ऋषिः पवित्र आङ्गिरसः । देवता पवमानः सोमः । छन्दः जगती ।

विनय-ऊपर बुलोक से सहस्रों धाराओं में सोम की वर्षा हो रही है। जहाँ केवल शुद्ध धर्म की -अशुक्ल, अकृष्ण धर्म की वर्षा होती है उस धर्ममेघ समाधि की अवस्था आने पर ध्यानी लोग इसे अनुभव भी करते हैं। यह शिर के ऊध्वं भाग में अनुभूत होती है जहाँ कि हठ-योगी लोग 'सहस्रार कमल' को देखते हैं। वहाँ अनन्त, अपार ज्ञानसमुद्र है 'सर्वावरणमलापेत' शद्ध ज्ञान का समुद्र है। उसमें कान्तदर्शी और कान्तकर्मा ज्ञानी महापुरुष अपनी वाणी को पवित्र करते हैं, उसमें गोता देकर सर्वथा शुद्ध हुई वाणी को बोलते हैं। तव उनकी यह वाणी वड़ी चमत्कारिणी शक्ति रखती है। वहाँ से निकली वाणी द्वारा जो आज्ञा की जाती है वह अमोघ होती है। इसीलिए हम देखते हैं कि महात्मा दिव्य पुरुषों की वाणी व चिन्तना (माध्यमिक वाणी) विशेष प्रभाव रखती है। वे अपने भाषण व चिन्तन से अपने दूत का, अपने वशवर्ती नौकर का, काम ले सकते हैं। दूर-दूर के विषय में वे जो सोचते हैं या बोलते हैं, वह वहाँ पूरा हो जाता है। पर यह तो दूर की बात है। क्या हम अपेक्षया उन्नत श्रेष्ठ पुरुषों को नित्य नहीं देखते कि उनका भाषण व विचार दूर तक प्रभाव पहुँचानेवाला होता है, कभी किसी को भी हानि न पहुँचानेवाला होता है, उत्तम व्यवहार-युक्त होता है, उत्तम दिव्य दूर-दृष्टि से देखकर बोला हुआ होता है और मनुष्य को ठीक-ठीक देखकर, पहचानकर बोला हुआ होता है ? यदि किन्हीं के भाषण व विचार में ये उक्त गुण दिखलाई देते हैं तो यह इस बात का लक्षण है कि उनकी वाणी पवित्र हो रही है, पवित्रताकारक सोमधारा का स्पर्श प्राप्त कर रही है, 'वितत सहस्रधार पवित्र' की तरफ बढ़ रही है। T S BIP THE HE TO STE AND DIE DO IS OF SLEET

शब्दार्थ — कवयः मनीषिणः कान्तदर्शी कान्तकर्मा ज्ञानी लोग वाचं अपनी वाणी को सहस्रधारे वितते पवित्रे हजारों धाराओं वाले विस्तृत पवित्रताकारक स्रोत में [सोम-स्रोत में] आ पुनन्ति पूरी तरह पवित्र करते हैं। अतः एषां इन मनीषियों के रहासः प्राण, प्राणरूप माध्यमिक वाणियाँ दृषिरासः दूर तक पहुँचनेवाले, वड़े प्रभावशाली अद्भुहः किन्तु कभी किसी का द्रोह व घात न करनेवाले स्वंचः उत्तम व्यवहार करनेवाले सुदृशः उत्तम दिव्य दृष्टिवाले और नृचक्षसः मंनुष्यों को ठीक-ठीक पहचान लेनेवाले स्पशः दूत की तरह हो जाते हैं।

१. योगदर्शन ४-३१

718 W/3 07

स्गठन = संघटन का महान यापार

२१ भाद्रपद

समेत विश्वे वर्चसा पर्ति दिव एको विभूरितिथिर्जनांनाम्। स पूर्व्यो नूतंनमाविवांसत् तं वर्त्तनिरनुं वावृत एकमित् पुरु।।

-अथर्व० ७।२१।१

ऋषिः ब्रह्मा । देवता आत्मा । छन्दः जगती ।

विनय-आओ ! तुम सब आओ, हे मनुष्यो ! तुम सब इकट्ठे होकर आओ और एक वाणी से उस 'दिव: पति' के स्तोत्र गाओ। वही हम सब को इकटठा कर सकता है। वही एक सूत्र की तरह हम सब को जोड़नेवाला है। क्योंकि वह एक विभ, वह एक सर्वव्यापक, हम सब मनुष्यों में सततरूप से व्याप्त है। हम सब जनों में अतिथि है। हम सभी का समान रूप से वह मेहमान बना हुआ है। अतः हम सबों के उस एक पूज्य द्वारा, हम सबों के उस एक उपास्य द्वारा, हम सब मनुष्य परस्पर जुड़ सकते हैं और असल में जुड़े हुए हैं भी। वह एकरस पुराण है और यह बदलता हुआ संसार नित्य नया होता रहता है। पर वह पुराण इस नित्य नये संसार का नित्य नये रूप से सेवन कर रहा है, इसमें नित्य नए रूप से व्यापा हुआ है। इसलिए उसे प्राप्त करना चाहता हुआ यह संसार अपने-अपने नए ढंग से ही उसकी तरफ जा सकता है। अतः यह सच है कि जो मार्ग हमें उसकी तरफ ले जाता है वह बेशक हम सबको केवल उस एक की तरफ ले जाता है, परन्तु वह हमें विविध प्रकार से हरेक व्यक्ति के अनुसार उसके अपने-अपने निराले प्रकार से - ले जाता है। हम सब यद्यपि अपने-अपने ढंग से उस एक उपास्य देव की उपासना करेंगे, पर अपने-अपने ढंग से उपासना करते हुए भी हम सभी का उपास्य देव वह एक ही है। अतः जाओ, उस अपने एक देव के नाम पर हम सब हम सब-के-सब मनुष्य-एक हो जायँ, मिल जायँ, उस एक प्रभु के झंडे के नीचे इकट्ठे हो जायँ और हम सब-के-सब वाणी से उसके यश:-गीत गायें।

शब्दार्थं—विश्वे हे सब लोगो, सब भाइयो ! दिवः पति प्रकाशपित परमेश्वर के प्रति वचसा एक वाणी से समेत एकत्रित हो जाओ; चूंकि एकः विभूः वह एक ही सर्वव्यापक जनानां सब जनों का अतिथिः अतिथि बना हुआ है। सः पूर्व्यः वह पुराना नूतनं इस नये [संसार] को आविवासत् सेवन कर रहा है, व्याप्त कर रहा है, अतः तं उसके प्रति वर्त्तानः जो मार्ग अनुवावृते जाता है वह एकं इत् उस एक के प्रति ही किन्तु पुरु बहुत प्रकार से, माना प्रकार से जाता है।

। अप र प्रशास के मार्थ के प्रशास के

वैदिक विनय

: 308

I PIL SIPLE OF THE PISH

मिलको के तित्य पालन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२२ भाद्रपद

सं जानामहै मनं<u>सा</u> सं चिकित्वा मा युष्महि मनं<u>सा</u> देन्येन । मा घोषा उत्स्थुर्वहुले विनिहेंते, मेषुः पष्तिदिन्द्रस्याहन्यागंते ॥
—अथर्वः

—अथर्व० ७।५२।२

ऋषिः अथर्वा । देवता सांमनस्यम्, अश्विनौ । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय – हमें अपना सब सामृहिक सोचना-समझना मिलकर ही करना चाहिए। हम एक होकर, एकमत से ही किसी कार्य को प्रारम्भ करें। हम जो बहुत बार एकमत नहीं हो पाते हैं उसका कारण यह होता है कि हम 'दैव्य मन' से सोचना छोड़कर आसूर मन से विचा-्रते लगते हैं। आसुरी वृत्ति से, स्वार्थप्रेरित होकर, एक-दूसरे पर अविश्वास करते हुए, एक-दूसरे को तिरस्कृत करते हुए हम चलेंगे तो हम कभी भी ऐकमत्य नहीं पा सकेंगे। अतः हमें निःस्वार्थ प्रेम से युक्त दैव्य-मन को कभी न त्यागना चाहिये और एकमत हो, एक निश्चय के साथ सर्व-हितकारी वड़े-से-बड़े काम को उठा लेना चाहिये तथा उसे एकभाव से ही प्रेरित हो चलाते . जाना चाहिये। फिर बड़ी-से-बड़ी भयंकर विपत्तियाँ आने पर भी विह्वल नहीं होना चाहिये। असफलतायें और विघ्नों की रात्रियाँ तो प्रत्येक महान् कार्य में आया ही करती हैं। इन क्षुद्र असफलताओं पर हाहाकार मचाना तो क्या, यदि महादारुण प्रलय की रात्रि भी आ जाय और ये े विशाल दौ और पृथिवी भी नष्ट होने लगें, तो भी हमें विचलित नहीं होना चाहिए और अटल निष्ठा से अपनी साधना में लगे रहना चाहिये। और फिर इस रात्रि के बाद दिन आ जाने पर भी, सब अनुकूल अवस्थायें हो जाने पर भी, हमें मौज लूटने में ग्रस्त नहीं हो जाना चाहिए। अपने अन्तिम लक्ष्य को भूल विषय-भोगों, विजयोत्सवों में नहीं पड़ जाना चाहिये, क्योंकि ऐसे ही समय में 'इन्द्र का इषु' गिरा करता है, वज्जपात हुआ करता है, ईश्वरीय मार पड़ा करती है। यह दैवी मार बहुत बुरी होती है। वे वड़े-बड़े साम्राज्य जो कि अपने बड़े दुर्दान्त शत्रुओं के घोर आक्रमणों को भी सह गए, पीछे से विषय-भोगों में ग्रस्त होकर स्वयमेव नष्ट हो गए, 'इन्द्र के इपु' से मारे गए। अतः आओ, अपने अन्धकार के समय में भी और प्रकाशकाल में भी, हम कभी दैव मन को न छोड़ते हुए सदा मिलकर, खूब सोच-समझकर, एकमत से अपने सर्वोदय के महान कार्यों को चलाते जायें।

शब्दार्थ हम मनसा मन द्वारा सं मिल करके जानामहै विचारें और चिकित्वा सोचना-समझना सं मिलकर करें; देव्येन मनसा देव मन से मा युष्मिह कभी वियुक्त न हों, बिछुड़ें नहीं । बहुले विनिहंते अन्धकार आ जाने पर या विशाल द्यावापृथिवों के टूटने पर भी घोषाः मा उत्स्युः हमारे अन्दर हाहाकार के शब्द न उठें और अहिन आगते दिन आ जाने पर, अनुकूल स्थिति पा जाने पर इन्द्रस्य इषुः इन्द्र का इषु, ईश्वरीय मार मा पप्तत् हमपर न पड़े ।

PROBLEM IS NOT THE STAND AND THE SERVE IN THE PROPERTY OF THE POST OFF

श्रामा - विश्वते हे यह लोगो. यह बारदो ! दिस्स पाँच प्रसास होते प्रसास होते प्रसास के प्रति

. 202

भारमदेव भी भहती महिमा

Digitized by Arya Sama Foundation Chennal and eGangotri-

२३ भावपद

तं पृच्छता स जंगामा स वेंद्र स चिकित्वाँ ईयते स न्वीयते । तस्मिन्त्सन्ति मंशिष्टस्तस्मिन्निष्टयः स वार्जस्य शर्वसः श्रुष्मिणस्पतिः ॥

—ऋक्० शाश्वर्धाश्

ऋषिः दीर्घतमा औचथ्यः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् जगती।

विनय-हे मनुष्यो ! तुम जो कुछ जानना चाहते हो, पूछना चाहते हो, वह अपने अग्न-देव से पूछी। इसके सिवाय संसार में और कोई तुम्हारे सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकने-वाला नहीं है। संसार के बड़े-से-बड़े विद्वान् तुम्हें जो कुछ उत्तर देंगे उससे भी तुम्हें तभी संतुष्टि मिलेगी जब तुम्हारा (अन्दर का) अग्नि, अन्तरात्मा उसपर अपनी स्वीकृति की छाप लगा देगा। अतः तुम्हारी सब जिज्ञासायें, सब समस्यायें, अन्त में इस अन्तरात्म-देव की शरण में जाने से ही हल होंगी। क्या तुम सन्देह करते हो कि इस अन्दर के आत्मा की सब जगहों में और सब विषयों में गति नहीं है ? नहीं, यह आत्मा तो सदा अपने परम आत्मा में बसता है और अपनी चिन्मय वृत्ति को जहाँ चाहे वहाँ भेज सकता है। एवं यह अग्नि सब जगह जाता है और वहाँ सब-कुछ जानता है। अरे देखो, यह चित्स्वरूप आत्मा सब-कुछ जानता हुआ सब कहीं जा रहा है; पलक झपकने में, संकल्पमात्र से करोड़ों मीलों तक, करोड़ों युगों तक पहुँच रहा है। यों कहना चाहिये कि यह ज्ञानमय अग्नि सब जगह, सब विषयों में पहले ही पहुंचा हुआ है। और संसार के महापुरुषों को जो जगत् में कुछ महान् कार्य करने की आज्ञायं-प्रेरणायें मिला करती हैं, ये भी उनकी इस अन्तरिंन से ही प्रकट होती हैं। सब प्रशासन, सब ईश्वरीय हुक्म इसी में हैं। एवं ऋषि महात्माओं को समय-समय पर जो तत्कालीन विपत्ति के हटाने के लिए किन्हीं यज्ञों का, इिटयों का, दर्शन हुआ करता है वह भी उनकी अन्तरात्मा में ही होता है। सचमुच सब यज्ञ भी इसी में निहित हैं। एवं समस्त ज्ञान और बल का यही पति है। बल ही क्यों, सब विलयों का-संसार के बड़ी-से-बड़ी फौज रखनेवाले राजा आदि सब वलियों का-यही पति है। अहरे, अपने इस अग्निदेव के इस परम माहात्म्य को अनुभव करो और अब से अपने सब प्रश्न इसी ज्ञानमय देव के सामने रक्खो। और कहीं क्यों भटकते हो ?

शब्दार्थ है मनुष्यो ! तं उस अग्निदेव से पुच्छत पूछो । क्योंकि सः वह जगाम सर्वत्र जाता है, स वेद वह सव-कुछ जानता है, सः वह चिकित्वान् ईयते सव जानता हुआ जाता है, सः वह चु बड़ी जल्दी ईयते जाता है। तिस्मन् उसी में इष्टयः सव यज्ञ व इष्टियां हैं, सः वह चाजस्य ज्ञान का, शवसः बल का, शुष्टिमणः और बली का पितः पित है।

२०३

निर्मिम्नान पुरेग्

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२४ माद्रपद

तिमत्पृंच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति स्वेनेव धी<u>रो</u> मनंसा यदप्रमीत्। न मृष्यते प्रथमं नापरं वचो ऽस्य क्रत्वां सचते अप्रदृपितः॥

—ऋक्० शाश्रधार

ऋषिः दीर्घतमा औचश्यः । देवता अग्निः । छन्दः जगती ।

विनय सब मनुष्य अपने अन्तरात्मा से ही पूछा करते हैं। यह और बात है कि हर कोई उससे पूरी तरह पूछ न सकता हो, किन्तु यह ठीक है कि सब कोई अपने मन (अन्तरात्मा) से ही सोचता है और अपनी मनमानी ही करता है। अन्तरात्मा से विशेष तौर पर (पूरी तरह) पूछ सकनेवाले तो विरले ही होते हैं, सब नहीं। बात यह है कि हर कोई अपनी शक्ति के अनुसार पूछ सकता है। जिसका बद्धि-मन जितना शुद्ध और विकसित होगा अत्यव जितना ग्रहण कर सकता होगा, उतना ही ज्ञान वह अपनी अन्तरात्मा की अग्नि से प्राप्त कर सकेगा। एक बुद्धिमान् पुरुष पूरे धेर्यपूर्वक पूछने का प्रयत्न करता हुआ भी अपने निजी मन जितना ग्रहण कर सकेगा, उतना ही अपने प्रश्नों का उत्तर अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त करेगा।

पर एक बात सदा याद रखनी चाहिये, वह यह है कि हमें इस अग्निदेव के समीप सवंधा निरिभमान होकर ही पहुँच करनी चाहिये। जो मनुष्य अपने बड़े भारी ज्ञानी-पण्डित होने के सब दर्प को, सब पाण्डित्य को भुलाकर, अपने-आपको खाली करके, अबोध बालक होकर पूछता है वही उस अग्नि के प्रज्ञा और कर्म से अपने को संयुक्त करता है, उससे ठीक ज्ञान और प्रेरणाओं को प्राप्त करता है। जब अग्निदेव बोलता है तो उस अपने बोलने से पहले और पीछे के किसी दूसरे के बोलने को नहीं सह सकता। उसका उत्तर सुनने के लिए हमें जहाँ अपने सब पूर्वाग्रह, प्रथमनिश्चय तथा पक्षपात को बिल्कुल छोड़कर ही उसे सुनना चाहिये, वहाँ उस का उत्तर सुन लेने के बाद भी उसमें अपना बोल मिला देने से सावधान रहना चाहिये अर्थात् उस उत्तर के किसी अंश को अपनी कल्पना द्वारा पूरा करने का यत्न न करना चाहिए और न अपने विचारों का रंग उस उत्तर में आने देना चाहिये। बस, यही अपने आत्मदेव से बिल्कुल ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त करने का रहस्य है।

शब्दार्थ तं इत् उस अन्तरात्मा से ही पृच्छन्ति सब पूछते हैं, पर सिमः हर कोई विपृच्छिति न विशेष तौर पर [पूरी तरह] नहीं पूछता है, धीरः बुद्धिमान् व धैर्यवान् पुरुष भी [उतना ही पूछ सकता है] यत् जितना कि वह स्वेन इव अपने ही मनसा मन से अग्रभीत् ग्रहण कर सकता है। वह अग्नि प्रथमं वचः अपने बोलने से न तो पहले के किसी बोल को न अपरं और न ही बाद के किसी बोल को मृष्यते सहता है, अप्रवृपितः निरिभमान होकर आया पुरुष ही अस्य इस अग्नि के ऋत्वा कर्म व प्रज्ञा से सचते अपने-आपको संगुक्त करता है।

808

विश्वान दिव का महाने छल

२५ मांद्रपद

प्र वौ महे मन्दंमा<u>ना</u>यान्ध्सो ऽची <u>विश्वानं</u>राय विश्<u>वासुवै ।</u> इन्द्रंस्य यस्य सुर्म<u>खं</u> सहो महि श्रेवा नृम्णं च रोदंसी सप्र्यतः ॥

—ऋक्० १०।५०।१; यजुः० ३३।२३

ऋषिः इन्द्रो वैकुण्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय क्या तुम अपने विश्वानर देव को भी जानते हो ? यह वह देव है जिसमें हम विश्व-नर, हम सब मनुष्य, समाए हुए हैं; यह वह नर है, वह पुरुष है जिसका कि यह विश्व (यह ब्रह्माण्ड) भरीर है। अतः हे नरो, हे मनुष्यो ! तुम इस अपने महान् विश्वानर देव का पूजन करो। यह सब विश्व में समाया हुआ विश्वव्यापी देव सदा मोदमान है, आनन्दमय है। हमें अपना सब आनन्द, सब अन्न आदि भोग इसी से मिल रहा है। 'अन्धस्'वाला यही है। और यह वह इन्द्र (परमेश्वर) है जिसका कि सुपूजित वल, सर्ववंदित तेज, अत्यन्त महान् है। इसी के महान् 'सहस्' के कारण सब लोक, सब भवन, सब ब्रह्माण्ड ठीक-ठीक चल रहा है। इसी के मनुष्योपयोगी आंशिक यश और बल को सब संसार के मनुष्य सेवन कर रहे हैं। अरे, क्या तुम देखते नहीं कि ये रोदसी, ये विशाल द्यौ और यह पृथिवी, उसी देव की परिचर्या कर रहे हैं, अहर्निश उसी देव का पूजन कर रहे हैं? तो आओ, हम भी उस अपने महान् विश्वान रदेव के गीत गायें, अपने सम्पूर्ण जीवन द्वारा उसकी वन्दना करें।

शब्दार्थ है मनुष्यो ! वः तुम उस महे महान् मन्दमानाय सदा मोदमान, आनन्दमय अन्धसः सुख-भोग के [देनेवाले] विश्वा भुवे विश्व में समाए हुए, विश्वव्यापी विश्वानराय विश्वानर देव का प्र अर्चा पूजन करो यस्य इन्द्रस्य जिस ईश्वर का सुमखं सुपूजित सहः बल व तेज महि महान् है और जिसके श्रवः यश नुम्णं च तथा बल को रोदसी यह दो और पृथिवी, दोनों संसार सपर्यंतः पूजन कर रहे हैं, वन्दन कर रहे हैं।

वैदिक विनय

40%

THE STATE OF STREET STREET STREET, AND STR

मिसापा का भर्पा - माइमा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रे६ माद्रपद

वार्जस्य नु प्रंसिवं मातरं महीमदितिं नाम वर्चसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं सुर्वनमाविवेश, तस्यां नो देवः संविता धर्मं साविषत्।।

—यजुः० १८।३०

ऋषिः देवाः । देवता राज्यवानात्मा । छन्दः स्वराड् जगती ।

विनय-भूमि-माता कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। यह 'राज्यवान् आत्मा' है, राष्ट्र है। यह माता राष्ट्र की, भूमि की, सब व्यक्तियों की सामृहिक आत्मा है। इसका देह राष्ट्र-शारीर है। जरा अनन्त व्यक्तिभेदों को भूलकर हम अपनी दृष्टि को विशाल बनाकर देखें, सम्पूर्ण भूमि को एक अ-खण्डित (अ-दिति), समिष्ट रूप में देखें तो हमें यह 'अदिति' नाम अपनी माता दीख जायगी। तब हमें दीखेगा कि भूमि-भर के सब मनुष्य, पश-वक्ष आदि व्यक्ति, भूमि-भर की सब सम्पत्तियाँ, सब वस्तुएँ इसी अदिति में समाई हुई हैं। इससे बाहर कुछ नहीं है। इसलिए हम व्यक्तियों के सब वैयक्तिक सुख भी, सब 'वाज', सब अन्त-जल-बल-ज्ञान आदि वस्तुएँ भी, हमें उस समिष्ट-रूपिणी एकात्मा अदिति माता की उपासना के बिना नहीं मिल सकतीं। अतः आओ हम उस महती अदिति माता को अपने अभिमुख करें, उसे एक वाणी से अपनी माता कहके पुकारें, परस्पर चर्चा और प्रचार से उसकी भावना अपने में जगायें। तभी हम अपने वैयन्तिक बल, ज्ञान आदि की उन्नति पा सकेंगे। सर्वप्रेरक प्रभु भी हममें उसी समष्टिरूप अदिति में हमारी घारणा को उत्पन्न करें और उसके प्रति जो हमारा धर्म है उसकी हममें प्रेरणा करते रहें, उस समष्टि में एक होकर जो हमारा कर्त्तव्य है, जो हमारा धर्म है उसे सदैव सुझाते रहें। यदि प्रभु हममें इस धर्म की प्रेरणा न करेंगे या हम किसी अन्य कारण से इस महान् अदिति माता की उपासना न कर सकेंगे तो हम अपने अन्न-बल-ज्ञान-सम्पत्ति को भी कभी प्राप्त न कर सकेंगे। इसलिए हे सवित: ! तुम हमें उस अपनी मही माता के प्रति हमारे धर्म की प्रेरणा करते रहो।

शब्दार्थं — अदिति नाम अदिति नाम महीं मातरं महान् भूमि माता की वाजस्य प्रसंवे नु अन्न, बल, ज्ञान आदि की उत्पत्ति के लिए ही हम वचसा वाणी द्वारा करामहे अभिमुख करते हैं, माता बनाते हैं। यस्यां जिस अदिति में इदं विश्वं भुवनं ये सब-के-सब व्यक्ति और वस्तुएँ आविवेश समाई हुई हैं, तस्यां उसी में, उसी के प्रति सविता देवः प्रेरक प्रभु नः धर्म हमारे धर्म, कर्त्तंव्य की साविषत् सदा प्रेरणा करें।

新姓 150 mg 注 1 100 mg (一) 100 mg

305

भारमा क वा याणा पहा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२७ भाद्रपद

इमौ ते पक्षावजरौ पत्तिणो, याभ्यार्थ रक्षांश्रस्यपृहश्रस्यंग्ने। ताभ्यां पतेम सुकृतांमु लोकं, यत्र ऽ ऋषंयो जग्मुः प्रथमुजाः पुराणाः॥

—यनुः० १८।५२

ऋषिः शुनःशेपः । देवता अग्निः । छन्दः विराडार्षो जगती ।

विनय—हे अग्ने ! हे आत्मन् ! तू अपने दोनों पक्षों द्वारा सब बाधाओं को हटाता हुआ निरन्तर गति करता जाता है। तुझमें 'शवस्' और 'घृत' की, वल और दीप्ति की, कर्म और ज्ञान की, कार्य और कारण की, स्यूल और सूक्ष्म की व पृथिवी और दिव् की जो दो विभिन्न शक्तियाँ निहित हैं वे ही तेरे दो अजर पक्ष हैं, कभी जीर्ण न होनेवाले तेरे दो पंख हैं, जो कि पतत्रवाले हैं, तुझे ऊपर उड़ानेवाले हैं, उठानेवाले हैं। इनसे तू उड़ता है, सब बाधाओं को दूर करता हुआ उड़ता है, उन्नत होता है। उन्नति को रोके रखनेवाले ही 'रक्षस्' होते हैं। इन सब राक्षसों को, रुकावटों को, विघ्नों और बन्धनों को तू अपने इन दोनों पक्षों की समतील क्रिया द्वारा और सम्मिलित यत्न द्वारा काटता हुआ चलता जाता है। हे अग्ने! हम भी तेरे इन दिव्य पंखों का सहारा लेकर उड़ना चाहते हैं। हम अब अपने जीवन में कर्म और ज्ञान की ऐसी समतोलता रखते हुए बढ़ें कि इससे हमारे आगे चलने में कभी कोई रुकावट न पड़े। जब कभी हम किसी एक पार्श्व में कमी या अति करते हैं अर्थात् ज्ञान में ग्रस्त हो कमें छोड़ देते हैं या ज्ञान को भूल कर्म में बह जाते हैं, अथवा जब कभी हम इन दोनों को परस्पर सम्बद्ध नहीं रखते अर्थात् ज्ञान के अनुसार कर्म नहीं करते या कर्म से अगला ज्ञान नहीं प्राप्त करते, तभी इकावट होती है, तभी राक्षसों की जीत हो जाती है। अतः हे अग्ने ! यदि हम तुम्हारे इन दिव्य अजर पतत्री पंखों को पा सकेंगे तभी हम बिना रुकावट उन्नत हो सकेंगे और उस लोक को पहुँच सकेंगे जहाँ कि उत्तम कर्म और उत्तम ज्ञान अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं; उस 'स्कृतां लोक' को, श्रेष्ठ कर्मवाले पुरुषों के लोक को, पहुँच सकेंगे जहाँ कि पुराने प्रख्यात महाज्ञानी पहुँचते रहे हैं।

शब्दार्थ — अग्ने हे अग्ने ! ते तेरे इसौ ये अजरौ अजर पतिवणौ ऊपर उड़ानेवाले पक्षौ दो पक्ष, दो पंख हैं याभ्यां जिनसे कि तू रक्षांसि राक्षसों को अपहंसि हटा देता है, मार भगाता है, ताभ्यां उन्हीं पंखों से उ ही हम भी सुकृतां लोकं उस श्रेष्ठ कर्मों वालों के लोक को यत जहां प्रथमजाः हमसे पहले पैदा हुए पुराणाः पुराने ऋषयः ज्ञानी लोग जग्मुः पहुँचते रहे हैं पतेम हम भी उड़ें, उन्नत होते हुए पहुँचें।

निरम्ब है तुब लगत प्रवीस्त स्त्रीत को पहुँच बाओंगे, उस कुरूतों के लोक को, भएर क्षमबालों में सोब को गईब खालीए जहां कि वेलसे बहुत ऐसा तर प्राये सब जानी स्त्रीय सोप पहुँचते रहे हैं,

इश्वर्थ रागिन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२८ भाद्रपद

यदाकूंतात् समस्रुस्रोढ़ृदो <u>वा</u> मनसो <u>वा</u> संर्भृ<u>तं</u> चक्षुंषो वा । तदंनु पेतं सुकृतांसु <u>लो</u>कं यत्र ऽ ऋृषयो <u>ज</u>ग्सुः प्रथम्जाः पुरा<u>णाः</u> ॥ —यजः

—यजुः० १८।५८

ऋषिः विश्वकर्मा । देवता अग्निः । छन्दः निचृदार्षी जगती ।

विनय उस लोक को उड़ने का, उस लोक में पहुँचने का मार्ग वड़ा सहज हो जाता है, यदि किसी तरह हमारी वैयक्तिक प्रकृति उस तरफ झुक जाय, उस तरफ प्रवृत्त हो जाय, उधर चलने लगे; हठयोग की भाषा में, यदि किसी तरह हमारी कुंडलिनी शक्ति का जागरण हो जाय। क्योंकि, उस अवस्था में हम बरसती हुई ईश्वरीय शक्ति के धारण करने के योग्य हो जाते हैं। तब हमें ईश्वरीय-शक्ति का एक बिन्दु मिल जाना पर्याप्त होता है। उस एक आसानी से हमारे शक्ति-बिन्दु को ही लेकर हमारी वैयक्तिक प्रकृति (शक्ति) चल पड़ती है और हमें बड़ी आसानी ध्येय तक पहुँचा देती है। प्रभु की दया होने पर यह शक्ति-बिन्दु 'आकूत' से, आत्मिक ईक्षण व आत्मिक संकल्प से चूता है, गिरला है। इस शक्ति-बिन्दु का निपात अपनी आत्मा के आकृत से या बहुधा दूसरी किसी बलवान् महान् आत्मा (गुरु) के आकूत से हुआ करता है। यह शक्ति-निपात आकृत से आकर गुरु के हृदय से या मन से या आँख से प्रकट होता है। गुरु इस शक्ति को या तो अपने हृदय से शिष्य के हृदय में डालते हैं, या अपने मन से शिष्य के मन में, या कभी अपनी आँख से ही शिष्य की आँख में इसका संचार कर देते हैं। ऋषियों ने बताया है, आत्मा का निवास सुष्टित में हृदय में होता है, स्वप्न में मन में और जागृत में दक्षिणाक्षि में होता है। जो हो, परमगुरु परमेश्वर की कृपा होने पर 'आकृत' द्वारा नाना प्रकार से शक्ति का विनिपात हुआ करता है और अधिकारी आत्मा (शिष्य) इसे अपने में अच्छी तरह धारण, संभृत कर लेता है। धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें कि भगवान् का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त होता है। भाइयो ! यदि तुम्हें कभी कोई शक्ति-निपात प्राप्त हुआ है और तुमने उसे संभृत कर लिया है तो तुम उसे ही लेकर चल पड़ो, निःशंक होकर चल पड़ो। तब समझो तुम्हें साफ-सीधा चौड़ा मार्ग मिल गया है। निश्चय से तुम अपने अभीष्ट लोक को पहुँच जाओगे, उस सुकृतों के लोक को, श्रेष्ठ कर्मवालों के लोक को पहुँच जाओगे जहाँ कि तुमसे पहले पैदा हुए पुराने सब ज्ञानी ऋषि लोग पहुँचते रहे हैं।

शब्दार्थ यत् जो शक्ति-बिन्दु आकूतात् आत्मिक ईक्षण से, आत्मिक संकल्प से सं असुस्रोत् अच्छी तरह जुआ है, विनिपतित हुआ है, और हृदः वा या तो हृदय से, बृद्धि से मनसः वा या मन से चक्षुषः वा या आँख [आदि इन्द्रिय] से चुए हुए इसे सं भृतं तुमने सम्यक्तया धारण कर लिया है तो तत् उ इसे ही लेकर अनुप्रेत चल पड़ो, पीछे हो लो, इस तरह तुम सुकृतां लोकं उस श्रेष्ठ कर्मोंवालों के लोक को पहुँच जाओंगे यत्न जहाँ, जिस लोक को प्रथमजाः तुमसे पहुले उत्पन्न हुए पुराणाः पुराने ऋषयः ऋषि लोग जग्मुः पहुँचते रहे हैं।

मामिक शामतया द्वारा दर्मतिहीस दर्भाष

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangetr

२६ भाद्रपद

मुजार्पतेराष्ट्रितो ब्रह्मणा वर्मणाइं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। जरदंष्टिः कृतवीयो विह्नयाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्॥

--अथर्वे० १७।१।२७

ऋषिः ब्रह्मा । देवता आदित्यः । छन्दः जगती ।

विनय है प्रभो ! मेरी महत्त्वाकांक्षा यह है कि मैं पुण्यकर्म करता हुआ हजार वर्ष तक जीक्न धारण करूँ। ऐसे दिव्य जीवन बितानेवाले सिद्ध पुरुष संसार में हुआ करते हैं। मैं वैसा ही विभूति-सम्पन्न होना चाहता हूँ। मेरी अमर आत्मा अपने अमरत्व को लगभग स्थूल भरीर तक पहुँचा देगी। सर्वसाधारण लोगों के तो आत्मा और मन का भरीर पर असर नहीं होता है, किन्तु उनके भरीर का मन-आत्मा पर असर होता है। इसीलिए वे स्थूल भौतिक संसार के वृद्धिक्षय आदि नियमों के वशीभूत होते हैं और उन्हें इतनी जल्दी-जल्दी चोले बदलने पड़ते हैं। परन्तु मैं अपने-आपको ऐसे दिव्य कवचों से सुरक्षित करूँगा कि मेरे आत्मा का ही प्रभाव बेरोक-टोक स्थूल-शरीर और स्थूल-जगत् तक पड़ेगा। मैं अपने आत्मा को, कारण भरीर को, 'प्रजापित के ब्रह्म' से, ईश्वर की प्राज्ञावस्था के कवच से ढक लूँगा और अपने बृद्धि-मन आदि सूक्ष्म भरीर को 'कश्यप' की, हिरण्य-गर्भ की ज्योति से ढक लूँगा तथा अपने प्राणभरीर को उसके वर्चस् से, प्राणमय तेज से ढक लूँगा। एवं मुझमें पूरा आत्मिक वीर्य तथा मानसिक व शारीरिक वीर्य भी सञ्चित, रक्षित रहेगा। अतः मैं इतनी लम्बी जीणता की अवस्था तक भी सर्वथा समर्थ रहूँगा। मुझमें सर्वत्र गमन कर सकने की सिद्धियाँ प्राप्त होंगी और मैं हजारू वर्ष तक जीता हुआ सर्वकल्याण के सुकृत कर्म करता रहूँगा। हे जगदीश्वर ! मेरी इस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करो।

शब्दार्थ — प्रजापतेः प्रजापालक 'ईश्वर' के ब्रह्मणा महान् ज्ञानरूपी 'प्राज्ञतारूपी' वर्मणा कवच से आवृतः ढका हुआ और कश्यपस्य महासूर्य 'हिरण्यगर्भ' के ज्योतिषा प्रकाश से वर्चसा तथा तेज से ढका हुआ मैं जरिंदिण्टः बड़ी वृद्धावस्था में भी सब कर्म-सामर्थ्य रखनेवाला कृतवीर्यः सब प्रकार के वीर्यं को सिञ्चित किये हुए विहायाः विविध गमन की सिद्धि रखनेवाला सह-स्नायः हजार वर्षं की उम्रवाला होकर सुकृतः सुकृत कर्म करता हुआ चरेयम् विचरता रहूँ, जीवित रहूँ।

वैदिक विनय

308

पामात्मा का स्वर्ण

३० भाद्रपब

स पर्यंगाच्छुक्रमंकायमंत्रणमंस्ना<u>वि</u>र दे शुद्धमपीपविद्धम् ।

क्विमें नीषी पेरिभूः स्वंयम्भूयायातथ्यतोऽर्थान् व्यद्धाच्छाश्वतीभ्यः सम्राभ्यः ।।
---यजुः० ४०।८

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता आत्मा । छन्दः स्वराड् जगती ।

विनय—वह परमेश्वर तो सर्वत्र फैला हुआ है। वह अपने दीप्यमान शुक्र रूप में, सब प्रकार के शरीरों से रहित होकर, अतएव शारीरिक व्रणादि दोषों तथा स्नायु आदि बन्धनों से रहित होकर, सर्वथा शुद्ध, सूक्ष्म मल-रूप पापों से भी सर्वथा रहित, त्रिकाल में सदा-सर्वदा मुक्त रूप होकर सर्वत्र फैला हुआ है, सर्वत्र रमा हुआ है। एवं सर्वव्यापक, सर्वगत होकर वह परमेश्वर इस सब जगत् को चला रहा है, इसकी ठीक-ठीक परिपूर्ण व्यवस्था कर रहा है। शाश्वत काल से वह अपनी सनातन प्रजा के लिए, प्राणिमात्र के लिए, सब अर्थों को रच रहा है; ज्ञान, ऐश्वयं, कर्मभोग आदि सब पदार्थों को यथावत् परिपूर्ण न्याय से सबको दे रहा है और शाश्वत काल तक देता रहेगा। क्योंकि, वह कान्तदर्शी किव सर्वज्ञ है, सबके मनों को जानने और प्रेरणेवाला मनीषी है सब वस्तुओं का परिभव करनेवाला सर्वत्र सबसे ऊँचा परिभू है और स्वयमेव विद्यमान स्वाधार, आत्माश्रय, अजन्मा, स्वयंभू है। यही हमारे परम ईश्वर का स्वरूप है। हे मनुष्यो! इस स्वरूप को अपने हृदयों में बसा लो, अपने अन्तःकरण में रमा लो।

शब्दार्थं— सः वह परमेश्वर शुक्रं दीप्यमान रूप से अकायं शरीर-रहित होकर अवणम् अस्नाविरं व्रण-रहित और स्नायु-रहित होकर शुद्धम् सर्वथा शुद्ध और अपापिवद्धम् पाप से भी सर्वथा अछूता होकर परि अगात् सर्वत्र फैला हुआ है, सब तरफ व्यापा हुआ है। वह कविः कान्तदर्शी मनीषी सबके मनों का स्वामी परिभूः सबका परिभव करनेवाला, सबसे ऊँचा और स्वयंभू स्वयं विद्यमान अजन्मा परमेश्वर शाश्वतोभ्यः समाभ्यः अपनी सनातन प्रजाओं के लिए [शाश्वत काल से] अर्थान् सब अर्थों को [वेदज्ञान, ऐश्वर्यं, कर्मफल आदि सब पदार्थों को] याथातण्यतः ठीक-ठीक, यथावत्, पूर्णं न्याय से व्यवधात् विधान करता है, रचता है,

पाला वारा ने अस्तर्भान्य का पालिश

Digitized by Arya Samaj Foundation Chermarand Compositi

३१ भाइपर्व

त्रा रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषंसो हिरंण्यरथाः, सुवितायं गन्तन । इयं वो श्रास्मत् पति हर्यते मृतिस्तृष्णजे न दिव उत्सां उद्दन्यवे ॥

一港 । ४।४७।१

ऋषिः श्यावाश्व आत्रेयः। देवता मरुतः। छन्दः जगती।

विनय हे प्राणो ! तुम इन्द्रवन्त हो । आत्मशक्ति या आत्मैश्वर्यं तुम्हारे साथ रहता है। शरीर में जितने प्राण भरे रहेंगे उतनी ही इसमें आत्मशक्ति जागृत होगी। चूँकि तुम सब मिलकर शरीर का सेवन करनेवाले, प्राण-अपान आदि रूप से शरीर के अंगों में विभक्त होकर सारे शरीर को अपने सम्मिलित यत्न से धारनेवाले हो, अतः तुम्हारी वृद्धि से हमारी सर्वाङ्गीण उन्नित होती है। हम यह भी जानते हैं कि तुम्हारा रहण (संचार) हित और रमणीय दोनों है। यद्यपि संसार में प्रायः हितकर वस्तुएँ आनन्ददायक नहीं होतीं, किन्तु तुम्हारे पूरण से जहाँ बड़ा भारी हित होता है वहाँ तुम्हारे संचार से शरीर में बड़ा ही आनन्द भी अनु-भूत होता है। शरीर में प्राणों के बढ़ जाने से जो एक शक्ति का, यौवन का, उत्साह का, एक हितकारी नशे का-सा आनन्द अनुभूत होता है, उसे प्राण-साधना करनेवाले ही जानते हैं। इस-लिए हे प्राणो ! मेरा यह शरीर तुम्हें चाह रहा है। जब से मुझे तुम्हारे इस माहात्म्य का कुछ पता लगा है और कुछ अनुभव मिला है, तब से मेरा ध्यान अन्य सब बातों की तरफ से हटकर केवल इसमें लगा हुआ है कि मेरे शरीर में प्राणों का आगमन, प्राणों का पूरण कव होगा। तब से मेरी मित, मेरी कामना तुम्हारी तरफ ही दौड़ रही है। मैं देखता हूँ कि शरीर में तुम्हारे आगमन के बिना मेरा 'सुवित', मेरी उत्तम गति नहीं हो सकती। मैं देखता हूँ तुम्हारी कमी के कारण-प्राणसाधना द्वारा शरीर में तुम्हारा पूरण न हो जाने के कारण मेरी बड़ी हानि हो रही है। इसलिए हे प्राणदेवो! मैं तुम्हारे पाने का प्यासा हो गया हूँ। जैसे कि चातक आकाश की दिव्यधाराओं का प्यासा होता है या जैसे कि गर्मी के दिनों में पिपासाकुल मनुष्य 'पानी'-पानी' चिल्लाता है, उसी तरह मुझे भी अब तुम्हारे आपूरण बिना चैन नहीं मिल सकता। इसलिए है प्राणरूपी दिव्य जलो ! तुम मेरे उत्तम कल्याण के लिए आओ और मेरी पिपासा बुझा जाओ। यहं शरद् ऋतु तुम्हारे आगमन के लिए बहुत अनुकूल है; अतः इस समय तो आओ, अवश्य आओ।

शब्दार्थ - रुद्रासः हे प्राणो ! इन्द्रवन्तः आत्मैश्वर्यवाले सजोषसः साथ मिलकर सेवन करनेवाले हिरण्यरथाः हितरमणीय रंहणवाले तुम सुविताय हमारी उत्तम गित के लिए आ गन्तन आओ, हममें आओ । इयं यह अस्मत् मेरी मितः मित, इच्छा वः तुमको प्रति हयंते चाह रही है, कामना कर रही है, अतः तृष्णजे न उदन्यवे जैसे कि प्यासे चातक के लिए दिवः उत्साः आकाश से वर्षाधाराएँ आती हैं, वैसे तुम्हारे पाने के प्यासे मुझे तुम प्राप्त होओ, आओ ।

the state of the s

१. 'आपोमयः प्राणः' अर्थात् प्राण जलमय है। -- छा० उ० ६। ४। ४

शरद् की ऋतुचर्या

लक्षण—जब वर्षा समाप्त हो जाती है, आकाश बादलों से निर्मल हो जाता है तो यह वर्षा और सर्दी (हेमन्त) के मिलानेवाली बीच की ऋतु शरद् ऋतु कहलाती है। इसके महीने आहिवन और कार्तिक हैं।

महिमा—यह ऋतु वसन्त ऋतु के मुकाबिले की और उसके समान है। वसन्त से गर्मी की छमाही शुरू होती है तो इस शरद् से सर्दी की छमाही का प्रारम्भ होता है। अतः इसमें भी न तो ऋतु अतिगर्म होती है और न अतिशीत। बड़ा सुहावना मौसम होता है। मीठा-मीठा शीत पड़ना प्रारम्भ होता है। सब वृक्ष-वनस्पितयाँ वसंत में नवांकुर से पल्लिवत और पुष्पित होती हैं तो शरद् में ये वनस्पितयाँ पकती हैं, फलयुक्त हो परिपक्वास्था में आ जाती हैं। वसन्त में कफ कुपित होता है तो इसमें पित्त कुपित होता है। हठयोगी लोग इस ऋतु में, इस शीत छमाही के प्रारम्भ में भी षट्कमों द्वारा शरीर-शुद्धि किया करते हैं, विशेषतया इसमें पित्त की अधिकता का निवारण करते हैं, जैसे कि वसन्त में कफ का निवारण। एवं वसन्त के समान यह ऋतु भी प्राणसम्बन्धी कियाओं के अभ्यास करने के लिए अति उत्तम है। प्राणायाम का नया प्रारम्भ तथा प्राणोत्थान के अभ्यास इस ऋतु में करना बहुत लाभदायक होता है।

वर्षा ऋतु के उपद्रवों के हट जाने के कारण इस ऋतु का लोग बड़े उत्साह से प्रारम्भ मनाते हैं, स्वागत करते हैं। प्राचीन समय में लोग इस शरद् ऋतु से यात्रा का, राजा लोग चढ़ाई आदि का, प्रारम्भ किया करते थे। वर्षा ऋतु से सीले हुए या जंग लगे हुए या अन्य प्रकार से खराब हुए अपने हथियार, औजार आदि सब वस्तुओं को तथा अपने घर को ठीक-ठाक और संस्कृत किया करते थे। हमारे देश के प्रसिद्ध दशहरा और दीपावली त्यौहार भी इस ऋतु में आते हैं।

गुण-शरद् ऋतु उष्ण-पित्तकारक तथा मनुष्यों में बल उत्पन्न करनेवाली है। इस ऋतु में जठराग्नि और बल मध्यम अवस्था में होते हैं।

पथ्यापथ्य वर्षा में कुपित होनेवाला वायु यद्यपि इस शरद् ऋतु के आने पर शान्त हो जाता है, किन्तु वर्षा ऋतु के जल तथा वनस्पितयों के प्रयोग से शरीर में संचित हुआ पित्त इस ऋतु में आकर प्रकुपित हो जाता है। इसिलए इस ऋतु में पित्तनिवारक उपाय करने चाहिए। इस समय की धूप सेकना भी अच्छा नहीं है। इससे भी पित्त-प्रकोप की संभावना होती है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जबतक जाड़ा अच्छे रूप में न पड़ने लग जाय, तबतक भोजन भी अल्पमात्रा में करना चाहिए। पित्त प्रकुपित होकर विषम जबर (मलेरिया) इस ऋतु में होता है। इसके लिए निम्बू की शिकंजवी, तुलसी की चाय, आदि का सेवम करना चाहिए। पित्त निकालने के लिए पित्त-विरेचन लेने चाहियें (जैसे आमलकी चूर्ण मधु के साथ या चिरायता आदि तिक्त पदार्थ का क्वाथ लेवें)। पित्त-विरेचन के लिए यह ऋतु बहुत अच्छी है।

पित्तकारक भोजन अर्थात् खट्टे, तीक्ष्ण, गरम पदार्थं, यथा—िमर्च, मसाला, तैल तथा दही आदि के सेवन से बचना चाहिए। पित्तहर मधुर, कसैले, कड़वे रस तथा हल्के शीतल भोजन खाने चाहियें। घी और साठी के चावल विशेष हितकारी होते हैं। दूध, गेहूँ, जौ, मूँग, ईख एवं मिश्र कर्पूर आदि का सेवन, जलाशय व चाँदनी का सेवन इस ऋतु में हितकर है।

282

आश्विन (कन्या)

he part the puller substate page

का

prefine p

प्राणदायक व्यायाम

गुर्वो और कटिप्रदेश को स्वस्थता प्रदान करनेवाला

प्रारंभिक स्थिति में खड़े हो जाइए, भुजाएँ नीचे लटकी हों और हाथ खुले हुए हों। टाँगों की मांसपेशियाँ तान लीजिए और इस सारे व्यायाम में घुटनों व टाँगों को कभी झुकने मत दीजिए। दोनों भुजाओं को सामने लाइए और इन्हें सिर के ऊपर पूरी लम्बाई में खड़ा कर लीजिए। अब इसी स्थिति में सिर को हाथों के बीच रखते हुए अपने को इस तरह आगे झुकाइए कि आपके हाथ नीचे आकर पैर के अंगूठों को छू लेवें। प्रारम्भिक स्थिति में लौट आइये, अंगों को ढीला छोड़ दीजिए और इस व्यायाम को फिर कीजिए। जब भुजाओं को सिर के ऊपर खड़ा कर रहे हों तो अन्दर पूर्ण दीर्घ स्वास लीजिए, और जब पैरों को छूने के लिए सामने झुक रहे हों तो स्वास को बाहर छोड़िए।

इस व्यायाम को करते हुए अपना मन गुर्दों और किटप्रदेश पर केन्द्रित कीजिए और आपके गहरे और दीर्घ स्वास से इन अंगों को जीवन मिल रहा है ऐसा चित्रित कीजिए। इसी के अनु-सार ध्यान के शब्द निश्चित कर लीजिए। मेरे गुर्दे ठीक काम रहे हैं यह ध्यान कीजिए।

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आषाढ़ तथा पौष के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

THE STATE OF STREET, S

वैदिक विनय

17

484

1 70 7012 1000

IN PART WHILE MADE OUR DE CAMPARATE DE PROPERTE DE PROPERTE

किन्धारा भियं के वस्या के प्रमार्थातं - त्रीत

१ आशिवन

उद्दुयं तर्मसुस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवता सूर्यमर्गनम् ज्योतिरुत्तमम् ।।

्राप्तिः प्रस्कावः काण्वः । देवता सूर्यः । छन्दः निचृदनुष्टुप् ।

विनय हमें ऊपर-ऊपर, अधिक-अधिक प्रकाश में उठना है। इस अन्धकारमय अवस्था से निकल परमज्योति तक पहुँचना है। हमें अपनी यह वर्तमान अवस्था अन्धकारमय इसलिये नहीं प्रतीत होती है चूँकि हमें उसके अंतिरिक्त अभी और किसी प्रकाश का पता ही नहीं है। यदि हमें इससे अगला ही प्रकाश दीखने लगे तो कम-से-कम इस वर्त्तमान अंधेरी दशा से वाहर निकलने को हमारा जी अवश्य छटपटाने लगे। हाँ, उस अन्तिम ज्योति तक बेशक हम धीरे-धीरे ही पहँचेंगे। एकदम उस परमज्योति को तो हमारी आँख सह नहीं सकेगी; अभी उस चकाचौंध करनेवाले महाप्रकाश के दृष्टिगोचर हो जाने पर तो शायद हमारी अनभ्यस्त निर्वल दुष्टि अन्धी हो जाय या हम पगला जायँ। अतः हमें क्रमशः एक के बाद एक उच्चतर प्रकाश को देखते हुए ऊपर जाना होगा। हम इस तामसिक दशा को छोड़ राजसिक अवस्थाओं से गुजरते हुए सत्त्व के प्रकाश में पहुँचेंगे। इस जडवाद (नास्तिकता) और भोगवाद के अन्धकार से उठ देववाद और यज्ञवाद के विविध प्रकाशों को देखते हुए उस सर्वीच्च प्रकाश में जा पहुँचेंगे जहाँ एकेरवरवाद और सर्वोदयवाद का अखण्ड राज्य है। जड़ता, स्थलता के पाथिव अन्धकार से उठ-कर सूर्य-िकरणों से प्रकाशित सूक्ष्मतर विस्तृत अन्तरिक्ष की सैर करते हुए उस सूर्य ही को पा लेंगे जिसकी कि ज्योतिर्मय किरणों से अन्य सब लोक प्रकाश पा रहे हैं। हे प्रभो ! हमपर ऐसी कृपा करो कि हम इस अन्धकारमय प्रकृतिग्रस्त अवस्था से उठकर नाना देवों को दिखलाने-वाली अपनी आत्मिक ज्योति को विविध प्रकार से देखते हुए अन्त में तुम्हारी उस परमात्म-ज्योति को पा लेवें, जिसमें कि तुम सब देवों के देव और सब ब्रह्माण्ड के प्रेरक महान् सूर्य होकर अपने अनन्त अपार अखण्ड प्रकाश में सदैव जगमगा रहे हो, सदैव देदी प्यमान हो रहे हो।

शब्दार्थ — वयं हम तमसः परि अन्धकार से ऊपर उत् ऊँचे उठकर उत्तरं ज्योतिः अधिक उच्च, उच्चतर, प्रकाश को पश्यन्तः देखते हुए उस देवता देवं सब देवों के देव, सब प्रकाशों के प्रकाशक सूर्य सर्वप्रेरक, महासूर्य को उत्तमं ज्योति: उस सबसे उत्तम, उच्चतम ज्योति को अगन्म प्राप्त करें।

388

२ आश्विन द्वा<u>वि</u>मौ वातौ वात् त्रा सिन्धोरा पंरावतः। दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥

—ऋ० १०।१३७।२ उत्तर करियाः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे मनुष्य ! तुझमें दो वायु चल रही हैं। तुझमें श्वास और प्रश्वास रूप में प्राण की दो तरह की गति हो रही है। श्वास द्वारा बाहर का शुद्ध वायु तेरे अन्दर के सिन्धु, स्पन्दनशील हृदय, तक आता है और प्रश्वास द्वारा अन्दर का दूषित वायु बाहर 'परावत्' तक पहुँचता है। हमारे अन्दर हृदय वह 'सिन्धु'-स्थान है जहाँ कि सैकड़ों रुधिरवाहिनी नाड़ीरूपी नदियाँ आ-आकर मिलती हैं, और बाहर 'परावत्' वह वायुमण्डल नामक स्थान है जो कि वायु का अपार अटूट भण्डार है। एवं ये जो परावत् से सिन्धु तक और सिन्धु से परावत् तक दो वायु हममें निरन्तर चल रही हैं, ये ही हमारे जीवन का आधार हैं। क्योंकि इनमें से पहली वायु, रवास, हमारे सिन्धु में बाहर से प्राण और नवजीवन को लाती है और हमारे रुधिर के एक-एक कण को नव-वल से संयुक्त कर देती है; और दूसरी वायु हमारे रुधिर में से, सारे शरीर में से, सब मल, दोष, विकार को बहा ले जाती है और बाहर परावत् में फेंक देती है। एवं हमारा जीवन बढ़ रहा है, हम नित्य अधिक-अधिक बलवान् और अधिक-अधिक नीरोग होते जा रहे हैं। पर हे मनुष्य! यह द्विविध प्राणिकया केवल तेरे भौतिक जीवन का सिद्धान्त नहीं हैं किन्तु तेरे मानसिक और आत्मिक जीवन का रहस्य भी इसी में है। तू जानता नहीं है कि सब महामना महापुरुष अपने श्वास द्वारा केवल शारीरिक शक्ति को नहीं किन्तु उत्साह, धैर्य, बल, सत्य, प्रेम आदि सब मानसिक और आत्मिक सद्भावों को अन्दर ले रहे हैं, तथा प्रश्वास द्वारा सब मन्दता, कायरता, अशक्ति, झूठ, घृणा आदि सभी असद्भावों को बाहर निकाल रहे हैं और इसीलिये वे महान् हुए हैं। प्राण के साथ मन ऐसा जुड़ा हुआ है कि तू स्वास के साथ जो सोचेगा वह तुझमें आ बसेगा और जिसे प्रश्वास के साथ ध्यान करेगा वह बाहर निकल जायेगा। जरा अपनी प्रार्थना में तू इस सिद्धान्त का उपयोग करके देख। जिसे बसाना चाहता है उसे श्वास के साथ चित्रित करके देख और जो अशुभ विचार टलता ही नहीं है उसे उसके आने पर बार-बार प्रश्वास के साथ बाहर करके देख, तो तुझे निस्संदेह अद्भुत सफलता मिलेगी। एवं अपने व्यायाम में, प्राणायाम में और प्रार्थना में तू इस जगद्व्यापक जीवन-सिद्धान्त का सदा उपयोग कर। तू देख कि तू अपनी इस द्विविध प्राणिकया द्वारा अनन्त शक्ति-भण्डार से जुड़ा हुआ है और तू इस भण्डार से अपने प्रत्येक स्वास द्वारा यथेच्छ बल पा सकता है और अपने प्रत्येक प्रस्वास द्वारा उस पवित्रताकारक महापारावार में अपनी तुच्छ मलिनतायें फेंककर सदा पवित्र होता रह सकता है। अतः हे मनुष्य ! तू उठ और अब अपने प्रत्येक स्वास और प्रस्वास के साथ नित्य उन्नत और नवजीवन-सम्पन्न होता जा।

्र शब्दार्थ — इसौ द्वौ ये दो प्रकार की वातौ वायुएँ वातः बहती हैं, एक वायु आ सिन्धोः हृदय तक चलती है और दूसरी आ परावतः बाहर के वायुमण्डल तक चलती है। अन्यः उनमें एक ते तेरे लिए दक्षं बल आवातु अन्दर बहा लाए और अन्यः दूसरी यद्रपः जो दोष-बुराई है. 135 🗆

उसे परावातु बाहर बहा ले-जाय।

राव येना वास्वारमप भाग

३ आश्विन

त्रा वात वाहि भेषुजं वि वात वाहि यद्रपेः। त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयेसे।।

─ऋ० १०।१३७।३

ऋषिः गोतमः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय—हे वायु! हे प्राण! तुम सर्व औषधरूप हो, तुममें सब-की-सब दवाइयाँ मौजूद हैं। मैं तो यूँ ही इन बाहर की नाना प्रकार की दवाइयों के खाने-पीने के चक्कर में पड़ा हुआ हूँ। यदि मैं, हे तात! तुम्हारा ठीक तरह सेवन करूँ, तुम्हारी शक्ति का उपयोग करूँ, तो मुझे कभी किसी दवा की जरूरत न हो। संसार के ६० प्रतिश्वत रोगी इसीलिए रोगग्रस्त हैं चूँकि वे ठीक तरह श्वास लेना नहीं जानते तथा सर्वोषधमय तुम्हारा लाभ उठाना नहीं जानते। यदि हम ठीक प्रकार श्वास लेवें तो अन्दर आता हुआ श्वास ही हमारा दिव्य औषधपान हो और बाहर जाता हुआ प्रश्वास हमारे सब रोग-मल निकालनेवाला होता रहे। यह जो कहा जाता है कि देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार हैं वे और कोई नहीं हैं, वे नासत्यौ (नाक से पैदा होनेवाल) अश्वनौ, ये श्वास-प्रश्वास या प्राणापान ही हैं जिन्हें इड़ा-पिंगला, चन्द्रप्राण-सूर्यप्राण आदि अन्य रूपों में भी देखा जाता है। इस प्राणापान के नियमन द्वारा संसार के सब रोगों की दिव्य और अमोघ चिकित्सा हो जाती है। मैं यूँ ही बाहर के वैद्यों को खोजता-फिरता हूँ, जबकि असली दिव्य वैद्य मेरे अन्दर ही बैठे हुए हैं। सब औषध मेरे अन्दर मौजूद हैं, मैं इन्हें बाहर कहाँ ढुंढता हूँ?

और हे प्राणो! तुम तो देवदूत हो; हमारे अन्दर देवदूत होकर चल रहे हो, हमारे अन्दर सब देवों के सन्देशों को लाकर सुनाते हुए सदा चल रहे हो। हम प्राणोपासना से रहित, स्थूलरत लोग बेशक तुम्हारे इन सूक्ष्म देव-संदेशों को न सुनते हों अतएव तुम्हारी दिव्य चिकित्सा से वंचित रहते हों, परन्तु जो तुम्हारे उपासक हैं वे तो अपने प्राण में सूक्ष्म रूप से चलनेवाले सब पृथिवी, अप, तेज, आदि देवों के सन्देशों को सुनते हैं। शरीर की सब हरकतों व चेष्टाओं के प्रेरक और नियामक वात! हे प्राण! शरीर में दोष उत्पन्न होते ही तुम तो हममें दिव्य प्रेरणायें करते हो, शरीर को विशेष प्रकार से हिलाने-डुलाने व चेष्टा करने की प्रेरणा तथा विशेष प्रकार के मोजन-पान-आच्छादन की प्रेरणा पैदा करते हो। यदि हम उन्हें सुना करें, तुम द्वारा आए उन देवों के संदेशों को सुन लिया करें और उनके अनुसार आचरण कर लिया करें तो हमारे सब रोगों की चिकित्सा हो जाया करे या बहुत अवस्थाओं में तो हम रोग के उत्पन्न होने से ही बच जाया करें। पर हम उन्हें सुनते नहीं हैं। दूसरी तरफ जो सुननेवाले हैं

वे अपनी नासिकाओं में चलनेवाले तुम्हारे 'स्वरों' को भी सुनते हैं।

शब्दार्थ—बात हे प्राण ! भेषजं आवाहि मुझमें औषध को बहा लाओ और वात हे प्राण ! यद् रपः मुझमें जो दोष-मल है उसे वि वाहि मुझसे बाहर बहा ले-जाओ। त्वं तुम हि निश्चय रूप से विश्वभेषजः सर्व औषधरूप हो, देवानां दूत ईयसे तुम देवताओं के दूत होकर चल रहे हो।

21-241 201 2mkna & 2/18/14

Digitized by Arya Samaj Foundation Chenne

४ आश्विन

उदंगाद्यमादित्यो विश्वेन सहसा सह। दिषन्तं महां रुन्धयुन्, मो ऋहं द्विषते रिधम्।।

一港० १।५०।१३

ऋषिः प्रस्कण्वः काण्वः । देवता सूर्यः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-मनुष्य तबतक अहिंसक नहीं हो सकता, जबतक वह आस्तिक न हो, जब-तक कि उसे परमातमा के परिपूर्ण और अटल न्याय में विश्वास न हो। नास्तिक सोचता है - दुष्ट अत्याचारी का मैं क्यों न विनाश कर डालूँ जब कि इसके सिवाय और कोई इलाज नहीं है ? परन्तु आत्म-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इस तरह नहीं सोच सकता । परमात्म-सूर्यं उदय हो जाने पर सब दृश्य पलट जाता है। तब दीखता है कि किसी की हिंसा करना उसके वशंगत हो जाना है, उसके काबू चढ़ जाना है। शत्रु को अपने काबू करने का एकमात्र उपाय तो उसे अपनाना, उसतक अपनी आत्मा को फैला लेना ही है। आत्मप्रकाश फैल जाने पर संसार में कोई अनात्म नहीं रहता, कोई शत्रु या द्वेष नहीं रहता। देखते क्यों नहीं, अपने परिपूर्ण तेज और वल के साथ वह 'आदित्य' इस विश्व में उदित हुआ है, अपनी परिपूर्ण सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के साथ वह अखण्ड राजा इस विश्व का शासन कर रहा है। वह तो अपने उदित होने, जागृत रहने मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की ठीक-ठीक व्यवस्था कर रहा है। उसका सर्वज्ञ तेजस्वी कानून स्वयमेव स्वभावतः सब दण्डनीयों को दण्ड देता हुआ, सब हिंसनीयों का हिंसन करता हुआ निरन्तर चल रहा है। तो फिर महाअज्ञानी और मूर्ख मैं इस संसार में किसी को मारने-वाला कौन होता हूँ ? सचमुच किसी की हिंसा करना ईश्वरीय 'कानून को अपने हाथ में लेना है'। हिंसा करना केवल ईश्वरीय व्यवस्था में दखल डालना नहीं है किन्तु उस व्यवस्था (कानून) का अपराधी बनना भी है। इसलिए उसे उदय हुआ देख लेने पर, उसे सब दंडनीयों का ठीक-ठीक निरन्तर दण्डिवधान करता हुआ देख लेने पर, मैं तो अब निश्चिन्त और शांत हो गया हूँ। मैं अब किसी की हिंसा करने की मूर्खता नहीं कर सकता। मैं देखता हूँ कि मैं उसके सच्चे शासन में यदि कुछ सहायता कर सकता हूँ, उसकी दुब्टों, पॉपियों, अत्याचारियीं के इलाज में कुछ सहायता कर सकता हूँ, तो वह मैं अहिंसा द्वारा, अपने आत्मा के विस्तार द्वारा ही कर सकता हूँ। इस तरह अहिंसा की शरण में पहुँचकर मैं यह भी देखता हूँ कि अब मैं कभी किसी का वशंगत, अधीन व गुलाम भी नहीं बन सकता। सचमुच किसी का 'रेंधन', हिंसा करना उसके वशंगत होना है।

शब्दार्थ देखो, अयम् यह आदित्यः आदित्य, परम आत्मसूर्यं मह्यं मेरे लिए द्विषन्तं शत्नु को, दुष्ट अत्याचारी शत्रु को रंध्रयन् नाश करता हुआ, वशवर्ती करता हुआ विश्वेन सहसा सह अपने सम्पूर्णं तेज व बल के साथ उद् अगात् उदित हुआ है, इसलिए अहम् में द्विषते शत्रु की मो मत रधम् हिंसा करूँ, शत्रु के वशवर्ती न होऊँ।

अस्तायं - में में जिल्लाकाः असे जिल्ला के अधनाम में संध निरात हो। और जिल्लामू में

वैदिक विनय

SINEIS OPPRIS

= 770

सप्यात्त्र गवशा का काइमा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र आश्विन

जिह्नाया त्राप्टे मधुं मे जिह्नामूले मधूलकम् । ममेद<u>इ</u> क्र<u>तावसो</u> ममं चित्तमुपायसि ॥

—अथर्व० १।३४।२

ंऋषिः अथर्वा । देवता मधुवनस्पतिः । छन्दः अनुष्दुप् ।

विनय—मैं माध्युर्य-प्राप्ति की साधना में लगा हुँ। संसार की प्रत्येक वस्तु के सेवन द्वारा मैं अपने में मधुरता बसाना चाहता हूँ। हे माधर्य ! तुम मेरे सम्पूर्ण जीवन में घुल जाओ और मेरे सम्पूर्ण जीवन को माधुर्यमय कर दो। मैं वाणी से मीठा ही बोलूँ। मेरी जीभ के अग्रभाग में मधु हो और मेरे जीभ का मूल और भी अधिक मधु से भरा हो। है मधुमय प्रभो ! माधुर्यं को न समझनेवाले मनुष्य केवल काम निकालने के लिए भी मधुरता का आश्रय लेते हैं। अतः वे ऊपर के व्यवहार में, दिखावट में, मधुरता ले-आना काफी समझते हैं। वे जिह्वा-मूल में, अन्दर-अन्दर द्वेष रखते हुए भी जिल्लाग्र में प्रेम और माधुर्य ही प्रकट करते हैं। पर उन्हें मालूम नहीं कि ऐसे घोखें के माध्यें से तो कटता ही लाख दर्जे अच्छी है। ऐसे झूठे माध्यें से वास्तव में कोई काम भी सिद्ध नहीं होता। वे बेचारे माधुर्य की असली अपार शक्ति को, मैत्री के महाबल' को, नहीं समझते। अतः मेरी वाणी से तो जो प्रेममय मधु झरा करता है वह सदा मेरे वाणी-मूल से, मेरे हृदय से, मेरे प्रेमभरे मानसस्रोत से ही आकर झरता है। मेरा एक-एक कर्म भी मध्मय पुष्पों को बरसाता है। हे माध्यं ! तुम मेरी प्रत्येक चेष्टा में, प्रत्येक हरकत में, प्रत्येक व्यवहार में न केवल समाए हुए रही, अपितु मेरी प्रत्येक सोच में, प्रत्येक विचार में, प्रत्येक निश्चय में तुम्हारा वास हो। मेरे अहर्निश का एक-एक संकल्प भी मधुमय हो। हे मधु ! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्तः करण में ऐसे रम जाओ कि मेरा चित्तप्रदेश भी इससे अव्याप्त न रहे, अर्थीत् मेरी एक-एक वासना भी माधुर्य से वासित हो जाय और मैं अपनी स्मृति व स्वप्न में भी कभी कोई द्वेष, अमैत्री व कट्ता का स्वप्न तक न ले सकूँ। हे मेरे प्रेम व ज्ञानस्वरूप प्रभो ! मैं तुम्हारे मध्रूप का उपासक हुआ हैं।

शब्दायं में मेरी जिह्नायाः अग्रे जिह्ना के अग्रभाग में मधु मिठास हो, और जिह्नामूले जिह्ना के मूल में मधूलकम् और भी अधिक मिठास, मिठास का झरना हो। हे मधु ! तू इत् अह अवश्य ही मम मेरे कतौ प्रत्येक कमें में, प्रत्येक बुद्धि में असः विद्यमान रह और तू मम मेरे चित्तं अन्तःकरण के चित्तप्रदेश तक उपायिस पहुँच जा, व्याप्त हो जा।

हुए सहायता कर सकता है. ता वह में ओह्या बारा, अपने आस्या के विस्तार द्वारा हो कर सकता है। इस तरह लेहिया, की गरण में पहुंचकर में गत भी देवता है कि सम में कथी किसी का नव्यत, वर्धान व सुनाध भी नहीं यह सकता 1 सम्मन किसी का रेगन, हिसा करना उसके

वैदिक विनय

ENIONIN SE

१. 'मैत्र्यादिषु बलादीनि'।—यो त दर्शित्र के मिलक के मार्थ के मार्थ करता करता है है

वर्ण्यान की प्राप्त

६ आश्विन

यन्मन्यं<u>से</u> वरेण्यमिन्द्रं द्युक्षं तदा भर । विद्याम तस्यं ते वयमकूपारस्य ट्रावने ॥

一ऋ० प्राइहार

ऋषिः अत्रिः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृदनुष्टुप् ।

विनय संसार में मनुष्यों के पास अन्नभण्डार, पशु, पुत्र, यान, सामान, मुद्राएँ (रुपया-पैसा), प्रतिष्ठा, प्रभाव, साख आदि नाना प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं और यह भी ठीक है कि इस धन-ऐश्वर्य द्वारा ही संसार के बड़े काम चल रहे हैं, सुख भोगे और भुगाए जा रहे हैं। पर ऐसे लोग भी बहुत हैं जिनका यह धन उन्हें सुखी और अच्छा बनाने की जगह उन्हें दु:खी और अवनत कर रहा है। धन के कारण उनके शरीर, मन और आत्मा निर्बल होते जा रहे हैं। ऐसे भी हैं जिनका धन उनके ही नहीं किन्तु अन्यों के भी विनाश का कारण हो रहा है। ऐसे धन को पाकर हम क्या करेंगे? यह वरेण्य धन नहीं है। इसका तो न होना अच्छा है। एवं कइयों का धन इतना निस्तेज होता है कि यदि वह उन्हें हानि नहीं पहुँचाता है तो कम-से-कम उन्हें लाभ भी नहीं पहुँचाता। उनके धन में शक्ति नहीं होती, वह उनके उपयोग में नहीं आता या नहीं आ सकता। वह ऐसा ही है जैसा कि मिट्टी का ढेर। ऐसे धन को प्राप्त करके हम क्या करेंगे? अत: हमें तो अपने वरेण्य और द्युतिवाले धन का ही दान करो।

पर इस जिटल संसार में ऐसे सच्चे धन का पता पाना हमारे लिए लगभग असंभव है। पिरिमित ज्ञानवाला मनुष्य यह कहाँ तक जान सकता है कि यह धन कैसा है ? इसीलिए हे परमेश्वर! तुम्हीं कुछ ऐसा करों कि हमारे पास वरनेयोग्य और तेजस्वी धन का ही आगम हो। तेरी समझ ही निर्भ्रान्त है, पक्की है। अतः हम तो कहते हैं कि तू जिसे सच्चा धन समझता है उसे ही हमारे पास आने दे। जो धन वरणीय नहीं है, जो तेजोरिहत है उस कुत्सित धन से हम अपने को भरना नहीं चाहते। ऐसा धन चाहे कितनी मात्रा में हमारे सामने आए, चाहे कितने प्रलोभक सुन्दर रूप में हमारे सामने आए, उसे हम कभी पाना नहीं चाहते। उससे हम बचना चाहते हैं। ऐसा कुत्सित धन हमारे पास जमा न हो, अतः तुम ही ऐसा करों कि हमारे पास वही धन खिंचकर आए, वही धन संचित हो जो कि वरनेयोग्य है, जिससे हमारे शरीर, मन, आत्मा की वास्तविक उन्नति हो, जिससे सब लोगों का कल्याण हो और जो कभी निस्तेज, निर्थंक और भाररूप न हो। हे परमैश्वयंवाले! तुझ द्वारा हम सदा ऐसे ही धन को प्राप्त करना चाहते हैं।

शब्दार्थ — इन्द्र हे परमेश्वर ! यत् जिसे तू वरेण्यं वरते योग्य और युक्षं तेजोयुक्त ऐश्वर्यं मन्यसे मानता है तद् उसे आभर हमारे लिए ला, जिससे कि वयं हम ते तेरे तस्य उस अकूपारस्य अकुत्सितपूरण, जिससे अपने को भरना कुत्सित न हो ऐसे दावने दान को विद्याम प्राप्त कर सकें।

388

ELECTE OFFICE

भ ल्याणकारी एचवर-प्रवाह

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangoth

७ आश्विन

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सांसः सद्मिताः।
तिभिर्मे सर्वैः संस्रावैधनं सं स्रोवयामित ।।

-अथर्व० १।१५।३

ऋषिः अथर्वा । देवता सिन्धवः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-सदा बहनेवाली नदियों को देखो ! ये अक्षीण स्रोतों से निकलती हैं, अत: इनका बहना कभी बन्द नहीं होता। स्रोतों से सदा निरन्तर नया-नया जल निकलता आता है और ये नदियाँ निरन्तर अप्रतिरुद्ध गति से बहती चली जा रही हैं। नदी के प्रत्येक स्थान पर प्रतिक्षण नया-नया जल भरता जाता है और वहाँ का पहलेवाला जल आगे बढ़ता जाता है। इसी तरह मनुष्य-संसार में धन का प्रवाह भी निरन्तर बह रहा है। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास धन पहुँच रहा है। कोई धनराशि किसी-किसी के पास और कोई किसी दूसरे से किसी और के पास जा रही है। एवं हमारे मनुष्य-समाज में नाना प्रकार से धन की धाराएँ बह रही हैं। जैसे नदी-प्रवाह को रोक लेने से रुका हुआ पानी सड़ने लगता है और नाना रोगों को पैदा करता है, वैसे ही जिस मनुष्य-समाज में लोभी, लालची अपना ही पेट भरनेवाले या कंजूस लोग धन के प्रवाह को अपने यहाँ रोके रखते हैं तो उस समाज में धन-वैषम्य के कारण नाना सामाजिक रोग और उपद्रव प्रकट होते हैं - जमीं धारों और किसानों, स्वामियों और श्रमियों, अमीरों और ग़रीबों के झगड़े उठ खड़े होते हैं और हड़ताल, अत्याचार व क्रान्तियाँ जन्म पाती हैं। सारा राष्ट्रीय शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है। इसलिए हे प्रभो ! मैं तो नदी के प्रवाह की तरह अपने पास आये धन को आगे-आगे प्रवाहित करता जाता हूँ। उसे अपने पास रोकने की मूर्खता नहीं करता। सब तरफ से आये धनों को रुपये-पैसे से लेकर आत्मिक ऐश्वयों तक के सब प्रकार के धनों को सब तरफ आगे-आगे प्रवाहित करता जाता हूँ। हे नाथ ! सब धन तेरा है। मैं तो केवल तुझसे आते हुए ऐश्वर्य-प्रवाह को लेनेवाला और इसे आगे पहुँचानेवाला हूँ। क्षण-भर जो मेरे पास हरेक नये धन के रूप में ताजा जल पहुँचता है उससे ही मुझे तो मेरी पूर्ण पुष्टि मिलती जाती है। यही धनों का उपभोग है। धन को रोक रखने से तो यह हमें पुष्टि नहीं देता, किन्तु बिगड़कर, सड़कर हमारे साथ सारे समाज को हानि पहुँचाता है। अतः हे नाथ ! मैं तो तेरे प्रत्येक ऐश्वर्य को ताजा-ताजा उपभोग कर उसे आगे-आगे चलाता जाता हूँ, जिससे कि मुझे तुझ अक्षीण स्रोत से अगला-अगला नित्य नया ऐश्वर्य-जल मिलता रहे, और यह प्रवाह मुझे सर्वप्रकार से विकसित और पुष्ट करता हुआ मुझ द्वारा आगे-आगे भी बहता ही, बहता ही जाये। 1 d water

शब्दार्थ — ये जो सदं अक्षिताः सदा चलते रहनेवाले, कभी बन्द न होनेवाले नदीनां उत्सासः नदियों के स्रोत संस्रवन्ति निरन्तर बहते हैं तेभिः मे सर्वेः संस्रावेः उन्हीं अपने सब प्रवाहों के साथ धनं में अपने धन को संस्रावयामिस लगातार प्रवाहित करता जाता हूँ।

350

213E19 03F-

निविधा प्राकारी

Digitized by Arya Samaj Foundation Che

५ आश्विन

गार्यन्ति त्वा गायत्रिणो ऽचैन्त्युर्कमुर्किणेः। ब्रह्मार्णस्त्वा शतकतो उद्वंशिमेव येमिरे॥

819×9109 035

─ऋ० १।१०।१

ऋषिः मधुच्छन्दाः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराडनुष्टुष् ।

विनय हे भगवान् ! जिसने जिस रूप में तुम्हारी महिमा का अनुभन्न किया होता है वह उसी रूप में तुम्हारा वर्णन करता है और उसी रूप में तुम्हें देखता है। तुम तो शतऋतु हो, तुम्हारा अनन्त ज्ञान, कर्म और गुण संसार में सैकड़ों प्रकार से प्रकट हो रहा है, अनुभूत हो रहा है। अतः प्रत्येक मनुष्य तेरा भजन अपने-अपने अनुभव के अनुसार भिन्न-भिन्न तरीके से कर रहा है। भिन्न-भिन्न तरह से तुझे अनुभव कर भिन्न-भिन्न प्रकार से ही सब कोई तुझसे मिलने का तेरी तरफ पहुँचने का यत्न कर रहा है। कोई गा-गाकर तुझसे अपनी समीपता करना चाहता है, तो कोई इसके लिए स्तुति-पाठ करता है, या ध्यान करता है। यह सब शतकतो ! अपने-अपने तरीके से तेरी ही अनुभूति का प्रकाशन करना है, अपने-अपने तरीके से तेरे ही झण्डे को ऊँचा करना है। अरे, ये नाना मत-मतान्तरवाले, ये नाना तरह से उपासना करनेवाले इन सब तरीकों में तेरी ही महिमा को, तेरे ही प्रचार को क्यों नहीं अनुभव करते ? ओह, तू तो इन सब में है। सचमुच, मुग्ध करनेवाले साम के दिव्य गायनों में तू है, गंधवों की वाणी में तू है, और मस्ती से गाई जाती हुई भक्त की सुरीली तानों में तू है। उपासक के अनवरत जप में तू है, सच्चे व्याख्याता के व्याख्यान में तू है, और अडोल आसन लगाकर बैठे योगी के एकतान ध्यान में तू है। सब मन्त्रों में, सब सन्तों की वाणी में, सब प्रकार के भजनों में तू है। क्योंकि इन सभी साधनों से तेरा ही भक्तवंश बढ़ता है, जगत् में तेरी भक्ति का प्रसार होता है। ये सब भजन-साधन और कुछ नहीं हैं, ये सब नाना प्रकार से उठाए गए तेरी महिमा के रंगबिरंगे झण्डे हैं। अहा ! देखने योग्य दृश्य है ! संसार के सब ज्ञानी पुरुष तेरे सम्मान के लिए, तेरी महिमा को जैंदा उठाने के लिए इन अपनी विविध प्रकार की भजनरूपी तरह-तरह की व्वजाओं को ऊँचे उठाए हुए चल रहे हैं; सभी ज्ञानी पुरुष तेरे सम्मान में अपने-अपने ध्वजादण्ड उठाए चले जा रहे हैं। अाहा, यह क्या ही दर्शनीय दुश्य है ! ाब जीवन मान-समान है जनक कि हनते गहा का प्राच

शब्दार्थ-- गायतिणः साम-गान करनेवाले त्वा तेरे ही गायत्ति गीत गाते हैं अकिणः मन्त्रों, ऋचाओं से स्तुति करनेवाले अकें तुझ देव का ही अर्चन्ति पूजन करते हैं, ब्रह्माणः एवं सब जानी लोग शतकतो हे असंख्य प्रकार की प्रज्ञा व कर्मोवाले ! त्वा तुझे ही, तेरी महिमा को ही चंगं इव व्वजादण्ड की तरह उच्येमिरे केंचा उठाते हैं।

वैदिक विनय

FRRE

श्री की महती भाडमा

हं आश्वनं

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धयां हूयते हृविः । श्रद्धां भर्गस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

-ऋ० १०।१५१।१

ऋषिः श्रद्धाः कामायनी । देवता श्रद्धाः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय संसार की कोई भी अग्नि श्रद्धा के बिना प्रदीप्त नहीं होती और कोई भी बलिदान, श्रद्धा के बिना किया नहीं जा सकता। किसी भी प्रकार की सफलता पाने के लिए त्याग करना और अग्नि प्रदीप्त करना आवश्यक होते हैं। हम किसी भी दिशा में उन्नति करना चाहें, हमें सदा एक तो आत्मबलिदान के लिए तैयार होना चाहिये, और दूसरे, यह बलिदान जिस उच्च ध्येय के लिए करना होता है उस ध्येय की पवित्र अग्नि हममें धधक रही होनी चाहिये। पर ये दोनों ही कार्य-अग्निदीपन और आत्म-बलिदान-बिना श्रद्धा के कभी नहीं बन सकते। अतः संसार के सब धीर पुरुष राष्ट्राग्नि, संग्रामाग्नि, धर्माग्नि, ज्ञानाग्नि, आत्माग्नि आदि नाना अग्नियों को किसी उच्च भावना से प्रेरित होकर अपने अटूट विश्वास द्वारा नित्य प्रदीप्त कर रहे हैं और उसमें अटल श्रद्धा से अपना सर्वस्व तक स्वाहा करते हुए अग्रसर हो रहे हैं। क्या तुम समझते हो कि वह यज्ञवेदि की भौतिक स्थल अग्नि भी बिना श्रद्धा के ही समिद्ध होती है ? अग्नि-होत्र का रहस्य जाननेवाले तो देखते हैं कि भक्त, अग्निहोत्री लोग, जो अग्नि प्रदीप्त करते हैं वे अपनी अन्दर की श्रद्धा को ही उस अग्नि में प्रदीप्त करते हैं। वाहर की अग्नि जलाना निरर्थक है, उससे कोई अग्निहोत्र का फल नहीं मिल सकता, जन्नतक कि अन्दर की श्रद्धाग्नि न जल रही हो। वास्तव में कोई भी यज्ञ, कोई भी अग्निदीपन और आत्मत्याग, कोई भी उन्नितिकारक कार्यं बिना श्रद्धा के नहीं चल सकता। इसीलिए हम चिल्लाते हैं- 'श्रद्धा को अपनाओ, श्रद्धामय पुरुष बनो !' हे मनुष्यो ! अपना एक भी काम श्रद्धारिहत होकर मत करो ! श्रद्धा के बिना कभी कुछ सध नहीं सकता। तुम्हारे सब कर्तव्यों की सफलता, तुम्हारे धर्म के सब शास्त्रीक्त विधि-निषेध श्रद्धा पर ही अवलम्बित हैं। हम तो वेदवाणी का नाम लेकर घोषित करते हैं, अपनी वाणी से पुकारते हैं, अनुभव करते हुए सब भाइयों से निवेदन करते हैं कि भजनीय धर्म-शरीर का मुर्घा श्रद्धा है। श्रद्धा-बिना सब धर्म निर्जीव है। हे भाइयो ! सब करना-धरना बेकार है, सब जीवन मृतक-समान है, जबतक कि इसमें श्रद्धा का प्राण मौजूद नहीं है।

शब्दारं श्रद्धा श्रद्धा से अग्निः अग्नि समिध्यते प्रदीप्त होती है और श्रद्धया श्रद्धा से ही हिंदः हूयते हिंव दी जाती है, आत्मबलिदान किया जाता है। भगस्य सब भजनीय वस्तु के, भागधेय धर्म के, ऐश्वर्य के मूर्धनि मूर्धा-स्थान में श्रद्धां श्रद्धा को हम लोग वचसा वाणी द्वारा, विदवाणी द्वारा वेदयामिस घोषित करते हैं, प्रकट करते हैं।

. २२२

\$10\$18 OF

119314 1421

१० आस्विन शर्तहस्त समाहे<u>र</u> सहस्रहंस्त संकिर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्<u>का</u>र्ति समावह।।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथर्वे० ३।२४।५

ऋषिः भृगुः । देवता वनस्पतिः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे दो हाथोंवाले मनुष्य ! तू सौ हाथोंवाला होकर धन संग्रह कर, सौ गुनी शक्ति से धन-धान्यादि ऐश्वयों को इकट्ठा कर। परन्तु इस उपार्जन किए हुए अपने धन को हजार हाथोंवाला होकर सत्पात्र में दान कर दे। धन संग्रह करने के लिए यदि तू सौ हाथों वाला हुआ है तो धन को दूर-दूर बाँट देने के लिए, दान कर देने के लिए, तू हजार हाथोवाला हो जा। इससे निःसन्देह तेरी बढ़ती होगी, तेरी उन्नित होगी, तेरा बड़ा भारी कल्याण होगा। तू अपनी "कृत" और "कार्य" कमाई को देख। तूने जो कमाया है वह तो कमाया ही है, वह तेरी "कृत"—कमाई है; परन्तु जो तूने हजार हाथों से दूर-दूर अपने दान को फैलाया है वह भी तेरी कमाई है। वही कमाई वस्तुतः "कार्य" है जो भविष्य में अपना फल दिखलाएगी। वास्तव में, जैसे समाहृत किये धान्य को सत्क्षेत्र में (जोते हुए खेत में) संकिरण कर देने से (बिखेर देने से) उसका एक-एक दाना हजारों दानों को देनेवाले पौधे के रूप में पुष्पित और फलित हो जाता है, उसी तरह किसी यज्ञिय कार्य में दिया हुआ धन, सत्पात्र में दिया हुआ धन, सत्पात्र में दिया हुआ दान, अनन्त गुणा होकर फलित हुआ करता है। इस तरह हे मनुष्य! तू देख कि तू कितनी बड़ी भारी फंसल का स्वामी हो जाता है, तू कितनी बड़ी भारी "स्फाति" को प्राप्त हो जाता है ! यह बढ़ती 'शतहस्त से लेने और सहस्रहस्त से देने' के सिद्धान्त का फल है। हे मनुष्य ! तू इस सिद्धान्त का पालन करता हुआ अपनी इस बढ़ती को सदा ठीक प्रकार से प्राप्त करता रह।

शब्दार्थ — शतहस्त हे सौ हाथोंवाले मनुष्य ! समाहर तू इकट्ठा कर और सहस्रहस्त हे हजार हाथोंवाले ! संकिर तू दान कर, बिखेर । [सौ-सौ सत्कार्यों से कमा और हजार-हजार हाथों से बाँट !] इस तरह कृतस्य अपने किए हुए की कार्यस्य च और किए जानेवाले की स्फाति । बढ़ती को, फसल को इह तू इस संसार में समावह ठीक प्रकार से प्राप्त कर ।

वैदिक विनय

₹ २२३

पात्त-दालतो द्वार महान के तेवा

NINGIE OFFE

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

:११ आश्विन

उत दे<u>वा</u> अवहितं दे<u>वा उन्नंयथा पुनः ।</u> <u>उतार्गश्चकुषं देवा</u> देवां जीवर्यथा पुनः ॥

—ऋ० १०।१३७।१; अथर्वं० ४।१३।१

ऋषिः भरद्वाजः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-हे देवो ! तुम्हारे इस संसार में कोई भी मनुष्य सदा के लिए पतित नहीं हो जाता, कोई मनुष्य सदा के लिए मर भी नहीं जाता। पतित-से-पतित मनुष्य इस संसार में फिर से, जब चाहे तब उन्नत हो सकता है। मरे हुए मनुष्य को भी, हे देवो ! तुम फिर जिला देते हो; पापी-से-पापी पुरुष भी तुम्हारा सहारा पाकर फिर पूरा पुण्यात्मा हो जाता है। प्राय: पतित होकर हम लोग निराश हो जाया करते हैं, समझने लगते हैं कि अब तो हमारा उद्घार किसी तरह नहीं हो सकता। परन्तु हे देवो ! तुम तो देव हो ! तुम बड़े भारी ज्ञान-प्रकाश और शक्ति से युनत हो। तुम्हारे रहते हम कैसे फिर उन्नत न हो सकेंगे ? हे परोपकार के लिए ही जीवन धारण करनेवाले श्रेष्ठ जनो ! हे पतितों को उठानेवाले महात्माजनो ! हे करुणापरायण मेरे गुरुजनो ! तुम देव हो । तुम्हारी कृपा में बड़ी अद्भुत शक्ति है । तुमने न जाने कितने पतितों को उबारा है, न जाने कितने डूबतों को बचाया है, प्राण निकलते-निकलते आ वचाया है, जघन्य पापियों को अन्तिम क्षण में पुण्य जीवन की तरफ फेर लिया है। मरकर तो सभी जोव पुनर्जन्म पाते हैं, किन्तु असल में मरना तो पापी होना ही है। यदि अमर आत्मा किसी तरह मरता है, तो वह पाप-अपराध करने से ही मरता है; परन्तु हे देवो ! तुम इस अत्यन्त विकट आत्मिक मौत से भी उबार लेनेवाले हो, फिर से पुण्य जीवन का संचार कर देनेवाले हो। तब हम तुम्हारे होते क्यों कभी निराण हों ? हतोत्साह होकर क्यों हाथ-पैर मारने छोड़ दें ? क्यों न तुम्हारी जीवनदायी शरण का आश्रय लें ? हे देवो ! हमें पूरा-पूरा विश्वास है कि तुम शरण पड़े हम पतितों को अवश्य ही ऊपर उठा लोगे, हम मरे हुओं को अवश्य ही फिर जीवित कर दोगे।

शब्दार्थ — देवाः हे देवो ! देवाः तुम देव अवहितं नीचे पड़े हुए, पतित को उत भी पुनः फिर उन्नयथाः उन्नत कर देते हो, उठा लेते हो और देवाः देवो ! देवाः तुम देव आगः चऋषं पाप करनेवाले को, पापी को उत भी पुनः फिर जीवयथाः जिन्दा कर देते हो, जीवन दे देते हो।

िहो।

= 358

, वैदिक विनय

THE RESERVE OF THE PERSON NAMED IN

रामिन प्राप्त का मुख्या

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangoth

१२ आश्विन

वि <u>श्रा</u>म्याः पुश्रवे श्रार्ण्येर्व्यापुस्तृष्णंयासरन् । व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥

-अथर्वं० ३।३१।३

ऋषिः ब्रह्मा । देवता पशवः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय—में पिनत्रात्मा सब प्रकार के पापों से सर्वथा नियुक्त हूँ; मैं निष्पाप होकर सब प्रकार के रोगों से जुदा हूँ, एवं निष्पाप और नीरोग होकर मैं सदा आयु और प्राण से संयुक्त हूँ। क्या कभी ग्राम्य पशु और जंगली पशु एकसाथ रह सकते हैं? अरे, वे तो एक-दूसरे को देखकर निषद्ध दिशा में भागते हैं। तो फिर मेरे सामने कोई पाप कैसे ठहर सकता है? और क्या कभी पानी को भी प्यास लग सकती है? तो फिर मेरे पास पाप कैसे फटक सकता है? मुझ निश्चदात्मा में पाप का स्पर्श तक नहीं हो सकता और मुझ निष्पाप पर रोग की छाया तक नहीं पड़ सकती। हे मेरे निर्लेप निशुद्ध आत्मन्! मैं तो सदा तेरे प्राण और जीवन से सम्पन्न हूँ, और इस प्राण और जीवन से सदा सम्पन्न रहूँगा।

शब्दार्थ —ग्राम्याः पशवः ग्राम्य पशु आरण्यैः जंगली पशुओं से वि असरन् विरुद्ध दिशा में जाते हैं, आपः पानी तृष्णया प्यास से वि वियुक्त होते हैं। इसी तरह अहम् मैं सर्वेण पाप्तना सब प्रकार के पाप से वि वियुक्त हूँ, यक्ष्मेण रोग से वि वियुक्त हूँ, और आयुषा आयु, प्राण, जीवन से सदा सं संयुक्त हूँ।

I h the facilities of the property of the second states of the second se

वैदिक विनय

224

भाषाम का राभू नारा

१३ आश्विन

श्रस्ट भूम्याः समंभवत् तद्यामेति महद् व्यर्चः । तद् वे ततो विधूपायंत् मृत्यक् कर्त्तारंमृच्छतु ॥

—अथर्व० ४।१६।६

ऋषिः शुक्रः । देवता अपामार्गो वनस्पतिः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-क्या तुम समझते हो कि संसार में 'असत्' की, पाप की ही विजय हो रही है ? सच यह है कि प्रभु अपने इस संसार में बेशक कुछ देर के लिए पाप को बढ़ने, पकने देते हैं, परन्त समय आने पर उसका विनाश तो अवश्यंभावी होता है। बुराई का वृक्ष बेशक खूव फूलता-फलता है, पर वह फिर जड़सहित उखड़ जाता है। भूमि से उठकर पाप कभी-कभी सारे अन्त-रिक्ष में फैल जाता है और इतना बढ़ता है कि वह चुलोक के प्रकाश को भी ढक लेता है। तब मनुष्य हाहाकार मचाने लगते हैं। पर अगले ही क्षण वह छिन्न-भिन्न होने लगता है और लौटता हुआ अपने उठानेवाले के लिए दु:ख की प्रतिक्रिया लाकर सब-का-सब वहीं विलीन हो जाता है। सब अधर्म भूमि से उठता है; अन्धकार अज्ञान तथा स्थूलता से उत्पन्न होता है। वह अपनी स्थूलशक्ति, पशुशक्ति को बढ़ाता हुआ सब तरफ फैलता है। अपने इस स्थूल बल द्वारा वह पाप के विरुद्ध उभरनेवाले सब लोगों को दबा देता है। उसके इस दामक स्वभाव के कारण धीरे-धीरे संसार-भर में सब कहीं उसकी ही दुंदुभि बजने लगती है, उसी का सिक्का चलने लगता है। संसार के बड़े-बड़े दिव्य पुरुषों का, बड़े ईश्वरपरायण महात्माओं का दिव्य तेज भी उसके अंधकार के सामने ढक-सा जाता है। तब सब भयभीत साधारण लोग बिना चं-चराँ किये उसके अंधेर-राज्य को चलाते जाने में ही अपना हित व स्वार्थ देखते हैं, यद्यपि उस अंधेरे में वे बड़े बेचैन होते जाते और उनकी वह घबराहट बढ़ती ही जाती है। उस समय ईश्वरीय नियम की अटलता को देखनेवाले विरले ही होते हैं जो घबराते नहीं हैं, जो प्रसन्न होते हैं कि पाप जितना अधिक-से-अधिक बढ़ सकता है, वह बढ़ चुका है और अब उसके विनाशकाल का अन्त होनेवाला है। उस ऊँचाई से, अधर्म के खोखले आधार पर खड़ा किया वह सब पाप का ठाठ तो गिरता ही है, अपने बोझ से स्वयमेव गिरता ही है, साथ ही अपने कर्त्ता को, अपने खड़े करनेवाले को भी संताप पहुँचाता हुआ गिरता है। वह लौटकर उसी पर गिरता है और उसको साथ लेकर भूमिसात् हो जाता है।

है मनुष्यो ! इस संसार में विजय तो सत् की, पुण्य की ही हो रही है।

शब्दार्थ —असत् पाप, अधर्म भूम्याः भूमि से समभवत् उत्पन्न होता है और तत् वह महत् व्यवः बड़े भारी रूप में, अन्तरिक्ष में फैलकर द्यां द्युलोक तक एति चढ़ जाता है। किन्तु ततः वहाँ से, उतना बढ़कर भी, तत् वह वे निःसंदेह विधूपायत् कर्त्ता को सन्ताप देता हुआ प्रत्यक् उसके प्रति उलटा लौटकर कर्त्तारं उस कर्त्ता [पापकर्त्ता] पर ही ऋच्छतु आ पड़ता है।

वैदिक विनय

SINELS OFFI

18 राष्ट्र भाषा भाषा विनाश कारी

Digitized by Arya Samaj Foundation &

१४ आश्विन

यश्<u>चकार</u> न <u>श्रशाक</u> कर्त्तुं <u>श</u>श्चे पाद<u>ंमङ्क</u>ुरिम् । चकारं <u>भद्रम</u>स्मभ्यंम्, <u>श्रा</u>त्म<u>ने</u> तर्पनं तु सः ॥

अथर्वे० ४।१८।६

ऋषिः शुक्रः । देवता अपामार्गो वनस्पतिः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय — जब कोई निर्बल अशक्त पुरुष क्रोध के आवेश में आकर किसी बलवान् की हिंसा करने के लिए झुँझलाकर उठता है तो वह प्रायः अपने ही हाथ-पैरों को तोड़ लिया करता है। वह उस बलवान् का कुछ नहीं बिगाड़ पाता। उतावलेपन का, बिना सोचे-विचारे उत्तेजित होकर कुछ-न-कुछ कर डालने का, यही परिणाम हुआ करता है। पर असल में सदैव निर्बल पुरुष ही हिंसा करता है। और, सदैव ही हिंसा द्वारा हम जो कुछ करना चाहते हैं उसे करने में अशक्त रहते हैं। क्योंकि, हिंसा द्वारा हम कभी किसी का विनाश नहीं कर सकते; कुछ देर के लिए उसे सता सकते हैं, उसके कार्य को रोके भी रख सकते हैं, पर इस सबसे तो वह हिंस्यमान पुरुष और भी फूलता-फलता है, बढ़ता है। हिंसा द्वारा सदैव अपनी ही हानि होती है। जरा उच्च दृष्टि से देखें तो यह भी दीखेगा कि किसी अपने मनुष्य-भाई की हिंसा करने में हम असल में अपने ही अंग-अवयव को, अपने ही हाथ-पैर को तोड़ते हैं। अपनों की हिंसा करके हम अपने को ही जलाते और अपने आत्मा को ही कमज़ोर करते हैं। इसलिये ज्ञानी पुरुष अपनी हिंसा करनेवाले पर सदा तरस ही खाते हैं। जब उन्हें कोई लाठी मारता है, तो उन्हें अपने शरीर की कुछ परवाह नहीं होती, किन्तु उन्हें फिक यह होती है कि मारनेवाले के कोमल हाथों में तो कहीं लाठी चलाने से कुछ पीड़ा नहीं पहुँची है ? वास्तव में हमारी हिंसा द्वारा हमारा तो सदा भला ही होता है, इससे हमारी सहनशक्ति बढ़ती है और हमारी तपस्या होती है। यदि हमारा शरीर भी इससे छूट जाता है तो हमारा एक पवित्र यज्ञ पूरा हो जाता है और इससे वड़ी आत्म-शक्ति बढ़ती है। एवं हमारा तो सब तरह भला-ही-भला होता है, पर तपना तो उस बेचारे हिंसक को पड़ता है। पहले वह अपनी क्रोधाग्नि में तपता है और पीछे उसे अपने हिंसा-पाप के प्रतिफल में आए दु:ख की अग्नि में तपना पड़ता है।

शब्दार्थ — यः जो चकार हिंसा करता है, कर्तुं न शशाक वह कर नहीं सकता, करने में अशक्त रहता है वह पादं अंगुरि अपने पैर-अंगुलि को, अपने ही अंग-अवयव को शब्धे तोड़ लेता है, हिंसित करता है। हमारी हिंसा करनेवाला अस्मभ्यं हमारा तो भव्रं सदा भला ही चकार करता है, तु किन्तु सः वह आत्मने अपना तपनं तपाना करता है, अपने को तपाता है।

वैदिक विनय

2.20

राषे श्रा भा महान तत्व विश्वताधार होनी

१५ आश्विन

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽ आ द्यां छं रोहन्ति रोदंसी।
यः ये विश्वतोधारः सुविद्वासोछं वितेनिरे॥

-अथर्वे० ४।१४।४; यजुः० १७।६८

ऋषिः भृगुः । देवता आज्यम् । छन्दः अनुष्दुप् ।

विनय हमारे सब यज्ञ 'विश्वतोधार' होने चाहियें, पर प्रायः हमारे यज्ञ एकतोधार होते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम दूर तक देखकर, सब संसार को दृष्टि में रखकर लोकोपकार नहीं करते। अतः हमारे ये यज्ञकार्य परिमित, अदूरगामी और एकपक्षीय होते हैं। हम केवल एक अपने समाज, एक अपने कुटुंब, केवल एक संस्था या केवल एक अपने देश व राष्ट्र के हित के लिए अपने उपकार-कार्य करते हैं और उनके लिए बड़े-बड़े स्वार्थ-त्याग तक करते हैं। पर यह ध्यान नहीं रखते कि वह संस्थाहित, देशहित, वह राष्ट्रहित संसार के हित के भी अविरुद्ध होना चाहिए। विश्वतोधार यज्ञ वह है जो कि 'सर्वभूत हित'' के लिए होता है, जो सम्पूर्ण विश्व के भले के लिए, प्राणिमात्र के हित की दृष्टि से होता है, अथवा यूँ कहें कि जो परमात्मा के प्रीत्यर्थ होता है। वही यज्ञ पूरी तरह फैला, वितत होता है, व्यापक होता है। वही यज्ञ 'विष्ण' कहाता है। पर यज्ञ के इस 'विष्णु', 'विश्वतोधार' रूप को संसार में कुछ उत्तमज्ञानी लोग ही समझते हैं और ये विरले ही उसे वितत करते हैं। अतः ये 'स्विद्वान्' तो शीघ्र ही पियवी और अन्तरिक्ष के स्थल और मानसिक लोकों को लाँघकर आत्मा के सूखमय और प्रकाशमय लोक में चढ़ जाते हैं, आसानी से पहुँच जाते हैं। वे फिर उस आत्मिक सुख की तरफ जाते हुए, उसका आनन्द लेते हुए दुनिया की किसी भी अन्य वस्तु की परवाह नहीं करते। 'विश्वतोधार' यज्ञ करनेवालों को 'स्वः' का एक ऐसा दृढ़ अवलंबन मिल जाता है कि वे फिर संसार के अन्य किसी भी सहारे की तनिक भी अपेक्षा नहीं करते। चाहे उनके साथी उनसे छिन जायें, उनका प्रभुत्व नष्ट हो जाय, उनकी सब प्रतिष्ठा जाती रहे, पर वे इन सहारों के रखने के लिए भी कभी अपने यज्ञ को थोड़ी देर के लिए भी छोटा, अव्यापक नहीं करते। वे अपनी दुष्टि को कभी नीची या संकुचित नहीं करते। ऊपर चढ़ते जाते हुए नीचे की इन क्षुद्र चीजों पर कभी उनकी दृष्टि ही नहीं पड़ती। यही रहस्य है जिससे कि वे ऊपर-ऊपर ही जाते हैं और शीघ्र सुखमय प्रकाशमय चुलोक में जा पहुँचते हैं।

शब्दार्थ — ये जो सुविद्वांसः उत्तम ज्ञानी महापुरुष विश्वतोधारं यज्ञं विश्वतोधार यज्ञं को, सबको सब तरफ से धारण करनेवाले यज्ञं को वितेनिरे विस्तृत करते हैं वे स्वः यन्तः आनन्द-मय स्थिति को जाते हुए न अपेक्षन्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते या नीचे नहीं देखते, रोदसी वे द्यावापिथवी को लाँघ द्यां द्युलोक में आरोहन्ति चढ़ जाते हैं।

१: गीता ४।२४, १२।४; २. यहाँ—वे विष्णुः, शत० १।६।६।६, शत० १।१।२।२३

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal

१६ आश्विनं

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवधनम्। उवार्ककिमव बन्धंनात् मृत्योमुँक्षीय मामृतात् ॥

-ऋ० ७।५६।१२

ऋषिः वसिष्ठः । देवता रुद्रः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय स्वाभाविक और उचित मृत्यु वह होती है जिसमें शरीर इस तरह सहज में छूट जाता है, जैसे कि पका हुआ फल डाल से टूट पड़ता है। हम चाहते हैं कि हमारी ऐसी ही मृत्यु हो। पूरा पका हुआ फल अपनी अधिक-से-अधिक पुष्टि को, जो उसे उस वृक्ष से मिल सकती हैं, पा चुका होता है और पकने पर उसमें एक मनोहर सुगन्ध आ जाती है। तब उसको वृक्ष से जबरदस्ती नहीं जुदा करना होता, वह स्वयमेव आराम से जुदा हो जाता है। हम चाहते हैं कि हमारी इस संसार से जुदाई - हमारी मृत्यु - इसी तरह आराम से, स्वाभाविकतया हो। इस प्रयोजन के लिए हे भगवन् ! हम तुम्हारा यजन करते हैं। तुम्हारा यजन करने से हम इस संसार-वृक्ष पर स्वाभाविकतया पकते जायँगे। 'सुन्दर गन्धदाता' और 'पुष्टि के बढ़ानेवाले' के रूप में, हैं प्रभो ! हम तुम्हारी उपासना करते हैं। तुम्हारी उपासना से जहाँ हम धीरे-धीरे परिपक्व हो जायँगे, हममें पूरी पुष्टि आ जायगी, वहाँ हममें परिपक्वता की सुगन्ध व सुन्दरता भी आ जायगी। ओह, इस पकी अवस्था में शरीर को छोड़ना, संसार को छोड़ना, भयंकर व दु:खदायी होने की जगह कैसा स्वाभाविक और शान्तिदायक होगा ! लोग मृत्यु से यूँ ही डरते हैं। हे मृत्यु के भी स्वामी देव ! अज्ञ लोग तुमसे भी डरते हैं, तुम्हारे रुद्ररूप से घवराते हैं। पर हे रुद्र ! तुम तो त्र्यंबक हो, तीनों लोकों की आँख हो, तीनों अवस्थाओं के -उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के अध-द्रष्टा हो। नहीं, यूँ कहना चाहिए कि तुम तीनों लोकों की तीनों कालों में अम्बा हो, माता हो। तुम उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाली हमारी माता हो। जो तुम्हारे केवल प्रलय व संहार-रूप को ही देखते हैं वे ही तुमसे, तुम्हारी मृत्यु से घबराते हैं। वे तुम्हारे पृष्टिवर्धक सुन्दर रूप को नहीं देखते, अतएव वे तुम्हारा यजन कर, तुमसे रस पाकर अपनी परिपक्वता नहीं कर पाते। उन्हें जबरदस्ती संसार से छुटने में--मृत्यू में--बड़ा क्लेश होता है। हे अम्बक ! तुम इसीलिए तो संहार करती हुई भी हमारी माता हो। तुम जब इहलोकरूपी अपनी दायीं गोद से (मृत्यु द्वारा) हमें उठाती हो तो हम बच्चे बेशक रोने लगते हैं कि हम गए, हम मरे, पर तब हम नहीं जानते होते कि तुम तुरन्त ही परलोक की अपनी दूसरी गोदी में बैठाने के लिए ही पहली गोद से हमें उठाती हो। हम तुम्हारे नादान बच्चे तुम्हारी अमृतमय गोदों को भी नहीं पहचानते। पर है मातः ! तुम अब हमें ऐसा परिपक्व और सुगन्धियुक्त कर दो कि हम मरते हुए भी तुम्हारी इन अमृतमय गोदों से कभी जुदा न हों। अब मृत्युभय से तो अवश्य हमारा छुटकारा करो, पर अपनी अमृतगोद से हमें कभी बिछुड़ने न दो। हे माँ, अपनी अमृतमय गोद से हमें कभी बिछुड़ने न दो।

शब्दार्थ —सुगन्धि सुष्ठु गन्ध व सीन्दर्यवाले और पुष्टिवर्धनं पुष्टि बढ़ानेवाले व्यम्बर्क त्र्यम्बक देव का, संसार के तीनों लोकों के अधिद्रष्टारूप माता का यजामहे हम यजन करते हैं। बन्धनात् उर्वारकिमव जैसे कि लताबंधन से डाली में पका हुआ कर्कटीफल स्वयमेव जुदा हो जाता है वैसे [मरते हुए] हम मृत्योः मत्यु से, मत्युभय से मुक्तीय मुक्त हो जायं, अमृतात् अमृत से मा कभी नहीं।

378

र्निट्य अतर अन्तत का महान विवेक

१७ आशिवनं

दृष्ट्वा छ्पे व्यक्तिरोत् सत्यातृते मुजापतिः । अश्रेद्धामनृतेऽदेधाच्छ्रद्धाश्चे सत्ये मुजापतिः ॥

चजुः० १६।७७

ऋषिः शंखः । देवता प्रजापतिः । छन्दः अतिशक्वरी ।

विनय - इस संसार में सब जगह सच और झूठ इतने मिले हुए दिखाई देते हैं कि इनमें फ़र्क करना असंभव-सा हो जाता है। हर एक सत्य के साथ झूठ ऐसी सूक्ष्मता के साथ लगा हुआ है, और हर एक झूठ के मूल में सत्य ऐसी गुप्तता से समाया हुआ है कि सच और झूठ का प्यक्करण करने में बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी हार मानते हैं। पर सत्य और अनृत तो एक-दूसरे से बिलकुल ही उलटी चीजें हैं। ये एक जगह कैसे रह सकती हैं? फिर भी जो हम इन दोनों स्वभावतः विरोधी वस्तुओं का विवेक नहीं कर पाते हैं, इसका कारण यह है कि हम स्वाभा-विकता से हट गए हैं, हम अस्वाभाविक बनकर प्रजापित से दूर हो गए हैं। हम सब प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाले, सब संसार के स्वामी, प्रजापित ने तो संसार के सब सत्य और अनृत रूप को साक्षात् जुदा-जुदा देखा है और स्पष्ट जुदा-जुदा कर रक्खा है। इन दोनों रूपों की प्यक्ता के आधार पर ही बनाए अपने नियमों द्वारा वह इस जगत् का और अपनी सब प्रजाओं का शासन कर रहा और पित हो रहा है। तो क्या हम-प्रजाओं के लिए बनाए जगत्-शासन-नियमों को बिना बताए ही वह इन द्वारा हमपर शासन कर रहा है ? नहीं, उसने तो जहाँ बाहर जगत् में सत्य और अनृत का विवेक किया और उसके अनुसार जगत् को संचालित कर रहा है, वहाँ उसने हमारे अन्दर भी वह साधन रक्खा है जिससे कि हम प्रजा-लोग सत्य और अनृत का स्पष्ट भेद कर सकें। उसने हमारे अन्त:करण में अनृत के लिए अश्रद्धा और सत्य के लिए श्रद्धा स्वभावतः उत्पन्न कर रक्खी है। वे प्रजापित हममें से प्रत्येक प्रजा के हृदय में स्वयं आ बैठे हैं और प्रत्येक सत्य में श्रद्धा को उपजाते तथा प्रत्येक असत्य में अश्रद्धा को उद्भूत करते हुए बैठे हुए हैं। फिर भी यदि हम सत्य और अनृत का विवेक न कर सकें तो हम कितने दुर्भागे हैं ! सचमुच सत्यासत्य का विवेक जहाँ महाकठिन है, वहाँ अत्यन्त सहज भी है ! जो मिलन हृदयवाले पुरुष प्रजापित से दूर होकर केवल तर्कना द्वारा सत्य और असत्य का भेद जानना चाहते हैं उनके लिए यह निःसन्देह महा कठिन है, किन्तु जो प्रजापित की शरण में पड़े हुए हैं और जो अपने शुद्ध अन्त:करण में उसकी दी हुई श्रद्धा और अश्रद्धा की पक्की कसौटी के रखनेवाले हैं, उन भक्त पुरुषों के लिए यह अत्यन्त सहज है।

भाइयो ! जरा अपने अन्दर टटोलो और देखो, प्रजापित ने तो हम सब के अन्दर अनृत

के लिए अश्रद्धा और सत्य के लिए श्रद्धा पैदा की हुई है।

शब्दार्थं - प्रजापितः प्रजापित ने दृष्ट्वा देखकर रूपे सब रूप को दो विभागों में सत्यानृते सत्य और अनृत, सच्चा और झूठा इन दो विभागों में व्याकरोत् स्पष्ट जुदा-जुदा कर
दिया है। प्रजापितः उस प्रजापित ने अनृते अनृत में, झूठ में अश्रद्धां अश्रद्धा को दधात् रक्खा है
और सत्ये सत्य में, सचाई में श्रद्धा को रक्खा है।

२३०

my and and

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८ आश्विन

सं गंच्छध्वं सं वंदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना छपासते॥

ऋषिः संवननः । देवता संज्ञानम् । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-हे मनुष्यो ! सदा मिलकर चलो, मिलकर आचरण करो, मिलकर बोलो, और तुम्हारे मन मिलकर सदा एक निश्चय किया करें। यह दैवी नियम है। देव लोग सदा 'संजा-नानाः' होकर—समान मन और ज्ञानवाले होकर ही—अपने कार्य-भाग को निबाहते आए हैं। असल में यह मनों द्वारा ज्ञान की एकता ही वास्तविक एकता है। मन की एकता होने पर वचन और कर्म (आचरण) की एकता होने में कुछ देर नहीं लगती। देखो, ये देव लोग सब जगह 'संजानानाः' होकर ही कार्य कर रहे हैं। आधिदैविक जगत् में देखो, अग्नि-वायु आदि देव जगत्-संचालन के लिए एक-ज्ञान, समान-मन होकर अपने-अपने भाग को ठीक-ठीक कर रहे हैं। अध्यातम में प्राण-इन्द्रिय आदि देवों को देखों कि ये कैसे संगठित होकर जीवन को चला रहे हैं! पैए में काँटा चुभता है तो त्वचा-प्राण-मन-हाथ आदि सब देव एक क्षण में कैसे सहयोग दिखाते हैं ! और आधिभौतिक में भी सब ज्ञानी देव-पुरुष पुराने काल से लेकर आज तक संगठित होकर ही बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त करते रहे हैं। 'मिलना' दैवी प्रवृत्ति है; क्षुद्र स्वार्थों को न छोड़ सकना और न मिलना आसुरी है। अतः हे मनुष्यो ! तुम मिलो, अपने सैकड़ों क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर एक बड़े समिष्ट-स्वार्थ के लिए सदा मिलो। लाखों-करोड़ों के मिलकर काम करने से जो तुम्हें बड़ी भारी सामूहिक सिद्धि मिलेगी, उससे फलतः तुम लाखों-करोड़ों में से प्रत्येक व्यक्ति के भी सब सच्चे स्वार्थ अवश्य सिद्ध होंगे। मिलने में बड़ी भारी शक्ति है। तुम मिल-कर चलो, मिलकर करो तो कौन-सा कार्य असाध्य है! तुम मिलकर बोलो तो संसार को हिला दो। और मिलकर ध्यान करने में तो अपार-अपार शक्ति है। अतः हे मनुष्यो ! मिलो, मिलो ! सब प्रकार से मिलकर अपने सब अभीष्ट सिद्ध करो।

शब्दार्थ हे मनुष्यो ! संगच्छध्यं मिलकर चलो, आचरण करो, संवद्ध्यं मिलकर बोलो, और वः तुम्हारे मनांसि मन संजानतां मिलकर ज्ञान प्राप्त करें, समान ज्ञानवाले हों; यथा जैसे कि पूर्वे देवाः पहले से देव लोग संजानानाः मिलकर जानते हुए, एकज्ञान होते हुए भागं भजनीय वस्तु की, अपने भाग की उपासते उपासना करते, उपलब्धि करते रहे हैं।

The first term and the property of the present of the first to the first

to to the the three the research of the as I wan excellent to

DE PARTE PRINTER LE PRATE ME LEMBER LA PRESENTA

वैदिक विनय

२३१

.१६ आश्विन

र्डुर्व्या<u>या</u> भ्राजि प्रयमां प्रथमस्यां जुतापराम् । अपनि हृद्य्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥

- अथर्व० ६।१८।१

ऋषिः अथर्वा । देवता ईर्ष्याविनाशनम् । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय - बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य दूसरे की बढ़ती को सह नहीं सकता। बजाय इसके कि वह अपने साथी की बढ़ती को देखकर प्रसन्त हो, प्रेमयुक्त हो, वह उसके प्रति ईर्ष्याल हो जाता है। यह ईर्ष्या बड़ी बूरी चीज़ है। जब किसी मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि जल उठती है तब यह उसे बुरी तरह संतप्त करती है। इतना ही नहीं, किन्तु ईर्ष्या की अग्नि के बढ़ जाने पर कई बड़े अच्छे-अच्छे कुल राख हो चुके हैं, प्रगतिशील समाजें लड़ाई-झगड़े में पड़ पंगु वन चुकी हैं। कई संग्राम छिड़ चुके हैं जिनमें हजारों-लाखों लोग नाहक में तबाह हो गए हैं। इसलिए ईर्व्याग्नि को बढ़ने नहीं देना चाहिये। जब ईर्ष्या की पहली ही ज्वाला चमके तभी उसे बुझा देना चाहिये। ईर्घ्या के प्रथम वेग को ही रोक देना चाहिये। सोचना चाहिये "बदि मेरे अमुक साथी को सम्पत्ति मिली है तो उसे प्यार किया जाता है, या उसे प्रतिष्ठा व उच्चपद मिलता है तो इससे मुझे क्यों कुढ़ना चाहिये मुझे क्यों न प्रसन्न होना चाहिये ! यदि मैं उतना योग्य नहीं हुँ, तो धैर्यपूर्वक मुझे भी वैसा गूणी बनने का यत्न करना चाहिये । मुफ्त में अपने को जलाना तो कभी नहीं चाहिये ।" और बार-बार 'मैत्री भावना' कर-करके उस अपने सौभाग्यशाली साथी से अपने को पूरी तरह जोड़ लेना चाहिये, एक कर लेना चाहिये। अन्त में उससे इतने अभिन्नात्मा बन जाना चाहिये कि उसकी बढ़ती का स्मरण आने पर अपना आत्मा उतना ही आनन्दित होने लगे जितना उस स्मरण से उस अपने साथी का आत्मा होता है। तब समझना चाहिये कि मैत्रीभावना पूर्णा-वस्था में पहुँच गई है। यह अवस्था पहुँचने पर सब ईर्ष्याग्नि अवश्य बझ जायगी और उसकी जगह प्रेमधारा वह निकलेगी।

पर इतने से निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि आग बुझ-बुझकर भी फिर-फिर बिना जाने जल पड़ा करती है। असावधानी के क्षणों में यदि फिर ईर्व्याग्नि चुपके से सुलगने लगे, तो फिर से ऐसे विचार और भावना की जलधारा से इसे फिर शान्त कर देना चाहिये। यह निश्चित है कि उसका यह दूसरा वेग मन्द होगा। इसी तरह आगे भी करते जाना चाहिये जब तक कि यह हृदय की अग्नि और इसका शोक-संताप बिलकुल न बुझ जायँ और इनकी जगह प्रेम की शीतलता और आत्मैक्य की जलधारा न बहने लगे।

हे ईर्ष्यासंतप्त पुरुष ! हम तेरी ईर्ष्याग्नि को प्रेमघारा द्वारा सर्वथा बुझा देते हैं।

शब्दार्थ ईर्ष्यायाः ईर्ष्या की प्रथमां पहली ही ध्राजि वेगवती गति को, जवाला को निर्वापयामिस हम बुझाते हैं उत और प्रथमस्याः अपराम् इस पहली से अगली जवाला को भी बुझाते हैं, इस तरह हे मनुष्य ! ते तेरी तं उस ईर्ष्यारूपी हृदय्यं अग्नि हृदय में जलनेवाली अग्नि को शोकं तथा उसके शोक-संताप को निर्वापयामिस बिलकुल शान्त कर देते हैं।

: २३२

Digitized by Arya Samaj Foundation Cherr

२० आश्वन

ऋतस्यतेनिदित्या यजेत्रा मुश्चतेह नः। यु यं यद् यं इवाह्सः शिक्षन्तो नोपशे किम ॥

-अथर्वं० ६।११४।२

ऋषिः ब्रह्मा । देवता विश्वे देवाः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे आदित्यो ! तुम मेरे बन्धन खोल दो । मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, कर सकना चाहता हूँ; किन्तु कर नहीं सकता। मैं चाहता हूँ अब मैं अमुक स्वार्थ-त्याग अवश्य कर दूँ, पर इसे कर नहीं सकता। मैं स्पष्ट देखता हूँ कि मुझे राष्ट्र-यज्ञ में, सेवा-यज्ञ में या धर्म-यज्ञ में अपनी आहुति अवश्य दे देनी चाहिये, इसका अनिवार्य समय आ पहुँचा है, पर फिर भी मैं न जाने क्यों इस आहुति को दे नहीं सकता। दिल से चाहता हुआ भी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। मन उठता है, पर हाथ-पैर नहीं उठते । मानो हाथों-पैरों को किसी ने बाँध रक्खा है । हे देवो ! तुम मुझे मेरी इस बद्ध अवस्था से मुक्त करो। तुम मेरे उस बन्धन को खोल दो जिसके मारे मैं हृदय से यह कर्म करना चाहता हुआ भी इसके करने में असमर्थ रहता हूँ। इसका उपाय मैं एक ही जानता हूँ वह यह है कि तुम, हे यजनीयो ! यज्ञवाहक आदित्यो ! तुम मुझमें उस,देव को जगा दो जोकि 'ऋत' का 'ऋत' है, जोकि यज्ञों का भी यज्ञ है, जोकि सब सत्यों का एक सत्य है। उस परम-यज्ञ सत्यस्वरूप का ध्यान करते ही मेरा यह बन्धन स्वयमेव खुल जायगा। केवल- उस प्रभु के एक बार ध्यान में समा जाने की देरी है। ओह ! परम यज्ञ-पुरुष का ध्यान आ जाने पर जिसने कि अपने इस ऐश्वर्यमय विश्व-ब्रह्माण्ड को समस्त जीवों के भोग के लिए त्याग रक्खा है, यज्ञ कर रक्खा है, सत्यस्वरूप प्रभु के क्षण-भर के लिए दृष्टिगोचर हो जाने पर जो कि एकमात्र इस संसार में सत्यवस्तु है और जिसके सिवाय शेष सब-कुछ मिट जानेवाला है, उसका ध्यान आ जाने पर मेरे लिए बड़े-से-बंड़ा त्याग करना, किसी यज्ञ के लिए अपने प्राण-तक दे देना, परम तुच्छ साधारण-सी बात लगने लगती है। इसलिए हे आदित्यो ! हे मेरी उच्च दिव्य प्रकाशमय वृत्तियो ! जब-जब मैं यज्ञ कर सकने में अशक्त रहूँ; तब-तब तुम मुझे उस प्रभू को दिखला दिया करो, उसका ध्यान करा दिया करो। उस 'ऋतस्य ऋत' का ध्यानः आने पर यज्ञ करने से रोकनेवाली मेरी सब रुकावटें निश्चय से हट जायेंगी, रोकनेवाले सब बन्धन खुल जायेंगे। इस तरह, यज्ञवाहक आदित्यो ! तुम उस ऋत के ऋत द्वारा अब मेरा यज्ञरोधक बन्धन सदा के लिए खोल दो।।

शब्दार्थ- यज्ञताः यजनीन आदित्याः आदित्यो ! प्रकाशमय देवो ! इह इस लोक में नः हमें ऋतस्य ऋतेन यज्ञ के भी यज्ञ, सत्य के भी सत्य परमेश्वर द्वारा मुंचत उस बन्धन से मुक्त कर दो यद् जिसके कारण यज्ञवाहसः हे यज्ञवाहक देवो ! हम यज्ञ को शिक्षन्तः करना चाहते हुए भी न उपशेकिम कर नहीं सकते हैं। ्रि, धुना पर हेर्द ।

वैदिक विनय

戶129 113 a 阿拉拉

भूत वित्रेष्ठ भूता द्वारा पाप ते भारती

२१ आश्विन

य<u>दि</u> जा<u>युद् यदि</u> स्वपुन्नेन एन्स्योऽकरम्। भूतं मा तस्माद् भन्यं च हुपुदादिव मुश्चताम्॥

--अथर्वे० ६।११५।२

ऋषिः ब्रह्मा । देवता विश्वे देवाः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय है भूत और भव्य ! तुम मुझे सदैव पाप से मुक्त करो । मैं जागते या सोते हुए जों पाप करता हूँ, पापी बनता हूँ, उससे मुक्त करो। जाग्रतावस्था में इस स्थूल वैश्वानर-लोक में ठहरता हुआ मैं जो स्थूल पाप करता हूँ अथवा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म तैजस लोक में रहता हुआ जो सूक्ष्म मानसिक पाप करता हूँ, उससे मैं बँध जाता हूँ। जैसे कि द्रुपद में, पाद-बन्धन में पड़ जाने से मनुष्य के पैर ऐसे जकड़ जाते हैं कि वे आगे हिल नहीं सकते, उसी तरह सूक्ष्म या स्थूल पाप कर लेने पर हमारे उन्नति के पग ऐसे रुक जाते हैं कि जबतक हमारी उससे मुक्ति न हो जाय तबतक हम आगे नहीं बढ़ सकते, उन्नत नहीं हो सकते। इससे छटकारा पाने के लिए मैं अपने भूत और भव्य से प्रार्थना करता हूँ। मेरा भूत, अपने भूत का आतम-निरीक्षण तथा मेरा भव्य, अपने भव्य के लिए दृढ़ निरुचय, ये दोनों मुझे पाप-बन्धन से छड़ा देवें। पाप हो जाने पर जबतक कि हम भूत के लिए पश्चात्ताप और भविष्य के लिए दृढ़ निरुचय न कर लेवें, तबतक हम उससे मुक्त नहीं हो सकते और आगे नहीं बढ़ सकते। ओह, मेरा आदिकाल से आनेवाला विशाल भूत और अनन्तकाल तक पहुँचनेवाला विशाल भव्य, इन दोनों के अपार काल-समुद्र में मैं अपनी चिन्तनरूपी डुबकी लगाकर अपने सब पाप-मैल को घो डाल्गा। मैं इस भूत के लोक - स्थूल लोक के पूरे-पूरे निरीक्षण द्वारा अपने-आपको इतना कार्य-दक्ष, सावधान और सदा जागृत बनाऊँगा कि आगे के जागृत के स्थूल पापों से सदा बचता रहेंगा तथा भव्य के दूसरे सुक्ष्मलोक की सहायता से इतनी मानसिक दक्षता प्राप्त कर लुंगा कि मुझसे असावधानी में बिना जाने, स्वप्नाबस्था में, होनेवाले मानसिक पाप भी आगे से न हो सकेंगे। एवं यह भारी साधना कर लेने पर मेरे भूत और भव्य मुझे ऋमशः जाग्रत और स्वप्ना-वस्था के पाप-बन्धनों से मुक्त करते रहेंगे, सदा मुक्त करते रहेंगे।

शब्दार्थ - यदि यदि जाग्रत् जागते हुए यदि स्वपन् यदि सोते हुए एनस्यः मैं पापी बन एनः पाप अकरं करता हूँ तो तस्मात् उस पाप से मा मुझे भूतं भव्यं च भूत और भव्य, भूत और भविष्य का चिन्तन द्रुपवात् इव काठ से, पाद-बन्धन से छुड़ाया जाता है उस तरह मुञ्चताम् छुड़ा देवें, मुक्त कर देवें।

२३४

, आरक द्वात स्वारा अव र भारा निवास

Digitized by Arya Samaj Poundation:She

३२ आरिवन

प्यविते दुष्वप्नयात् पापात् स्वप्न्यादभृत्याः। ब्रह्माहमन्तरं कृष्वे प्रा स्वप्नसुखाः शुचेः॥

अथर्व ० ७।१००।१

ऋषिः यसः । देवता दुःष्वप्ननाशनम् । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय जान का दिव्य सूर्य उदय हो चुका है। इसलिए मेरी चिरातन अज्ञान की रात्रि बीत गई है और मैं महानिद्रा से जाग उठा हूँ। अब तक मैं बहुत सोया, बहुत सोया और निद्रा में जाने कैसे-कैसे पाप के भयंकर-भयंकर दुःस्वप्न देखता रहा और अकल्याण व अनिष्ट के दुःखदायी स्वप्न देखता रहा। पर अब ये सब खत्म हो गये हैं। अज्ञानावस्था में ही ये सब पाप दुःख-अनिष्ट थे, अतः अब निद्रा के साथ वे सब भी समाप्त हो गये हैं। मैंने ब्रह्म को, महान् ज्ञान को, आत्मज्ञान को अपने अन्दर कर लिया है और उन स्वप्नों से आनेवाले सब दुःखों, शोकों तथा पीड़ाओं को बाहर कर दिया है, हटा दिया है। ओह! सचमुच सब 'पाप' दुःस्वप्न ही था, सब 'अभूति' स्वप्नमात्र थी! ये नींद के साथ खत्म हो चुके हैं। अपने शोकों-क्लेशों-दुःखों-सहित खत्म हो चुके हैं। मैं अब जाग गया हूँ, जाग गया हूँ।

out the time would have said a given age out and all all all

the late the case of the party of the late to be property

शब्दार्थ - बुष्वं प्यात् दु:खदायी स्वप्त में होनेवाले पापात् पाप से और स्वप्यात् अभूत्याः स्वप्त में होनेवाले अकल्याण से [अकल्याण के पास से] पर्यावर्ते में लौटता हूँ, मुंह मोड़ता हूँ। अहं में ब्रह्म महान् ज्ञान को, आत्म-ज्ञान को अन्तरं अपने अन्दर कृष्वे करता हूँ, और स्वप्नमुखाः स्वप्न से आनेवाले इन शुचः शोकों को, दु:खों को परा [कृष्वे] दूर करता हूँ । 🎞

वैविक वितय

STY OF THE STREET

श्रीर मीरियों की ग्राहण

श्र<u>पकाम</u>न् पौरुषेयाद् हुणानो दैन्यं वर्चः । प्रणीतीर्भ्यावतस्व विश्वे<u>भिः</u> सर्विभिः सह ॥

-अथर्व० ७।१०५।१

ऋषिः अथवी । देवता मन्त्रोवताः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे मनुष्य! तू पौरुषेय, मनुष्यकृत बातों को छोड़कर सदा ईश्वरीय वचन को स्वीकार कर। सब बातों में मनुष्यकृत भाग को छोड़कर सदा उसके सारमय सत्य, दैव भाग का वरण कर। यही नीति है जिसके अनुसार तुझे अपने जीवन को तथा अपने साथियों के जीवन को चलाना चाहिये। यदि तू उच्च ज्ञान पाना चाहता है, सच्ची शिक्षा से शिक्षित होना चाहता है, तो तू साधारण पुरुषों की स्तुति-निन्दा की कथाओं से, अखबारी दुनिया की उत्तेजनाभरी सामयिक, अस्थायी और भ्रान्तिपूर्ण चर्चाओं से, मनुष्यों के राग-द्रेष से रंजित अत्युक्ति-हीनोक्तिपूर्ण भाषाओं से दूर रहता हुआ, हटता हुआ, बचना हुआ सदा सब जगह मूलभूत ईश्वरीय नियम को, उसके सत्य सिद्धान्त को ही देखने-ढूँढने का अभ्यास करता हुआ चल। यदि तू ऐसा करेगा तो तू इन सब जगह वेद को पढ़ेगा, ईश्वरीय वाणी को प्राप्त करेगा। इस प्रकार सदा सच्ची देवी प्रकृष्ट नीतियों को, उत्तम शिक्षाओं को, सन्मार्गों को प्राप्त करता हुआ तू उसी के अनुसार सब तरह से अपना वर्त्तन कर, व्यवहार कर, अपने सब साथी, संगी, मित्र, शिष्य, अनुयायियों-सहित उन्हीं के अनुसार आचरण कर, उन्हीं प्रणीतियों का अनुसरण कर। इसो तरह तू अपने मनुष्यत्व को फलीभूत कर सकेगा।

शब्दार्थ हे मंतुष्य ! पौरुषयात् पुरुषों की, मनुष्यकृतः [बातों से] अपकामन् हटता हुआ, दैव्यं देवसम्बन्धी, ईश्वरीय वचः वचन की वृणानः श्रेष्ठ मानकर स्वीकार करता हुआ तू प्रणीतीः इन देवी प्रकृष्ट नीतियों का, सुशिक्षाओं का विश्वेिष्कः सिंह अपने सब साथी-मित्रों-सिह्त अभि आ वर्तस्व सब तरह से आचरण कर।

वैदिक विनय

Claskin appro-

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेष आहिर्वनं

स्र क्ये ते इन्द्र <u>वाजिनों</u> मा भैम शवसंस्पते । त्वास्मि प्र णौतुसो जेतारुमर्पराजितस् ॥

-ऋ० शाशशात

ऋषिः जेता माधु च्छन्दसः । देवता इन्द्रः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे परम ईश्वर ! तुम्हें अपना सखा जानकर अब संसार में और किसी से क्या डरना है! सब बल के स्वामी 'शवसस्पति' तो तुम हो। तुमसे बल-ज्ञान पाकर, 'वाजी' होकर कैसा डरना ? तुम्हारा सहारा पकड़कर अब कैसा भय ? अदूर भविष्य चाहे कितना अन्धकार-मय दीख रहा हो, सामने चाहे कितना विकट संकट आता दीखता हो, फिर भी हम निर्भय है, क्योंकि हम जानते हैं कि इस सबको यदि तुम चाहो तो एक क्षण में टाल सकते हो। जब तुमसे नाता जोड़ लिया, जब तुम्हारी राह में चल पड़े, तो दु:ख-पीड़ा, अर्थनाश, सम्बन्धियों का वियोग, जंग-हँसाई आदि के सह लेने में क्या पड़ा है ? तुम महाबली का नाम लेते हुए हम भारी-से-भारी अत्याचारों को हँसते-हँसते सहते जाते हैं। तुम्हारे प्यारे सच्चे मार्ग पर चलते हुए एक वार नहीं, लाख बार यदि मौत आये तो हम उसे भी आनन्दमग्न होकर स्वीकार करते जाते हैं। इनमें भय की क्या बात है ? सचमुच, हे इन्द्र ! तेरे सख्य को पाकर हम निर्भय हो गये हैं, दुर्लभ 'अभय' पद को पा गए हैं, अभय बन गए हैं। पर इस उच्च अभय-अवस्था को प्राप्त होकर भी, हे मेरे स्वामी ! हम कभी मन में अभिमान को कैसे ला सकते हैं ? क्या हम नहीं जानते कि संसार की सब विजयें तुम्हारे बल द्वारा ही प्राप्त हो रही हैं, तुम ही संसार में एकमात्र जेता हो, विजयी होनेवाले हो ? तुम्हें, तुम्हारी शक्ति को संसार में और कोई नहीं पराजित कर सकता। यह अनुभव करते हुए, हे मेरे सखा ! ज्यों-ज्यों हममें तुम्हें पाकर आत्मा-भिमान बढ़ता गया है, त्यों-त्यों हममें तुम्हारे प्रति नम्रता भी बढ़ती गई है। ज्यों-ज्यों तुम्हारी कृपा से हममें अभयता आती गई है, त्यों-त्यों तुम्हारे चरणों में भिनत भी बढ़ती गई है। इसलिए, हे हमें अभयपद प्रदान करनेवाले प्रभो ! हम तुम्हें प्रणाम करते हैं। हे जेत: ! हे अपराजित ! हम तुम्हारे स्तुति-गान करते हैं। तुम्हारा नित्य निरन्तर गुण-कीत्तंन करते हैं। ओह ! तुम्हारा गुण-कीर्त्तन करते हुए हम कभी नहीं थकते, हम कभी नहीं थकते।

शब्दार्थ शवसस्पते हे बल के स्वामी ! इन्द्र परमेश्वर ! ते तेरी सख्ये मित्रता में आकर वाजिनः बल-ज्ञान से युक्त हम मा भेम अब भयभीत न हों, निभैय हो जायें। जेतारें संदों जीतनेवाले अपराजितं कभी भी पराजित न हो सकनेवाले स्वां तेरे अभि प्रणोनुमः हम बार-बार सर्व प्रकार स्तुतिगान करते हैं।

वैदिक विनय

लक्सी का गहण

र्थ आहिवन

पता एं<u>ना</u> व्याक्षरं <u>खि</u>ले गा विष्ठिता इव । रमन्<u>तां पुण्यां छक्ष्मीर्याः, पा</u>पीस्ता श्रेनीनशम् ॥

-अथर्वे० ७।११५।४

ऋषिः अथवाङ्गिराः । देवता स्विता । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय मेरे घर में सैकड़ों प्रकार की लक्ष्मी, ऐक्वयं की वस्तुएँ रखी हुई हैं। किन्तु जब से मुझे ज्ञान हुआ है कि मुझे पाप की कमाई का परित्याग कर देना चाहिये और ऐसी पाप-लक्ष्मी का सेवन मेरा विनाश कर देगा, तब से मैंने निक्चय कर लिया है कि मैं अब पापलक्ष्मी को घर में नहीं रखूँगा। इस प्रयोजन के लिए आज मैं अपनी एक-एक वस्तु का निरीक्षण करने लगा हूँ। जैसेकि गोपाल बज में इकट्ठी हुई गौओं को पृथक्-पृथक् पहचानता है कि ये अपने घर की गौएँ हैं और ये नहीं, उसी तरह मैं अपने सब सामान को पुस्तक, पलँग, कुर्सी, सन्दूक, कीमती वस्त्र, वहाँ का रुपया, उधर से आया जेवर, कोठी, खेत, जायदाद आदि एक-एक वस्तु को जुदा-जुदा विभक्त कर रहा हूँ कि ये-ये बिलकुल उचित कमाई की वस्तुएँ तो ठीक हैं किन्तु यह रिक्वत में आयी वस्तु, यह छल-कपट से पायी जायदाद, दुर्बल को सताकर मिला यह धन, गरीबों के पेट को काटकर बने ये बहुमूल्य कपड़े, इन सबको मैं आज विनष्ट कर दूँगा, इन्हें मैं अपने पास नहीं रख सकता।

जन्म से ही मैं सैकड़ों प्रकार की दैवी या आसुरी सम्पदों को साथ लेकर आया हूँ, पैदा हुआ हूँ। किन्तु आज मैं उनका विवेकपूर्वक पृथक्करण करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। जो मेरे हृदय में 'अभय', सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञान, योगस्थिति आदि दैवी सम्पद् हैं, पुण्यलक्ष्मी हैं, उन्हें तो मैं कहता हूँ कि "तुम मुझमें रमण करो, आनन्दपूर्वक रहो"। किन्तु जो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान आदि आसुरी सम्पद् हैं, पापलक्ष्मी हैं, उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में से निकल

है हमें असयपद प्रदात वस्तेवाले प्रसीत इस तुरहें प्रणान करते हैं। हे सेवर कि अपनाजित । इस तरहारे स्वतिन्यान करते हैं। तरहारा वित्य विस्तार प्रणाकीरीन करते हैं। बोह । तरहारा प्रणा

कीतंत करते हुए अस मारी वहीं घवते. इस क्या नहीं शकते ।

जाने को कहता हूँ, उन्हें मैं अपने मनोराज्य में नहीं रहने दूँगा।

शब्दार्थ एताः इन एनाः उन [अपने घर या जीवन में रक्खी हुई सैकड़ों प्रकार की] लिक्ष्मयों का व्याकरं में विवेकपूर्वक पृथवकरण करता हूँ खिले विष्ठिता गाः इव जैसेकि व्रज में विविध प्रकार की आ बैठी हुई गौशों का गोपाल पृथवकरण किया करता है। अब याः पुण्याः लक्ष्मीः जो पुण्या लक्ष्मी हैं, पुण्य कमाई के ऐदवर्य हैं रमन्तां वे मेरे यहाँ रमण करें, आनन्द से रहें, पर याः पापीः जो पाप-कमाई की लक्ष्मी हैं ताः उन्हें मैं आज अनीनशम् विनष्ट किये देता हूँ। <table-cell>

२३5

513313 OF

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGang

२६ आश्विन

हिरण्यगर्भ पर्मनत्युद्यं जना विदुः। स्कम्भस्तद्ये पासिश्चिद्धरेण्यं छोके ब्रन्तरा ॥

-अथर्व० १०।७।२८

ऋषिः अथवा । देवता स्कम्भः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय इस विश्व का मूल खोजते हुए हम मनुष्य प्रायः हिरण्यगर्भं तक ही पहुँचते हैं। सब शास्त्रों में इसे जगत् का वह हिरण्यमय (चमकता हुआ) गर्भ माना है जिससे कि इस सब जगत् की उत्पत्ति हुई है। वैज्ञानिक लोग भी इस सब सौर-मण्डल की उत्पत्ति एक ऐसे ही हिरण्य-मय महातेज:पिण्ड से कहते हैं जिससे कि कालान्तर में जुदा होकर ठण्डे हुए ये हमारे पृथिवी आदि सब ग्रह आज अपने अविशष्ट सूर्य के चारों तरफ घूम रहे हैं। परन्तु क्या इस हिरण्यगर्भ से भी परम अन्य किसी तत्त्व को नहीं बताया जा सकता ? एवं वैयक्तिक जीवन के मूल में भी हम वीर्य (हिरण्य) को, वीर्य के अणु को ही जानते हैं। पर वीर्य के अणु में भी यह जीवन पैदा करने की शक्ति क्योंकर है, यह हम नहीं जानते। प्रारम्भ-प्रारम्भ में इस वीर्य-अणु को किसने उत्पन्न किया ? इस विश्व के प्रारम्भ में तैजस सूक्ष्मलोक में उस हिरण्यगर्भ को किसने प्रकट किया ? इसका उत्तर हम नहीं जानते । यह संसार बेशक सत्त्व, रज, तम का (Mind, Motion, Matter का) खेल है। तम से परे रज है और रज से परम सत्त्व है। पर क्या सत्त्व (Mind) का अतिक्रमण करके कही जा सकनेवाली, इससे परली और कोई शक्ति संसार में नहीं है ? वह सत्त्व का हिरण्य भी जिसके आधार से चमकता है, हे मनुष्यो ! उस 'स्कम्भ' देव को तुम जानो। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में जो हिरण्यगर्भ को भी प्रादुर्भूत करता है और जो संसार की जीवन-प्रिक्रिया को चलता कर देता है उस स्कम्भदेव को तुम जानो। इस ब्रह्माण्ड-शरीर की नस-नस में जो दिव्य वीर्य (हिरण्य) इसे जीवन देता हुआ सदा बह रहा है, वह उस स्कम्भ का ही सींचा हुआ है। इस ब्रह्माण्ड में जो भी कुछ जीवन, चैतन्य, प्राण, दिव्यत्व, प्रकाश, चमक आदि दीख रहा है यह सब हिरण्य उसी स्कम्भ से आया हुआ है। अतः हे मर्नुष्यो ! तुम उस जगदाधार स्कम्भ को ही परम और अनत्युद्य वस्तु समझो; अन्य किसी को नहीं।

शब्दार्थ-जनाः लोग हिरण्यगर्भं हिरण्यगर्भं को परमं सबसे परली और अन्-अति-उद्य जिससे अतिक्रमण कर परे कुछ न कहा जा सके ऐसी वस्तु विदुः समझते हैं। परन्तु तत् हिरण्ये उस हिरण्य को, तेजोमय वीर्य को तो अग्रे प्रारम्भ में लोके अन्तरा इस संसार के अन्दर स्कम्भः जगदाधार परमेश्वर ने प्रासिचत सिंचन किया है।

प्रमारत्य भी प्राप्त के लिए

२७ आस्विन क्रथं वातो नेलंगित क्रयं न रमते मनः। किमार्पः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलंगिनि कदा चन।।

—अथर्व० १०।७।३७

अहाषः अथवा । देवता स्कम्भः आत्मा वा । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय — यह वायु क्यों सदा गित कर रहा है ? कहीं ठहर क्यों नहीं जाता ? यह मन क्यों कहीं रत नहीं हो जाता ? क्यों किसी आनन्द को पाकर ठहर नहीं जाता ? ये निदयाँ, ये प्रजायें, ये जीव, जीवों के ये कर्मप्रवाह क्यों कभी नहीं ठहरते ? क्यों सदा चल रहे हैं ?

ये सब किसे प्राप्त करना चाहते हुए चलते चले जा रहे हैं ? यह वायु, यह प्राण कहाँ पहुँचने के लिए सदा चल रहा है ? यह मन किस प्यारे को पाना चाहता हुआ और उसे कहीं न पा सकता हुआ प्रतिक्षण चंचल है ? ये सब प्रजाएं, ये सब प्राणी दिन-रात कुछ-न-कुछ करते

जाते हुए किसे प्राप्त करना चाहते हैं ?

क्या ये राब सत्य को ही पाना चाहते हुए नहीं चल रहे हैं ? ओह ! सचमुच, उस परम सत्य को पाने के लिए ही प्राण निरन्तर चल रहा है, मन सदा भटक रहा है और सब प्राणियों का प्रतिक्षण का कर्मप्रवाह चल रहा है। और निःसन्देह कभी, किसी काल में उस परम प्यारें 'सत्य' को पा लेने पर ही यह हमारा प्राण चैन पायगा, मन निरुद्ध हो जायगा, हमारी सब-की-सब चेष्टाएँ सर्वथा बन्द हो जायँगी और हम उस प्रेप्सित परम आनन्द में समाधिस्थ हो जायँगे। पर उसे बिना पाये कहीं विश्राम नहीं है, हे भाइयो! कहीं विश्राम नहीं है।

भी दिस्य नीचे (हिरम्य) इसे सीनव देता हुता वृद्ध कह रहा है, वह उसे समझारा हा भीता हुना है। इस शहाण्ड में नी भी हुछ मोचन, चरान्य प्राय, दिन्यरन, प्रसाय, पणक आदि दोख उसा है यह सब जिएए। उसी स्वस्य ने साचा हुता है। सन्द्र है समुद्धी ! तम उस म्यदायाल

। कि है है है कि में इस अंद अवस्था करने समान अंद कि है है है करने

शब्दार्थ वातः वायु, प्राण कथं क्यों न इलयित नहीं ठहरता ? मनः मन कथं क्यों न रसते कहीं नहीं रमता ? कि क्या सत्यं प्रेप्सन्तीः सत्यस्वरूप को प्राप्त करना चाहती हुई ही आपः प्रजाएँ, जीव, जीवों के कर्मप्रवाह कदाचन कभी भी न इलयन्ति नहीं ठहरते हैं, सदा चल रहे हैं,?

19 प क्रानाय महाकात्य

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and Cangoti

२८ आस्वित अ<u>न्ति सन्तं</u> न जं<u>डा</u>त्यन्ति सन्तं न पश्यति । देवस्यं पश्य कान्यं न ममार न जीर्यति ॥

-अथर्व० १०।व।३२

THE REST OF SERVICE

ऋषिः कुत्सः । देवता आत्मा । छन्दः अनुष्ट्प् ।

विनय - मनुष्य परमेश्वर को कभी त्याग नहीं सकता, कभी उससे जुदा नहीं हो सकता। क्योंकि, यह परमेश्वर के इतना सिन्नकट है, इतना घनिष्ठ सम्बन्ध से जुड़ा है कि परमात्मा उसकी आत्मा की आत्मा है। पर आश्चर्य है कि इतने निकट होता हुआ भी वह अपने परमात्मा को देखता नहीं है। अथवा, इसमें आश्चर्य करने की क्या बात है? वह इतना अत्यन्त निकट है इसीलिए उसे वह नहीं देख सकता। जब आंख अपनी पुतली को नहीं देख सकती तो अपने को शक्ति देनेवाले परमात्मा को आत्मा कैसे देखे? इसीलिए हे मनुष्य! यदि तू अपने परमात्मा को आंखों से ही देखना चाहता है तो तू उसके काव्य को देख! गुणों के देखने से ही गुणो देखा जाता है। तू उसके इस दृश्य महाकाव्य में उसके दर्शन कर। देख, उसका यह दृश्यकाव्य हर समय चल रहा है, खेला जा रहा है। इस दृश्य काव्य का पुस्तक वेद है, पर उसका अभिनय यह सब चलता हुआ दृश्यमान संसार है। मनुष्यकृत नाटक को एक-दो बार देख लिये जाने पर पुराना हो जाता है और वह खत्म तो हो ही जाता है। परन्तु यह ईश्वरीय काव्य न तो कभी खत्म होता है और न कभी पुराना होता है, न कभी मरता है और न कभी जीणें होता है। उससे निरन्तर हर समय नित्य नया निकलता हुआ यह काव्य सदा चल रहा है। हे मनुष्य! तू सदा इसको देखता हुआ इसी में अपने परमात्मदेव का हर घड़ी और हर पल दर्शन किया कर।

न्यारे क्षेत्र संबोध ने यह ग्रहानी हैं। कि वह में कि कुला की विकास में भी में महिन हैं में पूर्व स्ट्रीया १ कोड़ से परम सक्षण हैं मेरे महिन में से घर पहले से संसार में से महिन में दिन हैं भी ह

शब्दार्थ मनुष्य अन्ति सन्तं सदा समीप ही विद्यमान [परमात्मदेव] को न जहाति कभी त्यागता नहीं, जुदा नहीं होता और अन्ति सन्तं समीप ही विद्यमान उसे न पश्यित देखता भी नहीं। हे मनुष्य! तू देवस्य उस परमात्मदेव के काव्यं काव्य को पश्य देख, जो कि काव्य न ममार कभी मरा नहीं, मरता नहीं और जो न जीर्यति कभी जीर्ण नहीं होता, पुराना नहीं होता।

वैदिक विनय

5.86

माध्यसय हो जाफ

२६ आश्विन

मधुमन्मे <u>निक्रमणं</u> मधुमन्मे प्रायणम्। <u>वा</u>चा वदा<u>मि</u> मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥

-अथर्व० १।३४।३

ऋषिः अथर्वा । देवता मधुवनस्पतिः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-मेरा प्रत्येक कर्म मधुमत् हो। मेरा आना-जाना, मेरा पास होना और दूर होता, मेरी प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये सब क्रियायें माधुर्यमय और प्रेमपूर्ण हों। लोग समझते हैं कि पास होना या आकृष्ट होना तो प्रेमयुक्त होता है पर जुदा होना, दूर हटना प्रेमयुक्त नहीं हो सकता। परन्तु नहीं, हमारा दूर हटना भी प्रेमपूर्ण ही होना चाहिये; दूर हटने, जुदा होने में भी हमें उस भाई के प्रति जिससे कि हम हटते हैं, अपने प्रेमभाव व माधुर्य को नहीं त्यागना चाहिये। किसी समय जुदा हो जाना, निवृत्ति, असहयोग करना भी कर्तव्य होता है, धर्म होता है, परन्तु उस समय अपने उस प्रतिपक्षी साथी के प्रति उसी तरह प्रेमभाव बनाये रखना भी उतना ही अवरयक धर्म होता है। इसलिए मेरी तो जहाँ प्रत्येक निक्रमण की, निकटगमन की किया भी मधुमय होती है, वहाँ मेरी प्रत्येक परायण की, हटने की किया भी माधुर्यमय होती है। और इस निक्रमण और परायण से बाहर मेरी और कौन-सी किया रह गई ? मैं वाणी से भी मीठा ही. बोलता हूँ; स्थूल वाणी से, हृदय की वाणी से, लेख की वाणी से या आचरण की वाणी से, अपनी प्रत्येक अभिव्यक्ति से मैं माधुर्य को ही बरसाता हूँ। इस तरह हे प्रभो ! अपनी एक-एक चिष्टा में, किया में, हरकत में तथा एक-एक वाणी में, वचन में माधुर्य को ही लाता हुआ मैं मधु-संदृश बन जाऊँ। हे मधुस्वरूप! जब मैं इस तरह अपने जीवन में माधुर्य की उपासना करूँगा तो निरुचय से बाहर भी मेरे लिए सब कहीं माधुर्य-ही-माधुर्य हो जायगा। मेरी दृष्टि में ऐसा माधुर्यं बस जायगा कि मैं संसार में माधुर्यं के सिवाय और कुछ नहीं देख सक्रा। और तो क्या, अपने प्रति किये गये प्रहारों में, आक्षेपों में, निन्दा में, नुक्ताचीनियों में भी मैं माधुर्य-ही-माधुर्य देखूंगा। ओह, हे परम मधुवाले ! तेरे माधुर्य से भरे पड़े इस संसार में मैं माधुर्य के सिवा और कुछ कैसे देख सक्गा ?

शब्दार्थ में मेरा निक्रमणं निकट जाना, प्रवृत्ति मधुमत् माधुर्यमय हो तथा में मेरा परापणं दूर हटना, निवृत्ति भी मधुमत् माधुर्यपूर्ण हो । मैं वाचा वाणी से मधुमत् माधुर्ययुक्त ही वदामि बोलता हूँ, इसलिए [हे मधुस्वरूप] मैं मधुसंदृशः मधुरूप या सर्वत्र मधुको ही देखनेवाला मुयासम् हो जाऊँ ।

वैदिक विनय

RXX

रेग नरमा (मा)

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दं आहितन पूर्णात् पूर्णमुदंचित पूर्ण पूर्णेन सिच्यते। जुतो त<u>द</u>ेच विद्याम यतस्तत् परि<u>षि</u>च्यते॥

अथवं ० १ । । दार्ह

ऋषिः कुत्सः । देवता आत्मा । छन्दः अनुष्टुष् ।

विनय मनुष्यो ! आओ, हम यह जानें कि यह संसार परिपूर्ण हैं। संसार की पृथक्-पृथक् वस्तुएँ बेशक अपूर्ण हैं, अधूरी हैं, त्रुटिमय हैं, किन्तु यह समूचा संसार मिलकर परिपूर्ण ही है। यदि हम संसार की परिपूर्णतों को नहीं अनुभव करते हैं तो हम अभी संसार को नहीं जानते हैं। पूरी समूची दृष्टि से जब हम संसार की देख सकेंगे तो हम देखेंगे कि इस समब्दि संसार में कोई कसर, त्रुटि व कमी नहीं है। और यह संसार पूर्ण क्यों न हो, जब यह पूर्ण पुरुष का रचा हुआ, पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। निःसन्देह यह पूर्ण जगत् उस पूर्ण परमेश्वर से निकला है, प्रादर्भत हुआ है।

भाइयों ! और फिर तुम यह देखों कि उस पूर्ण प्रभु ने इस पूर्ण जगत् की एक बार पैदा करके ही नहीं रख दिया है, किन्तु वह इसे लगातार सींच भी रहा है, सतत जीवन-रस पहुँचाता हुआ पालन भी कर रहा है। अर्थात् यह जगत् न केवल पूर्ण पैदा हुआ है किन्तु पूर्ण रूप से चल भी रहा है और पूर्ण रूप से सदा चलता रहता है; इस पूर्ण माली द्वारा पूरी तरह सींचा जाता हुआ सदा पूर्णतया फूलता-फलता रहता है।

हे मेरे भाइयो ! यदि हमने यह जान लिया है कि यह जगत् एक परिपूर्ण कृति है और फिर यह भी जान लिया है कि फलतः इसका कर्ता भी परिपूर्ण होना चाहिए, तो आओ अब हम उस परिपूर्ण को जाने-पहचानें और प्राप्त करें जो कि पूर्ण इस पूर्ण जगत् को उत्पन्न कर इसे सदा परिपूर्णत्या सींच रहा है। आओ, आओ! आज से हम उसकी खोज में निकल पड़ें जोिक परिपूर्ण है और परिपूर्णता का देनेवाला है। आज से उस पथ के पथिक बन जायें जोिक हमें परिपूर्णता के पद पर पहुँचानेवाला है।

्रिक्ट कि श्राह्मार्थ पूर्णात् पूर्ण से पूर्ण पूर्ण उदचित उत्पन्न होता है और पूर्ण यह पूर्ण पूर्णन उस पूर्ण द्वारा सिच्यते सीचा भी जाता है। उतो तो अद्य अब आज हम तद् उस [पूर्ण] को विद्याम जानें, प्राप्त करें यतः जिस द्वारा तत् वह [दूसरा पूर्ण] परि-सिच्यते पूर्णतया सीचा जा रही है।

वैदिक विनय

483:

Mall see by Arve Sement Conductor Chemnal and eGangotti

३१ आधिवन इयं केल्<u>या</u>ण्येज<u>रा</u> मत्येस्<u>या</u>मृतां गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकारं <u>ज</u>जार सः।।

-अथर्वे० १०।८।२६

ऋषिः कुत्सः । देवता आत्मा । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय देखो, यह कल्याणस्वरूपिणी देवता है जो कि कभी बुड्ढी नहीं होती है, सदा अजरा है। यह मरणशील मनुष्य के, मर्त्य के, घर में घारण की गई अमृत है, कभी न मरनेवाली है। यह इस घर में न जाने कब से बैठी है। पर बड़े दु:ख की बात है कि यह जिसके लिए आई है, जिसके लिए घर में धारण की गई है वह सोया पड़ा है, वह लगातार सोया पड़ा है। यह उसे धारण करनेवाला घर जीणं हो जाता है और ढह जाता है, फिर भी उसकी नींद नहीं समाप्त होती।

क्या तुम समझे कि यह कल्याणी देवता किसके लिए आई हुई है ? शरीररूपी मत्यंगृह में धारण की गई यह आत्म देवता किस काम के लिए बैठी हुई है ? यह तो जीव का कल्याण करने के लिए आई हुई है । यह माता तो अपने जीव-पुत्र को उसके कल्याणमय मंगलधाम में ले-जाने के लिए आई हुई है और न जाने कब से पुत्र के जगने की प्रतीक्षा में बैठी हुई है । उसे धारण करनेवाले एक नहीं बहुत-से घर जीर्ण हो चुके हैं, वहुत-से शरीर बुड्ढे हो चुके हैं, पर वह प्रतीक्षा में बैठी हुई है । यह अजरा अमृता माता तो अनन्त काल तक ऐसे ही निविकार बैठी रह सकती है, और जबतक जीव न जागेगा तबतक बैठी रहेगी । पर हाँ ! चिन्ता की बात तो यह है कि जीव कब जागेगा ? यह पुत्र कब जागेगा ? कब जागृति पायेगा ?

शब्दार्थ — इयं यह कल्याणी कल्याणस्वरूपिणी देवता अजरा कभी जीण न होनेवाली, कभी बुँढी न होनेवाली है। यह मर्त्यस्य मरणशील मनुष्य के गृहे घर में, शरीर में धारण की गई अमृता अमृत है, न मरनेवाली है। किन्तु यस्मै जिसके लिए कृता यह धारण की गई है सः वह भंगे सीया पड़ा है, इसे यः जिसने चकार धारण किया है सः वह भी जजार जीण हो जाता है।

वैदिक विनय

Sylple ? o PPE --

कार्तिक मास

FISTES BUISDIN

THEFT HAS THE DATE OF THE PRINT

का मुद्र मांकोषियां नमा वा हो। बोहिले रेंग को कर्न है ने क्रम करा कर करावये, पर प्रमुख बुदवा विराहत बना देवा और बोबा रहे । बावने शरार को बारा बोल वारा पर पर प्रधा दशा हो। बन दार्व पेर की एमके बंदांबल के ओर पर प्रसाहत और हमें वहां वक दाई और के हा करते हो इस्ते कर व प्राप्त है जोश तर दूस सहार तरहा नहाशाह है प्रशास है कि है है है जो है जि

आरोहार मिनीय से यह होहत. अजाब नाने नेट हो हो, प्रोटिस्या हमी है। और मुखार

माता भूमिः पुत्रो ऋहं पृथिन्याः अथर्व० १२।१।१२

मेरी माता क्षाप्तक संस्थान अस्त सह । है शहर है भूमि है और मैं पृथिवी माता का to a interps a sip win into white ga g THE THE THE WHITE THE

Tires?

-

I S INF SP WIE

CRAST WEST

माजारा है। ध्यान की जिसे कि में बल-

कातिक (तुला)

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

उत्पादक अंगों को स्वस्थ और नीरोग रखनेवाला

प्रारम्भिक स्थिति में खड़े होइये, भुजायें नीचे लटकी हों, मुट्ठियाँ कसी हों और शरीर की सब मांसपेशियाँ तनी हुई हों। दाहिने पैर को फर्श से एक-दो इंच ऊपर उठाइये, पर इसका घुटना बिलकुल तना हुआ और सीधा रहे। आपके शरीर का सारा बोझ बायें पैर पर थमा हुआ हो। अब दायें पैर को इसके जंघामल के जोड़ पर घुमाइये और इसे जहाँ तक बाईं ओर ले-जा सकते हों वहाँ तक ले जाइये, और फिर इसे दूसरी तरफ चक्राकार में घुमाते हुए जहाँ तक ले-जा सकते हों वहाँ तक दाईं तरफ ले जाइये। यह सब करते हुए शरीर को इधर-उधर मत हिलने दीजिये और न पैर को ही जमीन से छूने दीजिये। इसके बाद दायें पैर पर खड़े होकर यही व्यायाम बायें पैर से कीजिये। शरीर को ढीला छोड़ दीजिए और फिर से इस व्यायाम को दुहराइये। इस सारे व्यायाम में लगातार गहरे, पूर्ण और पेट तक पहुँचनेवाले श्वास लेते रिहिये।

यह व्यायाम हमारे उत्पादक अंगों के लिए लाभकारी है। ध्यान कीजिये कि मैं बल-वान् हूँ और प्राणशक्ति से परिपूर्ण हूँ। इस प्राणायाम से मुझमें नया जीवन संचार हो रहा है इत्यादि।

इन उत्पादक अंगों को गौणतया वैशाख, श्रावण तथा माघ मास के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

₹8€

3 1(0)(9) Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ कार्तिक

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं ग्रुष्णमवीतिरः। विदुष्टे तस्य मेथिरास् तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥

—ऋ० १।११।७

ऋषिः जेता माधुच्छन्दसः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराडनुष्टुप् ।

विनय—हे परमेश्वर ! तेरे इस संसार में शुष्ण असुर भी उत्पन्त हुआ करता है। यह वह मनुष्य व मनुष्यसमूह होता है जो कि दूसरों के शोषण पर, चूसने पर, अपना निर्वाह करता है। यह बड़ा मायावी होता है। यह दूसरों के रक्त का शोषण बड़ी गहरी माया से, बड़े छल-कपट से करता है। यह ऐसे प्रबन्ध से काम करता है, ऐसा ढंग रचता है कि हमें अपना कुछ भी अनिष्ट होता हुआ नहीं पता लगता, किन्तु चूपके-चुपके हमारे सब सत्त्व, सब विद्या, सब सम्पत्ति कां अपहरण होता चला जाता है। इसकी माया के अच्छी तरह फैल जाने पर तो यह अवस्था आ जाती है कि इस शृष्ण असुर के शिकार हुए लोग ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि वे स्वेच्छा से, प्रसन्नता से, अपने को चुसवाते, शोषित करवाते जाते हैं। परन्तु हे इन्द्र ! तू इस मायावी महाअसर को मायाओं द्वारा ही विनष्ट कर देता है। तेरा जगद्विधान इतना सच्चा और परिपूर्ण है कि इसमें माया की अपने-आप प्रतिक्रिया होती है; माया अपनी प्रतिद्वन्द्वी माया की पैदा कर अपना आत्मघात कर लेती है। चालें चलनेवाला आखिर अपनी चालों से ही मारा जाता है। तेरी सच्ची माया (प्रज्ञा) के सामने शुष्ण की झूठी माया विलीन हो जाती है। पर तेरे इस सृष्टि के रहस्य को, तेरे इस सामर्थ्य को, विरले मेघावाले ज्ञानीजन ही जानते हैं । श्रेष साधारण लोगों को तो जब इस भयंकर शोषण का पता लगता है ती वे घबरा उठते हैं और संमझने लगते हैं कि इस संसार में कोई इन्द्र नहीं, परमेश्वर नहीं, कोई गरीबों की आह सुनने वाला नहीं। किन्तु ये 'मेधिर' लोग श्रद्धा-भरीं आँखों से तेरी तरफ देखते हुए अपना काम करते जाते हैं। पर हे इन्द्र ! अब तो बहुत देर हो चुकी, गुष्ण राक्षस का उपद्रव पराकाष्ठा को पहुँच चुका। पीड़ितों की सुधि तुम और कब लोगे ? ये देखो, चुसते चुसते अब यहाँ क्या बचाहै दे ये देखो, मेघावी लोग अब एकमात्र तुम्हारी तरफ टकटकी लगाये देख रहे हैं। अब तो तुम छिनते जाते गरीबों के पेट के अन्तों का उद्घार कर दो, नष्ट होते जाते उनके सत्त्वों का रक्षण कर दो। शुष्ण की माया को छिन्त-भिन्त करके इससे ढके पड़े सज्जनों के यज्ञों को फिर सुप्रकट कर दो। प्रभो! अब तो हद हो चकी है। हे इन्द्र! तुम्हारा इन्द्रत्व और किस समय के लिए है?

शब्दार्थ-इन्द्र हे परमेश्वर ! त्वं तुम म।यिनं मायावाले, बड़े कपटी शुब्णं शोषण करने-वाले राक्षस को मायाभिः मायाओं द्वारा ही अवातिरः नीचे कर देते हो, विनष्ट कर देते हो। ते तुम्हारे तस्य उस रहस्य को मेधिराः मेधावाले ज्ञानी लोग ही विदुः समझते हैं; तुम अब तेवां उनके अवस्ति अन्तों को, सत्त्वों को, यशों को उत्तिर ऊँचा कर दो, उदार कर दो।

वैदिक विनय

asinist of the

- 79×0

ब्रुस्नियो रे तेपालल के महती महिंगा

२ कार्तिक

<u>ब्रह्मचर्येण</u> तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । इन्द्रों ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वे<u>रा</u>भंरत् ॥

-अथर्व० ११।५।१६

अ ऋषिः ब्रह्मा । देवता ब्रह्मचारी । छन्दः व्रिष्टुप् ।

विनय शरीर में वीर्य ही जीवनवर्धक वस्तु है। हम इस वीर्य को जितना अधिक धारण करेंगे उतना ही हम जीवनपूर्ण होंगे और मृत्यु को जीतेंगे। मनुष्यो! यदि तुम मृत्युभय से पार होना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य को धारण करो। सब देव जो अमर हुए हैं, ज्ञानी, सन्त, महात्मा, ऋषिलोग जो मृत्यु को भी मारे हुए निश्चिन्त बैठे हैं, वे इस स्पृहणीय अवस्था को ब्रह्म-चर्य के तपोबल द्वारा ही पहुँचे हैं। शारीरिक वीर्य, मानसिक तेज और आत्मिक शक्ति को सदा रक्षित रखना, कभी भी भोग में गिरकर इसका क्षय न होने देना, यही वह कठिन ब्रह्मचर्य का तप है जिससे कि मौत भी मारी जाती है और सच्चा परमसुख पाया जाता है। संयमी ब्रह्मचारी जिस दिव्य सुख को अनुभव करते हैं उसकी एक कला भी भोगियों को नहीं मिलती है। बेचारे भोगी लोग सुख को जानते ही नहीं हैं। यदि उन्हें सच्चे आत्मवश सुख का पता लग जाय तो वे कभी भोगों की इच्छा न करें। हे भाइयो ! तुम उन परम ब्रह्मचारी परमेश्वर की तरफ क्यों नहीं देखते ? वे इन्द्र परमैश्वर्यवाले होते हुए भी त्रिकाल में भोगवासना से परे हैं और सर्वथा निष्काम हैं। इसीलिए उनके पास अपनी शक्ति का ऐसा अक्षय भंडार संचित है कि वे देवराज अपने सब अग्नि आदि देवों के लिए तथा सब मनुष्यदेवों के लिए तेज और सुख को अनवरत देते चले जा रहे हैं। यदि इस संसार के मूल में उन इन्द्र प्रभु का ब्रह्मचर्य न हो तो यह संसार एक क्षण-भर न चल सके। इसी तरह शरीर में आत्मा-इन्द्र अपने ब्रह्मचर्य द्वारा ही सब इन्द्रिय-देवों में तेज और सूख को सदा ला रहे हैं। भोगों में पड़ते जाने से इन्द्रियों का तेज़ सदा क्षीण होता जाता है, पर उनके आत्माभिमुख होने पर वे ब्रह्मचर्य द्वारा रक्षित आत्मा के अपार तेज और सुख से पूरिपूर्ण हो जाती हैं, भर जाती हैं। अतः हे मनुष्यो ! यदि तुम मौत को मारना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की साधना करो, और यदि तुम सुख पाना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य

सारवार्थ — देवाः देव, ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्येण तपसा ब्रह्मचर्यं के तपोबल से मृत्युं मौतं को अपाष्ट्रत मार डालते हैं। इन्द्रः परमेश्वर व आत्मा ह भी निश्चय से ब्रह्मचर्येण अपने ब्रह्मचर्यं के द्वारा ही देवे भ्यः देवों के लिए स्वः सुख व तेज को आभरत् लाता है, प्राप्त कराता है।

कर हो। शुष्ण की माया को जिल्ल-मिल्ल करके इससे रहे यह सम्बनों के यही को किर सुमकट कर दो। प्रयो ! अब तो हद हो पक्षी है। ह इन्ह्र ! सुन्हारा इन्ह्रल और हिस समय के जिए हैं ?

-3×5

ons 919 oak

10 प्रायान, देश र राजा का महान याधार

Digitized Aga Samaj Folimition chemiarand eGange

ब्रह्मचर्येण तर्पसा राजां राष्ट्रं वि रक्षति । <u>ब्राचा</u>र्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्म<u>चा</u>रिर्णमिच्छते ॥

-अथर्वे० ११।५।१७

ऋषिः ब्रह्मा । देवता ब्रह्मचारी । छन्दः विष्टुप् ।

विनय - जो राजा अजितेन्द्रिय, विलासी होता है उसके दुर्बल हाथों से राज्य की बाग-डोर सँभाली नहीं रह सकती। क्योंकि जिस सरकार के अधिकारी व कर्मचारी विषयलोलप, आचारहीन और लम्पट होते हैं उसकी प्रजा अरक्षित हो जाती है, एवं पीड़ित और दु:खी होती हुई वह प्रजा सरकार को शाप देती रहती है। ऐसी सरकार शीघ्र ही च्युत हो जाती है। अतः हे राजाओ ! यदि तुम सचमुच राज्य करना चाहते हो, प्रजा का ठीक-ठीक रंजन और रक्षण करना चाहते हो, प्रजा को धनसमृद्ध, ज्ञानिकसित और उन्नत बनाना चाहते हो तो तम ब्रह्म-चारी बनो और तपस्वी बनो। तुम अपने जीवन को सदा संयमी और तेजस्वी बनाओ और अपने-आपको जितेन्द्रिय, कष्टसिहष्णु और ईश्वरपरायण बनाओ।

इसी तरह जो आचार्य शिष्य को शिक्षित करना चाहता है, उसे ब्रह्मचारी रखकर वेदज्ञान देना चाहता है, उसे स्वयं ब्रह्मचारी होना चाहिये, बड़ा उन्नत ब्रह्मचारी होना चाहिये। नहीं तो उसे ब्रह्मचारियों की इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। वास्तव में यह आचार्य का अपना ब्रह्मचर्यमय और शान्तिप्राप्त जीवन ही होता है जिसके कारण वह इच्छा करता है कि और भी बहुत-से लोग ब्रह्मचारी बनें, कि जितने ब्रह्मचारी बनें उतने थोड़े हैं। सलमुच बाचायें: अपने ब्रह्मचर्य के बल द्वारा ही ब्रह्मचारियों को आकृष्ट करता है, उनपर शासन करता है, उन्हें अपने वश में रखता है, अपने से जोड़े रखता है और उन्हें ब्रह्मामृत पिलाता हुआ परिपुष्ट करता रहता है।

एवं कोई भी शासन—राज्यशासन या शिक्षाशासन, क्षत्रिय का शासन या ब्राह्मण का

'एवं कहा'। पूरव के विषय में कहते जनेगा

शासन-ब्रह्मचर्यं के बिना नहीं चल सकता।

-PRINTE SLIPE SEEDER SEEDER STEEL SEEDER SEEDER शब्दार्थ-राजा राजा ब्रह्मचर्येण तपसा ब्रह्मचर्य के तप द्वारा राष्ट्रं राष्ट्र की वि रक्षति ठीक-ठीक रक्षा करता है और आचार्यः आचार्य ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचरिणं ब्रह्मचरिं 9111 of other को इच्छते चाहता है।

सहसात हमी कारण में में विद्वार जानी लोग पहले रस पूर्व को इस पहल

वैदिक विनय

SKE

दिलो की भिवानिस्सि

४ कार्तिक

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषिमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वी ह्यस्मिन् देवता गावा गोष्ठ इवासेते ॥

—अथर्व० ११।८।३२

ऋषिः कौरूपियः । देवता अध्यात्मं, मन्युः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनयं सर्व ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह पुरुष ब्रह्म है। क्या तुम जानते हो कि वे ऐसा क्यों कहते हैं ? इसका कारण यह है कि सब-के-सब देवता हमारे शरीर में आये हुए हैं और सब देवों का देव परमदेव परमेश्वर ही हमारे अन्दर है। सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव हमारे शरीर में ऐसे अपना घर बनाकर आ बैठे हैं जैसे कि अपने गोष्ठ में, गोशाला मे, गौएँ यंथास्थान बैठी हुई होती हैं। सचमुच हमारा देह देवों का घर बना हुआ है। सूर्य देवता हमारे चक्षु को, ज्ञान को, ज्ञान के विस्तृत कोष को अधिकृत करके आ बैठा है और उसके साथ सम्पूर्ण और खुलोक के सब देवता समाये हुए हैं। वायु देवता हमारे प्राण में, मनोमय सहित हमारे प्राणशरीर में ठहरा हुआ है और उसके साथ सम्पूर्ण अन्तरिक्ष लोक और अन्त-रिक्ष के सब देव आये हुए हैं। और अग्नि देवता हमारे शेष स्थूल शरीर को सँभालकर बैठा हुआ है और उसके साथ समस्त पृथिवीलोक तथा पृथिवी के सब देव विराजे हुए हैं। इस तरह यह सब त्रिलोकी, त्रिलोकी के सब भुवन और भुवनों के सब-के-सब तैंतीस, तीन सौ तीन या तीन हजार तीन देवता इस शरीर में आये हुए हैं। सचमुच सब ब्रह्माण्ड ही इस पिंड में है। इसमें आक्चर्य ही क्या है ? जब वह परमदेव हमारे अन्दर है तो उसकी सम्पूर्ण विभूति, उसका सम्पूर्ण विश्व क्यों न हमारे अन्दर होगा ? वास्तव में सब-कूछ हमारे अन्दर ही है और मनुष्य को जब भी कभी सब-कुछ की प्राप्ति होगी तो अपने अन्दर से ही होगी। बाहर कुछ नहीं है। बाहर तो केवल हमारे अन्दर की छायामात्र है, अस्थिर छायामात्र है। इसलिए हे मनुष्य ! जिस दिन इस परम सत्य का साक्षात्कार तुझे हो जायगा तो निश्चय से तु भी बोल उठेगा 'इदं ब्रह्म'। पुरुष के विषय में कहने लगेगा 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है'।

शब्दार्थ — तस्मात् इसी कारण वै ही विद्वान् ज्ञानी लोग पुरुषं इस पुरुष को इदं ब्रह्म इति 'यह ब्रह्म है' ऐसा मन्यते मानते हैं। क्योंकि अस्मिन् इस पुरुष-देह में सर्वा हि देवताः सव-की-सब देवताएँ गांवः गोष्ठे इव जिस तरह गोशाला में गोएँ बैठी होती हैं उसी तरह आसते आ विराजी हुई हैं।

१. बृहदा० ७० शशश

0815198 of 191

२५०

ाट विश्वासन "जा महर्ग माइम

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५ कार्तिक

श्रहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्यमि । श्रमीषाडस्मि विश्वाषाडाश्चीमाशां विषासहिः ॥

अथर्व० १२ । १। ५४

ऋषिः अथवा । देवता भूमिः । छन्दः तिष्टुप् ।

विनय में सहनशक्ति में अदम्य हूँ। मैं सह-सहकर सबको हरा दूंगा, सबको पराभूत कर दूंगा। अपनी भूमि माता के लिए ऐसी क्या चीज है जिसे मैं सह नहीं लूंगा! मैं इस भूमि पर 'उत्तर' होकर उत्पन्न हुआ हूँ, उत्कृष्टतर मनुष्य-योनि पाकर उत्पन्न हुआ हूँ। मुझे अपने मनुष्यत्व का अभिमान है। मैं मनुष्य होकर कभी सहन करने में कैसे हार खा सकता हूँ? मैं तो भूमिमाता का मुख उज्ज्वल करने के लिए असह्य-से-असह्य कठिनाइयों और मुसीबतों को सह डालूंगा। मेरे मुकाबिले में जो कोई आयेगा उसे मैं अपनी सहनशक्ति द्वारा वशीभूत कर लूंगा, अपने सामने नमा लूंगा। मेरे अभिमुख कोई भी प्रतिद्वन्द्वी खड़ा नहीं रह सकता। मैं उत्तर हूँ। मैं सब-कुछ सह लूंगा। मेरे अभिमुख कोई भी प्रतिद्वन्द्वी खड़ा नहीं रह सकता। मैं उत्तर हूँ। मैं सब-कुछ सह लूंगा। में भूमिमाता का पुत्र हूँ, मैं सबका अभिभव कर दूंगा। हे संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति! तू आ, मैं आज सबको जोत लूंगा। मैं तो जिस दिशा में पर रखूंगा उसे ही अपनी सहनशक्ति द्वारा अपने सामने झुका लूंगा; जिस आशा या इच्छा से निकलूंगा उसे ही अपने इस अमोघ अस्त्र द्वारा अधिगत कर लूंगा; मैं अभीषाड हूँ, मैं विश्ववाषाड हूँ।

गर्य वर पूरणनिष्यां में सामेपाले होते हैं, यह सभी ज्ञुसकी सोग जानते और क्षेत्रों हैं। परन्युक हम तो सभी जाती की पुरुषाोप नहीं करेंगे । जपनी जाती का सबंग जातित की महाने की विस्तु प्रेम प मेल गड़ाने के पित्यू की उपयोग करेंगे । इस देशी महा, परमेशबर की महान की हुई, इस प्रस्म प्रिया करते हैं। हम करन सोज नव कर उपयोग करेंगे । इसके जारा हम समर्थों को बार्टी

> परें हुआं को सिम्मावने और जया हुआं को वने स्वकृत्यों है। हुमारा चेन्ड्रच है अस्ति सारा तम संकार में अर्थन्त को फैनावने, सवार में अधिन का संस्थापन क

शब्दार्थ अहं में सहमानः सहन करनेवाला अस्मि हूँ, भूम्यो इस भूमि पर उत्तरः नाम उत्कुष्टतर प्रसिद्ध हूँ। मैं अभीषाड् मुकाविले में आये हुए को सहनेवाला अस्मि हूँ, विश्वाषाड् सब-कुछ सहनेवाला हूँ, आशां आशां प्रत्येक दिशा में प्रत्येक इच्छापूर्ति के लिए सव-कुछ विषासिहः विशेषतया बार-बार सह सकनेवाला हूँ।

वैदिक विनय

\$13139 oFFE

- 7×2

मानित महिल जाए हो। देश ।

इन्द्र के वाज नाग्द्रकों की मिहली माहिसी

६ कातिक

इ्यं या परमेष्ठि<u>नी</u> वाग्देवी ब्रह्मसंशिता। ययैव संसृजे <u>घो</u>रं तयैव शान्तिरस्तु नः॥

—अथर्व० १६।६।३

ऋषिः वसिष्ठः । देवता शान्तिः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-हमारे अन्दर जो वाणी है वह एक बहुत बड़ी देवता है। हमारा दौर्भाग्य है कि हम इसके माहात्म्य को नहीं समझते । यह तो परमेष्ठिनी है । परम में ठहरनेवाली है । इसका स्थान परमदेव में है। पर हम इसे एक मामूली चीज समझते हुए इसके साथ 'परमेश्वर से सम्बन्ध रखनेवाली वाग देवता' का-सा बर्ताव नहीं करते। यदि हम इसके साथ ऐसा ही बर्ताव करें और इसे ब्रह्मसंशिता बनायें तो इसके समान संसार में और कोई दूसरी शक्ति नहीं है। ब्रह्म से, ईहवरीय ज्ञान से, ब्रह्मचर्य-प्राप्त ब्रह्मतेज से संशित की गई, तीक्ष्ण की गई वाणी एक ऐसा शस्त्र है जो कि अमोघ है। यह इन्द्र का वज्र है। यह आत्मा की एकमात्र शक्ति है। अनादिकाल से संसार के सब दिव्य लोग इसी दिव्य हथियार को बरतते आये हैं। यह ठीक है कि जैसे हरएक ही हथियार का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों किये जा सकते हैं वैसे इस वाक का दुरुपयोग भी हो सकता हैं और सदा होता रहा है। इससे बड़े-बड़े घोर कृत्य किये गये हैं। संसार में जो सदा लड़ाई-झगड़े-उपद्रव और संग्राम होते रहते हैं प्रायः उन सबका मूल किसी-न-किसी रूप में वाणी का दुरुपयोग ही होता है। वाणी की तलवार के घाव कितने बुरे होते हैं और कितने भयंकर दुष्परिणाम के लानेवाले होते हैं, यह सभी अनुभवी लोग जानते और देखते हैं। परन्त हम तो कभी वाणी का दुरुपयोग नहीं करेंगे। अपनी वाणी का सदा शान्ति फैलाने के लिए, प्रेम व मेल बढ़ाने के लिए ही उपयोग करेंगे। इस देवी का, परमेश्वर की प्रदान की हुई इस परम पवित्र वस्तु का, हम बहुत सोच-समझकर उपयोग करेंगे। इसके द्वारा हम जख्मों को भरेंगे, फटे हुओं को मिलायेंगे और जुदा हुओं को गले लगवायेंगे। हमारा संकल्प है कि इस वाणी-शक्ति द्वारा हम संसार में शान्ति को फैलायेंगे, संसार में शान्ति का संस्थापन करेंगे।

शब्दार्थ इयं यह या जो परमेष्ठिनी परमदेव परमेश्वर में ठहरनेवाली और ब्रह्मसंशिता ज्ञान से तीक्ष्ण की गई वाक् वाणीरूपी देवी देवता है, यया एव जिससे कि नि:सन्देह घोरं बड़े-बड़े घोर कृत्य समृजे किये जाते हैं तया एव उसी वाणी से नः हमारे लिए, हम मनुष्यों के लिए शान्तिः शान्ति अस्तु होवे, फैले।

महत्राच-अह है सहवास सहस्र करतेशामा स्रोप्त न प्राप्तां दल वर्ता कर सन्तर मान

२४२

WHIST S O BIEN

ट्लाबार्च के अग्रा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७ कार्तिकं

ईशा वास्यमिद्द र सर्वे यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेनं त्यक्तेनं भुञ्जीया मा गृधः कस्य स्विद्धनंम् ॥

-यनुः० ४०।१

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता आत्मा । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय है मनुष्य ! बिना पूछे-ताछे, बिना जाने-बूझे तूने उत्पन्न होते ही संसार के ऐर्वयों को भोगना शुरू कर दिया है, पर क्या तूने कभी यह भी पता लगाया है कि यह ऐरवयं, धन किसका है ? इस धन का ईश कौन है, स्वामी कौन है ? अरे, इसका स्वामी तो हर जगह विद्यमान है। वह न दीखता हुआ भी हर वस्तु में रमा हुआ है। इस जगतीतल पर यह जो भी कुंछ जगत दीख रहा है, पदार्थजात विद्यमान है, वह सब इस ईश से बसा हुआ है, इससे अधि-कृत हुआ-हुआ है। तुझे चाहिये कि तू उस ईश की अनुमति पाकर ही इन ऐश्वयों का भोग कर, अर्थात् तेरे अन्दर बैठा हुआ वह ईश तुझे जो कुछ दे रहा है उसी का भोग कर। दूसरे को दिये गयें धन को देखकर तू कभी मत ललचा ! वह उसी के लिए दिया गया है। सब धन तो उस ईश का ही है। और वह हमारे कल्याण के लिए और जगत्-कल्याण के लिए हम मनुष्यों को यथायोग्य धन देता है, इसलिए तू कभी लोभ मत कर ! दूसरे को दिये गये धन पर दृष्टिपात मत कर ! जो कुछ तुझे दिया है उसका ही सन्तोष के साथ भीग कर । इसी में तेरा कल्याण है । और फिर तूं इस प्राप्त धन का भी त्यागपूर्वक भोग कर। जो कुछ तेरे सामने आता है उसमें से यज्ञ का भाग निकालकर जो शेष बचे उसे ही भोग कर; जगत्-कल्याण के लिए, सर्वहित के लिए, दे देने के बाद जो बच रहे उसे ही अपने लिए समझ। यह यज्ञ-भाग तो उस ईश का भाग है। उस से जो कुछ छूटे, त्यक्त हो, उसी त्यक्त से तू अपना काम चला, उपभोग कर। और इस अमृत का उपभोग भी तू सदा ईशार्पण करके कर। तू और तेरा सब-कुछ भी उस ईश का ही तो हैं! अतः तू जो कुछ भोगता है उसे सदा इसी भावना से भोग कि इसके भोगने से जो तेरी शारी-रिक, मानसिक और आत्मिक पुष्टि होगी वह उस ईश के काम के लिए होगी, ईश की सेवा के लिए होगी। देख, इस जगत् में ईश के इस सब धन को भोगने का यही एक नियम (कानून) है, एकमात्र यही ठीक विधि (तरीका) है।

शब्दार्थ जगत्यां इस संसार में यत् किंच जो कुछ भी जगत् सृष्टि है वह इवं यह सामने दीखनेवाला सवं सभी कुछ ईशा ईश से, ईश्वर से वास्यं बसा हुआ है, व्याप्त है। अतः तेन उस ईश्वर से त्यक्तेन त्याग किये हुए, दिये हुए धन से ही मुंजीयाः तू अपना भोग प्राप्त कर, कस्यचित् किसी दूसरे के धनं धन की कभी मा गृधः चाह मत कर।

. शासाचे नमून्य वह एक लंबार हे कथींथा का को कुर्वन करना वस एव हो यह

वैदिक विनय

Clob o. BB

नित्राम कमयोग की महारा माइमा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

द कार्तिक

कुर्व<u>स्र</u>ेवेह कर्माणि जिजी<u>विषेच्छ</u>त् समाः। प्वं त्व<u>ाय</u> नान्य<u>थेतो</u>ऽस्ति न कर्मे लिप्यते नरे।।

glas offen

—यजुः० ४०।२

ऋषिः वीर्घतमाः । देवता आत्मा । छन्दः भरिगनुष्टुप् ।

विनय मनुष्य को चाहिये कि वह कर्म करता हुआ ही जीना चाहे। यदि वह कर्म नहीं करता है तो उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं है। यह जीवन कर्म करने के लिए ही दिया गया है। हे मनुष्य ! क्या तू डरता है कि कर्म करने से तू कर्म में लिप्त हो जायगा, बैंध जायगा ? नहीं, यदि पूर्वीक्त प्रकार से त्यागपूर्वक तू जगत् को भोगेगा, ईशार्पण बुद्धि से अपने सब व्यवहार करेगा, सर्वथा 'मम'-'अहं' को छोड़कर कर्म करेगा तो तेरे ऐसे कर्म कभी तुझे बन्धनकारक नहीं होंगे। ऐसे निष्काम कर्मों का कभी तुझ 'नर' में लेप नहीं होगा। सचमुच ऐसे निष्काम कर्म करनेवाले ही संसार में असली नर होते हैं, व्यवहार को चलानेवाले होते हैं, नेता होते हैं। अतः हे नर ! तू अनासक्त होकर त्यागपूर्वक कर्मों को कर। यही कर्मलेप से बचने का उपाय है। बल्कि इस निष्काम कर्म की साधना के सिवाय संसार में और कोई उपाय कर्म-लेप से बचने का नहीं है। क्या तू समझता है कि कर्म न करने से तू कर्मलेप से बच जायगा? अरे भोले ! जबतक यह शरीर है, जीवन है, तबतक कर्मत्याग हो ही कैसे सकता है ? कुछ-न-कुछ शारीरिक या मानसिक कर्म किये बिना तू जी ही कैसे सकता है ? यदि कर्म से बचने के ्रिलए तू आत्मघात भी कर डालेगा, तो भी तुझे छुटकारा नहीं मिलेगा। तुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा और तुझे इस आत्मघात का पाप भी लगेगा। तू देख कि जिस समय कर्म करना आव-े इंग्रंक हो उस समय कर्म न करने से अकर्म का पाप भी लगता है। अतः याद रख कि कर्म त्यागने से तो तुझे कभी निर्लेपता नहीं मिलेगी। इसका साधन तो एक ही है कि कर्म किया जाय किन्तु निर्लेप होकर किया जाय। अतः हे मनुष्य! तू उठ और इस अकर्म की तामसिक अवस्था को त्यागकर उत्साहपूर्वक निर्लेप कर्मों को किया कर, सर्वथा निरहंकार होकर, सदा अर्भु-अपित अवस्था में रहते हुए सहजप्रांप्त कर्मों को निःसंग होकर सदा किया कर। ऐसे कर्मी को तू अपने सम्पूर्ण सौ वर्ष तक करता जा, अपने जीवत के अन्तिम क्षण तक करता जा।

शब्दार्थ — मनुष्य इह इस संसार में कर्माण कर्मों को कुर्वन् करता हुआ एवं ही शर्त इसमाः सौ बरस तक जिजीविषेत् जीता रहना चाहे। एवं इस तरह, पूर्वोक्त प्रकार से त्यागपूर्व कर्म करने से त्विय तुझ नरे नर में, कर्म चलानेवाले पुरुष में कर्म कर्म न लिप्यते लिप्त नहीं होगा। इतः अन्यया इसके अतिरिक्त [कर्मलेप से बचने का] और कोई उपाय न अस्ति नहीं है।

= 2XX

भारित्य से मुनत नत्ते

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotr

'६ कार्तिक

वह्नदिं राजन वर्षणा रतमाह पूर्वनः। तस्मात् सहस्रवीर्य मुख नः पर्यहेसः॥

-अथर्वं० १६।४४।८

ऋषिः भृगः । देवता वर्णः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे सच्चे राजा, हे पापनिवारक ! मनुष्य बहुत अनृत बोला करता है और बड़ी तुच्छ-तुच्छ बातों पर अनृत बोला करता है। प्रातः से लेकर रात्रि तक एक दिन में ही न जाने कितनी बार असत्यभाषण करता है। हम मनुष्यों का जीवन इतना अनृतमय हो गया है कि प्रायः हम लोग यह अनुभव ही नहीं करते कि हम कितना अधिक असत्य बोलते हैं। यह अनु-भव तो तब मिलता है जब मनुष्य सचमुच झूठ से घबराने लगता है और सत्य ही बोलने के लिए सदा सचिन्त रहने लगता है। उस समय मुख से निकली अपनी एक-एक वाणी पर पूरा-पूरा निरीक्षण और विवेचन करने पर उसे पता लगता है कि वह सूक्ष्म रूप में कितने अधिक असत्य बोलता है। सच तो यह है कि हममें से जो लोग अपने को सत्य बोलनेवाला समझते हैं वे भी असल में काफी असत्य बोलते हैं। जो पूरा सत्यवादी होगा, पतंजलि, व्यास आदि ऋषि-मुनियों के कथनानुसार, उसकी वाणी में तो ऐसा तेज आ जायगा कि वह जो कुछ कहेगा वह सच्चा हो जायगा, वह किया और फल से समन्वित हो जायगा। यदि वह किसी की कहेगा कि 'तू नीरोग हो जा' तो वह नीरोग हो जायगा', अर्थात् जो कार्य हम हाथ-पैर आदि की स्थूल शक्ति से सिद्ध करते हैं वह पूरे सत्यवादी पुरुष की वाणी की शक्ति से हो जाता है। अतः वास्तव में हममें से ऊँचे-ऊँचे पुरुष भी अभी सर्वथा असत्यरहित नहीं हुए हैं।

हे सहस्रवीर्य ! इस असत्य से तुम ही हमें बचाओ । हमने आत्मिनिरीक्षण करते हुए सदा देखा है कि हम सदैव तुच्छ भय, लोभ, आसक्ति आदि के कारण ही, सदैव अपनी कमजोरी, निर्बलता, वीर्यहीनता के कारण ही असत्य बोलते हैं। अतः हे अपरिमित वीर्यवाले ! तुम हमें ऐसे वीर्य और बल से भर दो कि हम सदा निधड़क होकर सत्य ही बोलें, झूठ बोल ही न सकें, झूठ बोलने की कभी आवश्यकता ही अनुभव न करें। सचमुच तुम्हारी सहस्रवीर्यता का ध्यान कर लेने पर हममें इतना बल-संचार हो जाता है कि हम अनुभव करने लगते हैं कि हम भी कभी पूरे सत्यवादी हो जायेंगे। इस तरह, हे सहस्रवीर्य ! तुम हमें सदा असत्य से छुड़ाते रहो, असत्य के पाप से हमें सब तरफ से मुक्त करते रहो।

शब्दार्थ-वरण हे पापनिवारक ! राजन् हे सच्चे राजा ! पूरुषः मनुष्य इदं यह [तुच्छ-तुंच्छं] बहुं बहुत अनृतं झूठ आह बोलता है। तस्मात् उस अंहसः पाप से, सहस्रवीयं हे अपरिमित वीर्यवाले ! तू नः हमें परिमुंच सब तरफ से मुक्त कर दे। रः देखो-योगदर्शन २।३६ और व्यासमाध्य । विकास का का का कि है । व्यासमाध्य ।

इस स्वार मिल्माम के पराका रहे कर

१० कार्तिक

ये ग्रामा यदर्ण्यं याः सभा अधिभूम्यम् । ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारुं वदेम ते ॥

-अथर्व० १२।१।५६

ऋषिः अथवा । देवता भूमिः । छन्दः अनुष्दुप् ।

विनय हे भूमिमातः ! हम प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक समय में, प्रत्येक विषय में तेरे लिए चारु ही भाषण करें, तेरे लिए उत्तम वाणी ही बोलें । सदा ऐसी वात बोलें जो कि तेरे यश कों बढ़ानेवाली हों, तेरे लिए हितकर हों, तेरी उन्नित करनेवाली हों । हम तेरे प्रामों-नगरों में रहें तो हमारे अन्दर परस्पर प्रेमपूर्वक तेरी ही चर्चायें चलें, तेरे गौरवपूर्ण भूत की कथायें कहीं जायें और तेरे उज्जवल भविष्य की बातें हों । हम तेरे जंगल में हों तो वहाँ अकेले भी हम तेरे स्तुति-गीत गायों, तेरे प्रेम की गीतियाँ गाते हुए आनन्द पायों । यदि तेरी सभाओं में जायों तो वहाँ तेरे पक्ष में भाषण करें, तेरे उन्नितकारक प्रस्तावों पर हमारे प्रभावशाली वक्तृत्व हों । और यदि संग्रामों में खड़े हों तो वहाँ तेरे ही उच्चस्वर से नारे लगायों, अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाते हुए तेरे जयघोषों से आकाश को गुँजा देवें । और जब तेरी समितियों में बैठे हों तो खूब सोच-समझकर पूरी तरह गंभीर विचार करके ही मुख से शब्द निकालें, जिससे कभी अनजाने में भी हमारी वाणी द्वारा कभी तुम्हारा द्रोह न हो सके । हे भूमिमातः ! हमारी वाणी सदा तुम्हारे लिए चारु बोलनेवाली हों, सदा तुम्हारी सेवा के लिए समर्पित हों ।

्रहे सहस्रवीय । इस जसत्य से तुम ही हमें सन्धर्म । इसने आत्मानिशिक्षण करते हुए सद्दा

ह तेखा है कि हम सर्व स्वत्य मध्य भीका आसीन श्रीद के बारण हो, सदेन अपनी क्षत्राही,

ईसवेखता, नीवेहीनता के कारण ही अमस्य श्रीकत है। अतः ह अपरिधिन नीववादा । तुम हमें

ऐसे नोवं और यह समाद को सावह्यकता हो अनुस्व न वर्ष । सम्मुन सुम्हारी सहस्रवीधीता का स्वास कर

भेने पर स्मायें इतना चल-संचार हो जाता है कि हम अनुस्व करते सम्बे हैं कि हम भी ककी

पूरे सत्यवादी हो जायों । इस परहा, हे सहस्रवीय । तुम हमें सदा असर्थ से खड़ाते रही, अस्य

अतः बारतव में हममें से कैंब-केंच पहल भी अभी सबेश असरव रिज पत्रों हम है।

ने पाप से हमें सब तरफ से मुक्त करते रही।

शब्दार्थं—अधि भूम्यां इस भूमि पर ये ग्रामाः जो ग्राम हैं यद् अरण्यं जो जंगल हैं याः सभाः जो सभा हैं ये संग्रामाः जो लड़ाइयां हैं समितयः और जो समितियां होती हैं, तेषु उन सब में हम, हे भूमिमातः ! ते तेरे लिए चार उत्तम ही वाणी वदेम बोलें।

वैदिक विनय

BIRRISS OFFIE

गान द्वारा है। इसा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११ कार्तिक

यथा प्राण ब<u>ल्हिहतस्तुभ्यं</u> सर्वाः प्रजा <u>इ</u>माः। एवा तस्मै बल्लि हे<u>रा</u>न् यस्त्वा शृणवेत् सुश्रवः॥

अथर्व० ११।४।१६

ऋषिः भागंवो वैदिभिः । देवता प्राणः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे प्राण-महासम्राट् ! यह देखो कि संसार-भर के सब प्राणी, सब प्रजायें. सब जीव तुम्हारे लिए कर ला रहे हैं, तुम्हें प्रतिदिन अन्तरूपी कर की भेंट चढ़ा रहे हैं। यदि वे ऐसा न करें तो वे जीवित ही न रह सकें। तुम ऐसे प्रतापी सम्राट् हो कि डर के मारे, अपने मर जाने के डर के मारे, संसार-भर के सब जीव नित्य तुम्हारी प्राणाग्नि में अन्न-वर्लि दे सकने के लिए अन्नों को जहाँ-तहाँ से ला रहे हैं, बड़े यत्न से पसीना बहाकर अन्न-धन जमा कर रहे हैं और किसी-न-किसी तरह तुम्हें संतृष्त कर रहे हैं। इस तरह हे प्राण ! तुम जीवमात्र के सदा प्रथम उपास्य बने हुए हो। हे सुश्रवः, हे सुन्दर सुनानेवाले, हे सुन्दर यशवाले ! तुम्हारा वह भक्त भी इसी तरह सब लोगों का उपास्य और सबकी बलियों का भाजन बन जाता है जो कि तुम्हारा पूर्ण उपासक हो जाता है, जो कि तुम्हारे सुन्दर यश को सुनता है, तुम्हारी आज्ञाओं व बातों को सुनता है और ठीक उनके अनुसार आचरण करता है। जो मनुष्यं प्राण की उपासना करते हैं, प्राण की महामहिमा का श्रवण-मनन करते हैं, उनके कानों में तुम न केवल सदा अपना दिव्यगान सुनाने लगते हो किन्तु उन्हें कब क्या करना चाहिये ऐसा अपना दिव्य संदेश भी हर समय देने लगते हो। धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें इस प्रकार प्राण के श्रोता बनने का महासीभाग्य प्राप्त होता है। ऐसे लोग, हे प्राण ! मनुष्यसमाज के प्राण बन जाते हैं। हम संसार में देखते हैं कि मनुष्यसमाज के प्राणभूत ऐसे महापुरुषों के लिए सब लोग अपना अहोभाग्य समझते हुए नानाविध भेंट लाते हैं, उनके सामने अपना घर, धन, संपत्ति, पुत्र, जीवन तक उपस्थित कर देते हैं, जीवित रखने की सब-के-सब लोग चिंता करते हैं और अपने-आप मरकर भी उन्हें जीवित रखना चाहते हैं। हे प्राण ! जब तुम्हारे श्रोता की हो इतनी महिमा है तो स्वयं तुम्हारी अपनी महिमा को हम तुच्छ लोग क्या बखान कर सकते हैं ?

शब्दार्थ — प्राण हे प्राण ! यथा जैसे इसाः ये सर्वाः सब प्रजाः प्रजायें, जीव तुभ्यं तेरे लिए बिलहृतः विल का, कर का, भेंट का आहरण करनेवाली हैं एवा इसी तरह अस्मै उस पुरुष के लिए भी ये सब प्रजायें बॉल बिल, भेंट को हरान् लाती हैं, लाने लगती हैं यः जो कि प्राणो-पासक पुरुष सुश्रवः हे सुन्दर सुनानेवाले, हे सुन्दर यशवाले ! त्वां तुझे शृणवत् सुनता है।

वैदिक विनय

CINISS OFFI

प्राणास जमा नमह

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

<mark>९२ कार्तिक</mark> नर्मस्ते अस्त्वा<u>य</u>ते नर्मो अस्तु परा<u>य</u>ते । नर्मस्ते प्रा<u>ण</u> तिष्ठ<u>ंत</u> आसीना<u>योत</u>्ते नमः ॥

—अथर्व ० ११।४।७

ऋषिः भागंबो वैदिभिः । देवता प्राणः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-हे प्राण ! मैं सदा आते-जाते तुझपर दुष्टि रखता हुँ। तेरी आने और जाने की गृति के साथ अपनी मनोवृत्ति को लाता और ले-जाता रहता हूँ। बल्कि तेरे आने-जाने के साथ 'ओ अं' का जप करता जाता हूँ। इस तरह दिन-रात के चौबीसों घण्टों में जो तेरा इक्कीस हजार छः सौ वार आना-जाना होता है उसके साथ मेरे इतने ही अजपा-जप होते जाते हैं। इस साधना के शरू करने से तू ठहरने लगता है और कभी-कभी स्वयमेव कुछ समय के लिए ठहरा भी रहता है। एवं तेरा स्वाभाविक अनुसरण करने में मेरे चारों प्रकार के प्राणायाम भी सिद्ध हो जाते हैं। तेरे आने में बाह्यवृत्ति (रेचक) प्राणायाम होता है, तेरे जाने में आभ्यन्तरवृत्ति (परक) प्राणायाम होता है, ठहरने में स्तंभवृत्ति (कुंभक) प्राणायाम होता है और स्वयमेव ठहर जाने में जीया बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी प्राणायाम हो जाता है। मैं तो हठयोग के प्राणायाम की क्रियाओं के झगड़े में नहीं पड़ता, किन्तु आते-जाते ठहरते और ठहरे हुए तुझे, हे प्राण! सदा नमस्कार करता जाता हूँ। बस, इसी से मुझे सब प्राणायामों का फल मिल जाता है। मैं तुझे तेरी सब स्थितियों में और सब कालों में नमस्कार ही करता हूँ। सदा तेरे सामने झुकता हूँ। कभी तुझे अपनी इच्छानुसार झुकाने की घातक चेष्टा नहीं करता। तू जो अपने सहज-स्वभाव से मुझमें चल रहा है, उसी के अनुसार मैं अपने-आपको झुकाता जाता हूँ, उसी के अनुसार अपने जीवन को संचालित करता जाता हूँ। किन्तु कभी अपनी सहलियत के अनुसार तुझे मोड़ने की, परिवर्तित करने की अक्षम्य मूर्खता नहीं करता । हे प्राण ! मैं तो आते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, जाते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, ठहरते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, और ठहरे हुए, बैठे हुए, तुझे नमस्कार करता हुँ।

शब्दार्थ — प्राण हे प्राण ! आयते आते हुए ते तुझे तमः अस्तु नमस्कार हो ! परायते जाते हुए तुझे तमः अस्तु नमस्कार हो । तिष्ठते ठहरे हुए ते तुझे नमः नमस्कार करता हूँ उत और आसीनाय बैठे हुए, स्थिर हुए-हुए ते तुझे नमः नमस्कार करता हूँ ।

ी है हिस्स उन है। इस तुन्छ लोग पना मुखान कर तह है।

745

SSINISS OFFICE

सामातन का जिला मा का द मत समन्वय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३(कार्तिक

सनातनंभेनमाहुक्ताद्य स्यात् पुर्नर्णवः। <u>अहोरा</u>त्रे प्रजायेते <u>अ</u>न्यो <u>अ</u>न्यस्य <u>क</u>पयोः॥

-अथर्व० १०।८।२३

ऋषिः कुत्सः । देवता आत्मा । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-विरले ही मनुष्य होते हैं जिन्हें कि आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि की चर्चा रोज-रोज रुचती है, आनन्ददायी लगती है। हम साधारण लोगों को तो यह चर्चा परानी, जीर्ण, घिसी हुई, बासी और नीरस ही लगती है। जब हमें रोज-रोज समाज-मन्दिर की वेद-कथा में जाने को, नैत्यिक प्रार्थना में उपस्थित होने को या दैनिक भजन-कीर्तन में सम्मिलित होने को कहा जाता है तो हम प्राय: कहते हैं "हम वहाँ जाकर क्या करेंगे ? वहाँ तो रोज वही एकरस मामला चलता है, वहाँ कुछ नई चीज तो मिलती नहीं।" वास्तव में यह सच है कि जिसमें कुछ नई चीज न मिलती हो, कुछ नवीनता न होती हो, वह वस्तु हमें कभी रसदायी नहीं हो सकती, आनन्ददायी नहीं हो सकती। जिन लोगों को प्रतिदिन ईश्वर-भजन करने में आनन्द आता है उन्हें इसलिए आनन्द आता है क्योंकि सचमुच उन भक्तों के लिए वे प्रभु नित्य नये होते रहते हैं, नित्य नया जीवन देते हुए मिलते हैं। हमें ईश्वर का ध्यान करने में तभी रुचि होती है जब कि उसका ध्यान हमें नित्य नया आनन्द देता है। सच्चा जप करनेवाला वही है जिसे कि प्रभु का महापुराना नाम लेते हुए और उसे बार-बार लेते हुए भी प्रत्येक बार में प्रभुनाम के उच्चारण से नया-नया उत्साह, नया-नया ज्ञान, नई-नई भक्ति की उमंग और नया-नया प्रेम का रस मिलता है। अरे मेरे भाइयो ! ये दिन-रात कितने पुराने हैं, उन्हें तुम भी अपने जन्मदिन से लेकर आज तक बिलकुल उसी एक रूप में रोज-रोज आते हुए देख रहे हो, फिर भी ये तुम्हें पुराने घिसे हुए नीरस क्यों नहीं लगते ? इसका यह कारण है कि दिन-रातों में तुम जीवन पाते रहे हो, प्रतिदिन विकसित होते गये हो। इसी तरह जब तुम उस परमेश्वर में रहने लगोगे, उसमें प्रतिदिन आध्यात्मिक विकास पाने लगोगे तो तुम भी कह उठोंगे—"वह अनादिकालीन पुराना सनातन प्रभु मेरे लिए प्रतिदिन फिर-फिर नया होता है, प्रत्येक आज में, प्रत्येक नये दिन में फिर-फिर नया होता है।" मार्क्स अपन प्रशासन को पा लेगा. यह पा वह वह करा कार्या प्रशास करा कार्या प्रशास

शब्दार्थ एनं इस देव को सनातनं सनातन, अनादिकालीन आहुः कहते हैं, उत और तो भी यह अद्य आज, प्रतिदिन पुनः नवः फिर-फिर नया स्यात् होता है। देखो, अन्यः एक अन्यस्य दूसरे के रूपयोः रूपों में, समान रूपों में ही अहोरात्ने ये दिन-रात प्रजायेते सदा पैदा होते रहते हैं।

वैदिक विनय

परमा रपया शान्च्य वन-दश्चिषा परमात्म देवता-

१४ कार्तिक

वा<u>ला</u>देकंमणीयस्कमुत<u>ैकं</u> नेवं दृश्यते। ततः परिष्वजीयसी द्वेता सा मर्म <u>शि</u>या।।

--अथर्वे० १०। दार्प

ऋषिः कुत्सः । देवता आत्मा । छन्दः अनुष्दुप् ।

विनय-मुझमें प्रेमशक्ति किस प्रयोजन के लिए है ? मेरे प्रेम का असली भाजन कौन है ? यह खोजता हुआ जब मैं संसार को देखता हूँ तो इस संसार में केवल तीन तत्त्व ही पाता हूँ, तीन तत्त्वों में ही यह सब-कुछ समाया हुआ देखता हूँ। इनमें से पहला तत्त्व बाल से भी बहुत अधिक सूक्ष्म है। बाल के अग्रभाग के सैकड़ों टुकड़े करते जायें तो अन्त में जो अविभाज्य टुकड़ा बचे उस अण्, परम अणुरूप यह तत्त्व है। प्रकृति के इन्हीं परमाणुओं से यह सब दृश्य जगत् बना है। इससे भी सूक्ष्म दूसरा तत्त्व है। पर इसकी सूक्ष्मता दूसरे प्रकार की है; इसकी सूक्ष्मता की किसी भौतिक वस्तु से तूलना नहीं की जा सकती। यह तत्त्व ऐसा अद्भुत है कि यह नहीं के बराबर है। यह है, किन्तु नहीं-जैसा है। इस दूसरे तत्त्व से परे और इससे सूक्ष्म और इसे सब तरफ से आलि ज़न किए हुए, व्यापे हुए, एक तीसरा तत्त्व है, तीसरी देवता है। यही देवता मुझे प्रिय है। पहली प्रकृति देवता जड़ और निरानन्द होने के कारण मुझे प्रिय नहीं हो सकती। दूसरी वस्तु मैं ही हूँ, मेरी आत्मा है। मैं तो स्वयं देखनेवाला हूँ, तो मैं कैसे दीखूँगा ? अतः मैं नहीं के बराबर हूँ। मैं तो प्रेम करनेवाला हूँ, अतः प्रेम का विषय नहीं बन संकता। अतएव मेरे सिवाय मेरे सामने दो ही वस्तुएँ रह जाती हैं, यह प्रकृति और वह सिन्वदानन्दरूपिणी परमात्म-देवता । इनमें से चित्स्वरूप मुझे यह चैतन्य और आनन्द से शुन्य प्रकृति कैसे प्रिय हो सकती है ? मेरा प्यारा तो स्वभावतः वह दूसरा देवता है जो कि मेरी आत्मा की आत्मा है, जो कि मेरी आत्मा से परिष्वक्त हुआ इसमें सदा व्यापा हुआ है और जो कि मुझे आनन्द दे सकता है। मैं तो स्पष्ट देख रहा हूँ कि प्रकृति के समझे जानेवाले ये बड़े-से-वड़े ऐश्वर्य तथा प्रकृति के दिव्य-से-दिव्य भोग दे सकनेवाले ये अनगिनत पदार्थ सर्वथा वानन्द और ज्ञान-प्रकाश से शून्य हैं, अतः मैं तो प्रकृति से हटके अपने उस प्यारे परमात्मा की तरफ दौड़ता हूँ। मैं स्पष्ट देखता हूँ कि अपने प्रेम द्वारा उसे पा लेने पर मेरी भटकती हुई प्रेम-शक्ति अपने प्रयोजन को पा लेगी, उसे पा लेने पर मेरा सम्पूर्ण प्रेम चरितार्थ और कृतकृत्य हो जायेगा।

शब्दार्थ एकं एक बालात् बाल से भी अणीयस्कं बहुत अधिक सूक्ष्म, अणु है उत और एकं एक न इव नहीं की तरह दृश्यते दीखता है। ततः उससे परे परिष्वजीयसी उसे आलिंगन किये हुए, उसे व्यापे हुए देवता जो देवता है सा वह मम मुझे प्रिया प्यारी है।

२६०

.

510 I M H CI M 21-

१४ कार्तिक

उत्तिष्ट्रतावं पश्यतेन्द्रस्य मागमृत्वियम् । यदि श्रातं जुहोतेन यद्यश्रातं मम्तनं॥

- ऋ० १०।१७६; अथर्वे० ७।७२।१

ऋषिः शिविरौशिनरः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृदनुष्टुप् ।

विनय हे मनुष्यो ! उठो, देखो कि इस समय इन्द्र की कौन-सी आहुति का समय है। यह काल-इन्द्र समय-समय पर संसार से भारी-भारी आहुतियाँ माँगता है, और इसी से यह संसार उन्नत होता है। यह देश-इन्द्र समय-समय पर बड़े-बड़े बलिदान चाहता है, और इस बलिदान को पाकर ही यह अपने एक बड़े अभ्युत्थान के पग को आगे उठा सकता है। और हम इस जीवात्मा-इन्द्र के लिए समय-समय पर आत्मबलिदान करते हुए, ऋतु-ऋतु के अनुकूल इसका यजन-हवन करते हुए, बल्कि एक दिन के भी भिन्न-भिन्न समयों पर उस-उस समय के अनुकृत उसको उसके अन्त-ज्ञान आदि की हिव का भाग प्रदान करते हुए चलते हैं, तभी हम आत्मोन्नित को पा सकते हैं। इसलिए हमें सदा खड़ा रहना चाहिये, जागते रहना चाहिये, और खड़े होकर सावधानी से देखते रहना चाहिये कि कहीं, किसी आहुति का समय तो नहीं आ गया है ? कहीं संसार को, देश को या अपने आत्मा को हमारे किसी बलिदान की जरूरत तो नहीं आ गई है ? देखना, यदि हम प्रमाद के कारण समय को चुक जायेंगे, जिस समय बलिदान करना चाहिये उस समय विलदान न कर सकेंगे, तो हम न केवल उन्नित से वंचित हो जायेंगे अपितु बहुत पिछड़ जायँगे, पतित हो जायँगे, अवनित के गर्त में गिर जायँगे। अतः उठो और देखते रही कि कहीं इन्द्र का भाग देने की ऋतु तो नहीं आ गई है ?

परन्तु आहुति सदा पकी हुई ही देनी चाहिये। कच्ची आहुति से कुछ फल नहीं होता, किन्तु हानि ही होती है। जैसे कि वृक्ष से बिना पके गिरा हुआ फल किसी काम नहीं आता बल्कि खानेवाले को नुकसान पहुँचाता है, उसी तरह अपने-आपको बिना पकाये जो यूँ ही जोश में आकर बलिदान कर दिया जाता है उससे कुछ नहीं बनता, बल्कि बहुत बार वह आत्मघात-रूप होता है। अतः यदि आहुति पकी हुई हो तब तो उसका हवन कर दो, यदि न पकी हो तो ठहर जाओ। इसके लिए दु:खी भी मत होओ। यदि तुम आहुति के समय तक इसे नहीं पका सके तो अब दु:खी होने से क्या फायदा ? अब तो प्रसन्न होकर इसे फिर पकाओ, पकाते जाओ जिससे कि अगले आहुतिकाल में तो तुम इसे जरूर दे सकी, अगले बलिदान के समय तुम जरूर पके

हुए होओ।

313513 applies

शब्दार्थ - उत्तिष्ठत उठो, खड़े होओ अव पश्यत और सावघानी से देखो, इन्द्रस्य इन्द्र के ऋत्वियं ऋतु-ऋतु के अनुकूल, समय-समय पर दिये जानेवाले भागं हिव के, बलिदान के भाग को देखो। यदि यदि श्रातं [यह हिव] पक चुकी है तो जुहोतन इसका हवन कर दो, और यदि अश्रातं पकी नहीं है तो ममत्तन [ठहरो, दु:खी मत होओ] प्रसन्न होकर इसे और पकाते जाओ।

वैदिक विनय

पाप की अश करने ति श्रूरविपाप

क्ष कार्तिक

अवं मा पाप्मन् सृज वृशी सन् मृंळयासि नः । आ मां भुद्रस्यं <u>लो</u>के पाप्मन् धे्हाविहुतम् ।।

-अथर्व० ६।२६।१

ऋषिः ब्रह्माः । देवता पाप्माः । छन्दः अनुष्टुप् ।

signie of the inusion on

विनय है पाप ! तू अब मुझे छोड़ दे। तूने मुझे बहुत देर अपने वश में रखा, अब तो मेरा तुझे वश में करने का समय आ गया है। तेरे वशीभूत होकर मैंने बहुत दुःख पाये, अब तो मेरा सुख पाने का समय आ गया है। हे पाप ! तुझसे पाए दुःख ही अब मेरे सुख के कारण हो जायें। यह तो ईश्वरीय नियम है कि दुःख के बाद सुख आते हैं और पाप की प्रतिक्रिया में पुण्य का प्रादुर्भाव होता है। अब तो उस प्रतिक्रिया का समय आ गया है। तुझसे दुःख पाप्य कर आज में सीधा हो गया हूँ, अकुटिल हो गया हूँ। मेरे सब कुटिलता, टेढ़ापन, झूठ, पाखण्ड तुझ पाप की तरफ ले-जानेवाले थे। पर आज अकुटिल, सरल, सीधा, सच्चा होकर में तो अब भद्र के लोक की तरफ चल पड़ा हूँ। हे पाप ! यदि मैं तुझमें ग्रस्त होकर इतना न भटकता, इतना दुःख न पाता तो मैं कभी भी कुटिलता की, असत्य जीवन की बुराई को अनुभव न कर पाता और कभी पुण्य का सच्चा पुजारी न बन सकता। इस तरह हे पाप ! तू ही आज मुझे भद्र के लोक में स्थापित कर रहा है। हे पाप ! तू अब अकुटिल हुए मुझे कल्याण के लोक में पहुँचा दे। मैं जितना पक्का बेशमें-पापी था उतना ही कट्टर, दृढ़, सच्चा, पुण्यात्मा मुझे बना दे। जितना ही गहरा में पाप के गर्त में गया हुआ था उतना ही ऊँचा तू मुझे पुण्य के लोक में स्थिर कर दे।

बहित बरीबार में तहान कर दिया जाता है जार नयर पार-भागत दिया पहारोग्या पूरी नीच में बाहर मिलान कर दिया जाता है महत कर नहीं नकता मिल पहा बहुत कर महत वार मह आरम्पात-कर होता है। यह भी तह कर हिता होता कर वा होता है जाम तह रहा है के महा बहें तो उत्तर महें तहा करें तहा महें तो बाजों। इसके निक्र होने ने स्पा पासदा है अब को प्रमुक्त होतर पूर्व पिट प्रशिक्ष करात तहीं निवस् में के बाजों नाहिताकाल में तो तुम हते जहर दें पानों, अपने महिताब के समय तुम प्रमूच प्रमूच हैं दू होतों।

शब्दार्थ पाप्मन् हे पाप ! तू मा मुझे अवसूज छोड़ दे, वशी सन् अब मेरे वश में होता हुआ तू नः मुझे मृळ्यासि सुखी कर दे । पाप्मन् हे पाप ! तू अब अविह्नुतं कुटिलतारहित,स रल वने मा मुझे मद्रस्य लोके कल्याण के लोक में आ धेहि स्थापित कर दे ।

रदर

निया कायन निया

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७ कातिक

यः सपत्नो योऽसंपत्नो यश्चं द्विषन् शपाति नः। देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्षे ममान्तरस्।।

अथर्व । १११४

ऋषिः बह्या । देवता देवाः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय - मैं किसी से द्वेष नहीं करता। किन्तु फिर भी कई भाई मेरे सपत्न व असपत्न होकर मुझसे शत्रुता रखते हैं। जो सपत्न हैं, समान क्षेत्रवाले हैं वो तो प्रायः ईर्ष्या व मत्सर के कारण मुझसे वैर रखते हैं और जो असपत्न हैं, न समानक्षेत्रवाले हैं, वे प्रायः मुझसे इस कारण शत्रता करते हैं क्योंकि मेरे किसी कर्त्तव्यपालन से उनके स्वार्थ को धक्का पहुँचता है। किसी भी कारण से कोई सपत्न या कोई असपत्न, या कोई भी मेरा अन्य भाई जब मुझसे द्वेष करता है, मूझसे प्रीति नहीं रख सकता, और अतएव मुझे शाप देता है, कोसता है, गाली देता है, बुरा-भला कहता है, मेरे लिए अपनी शक्ति-भर अनिष्टचिन्तन करता है तो इससे मेरा तो कुछ बिगड़ता नहीं किन्तु उसी का नाश होता है। जब मुझे ज्ञान नहीं मिला था तब तक तो मैं ऐसे शायों से घबड़ा उठता था और इनका वास्तव में मुझपर बहुत असर भी होता था। जब कोई मुझे अखबार या व्याख्यान द्वारा आम जनता में गालियाँ देता था, मेरे परिचित समाज में मेरी झूठी निन्दा फैलाता था तो इसे जानकर मैं बड़ा अशान्त हो जाता था और मेरा चित्त बड़ी देर तक उद्विग्न रहता था। किन्तु जब से कुछ ज्ञान मिला है, कुछ वेद-ज्ञान मिला है, प्रभु की भिक्त के प्रसाद में कुछ आत्म-ज्ञान मिला है तब से यह 'ब्रह्म', यह ज्ञान ही मेरा भीतरी कवच बन गया है। इस ज्ञान में रहता हुआ मैं इन शापों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता हूँ और सदा आनन्द में रहता हैं। पर वह बेचारा मुझसे द्वेष करनेवाला तो अवस्य मारा जाता है; मनुष्यसमाज के सब देव लोग, सब ज्ञानी पुरुष, उस निरर्थंक द्वेष करनेवाले को डाँटते हैं, ताड़ना करते हैं तथा सब ईश्वरीय देव, सब 'ऋत' देव उस अपराध के लिए उसे अवश्य दण्ड देते हैं। इसमें कीई क्या कर सकता है ? विष्यि के हविषार को पहर लेता, और यह कभी वर्गाच

शब्दार्थ यः जो सपत्नः मेरा समानक्षेत्र में प्रतियोगी है यः जो असपत्नः असमान क्षेत्र
में प्रतियोगी है यः च और जो द्विषन् द्वेष करता हुआ नः मुझे शपाति शाप देता है, कोसता है तं
जिसे सर्वे देवाः सब देव धूर्वन्तु ताड़ना करें, मम मेरा तो अन्तरं भीतरी, अन्दर से स्था करनेवाला वर्म कवच, मेरा रक्षासाधन ब्रह्म ब्रह्म है, ज्ञान है, वेदज्ञान है।

करें तो की अल्पन्धित हा हो गरच में जाते, जात्मन्धित हा ही बाह्य प्रहेष करें।

वैदिक विनय

स्रह

अल्लिविश हिन्दारा सर्विविधेश्ववरी न पानि

१८ कार्तिक इन्द्रं शुद्धो हि नो <u>रि</u>थि शुद्धो रत्नांनि <u>टा</u>शुर्षे ।

शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥

一港 ाहराह

ऋषिः तिरश्ची । देवता इन्द्रः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे आत्मन् ! तुम परमैश्वर्यवाले हो । हे इन्द्र ! तुम हमें सब प्रकार का ऐश्वर्य दे सकते हो। हम यूँ ही बाहर भटकते हैं, वाहर की वस्तुओं का आसरा देखते हैं, जब कि सब अनिष्टों को हटा सकनेवाले और सब अभीष्टों के दे सकनेवाले, हे मेरे आत्मन् ! तुम हमारे अन्दर विद्यमान हो। पर तो भी, जो हममें तुम्हारी यह शक्ति अभी प्रकट नहीं होती है इसका कारण यह है कि हमने अपने अन्दर तुम्हें शुद्ध नहीं किया है, हमने आत्म-विशुद्धि नहीं प्राप्त की है। जिनका आत्मा शुद्ध हो जाता है, जो तपश्चर्या द्वारा व निष्काम कर्म की साधना द्वारा या पवित्र सामोपासना द्वारा अपने राग-द्वेष की मलिनताओं को, नानाविध विषय-वासनाओं की अशुद्धि को और अज्ञान-मल को हटाकर आत्मा को विशद्ध कर लेते हैं, वे आत्माराम हो जाते हैं। वे अपनी विशुद्धात्मा को पाकर फिर अन्य किसी भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। तब वे अपनी विश्व आत्मा से जो कुछ माँगते हैं वह सब-कुछ उन्हें मिल जाता है, मिलता रहता है। नि:संदेह हे आत्मन् ! तुम शुद्ध हुए हमें सर्वविध ऐश्वर्य दिया करते हो। संसार में जो दान-शील, स्वार्थ-त्यागी, उदार पुरुषों को सब रमणीय धन मिल रहे हैं, जो अस्तेयव्रतियों को 'सर्व-रत्नोपस्थान' हो रहा है यह सब, हे विशुद्ध आत्मन् ! तुम्हारा ही दान है, तुम्हारी ही विशुद्धता का प्रताप है। विशुद्ध हुए तुम तो सब विघ्न-बाधाओं को भी मार भगाते हो, सब पापों का नाश कर देते हो, सब वृत्रों का हनन कर देते हो, सब रुकावटों को दूर कर देते हो। और अन्त में, हे शुद्ध इन्द्र ! तुम हमें सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य को, 'वाज' को भी देते हो। इसलिए भाइयो ! आओ, अब जब कभी हम अनैश्वर्य से पीड़ित हों या रमणीय धनों को प्राप्त करना चाहें तो हम अपनी आत्मा को शुद्ध करने में लग जायँ; जब कभी वृत्र के प्रहारों से आकान्त हों तो इस आत्म-विश्विद्धि के हिथयार को पकड़ लेवें, और जब कभी सर्वोच्च ज्ञानबल की आवश्यकता अनुभव करें तो भी आत्मशुद्धि की ही शरण में जायँ, आत्मशुद्धि का ही आश्रय ग्रहण करें।

शब्दार्थ -- इन्द्र हे आत्मन् ! शुद्धः हि शुद्ध हुए-हुए ही तुम नः हमें रिंघ ऐश्वर्धं देते हो, शुद्ध हुए-हुए तुम दाशुषे दानशील के लिए रत्नानि रत्नों को, रमणीय धनों को देते हो । शुद्धः शुद्ध हुए-हुए तुम वृत्राण वृत्रों को, पापों को, बाधाओं को जिष्टनसे हनन करते हो और शुद्धः शुद्ध हुए-हुए तुम वाजं ज्ञान-बल को सिषासिस देना चाहते हो, देते हो ।

. २६४

Elights of the

द्वारा पा प्रकार का द्वा सा हा राज्य

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६ कार्तिक अ<u>ब</u> यत्स्वे सुधस्ये टेवानां दुर्मतीरीक्षे। राजन्त्रप द्विषं: सेध, मीढ्<u>वो</u> अप स्निषं: सेध।।

—ऋक्० दा७हाह

ऋषिः कृत्नुभर्गिवः । देवता सोमः । छन्दः निचृदनुष्टुप् ।

विनय है सच्चे राजन् ! सोम ! यह हृदय तुम्हारा सघस्थ है, सहस्थान है। इस हृदय में तुम परम पदस्थ होते हुए भी मेरे साथ में आ बैठे हो। अतः जब तुम कभी अपने इस सघस्थ में देवों की दुमंतियां देखो, जब तुम यह देखो कि इस हृदय में देवों की सुमितयों की जगह दुमंतियां प्रकट हो रही हैं, दिव्य वृत्तियों का विपरीत भाव हो रहा है तो तुम इस दुर-वस्था को हटाने के लिए, हे मीढ्वः, हे अमृत के सिंचन करनेवाले ! मेरे सब द्वेषों को दूर कर दो, मेरे सब हिंसनों को हटा दो, अपना प्रेमरस प्रवाहित करके मेरे द्वेषभावों व हिंस वृत्तियों को बाहर बहा दो। हे सोम ! तुम्हारे अमृत-सिंचन के होते हुए ये द्वेष आदि कैसे रह सकते हैं? सचमुच ये द्वेष व हिंसा के भाव ही हैं जिनके कारण मेरे हृदय से देवों का राज्य हट जाता है, देवों की सुमितयां उठ जाती हैं और ऐसी दुर्दशा उपस्थित हो जाती है। हे सोम ! क्या तुम कभी अपने इस पवित्र सघस्थ की ऐसी दुर्दशा देख सकते हो? क्या तुम्हें कभी अपने इस हृदय सहस्थान की यह दुरवस्था सह्य हो सकती है? तो हे देव ! हमारी तुमसे एक ही प्रार्थना है कि तुम इस हृदय में ऐसा अपना अमृत-सिंचन करो कि इसमें द्वेष व हिंसा का लवलेश भी शेष न रहे। तब मेरे हृदय में देवों का ही राज्य हो जायगा।

शब्दार्थ - राजन् सच्चे राजन् ! सोम ! तुम यत् जब स्वे अपने सधस्थे इस सहस्थान में देवानां देवों की दुर्मतीः दुर्मतियों को, विपरीत भावों को ईक्षे देखो तो मीद्वः है सिचन करने वाले ! तुम द्विषः द्वेषों, को अपसेघ दूर कर दो और स्निधः हिंसावृत्तियों को अपसेघ दूर कर दो ।

विविक विनय

नेदेश

Significant by Arya Samaj Foundation Chemical and egangotin

२० कार्तिक

यद् वर्चो हिरण्यस्य, यद्वा वर्चो गवामुत । अर्थ १२३ वर्षे १२३ वर्षे स्त्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा संस्थामिस ।।

—साम० ६।४।१०

ऋषिः सर्वादिशः । देवता विश्वे देवा । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय — मैं पूरा वर्चस्वी बन्ँगा, तेजस्वी बन्ँगा। मैं प्रत्येक वस्तु से वर्चस् का संग्रह् कहँगा और प्रत्येक प्रकार के वर्चस् का संग्रह कहँगा। असली हिरण्य जो वीर्यं है, उसके वर्चस् से तथा गौओं, इन्द्रियों के वर्चस् से एवं सत्यस्वरूप ब्रह्म के वर्चस् से मैं अपने-आपको पूरी तरह संग्रुक्त कर लूँगा। हिरण्यों के, तैजस पदार्थों के सेवन द्वारा मैं शारीरिक वर्चस् को, वीर्यं को अपने में उत्पन्न कहँगा तथा ब्रह्मचर्यं द्वारा इस शरीर में संस्थापित कर लूँगा। मेरी इन्द्रियों में आत्मा (इन्द्र्) द्वारा जो तेज आता है और जो इन्द्रियों के विषयभोगों में पड़ने से क्षीण होता रहता है, उस तेज को संयम द्वारा संरक्षित कर अपनी मानसिक वर्चस्विता को प्राप्त कहँगा। और आत्मिक तेज पाने के लिए मैं सत्यज्ञान के, वेदज्ञान के, सत्यस्वरूप ब्रह्म के तेज को अपनी आत्मा में घारण करूँगा। इस प्रकार ब्रह्मतेज पाकर जागृत हुआ मेरा आत्मा अपने अनन्त तेज से चमक उठेगा और मेरे मन और देह को सहज में तेजोमय बना देगा। तब मैं संसार में एक चमकती हुई प्रदीप्त ज्योति की तरह फिल्हँगा। जो कोई मेरे सम्पर्क में आयेगा उसके भी शरीर-मन-आत्मा को प्रदीप्त, प्रज्वलित और उद्बुद्ध करता हुआ विचरूँगा। मैं वर्चोमय वर्चस्वी बन जाऊँगा।

शब्दार्थ हिरण्यस्य वीर्यं का यत् जो वर्जः तेज है उत और गवां इन्द्रियों का यद् वा जो कुछ वर्जः तेज है तथा सत्यस्य सत्यस्वरूप ब्रह्मणः ब्रह्म का, ज्ञान का, वेद का वर्जः जो तेज है तेन उस सब तेज से मा मुझे, अपने-आपको सं सृजामिस पूरी तरह संयुक्त करता हूँ।

२६६

वयना सारी जीन की म्हिंगर गा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennar and e<mark>G</mark>angoiri

'२१ कार्तिक

पुनरेहिं वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते नि रंमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।।

-अथवं ० १।१।२

ऋषिः अथर्वा । देवता वाचस्पतिः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय—मैं जो कुछ सुनता हूँ वह मुझमें ठहरता नहीं। मानो मैं 'एक कान से सुनता हुँ और दूसरे से निकाल देता हूँ।' इस तरह मेरा मनोमय शरीर ऐसा रोगग्रस्त हुआ पड़ा है कि मैं अच्छे-से-अच्छा सत्य उपदेश सुनकर और उत्तम-से-उत्तम वेदज्ञान पा करके भी उसे अपने में धारण नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि मैरे इस शरीर ने अपनी मनन-किया को छोड़ दिया है। मनन करना, आत्मचिन्तन करना, एकान्त में आत्मनिरीक्षण व विचार करना त्याग दिया है। ऐसा करना मेरे स्वभाव में ही नहीं रहा है। अतः, मेरा मन दिव' नहीं रहा है, द्योतमान, प्रज्वलित और जीवनसम्पन्न नहीं रहा है, और मेरा मनोमय शरीर मृतप्राय हो गया है। अतः, हे वाचस्पते ! हे वाणी व ज्ञान के पालक देव ! हे मेरे मनोमय देह के प्राण ! तुम फिर मुझमें आओ, और अपने प्रवेश द्वारा मेरे इस मृत मनशरीर को पुनरुज्जीवित कर दो। तुम देव-मन के साथ फिर मुझमें प्रविष्ट होओ और मुझमें मनन, चिन्तन और आत्मभावन व आत्म-निरीक्षण का अभ्यास फिर से जारी कर दो। अभी तक बेशक बिना भूख के खाये स्वाद-से-स्वाद भोज़न की तरह मेरा सुना हुआ सुन्दर-से-सुन्दर वेद-ज्ञान मुझे नीरस और अरुचिकर लगता रहा है, परन्तु अब से तो मुझमें देव-मन के जगा देने द्वारा, हे वसोष्पते ! तुम इस वेदज्ञान में मुझ नितरां रत कराओ, रमण कराओ। हे बसनेवाली स्थिर वस्तु के पित ! हे इस ज्ञान-ऐश्वयं के रक्षक ! तुम ऐसा करो कि शुब्क-से-शुब्क किन्तु सत्य और हित के उपदेश मुझे अब बड़ा आनन्द-दायी और सरस लगने लगे और अंतएव मुझमें रक्षित और स्थिर रहने लगे। तुम मुझमें मनन-क्रिया को ऐसा जगा दो कि मेरा मन अब द्योतमान हो जाये; इसमें मानसिक अग्नि जल उठे, ज्ञान की भूख लगने लगे, जिज्ञासायें उत्पन्न होने लगें। तब तो भूख में खाये रूखे-सूखे भी भोजन की तरह शुष्क-से-शुष्क दीखनेवाले उच्च ज्ञान में भी मेरा मन निःसन्देह रमने लगेगा, और बड़ा आनन्दरस पाने लगेगा। तब तो मैं जो कुछ सुनूंगा वह अवश्य मुझमें ठहरा करेगा, हजम होकर मेरे मनोमय शरीर का अंग हो जाया करेगा और इस तरह मैं प्रतिदिन नया-नया ज्ञान ग्रहण कर सकता हुआ मानसिक तौर पर समुन्नत, वद्धिगत और विकसित होता जाऊँगा।

शब्दार्थ — वाचः पते हे वाणी व ज्ञान के पालक देव ! तुम पुनः फिर एहि मुझमें आओ; देवेन देव, द्योतमान मनसा मन के, मननिक्रया के सह साथ आओ। वसोः पते हे वसुं के पित ! तुम नि रमय मुझे [इस ज्ञान में] रमण कराओ, रस दिलाओ, आनन्दित कराओ; मिय अतं मेरा सुना हुआ ज्ञान मिय एव मुझमें ही अस्तु रहे, ठहरे।

मध्याप सामे कात में, जीवत कात में सक तरे, काल कात से क्रिक व्यवस्था

वैदिक विनय

DISEIST OFFIE

3 न्या कार्या की महर्ग माडमा

२२ कार्तिक काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्मं समाहितम् । कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥

—अथर्व० १९।५३।८

ऋषिः भृगुः । देवता कालः । छन्दः अनुष्दुष् ।

विनय – हरेक वस्तु अपने काल में ही होती है। जिस कार्य का, जिस बात का उचित काल नहीं आया है उसके लिए यत्न करना, उसकी आशा करना निरर्थक होता है, मुर्खतापूर्ण होता है। अतः हमें अपना हरेक कार्य उचित काल में ही करना चाहिये। हमें तप करना हो, ज्येष्ठत्व पाना हो या ज्ञान प्राप्त करना हो, चाहे कुछ करना हो, यह सब हमें कालानुसार ही करना चाहिये। देखो, परमेश्वर भी अपना सब-कुछ नियत काल में करते हैं। वे समयपालन में भी परम हैं, परिपूर्ण हैं। वे इस जगत् की उत्पत्ति के लिए अपना ज्ञानमय तप बिलकुल नियत काल में करते हैं, ज्येष्ठ हिरण्यगर्भ को नियत काल पर प्रादुर्भूत करते हैं और ब्रह्म (वेद) का प्रकाश भी सदा नियत काल आने पर करते हैं। कालरूप में ही ये भगवान् प्रजापति के भी पिता हैं। यह सब संसार बेशक सूर्यप्रजापित या हिरण्यगर्भ-प्रजापित से उत्पन्न हुआ है, किन्तु वे प्रजापित भी तो काल आने पर ही उत्पन्न हो सकते हैं। अतः उनके भी जनक ये काल परमेरवर हैं। और केवल सृष्टि की यह उत्पत्ति ही नहीं, किन्तु सृष्टि का प्रतिक्षण संचालन भी काल द्वारा ही हो रहा है। इस संसार का एक तिनका भी बिना काल आये नहीं हिल सकता। सचमुच काल ही सबका ईश्वर है। भूत का, भवत् का, भविष्यत् का सब ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड कीं सब अनिगनत वस्तुएँ, काल में ही यथास्थान रखी हुई हैं। काल का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। अतः आओ, हम भी उस कालदेव की उपासना करें, हम देखें कि आज से उनके प्रति-कुल हमारा कभी कोई आचरण न होने पाये, और हमारा एक-एक कर्म, एक-एक चेष्टा उस कालदेव की अनुमति पाकर ही हुआ करे।

शब्दार्थ काले काल में, उचित काल में तपः तप, काले काल में ज्येष्ठं ज्येष्ठत्व और काले काल में ही ब्रह्म ज्ञान समाहितं रखा हुआ है। ह निश्चय से कालः काल सर्वस्य सबका ईश्वरः ईश्वर है यः जो कि प्रजापतेः सब प्रजा के उत्पादक हिरण्यगर्भ का भी पिता उत्पादक आसीत् होता है।

भोजन की सरह शहक-से-शुक्त दीयांसाने प्रबंधना में भी नेहा कर निर्धाह हमने समेता. और बड़ा आनन्दरस पाने स्वोगा । तब तो मैं मां हुए सुनेशा वह अवहम हुस्य हन्दा है हैंगा, हजस्तुहिह वेह सनीयय सपीह का अंग हो सामा करेगा और द्या तरह में प्रतिदेश तथा-पश आन अहम कर सकता हुआ नानसिस सोहप्ट समुन्य, बीड्या दोर विकेशित सोता माजना।

वर, ज्ञान की अब वचने अने, जिजानारा बराज्य होने संग्रे । तुम को अब

भेरर सुना हुना बात वर्षि पूर्व बातां ही अब्बु रहे. इस्ते ।

रहड

CHIS OFFN --

ट्रा पदा की भाग मार मार

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and e Sangotri

२३ कार्तिक अव्ये<u>चसश्च</u> व्यचेसश्<u>च</u> वि<u>छं</u> वि व्यंमि <u>मा</u>ययां। ताभ्यांमुद्भत्य वेटमथ् कमीणि कृण्महे॥

- अथर्वे० १६।६८।१

ऋषिः ब्रह्मा । देवता कर्मः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय यह ठीक है कि हमें वेद-ज्ञान प्राप्त करके उसी के अनुसार कर्म करने चाहियें, परन्तु वेदज्ञान को पा लेना कोई आसान काम नहीं है। वेद को तो हमें बड़े गहरे पानी में पैठकर निकालना होगा, उद्धृत करना होगा। जबतक कि हम 'अव्यचस्' और 'व्यचस्' के, सान्त और और अनन्त के, अन्दर और बाहर के, 'अहं' और शेष सब 'त्वं' के भेद को, रहस्य को पूरी तरह न जान गए हों तब तक 'ज्ञान क्या वस्तु है', 'ज्ञान होने का क्या अर्थ है' इसे ही हम नहीं समझ सकते। किन्तु आज प्रभु-कृपा से मैंने तो 'अव्यचस्' और 'व्यचस्' की घुंडी को खोल लिया है। अन्दर-बाहर का क्या मतलब है इसे मैंने पा लिया है। सान्त और अनन्त जहाँ पर आकर मिलते हैं उस गुप्त रहस्यस्थान को कपाट खोलकर देख लिया है। मैं देख रहा हूँ कि यह सब-कुछ यह सव अनन्त ब्रह्माण्ड —मेरी आत्मा में, मुझ अणु में समाया हुआ है और मेरा आत्मा, मेरा अपना-पन, मेरा 'अहं' इस सब-कुछ को, इस सब ब्रह्माण्ड को, व्याप्त कर रहा है। सुननेवालों को मेरी ये बातें विचित्र लगेंगी, परन्तु मेरी माया, मेरी उच्च प्रज्ञा द्वारा जो मुझे आज साक्षात् अनुभव हो रहा है उस अनुभव को मैं इस भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से प्रकट नहीं कर सकता। अरे, वेद-ज्ञान कहीं पुस्तक में नहीं रक्खा है। वेदज्ञान तो मेरी आत्मा में प्रकाशित होता है और वेद-ज्ञान नित्य सम्बन्ध से परमात्मा में रहता है। जो ज्ञान इन दोनों द्वारा-इस आत्सा (अव्यचस्) और उस परमात्मा (व्यचस्) द्वारा-निकलता है, उद्धृत होता है वही असली वेद (ज्ञान) है और उसी के अनुसार कर्म करना वैदिक कर्म करना है। अतः आओ, भाइयो ! अव हम इस प्रकार से ही वेद को पाकर अपने कर्मों को किया करें। इस प्रकार जब हम अपने-आपको उस अनन्त से जोड़कर, अपने क्षुद्र शरीर को इस विश्व-ब्रह्माण्ड से मिलाकर, अपनी परिमित इन्द्रियों को बाहर के व्यापक देवों से समस्वर करके जो कमें किया करेंगे वे ही कमें वैदिक होंगे, वेदानुसारी होंगे, सच्चे अर्थों में वेदानुसारी होंगे।

शब्दार्थ अव्यचसः अव्यापक, सान्त, एकदेशी 'अहं' के च भी और व्यचसः व्यापक, अनन्त, बाहर फैले हुए 'त्वं' के च भी बिलं बिल को, भेदभरे रहस्य को मायया अपनी प्रज्ञा द्वारा विष्यामि खोलता हूँ। ताभ्यां उन दोनों [अव्यचस् और व्यचस्] द्वारा वेदं वेद को, वेदज्ञान को उद्धृत्य ऊपर निकालकर, उद्धृत करके अथ उसके बाद, इस तरह वेद को प्राप्त करने के बाद, हे भाइयो ! हम कर्माण कर्मों को, वैदिक कर्मों को कृष्महे करें।

१. देखो-मनु० अ० १२, इलोक ११८ से १२६ तक।

वैदिक विनय

378

मन्ति (तवका भार लनाप्ता

२४ कार्तिक

भियं मां कृणु देवेषुं, शियं राजिसु मा कृणु । भियं सर्वस्य पश्यंत खत शूद्र खताये।।

-अथर्वं० १९।६२।१

ऋषिः ब्रह्मा । देवता ब्रह्मणस्पतिः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय हे मेरे प्यारे प्रभो ! तुम मुझे सबका प्यारा बनाओ । मैं यदि सचमुच तुम्हारा प्यारा बनना चाहता हैं तो मुझे तुम्हारे इस सब जगत का प्यारा बनना चाहिये। तुम तो इस जगत में सर्वत्र हो; छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे सभी प्राणियों में मन्दिर बनाकर बसे हुए हो। यदि इन रूपों में मैं तुमसे प्यार न कर सक् तो मैं तुम्हें प्यारा कहके क्योंकर पूकार सक ? ये सांसारिक लोग बेशक अपने से बड़ों, बलवानों, धनवानों और प्रतिष्ठावालों के ही प्यारे बनना चाहते हैं, अपने से छोटों, गरीबों, दलितों और असहायों के प्यारे बनने की कोई ज़रूरत नहीं समझते। ये बेशक अपने राजाओं और स्वामियों का प्रेम पाना चाहते हैं, किन्तु अपनी प्रजा और नौकरों का प्रेम पाने की कभी इच्छा नहीं करते। परन्तु इसी में तो तुम्हारे सच्चे प्रेमी होने की परीक्षा होती है। क्योंकि इन गरीबों, पीड़ितों, असहायों का प्रेम चाहना ही असल में तुमसे प्रेम करना है। बिलयों, धनियों और राजाओं से प्रेम की इच्छा करना तो सांसारिक बल से, सांसारिक धन से, सांसारिक प्रभुत्व से प्रेम करना है; तुमसे प्रेम करना नहीं है। इसलिए मुझे तो तुम जहाँ देवों और राजाओं का प्यारा बनाओ, वहाँ इन सब देखनेवाले सामान्य लोगों का तथा नौकरों और सेवकों का भी प्यारा बनाओ । जहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों का प्यारा बनाओ वहाँ इन सामान्य प्रजाओं (बैश्यों), और शूद्रों का भी प्यारा बनाओ । शूद्रों और आर्यों का, नीचों और ऊँचों का, शिष्यों और गुरुओं का, सेवकों और स्वामियों का, अधीनों और अधिकारियों का, सब छोटों और बड़ों का मुझे प्यारा बनाओ। मुझे ऐसा बनाओ कि इस संसार में जो कोई मुझे देखे, मेरे सम्पर्क में आए, वह मुझसे प्यार करे। हे प्रभो! मैं तो तुम्हारे इस सब संसार से प्रम की भिक्षा माँगता हूँ। क्योंकि मैं देखता हूँ कि जब तक मैं तुम्हारे इस छोटे-बड़े समस्त संसार से प्रेम नहीं कर लूँगा तब तक, हे मेरे प्यारे! मैं कभी तुम्हारे प्रेम का भाजन न हो सकूँगा, तुम्हारे प्रेम का अधिकारी न बन सक्गा। कार्य में दिश्व केंद्र में देहान

शब्दार्थ हे प्रभो ! मा मुझे देवेषु देवों में [ब्राह्मणों में] प्रियं कृणु प्यारा करो मा मुझे राजसु राजाओं में [क्षित्रियों में] प्रियं कृणु प्यारा करो, सर्वस्य पश्यतः सब देखनेवालों का भी प्रियं प्यारा करो, उत शूब्रे शूद्र में भी और उत आर्ये आर्य में भी, सब में, मुझे प्यारा बनाओ ।

1 55 353 Pass with

200

PIRALES OFFIN

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

. २५ कार्तिक त्वं वुलस्य गोम्तो ऽपावरद्रिवो विलम्। त्वां देवा अविभ्युषस् तुज्यमीनास आविशुः ॥

-ऋ० शाश्शाप्र

ऋषिः जेतामाधुन्छन्दसः । देवता इन्द्रः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय है इन्द्र ! तुम 'बल' असुर का संहार कर उस द्वारा छिपा रखी हुई देवों की गौओं को फिर देवों को दिला देते हो। तुम्हारा यह नित्य इतिहास इसमें से प्रत्येक जीव में दोहराया जा रहा है। हमारे आत्मिक ऐश्वर्य ऐसे खोये जा चुके हैं कि हमें उनके बारे में कुछ पता ही नहीं है। यह हमें ढकनेवाला 'बल' नाम अज्ञानासुर ही है जिसने कि इन हमारी आत्मिक ऐश्वयों की गौओं को छिपा रक्खा है। इसके वशीभूत हुए हम लोग अज्ञान-निद्रा में न जाने कब से पड़े सो रहे हैं। परन्तु हे इन्द्र! जब तुम इस अज्ञानान्यकार का संहार कर देते हो, अज्ञान-मेघ का भेदन कर देते हो, गौओं को छिपा रखनेवाले इस 'बल' के बिल को खोल देते हो, हमारी प्रसुप्तावस्था में पड़ी सुषुम्ना के विवर का उद्घाटन कर देते हो, शक्ति को जगा देते हो, तब जो आश्चर्यमय अवस्था आती है वह तो स्वयं देखने ही योग्य है। तब वे छिपी गौएँ निकल पड़ती हैं, एक से एक अद्भुत आत्मिक ऐश्वर्य प्रकट होने लगते हैं। अन्दर प्रकाश हो जाता है, आनन्ददायक कम्पन होते हैं और आनन्द की लहरें उठती हैं तथा हे आत्मन् ! तुम्हारी सब दिव्य शक्तियां आ-आकर तुमसे संयुक्त होने लगती हैं। हे इन्द्र ! हम तुम्हारे पराक्रम की क्या कहां ? बलासुर तो अपने अन्धकार द्वारा तुम्हारे देवों को उनके ऐश्वयों से जुदा कर चुका होता है और तुम्हारे इन देवों को तुमसे भी विच्छिन्त कर चुका होता है। पर ऐसी अवस्था पहुँच जाने पर भी तुम अपने वज्र से जब उसका संहार करने लगते हो तो एकदम प्रकाश की धारायें बहने लगती हैं और उस प्रकाश में वे सब ऐश्वर्य देवों को फिर मिल जाते हैं तथा एवं ऐश्वर्ययुक्त हुए ये देव कभी-कभी 'बल' के प्रहारों से मारे जाते हुए और काँपते हुए भी अब निर्भय होकर तुममें प्रविष्ट होने लगते हैं, आ-आकर तुमसे संयुक्त होने लगते हैं।

शब्दार्थ अद्रिवः हे वज्रवाले इन्द्र ! त्वं तुम गोमतः गौओं को रोक रखनेवाले बलस्य बल के बिलं बिल को अपावः खोल देते हो। तब देवाः सब देव तुज्यमानासः हिसित होते हुए, कांपते हुए भी अविभ्युषः निर्भय हुए-हुए त्वां तुझमें फिर आविशुः प्रविष्ट होने लगते हैं।

निया, उस गर कुछ जानावासे सहाब् अधिव है जिस जाता है जो कि सब अवस्था इस इस है, बच अध्यान की अध्य है, परम परम जान है और अध्य में पत्नों पृत्रेम जातव है और मेवा की मानवा करता है जो कि पूर्प अञ्चापत है और मेवा का अध्याद है।

to the distribution of a day of the first being being the

१. 'बलो वृणीते:'-- निरुक्त ६-२।

वैदिक विनय

. ३७१

I STEP FIRE ESTER

Digitized by Arya Samaj And Comman and eGangoti

्र २६ कार्तिक

ं अपने स्पिधमाहां विष्टते जातवेदसे। समें अद्धां चे मेधां चे जातवेदाः म येच्छतु।।

\$19,19 0 JF

-अथर्व० १९।६४।१

ऋषिः ब्रह्मा। देवता अग्निः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-जब समिधा अग्नि में डाली जाती है तो बस जल उठती है, अग्निरूप हो जाती है; सिमधा में छिपी अग्नि उद्बुद्ध हो जाती है, प्रदीप्त अवस्था में आ जाती है। इसी-लिए वैदिक काल के जिज्ञासु लोग सिमत्पाणि होकर (सिमधा हाथ में लेकर) गुरु के पास आया करते थे, अपने को समिधा बनाकर गुरु के लिए अपित कर देते थे जिससे कि वे अपने गुरु की अग्नि से प्रदीप्त हो जावें। उस वैदिंक विधि के अनुसार मैं भी अपने आचार्य के चरणों में उपस्थित हुआ हूँ और उनकी अग्नि द्वारा उन-जैसा प्रदीप्त होना चाहता हूँ। मैं जानता हुँ कि प्रदीप्त हो जाना बड़ा कठिन है। प्रदीप्त होने से पहले तो अपने को जला देना होता है। और यह अपने को जला देना तभी किया जा सकता है जब कि मुझमें पूर्ण श्रद्धा हो कि इस जलने द्वारा मैं अवस्य प्रदीप्त व ज्ञानमय हो जाऊँगा। इस<mark>लिए पहले तो</mark> मुझमें श्रद्धा की जरूरत है। इसी तरह गीली होने आदि किसी दोष के कारण यदि समिधा अग्नि को धारण नहीं कर सकती है, तो भी वह प्रदीप्त नहीं हो सकती। इसलिए मुझमें ज्ञान के धारण करनेवाली बुद्धि, मेधा, की भी जरूरत है। श्रद्धा और मेधा के बिना मैं कभी ज्ञान से दीप्त नहीं हो सकता। पर इस श्रद्धा और मेधा को मैं और कहाँ से लाऊँ ? मैं तो इन 'जात-वेदाः अग्नि से, अपने आचार्यदेव से ही प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे श्रद्धा और मेधा का दान प्रदान करें। वे जातवेदा हैं, उन्हें ज्ञान उत्पन्न हो चका है, वे ज्ञान की जलती हुई अग्नि हैं। अतः वे 'जातवेदा' यदि चाहें तो मुझे श्रद्धा और मेधा भी दे सकते हैं।

परन्तु अन्त में तो, मैं जो प्रातः-सायं भौतिक अग्नि के लिए अपनी काष्ठ की सिमधा जाता हूँ, शिष्यरूप में आचार्याग्नि के लिए अपने शरीर-मन-आत्मा के प्रदीपनार्थ जो तीन सिम-धार्ये प्रतिदिन लाता हूँ, राष्ट्रसेवक या धमंसेवक बनकर राष्ट्राग्नि या धमंग्नि आदि के लिए जो तदुपयोगी सिमधायें लाता हूँ, ये सब-की-सब सिमधायें अन्त में उस 'बृहत् जातवेदाः' के लिए, उस सब-कुछ जाननेवाले महान् अग्नि के लिए लाता हूँ जो कि सब आचार्यों का आचार्य है, सब अग्नियों का अग्नि है, परम-परम अग्नि है और अन्त में उसी 'बृहत् जातवेदाः' से श्रद्धा और मेधा की याचना करता हूँ जो कि परम श्रद्धामय है और मेधा का भण्डार है।

शब्दार्थ — बृहते बहुत बड़े, परम जातवेदसे जातमात्र के जाननेवाले, ज्ञानयुक्त अग्नये अनि के लिए मैं सिमधं सिमधा को, प्रदीपनीय वस्तु को आहार्ष आहरण करता हूँ, लाता हूँ। सः वह जातवेदाः ज्ञानयुक्त अग्नि मे मुझे श्रद्धां च श्रद्धा को भी और मेधां च मेधा को भी प्रयच्छतु प्रदान करे।

1202

विदिक विनय

निक्ति है। र्यं में बन्दे हेवती बार्गी बार्

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and Cangeth

.२७ कार्तिक

ग्रश्विना सार्घेणं मा मधुनाङ्क्तं ग्रुभस्पती । यथा वर्चस्व<u>तीं</u> वार्चमावद<u>िन जनाँ</u> ग्रनुं॥

---अथर्व० हाशाहर

ऋषिः अथर्वा । देवता मधुः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-हे युगल देवो ! हे सर्वत्र ज्योति और रस के देनेवाले दिव्य देवो ! तुम नाना रूपों में जगत् को व्याप्त कर रहे हो। तुम मेरे अन्दर सूर्यशक्ति और चन्द्रशक्ति के रूप में कार्य कर रहे हो, तुम प्राण और अपान के रूप में भी मेरे शरीर का सेवन कर रहे हो। हे अश्विनी! तुम सदा 'शुभस्पती' हो, दीप्ति के पालक हो, तेज के संरक्षक हो। इसलिए मैं तुमसे वाणी के तेज की याचना करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मैं जनता की सेवा के लिए अपनी शारीरिक वाणी को, मानसिक वाणी को, आत्मिक वाणी को तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी बना लूं। तुम मधु के लिए प्रसिद्ध हो। यह स्थूल माक्षिक मधु, शहद, भी तुम्हारे ही ज्योति और रस द्वारा बना हुआ होता है। इस शहद के सेवन से मैं अपनी स्थूल वाणी को तेजस्वी और बलवान् बना लूँगा। पर तुम्हारा असली मधु तो हमारे अन्दर है। तुम्हारी क्रिया द्वारा प्राण उठकर जब सिर में व्याप्त हो जाते हैं तो कपाल में जो तुम्हारा मधु झरता है, जिस सारभरे अमृत का हठयोगी लोग खेचरी मुद्रा में अपनी जिह्वा द्वारा आस्वादन भी करते हैं, उस अपने मधु से, हे प्राणापानरूपी अश्वनौ ! तुम मेरे सम्पूर्ण शरीर को अंक्त कर दो, मेरे रोम-रोम को भर दो। इस प्रकार मधुसिचित हो जाने पर निःसन्देह मेरी मानसिक वाणी ऐसी वर्चस्वती हो जायगी कि तब मैं मनुष्यों में जो भाषण करूँगा वह उनके हृदयों का वेधन करता हुआ जायगा और अवश्य असर पैदा करेगा। पर हे सूर्यप्राण और चन्द्रप्राणरूपी अश्विनौ ! तुम जिस मधु के लिए प्रसिद्ध हो वह तो तुम्हारा मधुज्ञान है, तुम्हारी ज्ञान-सारभरी मधुविद्या है। उस तुम्हारे अध द्वारा मेरा आत्मा जब तृप्त हो जायगा तव तो मेरी वाणी में आत्मा बोलने लगेगा। उस सम्प्र मेरी आत्मा से निकलनेवाले शब्द ऐसे ओजस्बी होंगे कि वे निःसन्देह मनुष्यों को हिला दिया करेंगे और उन्हें उचित कर्म में प्रवृत्त कर दिया करेंगे। इस सारघ मधु से सिचित आत्मिक वाणी द्वारा ही, हे अधिवनौ ! मैं जनों का सच्चा अनुसेवन कर सक्गा, उनका सच्चा उपकार-साधन कर सक्गा।

शब्दार्थ अश्विना हे अधिवनी ! शुभस्पती हे दीप्ति के पालको ! तुम अपने सारघेन मधुना माक्षिक शहद से या सारभरे अमृत और मधुज्ञान से मा मुझको अंवतम् अंजन कर दा, रमा दो यथा जिससे कि मैं जनान् अनु जनों के प्रति, जनता के अनुसेवन करने के लिए वर्चस्वतीं वाचं तेजस्वी वाणी को आवदानि बोलूँ, बोल सकूँ।

वैदिक विनय

SIBASIO SEPE

7.03

साधना केले तपस्मिक जगत म क्रीभाकार

२८ कार्तिक

हेवान् यन्नां<u>थितो हुवे ब्रह्मचर्य</u> यदूष्मि । <u>श्रक्षान् यद् वभ्रूनालभे</u> ते नो मृळन्त्<u>वी</u>दृशे ॥

—अथर्वे० ७। १०६।७

ऋषिः बादरायणिः । देवता अग्निः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-हे प्रभो ! बड़ा विकट समय उपस्थित है। मैं इस वर्तमान दुरवस्था को कैसे दूर करूँ ? मेरा इसमें कुछ बस नहीं चलता। मुझे हार पर हार खानी पड़ रही है। जिन लोगों ने यह दुरवस्था उत्पन्न की है वे मेरे सब न्यायोचित यत्नों को अपने अन्यायपूर्ण दुष्कृत्यों द्वारा निष्फल करते जा रहे हैं। मैं इस समय क्या कहाँ ? जो मैं उपतप्त होकर आज देवताओं का आह्वान कर रहा हूँ, पुकार रहा हूँ, क्या मेरा यह सब यत्न भी व्यर्थ जायेगा ? क्या इस समय ये देवलोग भी आकर मेरी मदद नहीं करेंगे ? जो मैंने अब तक ब्रह्मचर्य का उग्र कठोर व्रत पालन किया है, क्या वह मेरा ब्रह्मचर्य-तप भी इस दुरवस्था को पलट न सकेगा? जो मैंने सबको हरण करनेवाली, विद्वानों को भी खींचनेवाली, दुर्दम इन्द्रियों को सब तरफ से काबू किया है वह मेरी संयम की शक्ति भी क्या मूझे आज जय-लाभ न करा सकेगी ? ओह, मेरे ये सब यदि ऐसे समय पर भी मेरे काम न आयेंगें तो और कव आयेंगे ? यह देखो, दूसरे लोग मुझपर हँस रहे हैं, वे सचमुच समझ रहे हैं कि देवों का आह्वान, ब्रह्मचर्य की तपस्या और इन्द्रियनिग्रह फिजूल की चीजों हैं, निरर्थंक ढकोसले हैं। इसलिए है प्रभो ! अब तो ऐसा करो कि मेरे ये सब पूण्य कर्म-मेरे ये देवाह्वान, ब्रह्मचर्य, संयम आदि सब पुण्य प्रयत्न —मुझे सुखी कर देवें, विजय प्राप्त कराकर मुझे सुख पहुँचाने के कारण हों। अब तो ऐसा कर दो कि इन दिव्य शक्तियों का चमत्कार एक बार फिर जगत् में प्रकट हो जाये। हे प्रभो ! मैं तुमसे और क्या कहूँ ? इस समय और क्या कहुँ ?

शब्दार्थ — यत् जो नाथितः उपतप्त हुआ मैं देवान् देवों को हुवे पुकारता हूँ यत् जो ब्रह्म-चयं मैंने ब्रह्मचयं को अधिम वसा है, पालन किया है और यत् जो बभ्नून् हरण करनेवाली अक्षान् इन्द्रियों को आलभे सब तरफ से कावू किया है ते ये सब मेरे कमं ईदृशे ऐसे विकट समय में नः मुझे मृळन्तु सुखी करें, जय प्राप्त कराकर सुखी करें।

308

महा त स्तर्य अरुमान-पान

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६ कार्तिक

त्रतेनं <u>दीक्षामांप्नोति दीक्षयांप्नोति</u> दक्षिणाम् । दक्षिणा श्रद्धामांप्नोति श्रद्धयां सत्यमांप्यते ॥

—यजुः० १६।३०

ऋषिः हैमविंचः । देवता यज्ञः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय-प्यारे ! क्या तू सत्य को पाने के लिए व्याकुल हो गया है ? तो तू आ, इन चार सीढ़ियों द्वारा तू अवश्य 'सत्य' को पा जायेगा। प्रारम्भ में, यदि तुझे सचमुच सत्य से प्रेम है तो तूझे जहाँ कहीं जो कोई सच्चा नियम, सत्यनियम, व्रत पता लगेगा तू उसे अवश्य पालन करने लग पड़ेगा। इस तरह वर्तों को जानने और यथाशक्ति पालन करने की तेरी प्रवृत्ति तुझे शीघ्र दीक्षा का पात्र बना देगी। दीक्षित हो जाने पर तू पहली सीढ़ी चढ़ जायेगा। दीक्षित हो जाना मानो सत्य के साम्राज्य में घुसने का प्रवेशपत्र (परवाना) पा लेना है और सत्य के दरबार में पहुँचने का अधिकारी बन जाना है। दीक्षित हो जाने की इस पहली सीढ़ी पर जब तू चढ़ जायेगा तो तू सत्य के वायुमण्डल में रहनेवाला हो जायेगा और तेरा सत्यप्रेमी साथियों का परिवार बन जायेगा। तब तेरे लिए अपने अन्य सत्यपिथक भाइयों के अनुभव से लाभ उठाते हुए सत्यनियमों को जान लेना और उनका यथावत् पालन करना बहुत सहज हो जायेगा। एवं आगे-आगे सत्य के पालन में अभ्यस्त होता हुआ तू तीसरी सीढ़ी पर भी तब पहुँच जायेगा जब तुझे यह स्वात्म-अनुभव हो जायेगा कि सत्य के पालन से तेरी वृद्धि (दक्षिणा) होती है, तेरी उन्नति होती है। तब तू स्वयमेव अनुभव करेगा कि सत्य के पालन से तू बलवान और उन्नत हो रहा है। कुछ आक्चर्यं नहीं यदि उस समय बाहर का संसार भी तुझे प्रतिष्ठा देता हुआ और तेरे प्रति नानाविध दक्षिणायें लाता हुआ तेरी दक्षता, बलवत्ता और बढ़ती को स्वीकार करे। तुझे अपने-आप तो अपनी वृद्धि अनुभूत होगी ही। यह अनुभव ही तुंझमें सत्य के लिए श्रद्धा उत्पन्न कर देगा और तुझे श्रद्धा की तीसरी सीढ़ी पर पहुँचा देगा। तब तुझमें सत्य के लिए ऐसी अटल श्रद्धा हो जायेगी कि तू त्रिकाल में भी यह शक न करेगा कि कभी सत्य तेरी हानि भी कर सकता है। श्रद्धा पा जाने पर मनुष्य बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ने लगता है। अतः जब तू अपनी श्रद्धा में मग्न होकर सत्य के -केवल सत्य के -पा लेने के लिए व्याकुल एवं एकाग्र होकर अग्रसर हो रहा होगा तो इससे अगली उच्च सीढ़ी पर पैर रखते ही तुझे 'सत्य' के दर्शन हो जायेंगे, 'सत्य' का साक्षात्कार हो जायेगा, अपने प्यारे सत्य का साक्षात्कार हो जायेगा।

शब्दार्थ — व्रतेन व्रत से, सत्यिनयम के पालन से मनुष्य दीक्षां दीक्षा को, प्रवेश को आप्नोति प्राप्त करता है। दीक्षया दीक्षा से दिक्षणां दिक्षणा को, वृद्धि को, बढ़ती को आप्नोति प्राप्त करता है। दिक्षणा दिक्षणा से श्रद्धां श्रद्धा को आप्नोति प्राप्त करता है और सदा श्रद्धा श्रद्धा द्वारा सत्यं सत्य को आप्यते प्राप्त किया जाता है।

वैदिक विनय

रखप्र

रावन र के त्व देशन रामाहल शाम मा निवान

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३० कार्तिक

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मेवाभूद् विजानतः। तत्र को मोद्दः कः शोकंऽ एकत्वर्मनुपश्यंतः॥

--यजुः० ४०।७

ऋषिः दीर्घतमाः । देवता आत्मा । छन्दः निचृदनुष्टुप् ।

विनय मोहं और शोक से मनुष्य कैसे पार हो सकता है ? यदि तुममें से कोई सचमूच मोह और शोक से पार होना चाहता है तो वह इस प्रश्न का उत्तर सावधानता से सुने। अवश्य ही एक ऐसी स्थित होती है जहाँ पहुँचने पर मोह जन्म नहीं पा सकता, जहाँ शोक का कभी प्रसंग नहीं उठ सकता। यदि तुम उस स्थिति में पहुँचना चाहते हो तो अपने-आपको फैलाओ, फैलाओ; इतना फैलाओ कि संसार का कोई भूत, कोई वस्तु, कोई जगह तुम्हारी आत्मा से रिक्त (खाली) न रहे। तुम प्रेम में भरकर अपने 'अहं' को, 'मैं' को सब कहीं, सर्वत्र व्याप्त कर दो। 'मैं' को मारने का तरीका ही यह है। यह तुम्हारी 'मैं' कुचलने से कभी विनष्ट नहीं होगी, पर फैला देने से यह स्वयमेव नष्ट हो जायेगी। जिस 'मैं' को तुम मारना चाहते हो वह समाप्त हो जायेगी। तव तुम्हारी सव जगह आत्मवत्, समान दृष्टि हो जायेगी। असल में, इस स्थिति को वे ही विशेष ज्ञानी, 'विजानन्' पुरुष पा सकते हैं जिन्होंने ज्ञान-समाधि द्वारा अपनी परम आत्मा को देख लिया है, इसके सर्वगत रूप का साक्षात् कर लिया है। उन्हें तो ऊपर-नीचे, इधर-उधर, सर्वत्र वह आत्मा-ही-आत्मा प्रसृत दीखता है। ये सब दीखनेवाले भूत, ये दृश्यमान संसार के सब-के-सब पदार्थ, उन्हें उस आत्मा में ही सामान्य रूप से रखे हुए, लटके हुए दिखाई देते हैं। जब वे कभी विशेष रूप में इन पदार्थों व भूतों पर दृष्टि देते हैं तो उनके अन्दर भी उन्हें वह एक आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है, वही एक अनुस्यूत दिखाई देता है। उस आत्मा के सिवाय उन्हें अपने सहज ध्यान में और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। वे सदा सर्वत्र उस अपने एक अद्वितीय परम आत्मा के ही दर्शन करते हैं। उस दर्शन में वे अपनी 'मैं' को भी डुबा देते हैं। तो फिर उनको मोह-शोक कहाँ से हो सकता है ? जब सब कहीं प्रकाश-ही-प्रकाश हो गया तो वहाँ मोह का अंधकार कैसे आ सकता है ? जब आनन्द का शाही डेरा लग गया तो उसके आस-पास भी शोक-पामर कैसे फटक सकता है ? जब समुद्र ही सूख गया तो उसमें ज्वारभाटे क्योंकर उठेंगे ? जब सब अपना-ही-अपना हो गया तो शोक-मोह किसके लिए होंगे ?

शब्दार्थं यहिमन् जिस ज्ञान में, जिस ज्ञानमय स्थिति में सर्वाणि भूतानि सब भूत, सब पदार्थ, जातमात्र आत्मा एवं आत्मा ही, अपने ही अभूत् हो जाते हैं तत्र उस स्थिति में एकत्वं अनुपश्यतः परम आत्मा के एकत्व का साक्षात् करनेवाले विजानतः उस विशेष ज्ञानी के लिए कः मोहः कौन-सा मोह और कः शोकः कौन-सा शोकं रह सकता है ?

२७६

मार्गशीर्ष (वृश्चक)

ीं है। हारी का क्षेत्र के काल के लिए

प्राणदायक व्यायाम

कूल्हों और जाँघों की स्वस्थता करनेवाला

इस व्यायाम के लिए भूमि पर पीठ के बल पूरे पैर पसारकर अच्छी तरह लेट जाइयें और लेटकर अपने हाथों को स्वस्तिकाकार में (पलौथी की तरह एक-दूसरे के ऊपर) छाती पर रख लीजिए। अब घुटनों को जरा भी न मुड़ने देते हुए और पैरों व एड़ियों को भूमि से न उठने देते हुए, अपने सिर को धीरे-धीरे १८-२० इञ्च ऊपर उठाइये। फिर उसी तरह सिर की धीरे-धीरे नीचे लाइये। इस तरह ७-८ बार कीजिये। जब सिर ऊपर उठा रहे हों तो पेट तक पहुँचनेवाला गहरा दीर्घ स्वास लीजिये, और जब नीचे ले-जा रहे हों तो स्वास बाहर निका-लिये।

(7)

उसी तरह लेट जाइये। हाथों को सिर के नीचे तिकया बनाते हुए रख लीजिये। अब धड़ को विलकुल न हिलने देते हुए और टाँगों को घुटने पर न मुड़ने देते हुए, किटप्रदेश को चूल बनाकर टाँगों को धीरे-धीरे इतना ऊपर लाइये कि उनका धड़ के साथ समकोण बन जाय। फिर टाँगों नीचे लाकर पूर्ववत् हो जाइये। इस प्रकार बार-बार कीजिये। जब टाँगें ऊपर ले-जा रहे हों तो अन्दर इवास लीजिये और जब नीचे ले-जा रहे हों तो बाहर श्वास छोड़िये।

इस व्यायाम को करते हुए अपना मन कूल्हों और जाँघों पर केन्द्रित कीजिये। इनकी

स्वस्थता की भावना कीजिये।

ध्यान—"मैं बलवान् हो रहा हूँ, मेरा सारा शरीर प्राण-संचार से विद्युन्मय और पूर्ण स्वस्थ हो रहा है।" इत्यादि प्रकार से ध्यान कीजिये।

इन अङ्गों को गौणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और फाल्गुन के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता

वैदिक विनंस

है।

-300

हेमन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—शीत का प्रारम्भ करनेवाली शरद् ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनों में शीत अपने पूरे वेग से पड़ने लगता है, उस ऋतु का नाम हेमन्त है। इसमें अधिक-से-अधिक शीत पड़ता है तथा हिम (बर्फ), पाला तक जम जाता है। हेमन्त ऋतु के मार्गशीर्ष और पौष ये दो महीने होते हैं। दूसरों के मत में पौष और माघ इसके महीने होते हैं। माघ के कुछ दिन तो

प्रायः हेमन्त के ऋतुकाल से युक्त हुआ ही करते हैं।

महिमा—शारीरिक पुष्टि पाने के लिए यह ऋतु सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण भगवान् ने 'मासानां मार्गशीषोंऽहम्' कहकर मार्गशीषें के महीने को सर्वश्रेष्ठ महीना कहा है। इस ऋतु में मस्तिष्क का काम तथा शारीरिक परिश्रम भी बिना थके अधिक-से-अधिक किया जा सकता है। इसमें वात, पित्त और कफ प्रायः समावस्था में रहते हैं तथा शारीरिक बल और पाचनागिन, प्रबल अवस्था में होते हैं। इस समय विसर्गकाल अपने पूर्ण यौवन में होता है, अर्थात् इस समय दिक्षणायन सूर्य मनुष्यों के लिए रस का विसर्जन करते हैं, प्राणियों के शरीरों में वृद्धि, पुष्टि, बल आदि का दान करते हैं।

गुण-यह ऋतु शीत, स्निग्ध तथा पदार्थों में स्वादुता उत्पन्न करनेवाली है। यह प्राणियों

की जठराग्नि को बढ़ाती है।

पश्यापथ्य इस ऋतु में घूप का सेवन करना चाहिए। इस ऋतु में शारीरिक बल तथा पाचकाग्नि प्रबल होते हैं अतः इसमें अतिस्निग्ध, गुरु, पौष्टिक पदार्थ जैसे दूध, मक्खन, तेल, गुड़ आदि का तथा ऋतु के गर्म स्निग्ध पदार्थ जैसे बाजरा, सरसों, गाजर आदि का भी सेवन करना चाहिए। ऊनी व रूई के कपड़े पहनने चाहियें। व्यायाम भी खूब अच्छी तरह करना चाहिये।

एन जानून को गोणतका नवेटक, बादयब और फाल्यून के व्यावासों से भी जास पहें बता

कहावत के अनुसार मार्गशीर्ष में जीरा तथा पौष में धनिया खाना मना है।

े २७व

Jei mi (Mari

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ मार्गशीर्ष

उदीर्ध्वं जीवो अर्सुन् श्रागादप प्रागात्तम् श्रा ज्योतिरेति। श्रारेक् पन्थां यातेवे सूर्यायार्गनम् यत्रं प्रतिरन्त श्रायुः॥

一港० १।११३।१६

ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः। देवता उषाः। छन्दः मुरिक् पंक्तिः।

विनय उठो, उठो हे मनुष्यो ! उठो, जागो, देखो यह प्रभात हो रहा है, अन्धकार को चीरकर उषा की किरणें निकल रही हैं। हमें जीवन प्रदान करती हुई, हममें नव-प्राण का संचार करती हुई यह दिव्य ज्योति उदय हो रही है। इस ज्योति के पाने के लिए जागो। भाइयो ! अनुभव करो कि हमारे जीवन में आज फिर एक नवप्रभात हुआ है। अब तक हम अँघेरे में थे, एक निष्प्राण और जीवनहीन 'जीवन' बिता रहे थे। इस ज्योति का पवित्र संस्पर्भं हममें आज जो नया चैतन्य उत्पन्न कर रहा है वह हमारे लिए अननुभूतपूर्व है। ओह, इस ज्योति ने तो उस परम ज्योति सूर्य का मागं भी खोल दिया है। इस आत्म-ज्योति ने उदित होकर परमात्म-ज्योति तक पहुँचने का रास्ता भी साफ कर दिया है। हम अब उस अवस्था में पहुँच गये हैं जहाँ वृद्धि-ही-वृद्धि है, जहाँ क्षय व हास होने का डर नहीं रहा है। इस आत्म-प्रकाश में वे जीवनशक्तियाँ हैं जिन्हें पाकर अब हम दिनों-दिन उन्नत होते जायेंगे; बढ़ते, विक-सित होते जायेंगे। हमारा जीवन, हमारा ज्ञान, हमारा मनुष्यत्व, हमारे सब गुण आगे-आगे बढ़ते ही जायेंगे। यह जीवन की ज्योति इस नवप्रभात के आगे उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी। इसलिए उठो, इस आत्मप्रकाश को देखो, यह देखो, उषा देवी नवजीवन का संदेश लाती हुई हमें जगा रही है।

शहदार्थ हे मनुष्यो ! उदीध्वं उठो, नः हमारे लिए जीवः जीवन असुः प्राण आगात् आ गया है, उदय हो गया है। तमः अन्धकार अप प्रागात् हट गया है और [यह देखो] ज्योतिः उषा की ज्योति आ एति आ रही है। इस ज्योति ने सूर्याय सूर्य के पन्यां मार्ग को यातवे चंबने, पहुँचने के लिए आरेक् खोल दिया है, यत्र जहां [जीवनशक्तियां] आयुः जीवन को प्रतिरन्त बढ़ाती ही हैं [उस अवस्था में हम] आ अगन्म पहुँच गये हैं।

I S ISK FO THIP IS TOUGH DEF US FOR D. ISTE

वैदिक विनय

308

२ मार्गशीर्ष

ये त्वां देवोस्त्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रम्पजीवन्ति पुजाः । न दूद्ये अनुं ददासि वामं बृहंस्पते चर्यस इत् पियारुम्।।

一死० १।१६०।५

ऋषिः अगस्त्यः । देवता बृहस्पतिः । छन्दः स्वराड् पंक्तिः ।

विनय हे देव ! दुर्बुद्धि लोग तेरे दिये भोगों को ऐसे अन्धे होकर भोगते हैं कि वे और कुछ नहीं देखते। इस जगत् में जो तूने अपनी नानाविध भोग्य-वस्तु रूपी गौएँ दे रक्खी हैं उन से वे यथेच्छ भोनरूपी दूध दूहते जाते हैं, पर अपना और कुछ कर्त्तव्य नहीं समझते। वे तुझे भोला समझते हैं। तझे ऐसा भोला भोगदाता समझते हैं जिसके कि भोगों को यूँ ही लूट लिया जा सकता है। वे मूर्ख भोगप्राप्ति के रहस्य को नहीं समझते; भोग और यज्ञ किसी अविच्छेच बन्धन से जुड़े हुए हैं यह नहीं समझते। वे नहीं देखते कि हमारे भोग भोगने से प्रकृति में जो क्षिति आ जाती है उसे यदि हम यज्ञ द्वारा पूरा नहीं करते रहेंगे तो हमारी भोगप्राप्ति की जड़ ही कट जायेगी। अतः वे यज्ञार्थं कर्म कुछ भी न करते हुए केवल भोग भोगना चाहते हैं बस यही पाप है। सुक्ष्मता से देखें तो सब पाप के मुल में जो भावना रहती है, वह यही है। इस पाप-भावना से युक्त होकर, पापी होकर वे तुझ भद्र के आश्रय से जीना चाहते हैं। मानो तेरी भलमनसाहत का लाभ (?) उठाकर वे पापी होकर भी तेरी भद्रता पर अपने को पुष्ट करना चाहते हैं। वे कुछ समय तक इस तरह तेरा उपजीवन करते भी हैं। पर बिना यज्ञ के भोग कब 'तंक मिल सकता है ? बिना भोज्यप्रदान आदि सेवा किये गौ से दूध कब तक मिल सकता है ? अतः तू आगे के लिए ऐसे दुर्बुद्धि को अपना उत्तम ऐश्वर्य देना बन्द कर देता है, नहीं देता है। बल्कि उस हिंसक का तू विनाश ही कर देता है। भोग्यग्रस्त पूरुष को जब तेरे सच्चे विधान से भोगप्राप्ति में बाधा पड़ने लगती है तो वह ऋद होता है और नानाविध घोर हिंसाएँ करके भी भोग पाना चाहता है। उस समय हे बृहस्पते ! तू उसका नाश कर देता है। यदि तू ऐसा न करे तो इस बृहत् जगत् का पालन न कर सके, तू बृहस्पति न रह सके। ऐसे ही अटल न्याय-विधान द्वारा तू अपने इस बहुत ब्रह्माण्ड का पालन कर रहा है।

शब्दार्थ—देव हे देव ये जो त्वा उल्लिकं मन्यमानाः तुझे केवल भोगों का स्नावक या गोओंवाला ही समझते हुए पज्राः [भोग्य वस्तुओं को] प्राप्त करनेवाले, [ऐश्वयों का] प्रार्जन करनेवाले पापाः पापी लोग भद्रं उपजीवन्ति तुझ भद्र का उपजीवन करते हैं, तुझ सुखदाता पर जीवित रहते हैं, ऐसे दूढ्ये दुर्बुद्धि पुरुष [पुरुषों] के लिए बृहस्पते हे इस बृहत् जगत् के पालक देव ! वामं श्रेष्ठ ऐश्वयं को न अनुबदासि नहीं देता है बल्कि पियाचं उस हिंसक को तू चयसे ्रित् विनष्ट ही कर देता है। । है की क्षेत्र विनाम कर [मह कि क्षित्र कर] है कि किर

वैदिक विनय

87157715 03

-31018 19

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३ :मार्गशीर्ष

यस्मै त्वं सुंद्रविणो ददाशो अनागुस्त्वमंदिते सुर्वताता । यं भुद्रेण शर्वसा चोदयांसि मुजावंता राधंसा ते स्याम ॥

-ऋक्० शह्यार्थ

ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः तिष्टुप् ।

विनय हे प्रभो ! हम तेरे ही हो जायें। हम चाहते हैं कि हम अपने न रहें, तेरे हो जायँ। तेरे होने से हम तर जायँगे। परन्तु तेरे हो जानेवाले वे सौभाग्यशाली पुरुष होते हैं जिनके लिए तू 'निरपराधत्व' का वर प्रदान कर देता है। ऐसे पुरुष नाना प्रकार के कार्य किया करते हैं, किन्तु उनके सब कर्म-विस्तार में तुम्हारी कृपा से सदा निर्दोषता रहती है। हे अखण्ड ! हे पूर्ण अग्ने ! तेरे सहारे किये गये कर्मों में अपूर्णता, दोष, त्रुटि कैसे रह सकती है ? तू अदिति है, तुझमें दिति, खण्डता व बन्धन नहीं है। अतः तेरे हो चुके, तेरे अनन्य उपासक के कर्म भी खण्डित व दोषयुक्त क्यों होंगे ? तेरे ऐसे भक्तों के भयंकर-से-भयंकर दीखनेवाले कर्म भी निर्दोष व उचित ही होते हैं। धन्य-धन्य हैं वे तेरी कृपा पानेवाली विश्वद्ध आत्मायें, जिनके कि सब कर्म-प्रवाह में, हे सुद्रविण ! हे शुद्ध बल व धनवाले ! तुम ऐसी निष्पापता प्रदान करते हो । हम देखते हैं कि इससे उनका भी बल (शवस्) और धन (राधस्) असाधारण प्रकार का हो जाता है। उनका बल सदा 'भद्र' होता है और उनका धन 'प्रजावान्' होता है। उनमें तू जिस प्रकार के बल की प्रेरणा करता है वह बल भद्र होता है, कल्याण के लिए होबा है। वह दबंलों के सताने व आत्महनन में लगनेवाला अभद्र बल नहीं होता, किन्तु आत्मोन्नति कराने में, दु:खितों-पीड़ितों की रक्षा में निरन्तर लगनेवाला बल होता है। एवं उनका धन-ऐश्वर्य 'प्रजावान्' होता है, प्रजनन करनेवाला उत्पादक होता है। अनुत्पादक धन नहीं होता। उनका ऐश्वर्य कुछ भी सृजन न करनेवाला नहीं होता, अपितु सदैव उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम परिणाम लानेवाला होता है। ओह ! ऐसे धन के साथ, ऐसे बल के साथ हम तेरे हो जाय है अदिते ! निष्पाप होकर हम तेरे हो जायँ।

शब्दार्थ — अदिते हे अखण्डस्वरूप अग्ने ! त्वं तुम यस्मै जिस पुरुष के लिए सर्वताता उसके सब कर्म-विस्तार में, सब कर्मों में अनागस्त्वं निरपराधता, निर्दोषता ददाशः प्रदान करते हो और अतएव यं जिस पुरुष को तुम सुद्रविणः हे सुन्दर बल व धनवाले ! भद्रेण शवसा कल्याणकारक बल से तथा प्रजावता राधसा उत्पादक धन से चोदयासि प्रेरित करते हो, अनुप्राणित करते हो, वैसे होते हुए हम ते तेरे स्थाम हो जायें।

: 5= 8

धानक प्रया के भिन्न नहां वन त

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अ मार्गशीर्ष

नकी रेवन्तं स्रख्यायं विन्द्से, पीयंन्ति ते सुराश्वः । यदा कृणोषि नद्रनुं समूहस्यादित् पितेवं ह्रयसे ।। —ऋक् विश्वारशिक्षः साव उव द्वाराष्ठः अथर्वे २०।११४।२

ऋषिः सोमरिः काण्वः। देवता इंन्द्रः। छन्दः समा सतोबृहती।

विनय हे इन्द्र ! साधारणतया संसार के धनिक पुरुष तेरे सख्य के योग्य नहीं होते, क्योंकि वे हिंसक होते हैं। धन में ऐसा मद (नशा) होता है कि उससे मदोन्मत्त हुआ पुरुष किसी कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं देखता। धन का संग्रह ही बिना हिंसा के कहाँ होता है ? जगत् में विरले ही धन-समृद्ध पुरुष होंगे जिन्होंने कि दूसरों को बिना सताये धन प्राप्त किया हो। क्या हम नहीं देखते कि ऐश्वर्य की मदिरा से मस्त हुए, धनशक्ति को सर्वोपरि समझते हुए आज संसार के धनाढ्य लोग नि:शंक होकर ग़रीबों को सता रहे हैं, करुणापात्रों पर ही नहीं किन्तु सम्मानपात्रों पर भी बेखटके जुल्म कर रहे हैं ? तो हम हिंसक पुरुषों को तेरे दर्शन कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? इसलिए धनसमृद्धों में से तुझे अपने सख्य के लिए लोग नहीं मिलते हैं। वे तेरे नजदीकी नहीं हो पाते हैं। जो तेरे सखा होते हैं, बल्कि तेरे पुत्र बनते हैं, वे दूसरे प्रकार के ही लोग होते हैं। जो धनत्याग करनेवाले तपस्वी, मदरिहत शान्त पुरुष और प्रेम करनेवाले अहिंसक होते हैं, वे ही तुझे पहचान सकते हैं और पहचानते हैं ; वे जब तेरी महिमा का अनुभव कर तेरे स्तोता, भक्त बन जाते हैं और विशेषतः जब तू उन्हें सम्यक्तया वहन करता है, उनका पालन-पोषण करने-वाला तू है ऐसा वे देखने लगते हैं, तभी वे तुझे 'पिता-पिता' करके पुकारने लगते हैं। वे तेरे प्यारे पुत्र बन जाते हैं। इसलिए हे इन्द्र ! धनों द्वारा हम तुझे नहीं पा सकते । तुझे पाने के लिए तो हमें घन का, कम-से-कम धन के मोह का त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि तभी हम उस 'नदनु' अवस्था को पा सकेंगे जहाँ पहुँचकर भक्त लोग तुझे 'पिता-पिता' कहकर पुकारने लगते हैं और तेरै वात्सल्य में पलनेवाले तेरे प्यारे पुत्र बन जाते हैं।

शब्दार्थ — हे इन्द्र ! रेबन्तं धनवाले पुरुष को निकः तू कभी नहीं सख्याय सख्य के लिए, सखाभाव के लिए विन्दसे पाता है, क्योंकि ते वे सुराश्वः ऐश्वर्य-समृद्ध, धनमत्त पुरुष पीयन्ति हिंसन करते हैं। यदा जब तू किसी को नदनुं स्तोता, भक्त कृणोषि बनाता है सं ऊहिस और उसे सम्यक् प्रकार से वहन करता है आत् इत् तंब ही [उस द्वारा तू] पिता इव पिता को तरह हूयसे पुकारा जाता है।

वैदिक विनय

? 57

मितना यना रेनार नार

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eCangoth

५ मार्गशीर्ष

अपाङ् पाङेति स्वधयां गृभीतो ऽमत्यों मत्ये<u>ना</u> सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीनां <u>वियन्ता, न्यर्</u>नन्यं <u>चि</u>क्युर्ने नि चिक्युर्नन्यम्।।
—ऋक्० १।१६४।३८; अथर्व० ६।१०।१६

ऋषिः दीर्घतमा औचण्यः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः पङ्क्तिः ।

विनय—एक ही घर में दो मित्र रहते हैं। उनमें से लोग एक को जानते देखते हैं, दूसरे को बिल्कुल नहीं पहचानते। इन साथियों में एक न मरनेवाला, अमत्यं, अमर है और दूसरा मरनेवाला, मत्यं है। इतने विरुद्ध उलटे स्वभाववाले होते हुए भी ये दोनों आ मिले हैं, न जुदा होनेवाले साथी वन गये हैं। इनको इस तरह जोड़नेवाली 'स्वधा' है, अपने में धारण की हुई भोगेच्छा है, अन्न (भोग) की इच्छा है। जब तक यह इच्छा समाप्त व शान्त न होगी तब तक संसार में इन साथियों को कोई जुदा नहीं कर सकता। इस तरह इस भोगेच्छा से, स्वधा से, पकड़ा हुआ यह अमत्यं उस अपने मत्यं साथी को साथ लिये, उसके साथ एकशरीर हुआ-हुआ फिर रहा है, सुख-भोग की तलाश में बुरा-अच्छा सब-कुछ करता हुआ फिर रहा है। बुरा करने पर उसे विवश होकर नीचे गिरना पड़ता है, नीची योनियों में जाना पड़ता है; और अच्छा करने पर उपर जाना, उच्च योनि में जाना होता है। इस तरह ये नीचे-अपर फिरते हैं। किन्तु सदा साथ रहते हैं, सदा एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। दोनों इकट्ठे ही सब स्थानों में फिरते हैं। दोनों ही भोगवश विविध लोकों तक जाते हैं। पर आइचर्य यह है कि इन दोनों में से लोग एक 'मत्यं' को ही जानते हैं, जो दूसरा न मरनेवाला है उसे देखते तक नहीं। यह कितना आइचर्य है!

शब्दार्थ अमत्यः न मरनेवाला मत्येन मरनेवाले के साथ सयोिनः एक घरवाला होकर स्वध्या अन्नेच्छा से, भोगेच्छा से गृभीतः पकड़ा हुआ, कभी अपाङ् एति नीचे जाता है और कभी प्राङ् [एति] ऊपर आता है। ता वे दोनों शश्वन्ता सदा साथ रहनेवाले विष्चीना सब जगह फिरनेवाले वियन्ता विविध लोकों तक पहुँचनेवाले हैं। पर इनमें से अन्यं एक को, मत्यं को निचिक्युः लोग जानते हैं; अन्यं दूसरे को न निचिक्युः नहीं जानते।

की में माने की है है है जिस मानिया, जिसे मानिया, ने में उपासना में ने

२६३

F IPPO

डी हिंदराया है से उपालना कार है

Digitized by Arya Samaj Foundation Cherinal and eGangotif

६ मार्गशीष

प्रवा न तायुं, गुहां चर्तन्तं, नमों युजानं, नमों वर्हन्तम्।
सजोषा धीराः पदेरनुं ग्मजुपं त्वा सीदन् विश्वे यर्जनाः।।

—ऋक्० शह्याश

ऋषिः पराशरः शाक्त्यः । देवता अग्निः । छन्दः द्विपदा विराट् ।

विनय—मैं तुझे कैसे ढूंढूं ? हे मेरे अग्ने ! आत्मन् ! तू मुझसे ही छिपकर न जाने कहाँ जा बैठा है, किस गहन गुफा में जा छिपा है ? जैसे, जब कोई चोर किसी के पशु को चुरा ले जाता है और कहीं पहाड़ की गुफा में जा छिपता है तो पशुवाला अपने पशु को घर पर न पाकर ढूंढ मचाने लगता है, उसी तरह जब से मुझे पता लगा है कि मेरी 'पशु'—मेरी दर्शन-शक्ति—खो गई है तब से मैं हे आत्मन् ! तुझे ढूंढने लगा हूँ । तब से मैं जानने लगा हूँ कि मेरी वह दर्शनशक्ति तेरे ही साथ चली गई है और अब वह मुझे तुझसे ही मिल सकती है, अन्य कहीं से नहीं । पर हे आत्मन् ! मैं तुझे कहाँ ढूंढूं ? कैसे ढूंढूं ?

कहते हैं कि तू मेरे ही अन्दर मेरी 'हृदय की' कहानेवाली किसी गम्भीर गुफा में छिपा पड़ा है; कहते हैं कि तू वहाँ ही अपने अन्त को, नमस्कार को, पाता है और उसे स्वीकार भी करता रहता है; पर फिर भी तू मुझे दर्शन नहीं देता, मिलता नहीं। जो धीर पुरुष होते हैं, जो लगातार यत्न करते जानेवाले ज्ञानी पुरुष होते हैं तथा जो परस्पर मिलकर प्रीति और सेवन करनेवाले कर्मशील होते हैं, वे तुझे पदों द्वारा, तेरे पदिचह्नों द्वारा तुझे खोजने में लग जाते हैं। वे मन्त्रों के पदों से, तेरी प्राप्ति कराने के साधनरूपी अन्य नाना प्रकार के पदों से, तेरा पीछा करते हैं। संसार के दु:ख-दर्द, भय, पीड़ाओं से जो तेरा संकेत मिलता है उसे वे ध्यान से देखते हैं और प्रतिदिन सुषुप्ति, संध्या, मृत्यु की घटनाओं में जो तैरे पदिचह्न चमकते हैं, इन्द्रियों में जो तेरे पदिचह्न पड़ हैं, सब ज्ञान में जो तेरे पदिचह्न हैं उनसे तेरा अनुगमन करते हैं। इस प्रकार खोजते-खोजते अन्त में ये यजन के अभिलाषी तुझे पा लेते हैं और ये यजनशील लोग मिल-कर तेरी उपासना 'यजन' करने लगते हैं।

क्या मैं भी कभी, हे मेरे आत्मन् ! तुझे पाकर, 'यजत्र' धनकर, तेरी उपासना में बैठ सकूँगा ?

शब्दार्थ हे अगे ! पश्वा पशु के, दर्शन-शक्ति के साथ तायुं न चोर की तरह गुहां चतन्तं गुहा में, हृदय-गुहा में, गये हुए [छिपे हुए] और वहाँ नमो युजानं अन्न व नमस्कार से युक्त होते हुए तथा नमो वहन्तं उस अन्न व नमस्कार को धारण करते हुए तुझको सजोषाः मिलकर प्रीति तथा सेवन करनेवाले धीराः धैर्यशाली ज्ञानी लोग पदैः पदचिह्नों, प्राप्ति-साधनों द्वारा अनुगमन् पीछा करते हैं, खोजते हैं, और खोजकर वे विश्वे सब यजताः यजनशील लोग त्वा तुझे, तेरी उपसीदन् उपासना करते हैं।

758

- Gryd Grown Chief

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennar and eGangoth

७ :मार्गशीर्षं -

श्रयं किवरकंविषु पर्चेता मर्तेष्विग्निरमृतो नि धायि। स मा नो अत्रं जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनेसः स्यामः॥

—ऋक्० ७।४।४

ऋषिः वसिष्ठः । देवता अग्निः । छन्दः तिष्टुप् ।

विनय हम क्या हैं ? यह हम नहीं जानते। हम जिसे 'हम' समझते हैं वह तो केवल बहुत-सी विनश्वर वस्तुओं का ढेर है। फिर भी जो हममें ज्ञान, चैतन्य, शक्ति और आनन्द विखाई देता है वह जिस एक वस्तु के कारण है वही हमारे अन्दर एकमात्र अविनश्वर तत्त्व है। यह हमारा अग्नि है, आत्मा है, और वही असली हम हैं। इन हमारे देह-इन्द्रिय आदि भौतिक ज़ इन्द्रियों में वही एकमात्र (प्रचेता) है, चेतन है। इन अकवियों में वह किव है, इन अक्रान्तदिश्यों में कान्तदर्शी है, इन वोल न सकनेवालों में बोलने की शक्ति देनेवाला है, इन असुन्दर, अकाव्यन मय वस्तुओं में सुन्दर काव्यमय है। वही इन विनाशशील, मरनेवाले मर्त्य अनिनयों में एक अविनश्वर अमृत अग्नि है। वही असली हम हैं, आत्मा हैं।

ओह ! इसकी उपेक्षा कर जो अब तक हम दिन-रात दूसरी जड़ क्षणभंगुर वस्तुओं की सेवा-गुश्रूषा करने में लगे रहे हैं यह हमने कितना अनर्थ किया है ! हे आत्मन् ! आजन्तु के पहचानकर हम देखते हैं कि इन्द्रिय-मन-प्राण आदि में जो बल, तेज, सामर्थ्य दिखाई देता है बहु इनमें नहीं है, वह तो सब तुझमें है । इसलिए हे अग्ने ! सहस्व: ! हे बल, तेज, शक्ति के भण्डार-! : तू इस संसार में हमारा कभी विनाश मत कर । हमने अब तक बेशक तुझ अपनी अग्नि को भूल-कर बड़ा आत्मघात किया है, पर अब हम कभी ऐसा आत्मघात न करेंगे । हमें अब एक पाय-कर तेरी ही प्रसन्तता चाहिये । यह सब जग बेशक कठ जाय, पर हम अब तुझे कभी कठने न देंगे। हे अन्दर बैठे अन्तरात्मन् ! जब तक हमारे प्रति तुम सुमना हो, चाहे फिर दुनियावाले हमारी विनदा करें, धिक्कारें, हमें कुछ परवाह नहीं । इस सब मत्यें दुनिया को छोड़कर हम केंवल नुझे प्रसन्त रखेंगे। चूँकि तू ही सब-कुछ है, निश्चय से हमारा सब-कुछ है।

शब्दार्थ अयं यह प्रचेताः अग्निः चेतन अग्नि अकविषु कविः इत अकवियों में कित होकर अमर्त्येषु अमृतः इन मरनेवालों में अमृत होकर निधायि निहित है, रखा हुआ है। सहस्वः हे बल-तेज-शक्तिवाले सः वह तू नः हमें अब इस संसार में मा कभी मत जुहुरः विनष्ट कर, किन्तु हम सदा सदा त्वे तुझमें सुमनसः अच्छे मनवाले, प्रसन्तता पानेवाले स्थाम बने रहें। □

Colone top Story on the for-prop. 5

Digitized by Arya Samal Houndation Chennal and eGangotri.

द मार्गशीर्ष

चित्र इद्राजां राज्यका इदंन्यके यके सरंस्वतीमन्।
पूर्जन्यं इव ततनुद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददंत्।।

—ऋक्० दार्शार्द

ऋषिः सोभरि काण्यः । देवता चित्रः । छन्दः समा सतोबृहती ।

विनय—भाइयो! इस संसार में 'चित्र' देव ही एकमात्र राजा हैं। ओह, वे 'चित्र' देव, वे परम पूजनीय परमेश्वर, वे महा अद्भुत, विलक्षण शक्ति, जगदीश्वर, जो कि अपने अनन्त प्रकार के ऐश्वर्यों को इस जगती-तल पर अनवरत बरसा रहे हैं वे ही संसार के एक सच्चे राजा हैं। किसी एक प्रकार का थोड़ा-बहुत ऐश्वर्य रखनेवाले और उसका दान करनेवाले, हम लोगों में 'राजा'-'महाराजा' आदि कहलानेवाले, संसार के ये बड़े-से-बड़े ऐश्वर्यशाली पुरुष भी उनके सामने क्या राजा हैं! जरा देखों कि इन्हें उस बरसनेवाले महान् ऐश्वर्य में से, हजारों-लक्षों प्रकार से बरसते इन अनन्त ऐश्वर्य में से कितना अतिक्षुद्र अंश ही प्राप्त हुआ है! 'चित्र' प्रभु की उस ऐश्वर्य-वर्ष से, वरसाती नदी की तरह, इस मनुष्य-लोक में बह निकलनेवाली जो एक समष्टि ऐश्वर्य की अलक्षित नदी, सरस्वती, वह रही है, उस नदी से अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐश्वर्य-जल पाकर ये दुनियावी राजा 'राजा' बने हैं। बस, उनका इतना ही ऐश्वर्य है। तो उस बरसानेवाले, ऐसी सहस्रों सरस्वतियों को बहानेवाले, उस अनन्तधनी के सामने ये कितने क्षंद्रातिक्षद्र हैं!

में सोचा करता था कि संसार में जो मुझे नाना प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त हो रहे हैं, इनका प्रदाता कौन है ? मैं अब तक समझता था कि ज्ञान, तप, बल और धन आदि जो नाना प्रकार के विलक्षण ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हुए हैं उनके प्रदाता वे-वे उन-उन ऐश्वर्यों के धनी पुरुष ही हैं। परन्तु जब से मुझे इस महान् ऐश्वर्य-वृष्टि का अनुभव हुआ है और बरसानेवाले 'चित्र' प्रभु का दर्शन हुआ है, तब से मैं उस प्रभु के इस दिव्य महादान के ही स्तुति-गीत गाने लगा हूँ। ओह, 'चित्र' ही इस संसार में राजा हैं, 'चित्र' ही एकमात्र इस संसार में सच्चे राजा हैं।

शब्दार्थ — विद्वः वे परम पूजनीय या विलक्षण शक्ति परमेश्वर इत् ही एकमात्र राजा राजा हैं अन्यके अन्य [दुनियावी राजा] तो राजकाः इत् क्षुद्र राजे ही हैं यके जो कि क्षुद्र राजे सरस्वतीं [उसकी मनुष्य-लोक में बहाई] समष्टि-ऐश्वर्य की नदी अनु द्वारा बने हैं, क्योंकि वही सहस्रा अयुता सहस्रों-लाखों प्रकार के धनों-ऐश्वर्यों को ददत् देता हुआ पर्जन्य इव मेघ की तरह वृष्ट्या अपनी ऐश्वर्यवृष्टि से हि निःसन्देह [इन दुनियावी राजाओं को] ततनत् भरता है, ऐश्वर्य-जल से पूरित कर बढ़ाता है, बड़ा बनाता है।

२५६

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापुत्वायं सन्त्य। न में स्तोतामेतीवा न दृहिंतः स्यादंग्ने न पापयां।।

─ऋक्० दाश्हार६

ऋषिः सोभरिः काण्वः । देवता अग्निः । छन्दः समा सतोबहती ।

विनय - हे जगत् को बसानेवाले ! वसो ! मैं कभी तुमसे दूसरों के विनाश के लिए प्रार्थना न करूँ, और हे सन्त्य ! संभजनीय ! मैं कभी दूसरों के प्रति किसी अन्य पाप के लिए भी तुम्हारा संभजन न करूँ। मैं तुम्हें कभी इसलिए हवि: प्रदान न करूँ कि उससे किसी दूसरे की हिंसा हो या कोई अन्य पाप होवे। हे बसानेवाले ! तुमसे विनाश की प्रार्थना करना, हे सन्त्य ! तुमसे पाप की चाहना करना, यह कितनी उलटी बात है ! परन्तू हम अज्ञानी लोग मोहवश बहुत वार तुमसे ऐसी प्रार्थनायें भी करते हैं। हम तो मारण-उच्चाटन-अभिचरण तक में तुमसे सफलता चाहा करते हैं। परन्तु शायद इसीलिए हम संसार में ठगे जाते हैं। हमें ऐसे स्तोता या प्रशंसक मिलते हैं जो कि अन्दर से हमारा अनिष्ट चाहते हैं, पर ऊपर से स्तृति करते हैं। हे अग्ने ! मैं तो चाहता हूँ कि मेरी स्तुति कभी कोई मूर्ख पुरुष न करे, मेरे लिए दुर्भाव और अहित रखनेवाला कभी मेरा स्तोता व प्रशंसक न बने, पाप-बुद्धिवाला कभी मेरी खुशामद न करे। मैं कैसा हूँ इसकी बड़ी अच्छी पहचान यह है कि मेरे प्रशंसक कैसे हैं। अतः मैं जहाँ यह चाहता हूँ कि नासमझ और दुह दय पुरुषों की स्तुति मुझे कभी प्राप्त न हो, वहाँ मैं आपसे वह बल और ज्ञानप्रकाश भी पाना चाहता हूँ जिससे मैं तुमसे कभी हिंसा व पाप की प्रार्थना न कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तुमसे पवित्र ही प्रार्थना करूँ और मुझे मनुष्यों की पवित्र ही स्तुति प्राप्त हो।

शब्दार्थ - वसो हे जगत् के बसानेवाले ! मैं अभिशस्तये हिंसन के लिए त्वा न रासीय कभी तेरी स्तुति-प्रार्थना न करूँ, कभी हिवप्रदान न करूँ और सन्त्य हे संभजनीय ! पापत्वाय पापयुक्तता के लिए न मैं तेरी कभी प्रार्थना न करूँ, हिवप्रदान न करूँ। और अग्ने ! हे अग्ने ! मे स्तोता मेरा प्रशंसक कभी अमतीवा निर्बृद्धि, मूर्खं पुरुष न स्यात् न होवे, दुर्हतः दुर्वनामना रखने-वाला पुरुष न न होवे और पापया पाप-बद्धि से [युक्त पुरुष भी] न न होवे । o moins to from praint by-ma

वैदिक विनय

: 350

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व क्सार्गशीर्ष

इस्ते दर्धानी नृम्णा विश्वान्यमें देवान्धाद् गुहां निषीदंन् । विदन्तीमत्र नरी धियन्धा, हृदा यत्तप्टान् मन्त्राँ अशंसम् ॥

ऋक्० शह्छार

ऋषिः पराशरः शाक्त्यः । देवता अग्निः । छन्दः द्विपदा विराट् ।

विनय-मन्त्रों की बड़ी महिमा है। मन्त्रों की शक्ति अद्भुत है। मन्त्रशक्ति से हम जो म्चाहें वह प्राप्त कर सकते हैं। यह ठीक है कि हम प्रतिदिन वेदमन्त्रों का बहुत उच्चारण करते हैं, तो भी हमें इससे कुछ प्राप्त नहीं होता। पर इसका कारण यह है कि ये यन्त्र हमारे हृदय ंसे नहीं निकले होते। जो भक्तलोग हृदय से घड़े हुए, हृदय की गम्भीर गहराई से निकले हुए, ह्रांदिक भावना से तीक्ष्ण हुए, और पवित्र अन्तः करण की गम्भीर, सूक्ष्म तथा विस्तृत ज्ञानशक्ति से तेजोयुक्त होकर वेद-मन्त्रों को बोलते हैं, वे अपने ऐसे मन्त्रोच्चारण द्वारा उस 'ईक्षण' नामी िदिव्य शक्ति को संचालित कर देते हैं जिससे बढकर संसार में अन्य कोई शक्ति नहीं है। इस-िलए वे नर, वे सच्चे पूरुष, अपने अन्दर ही सब-कूछ पा लेते हैं। वे 'धी' को धारण करनेवाले, - स्थितप्रज्ञ होने और निष्काम कर्म करने से हृदय-(आत्म)-शृद्धि पा लेनेवाले, अपने हृदय में ंही सब-कुछ पा लेते हैं। हृदय की गुफा में जो अग्निदेव छिप बैठे हैं, सब ऐश्वयों को हाथ में िलिये हुए और वेदों को अपने में धारण किये हुए हमारे अग्निदेव छिपे बैठे हैं, उन्हें पा लेते हैं। इस प्रकार मन्त्र-शक्ति द्वारा अग्निदेव को पालेने पर, प्रकट कर लेने पर, फिर संसार का कौन-सा ऐश्वर्य है, कौन-सा दिव्यगुण है जिसे ये 'नर' नहीं पा लेते ! संसार के सम्पूर्ण धन-एऐश्वर्यों को तो हाथ में रक्खे हुए, देवों (दिव्य गुणों) को अपनी ज्ञानमय शरण में लिये हुए ये हमारे अग्निदेव हमारे हृदय में ही स्थित हैं, पर हम हैं कि 'मन्त्रों का उच्चारण' करके उन्हें पा नहीं लेते, हृदय से मन्त्रोच्चारण करना तक सीख नहीं लेते, हृदय से निकले मन्त्रों से इन्हें प्राप्त नहीं कर लेते।

शब्दार्थ अग्निदेव विश्वानि सम्पूर्ण नुम्णा ऐश्वर्यों को हस्ते हाथ में दधानः लिये हुए विवान देवों, दिव्य गुणों को अमे अपने घर में, अपनी ज्ञानमय शरण में धात् धारण करता है, इस प्रकार वह गृहा [हृदय की] गुफा में निषीदन् बैठा हुआ, छिपकर बैठा हुआ है। अत इस ह्दय-गुफा में ई इसको धियन्धाः वृद्धि और कर्म को ठीक प्रकार धारण करनेवाले नरः पुरुष विदिन्ति तब पा लेते हैं यत् जब वे हुदा हृदय से, हार्दिक भाव से तष्टान् निकले हुए, तेजोयुक्त हुए-हुए मन्त्रान् मन्त्रों को अशंसन् उच्चारण करते हैं।

: २६६

ः वैदिकः विनय

रामा महत र्भणीय-

Digitized by Arya Samaj Por Inda

११ मार्गशीर्ष

वसन्त इन्तु रन्त्यो ग्रीष्म इन्तु रन्त्यः। वर्षाण्यतु शरदो हेमन्तः, शिशिर इन्तु रन्त्यः॥

साम० पू०, ६।३।४।२

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता ऋतुः । छन्दः पङ्क्तिः ।

विनय—मेरे प्रभु की सृष्टि में सभी ऋतुएँ रमणीय हैं। हर एक ऋतु में अपनी-अपनी रमणीयता है। जो लोग प्रभु के प्रेम को नहीं जानते वे ही हर समय, हर ऋतु में असन्तुष्ट रहते हैं। गर्मी में उन्हें शीत याद आता है, पर शीत आ जाने पर वे कहते हैं, "गर्मी की ऋतु अच्छी होती है।" घर्मकाल में वे प्रतिदिन वर्षा की प्रतीक्षा में रहते हैं परन्तु वर्षा आने पर वे वरसात से तंग आ जाते हैं। इस प्रकार उन्हें हर समय में शिकायत-ही-शिकायत रहती है। उन्हें कोई भी ऋतु अच्छी नहीं लगती। परन्तु प्रभुप्रेम का कुछ प्रसाद पा लेने पर मुझे तो प्रत्येक ऋतु में अपने प्रभु की ही कोई-न-कोई प्रतिमा दिखाई देती है। इसलिए गर्मी में मैं सुख से गर्मी का आनन्द लेता हूँ और जाड़े में जाड़े का। वर्षा-काल में मैं खूब बरसात मनाता हूँ और पतझड़ में में अपने प्रभु का एक दूसरा ही सौन्दर्य पाता हूँ। इस तरह मैं हर समय हर ऋतु में अपने प्रभ का दर्शन करता हूँ और देखता हूँ कि प्रत्येक ऋतु अपनी नई-नई प्रकार की रमणीयता के साथ नया-नया प्रभु-सन्देश लाती हुई मेरे पास आ रही है।

मेरे जीवनरूपी संवत्सर में भी इसी प्रकार सब ऋतुएँ आया करती हैं। कभी सुख-सम्पत्ति की घड़ियाँ आती हैं तो कभी दु:ख-दारिद्र्य के लम्बे दिन व्यतीत होते हैं। कभी अति कार्य-व्यप्रता का राजसिक समय वर्षों तक चलता है तो कभी काफी समय के लिए शिथिलता और दीर्घ-सूत्रिता के दिनों की बारी आती है। पर मैं उन सभी का रसास्वादन करता हूं। ये सभी रस अपने-अपने समय पर प्राप्त होते हुए मुझे प्रिय लगते हैं। इस प्रकार मैं अपने बाल्य-काल के वसन्त में खूब खेला हूँ, नौ-जवानो की ग्रीष्म के जोशीले दिनों का तथा प्रौद्धता की बरसात के प्रेमपूर्ण दिनों का आनन्द भी मुझे याद है। आजकल सार्वजनिक जीवन की शरद और हेमन्त की बहार ले रहा हूँ और देख रहा हूँ कि वार्धक्य की शिशिर अपनी बुजुर्गी, अनुभवपूर्णता और परिपक्वता की स्वर्गीयता के साथ आगे मेरी प्रतीक्षा कर रही है। नि:सन्देह प्रभु की वसन्त ही नहीं किन्तु ग्रीष्म भी रमणीय है, वर्षा और इसके अनन्तर आनेवाली शरद् के साथ उसकी हेमन्त तथा शिशिर भी उसी तरह रमणीय हैं।

शब्दार्थ वसन्तः वसन्त इत् नु निश्चय से ही रन्त्यः रमणीय है। और ग्रीष्म गर्मी की ऋतु भी इत् नु निश्चय से ही रन्त्यः रमणीय है। वर्षाण वर्षाएँ अनु शरदः उसके पीछे आने-वाले शरद् के दिन और हेमन्तः हेमन्त ऋतु, तथा शिशिरः पतझड़ की ऋतु भी इत् नु निश्चय से रन्त्यः रमणीय है।

वैविक विनय

२८६

रनमपण करा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१२ मार्गशीर्ष

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधी न मक्ष आसते। इन्द्रे काम जित्तारी वसूयवो रथे न पाटमा देधः॥

─ऋ० ७।३२।२; सा० उ० ८।२।६।२

ऋषिः वसिष्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः बृहती ।

विनय है इन्द्र! सदा तेरे ज्ञान का निष्पादन करनेवाले, तेरे उद्देय में ब्रह्मयज्ञ करनेवाले ये भक्त लोग जगह-जगह से तेरे ज्ञान का, तेरे प्रेंम का, संग्रह करते रहते हैं। जैसे 'मधु-कृत्' मिक्षकार्ये जहाँ मधु देखती हैं वहीं जा बैठती हैं और इस प्रकार सब कहीं से मधु इकट्ठा करती हैं, उसी तरह ये 'ब्रह्मकृत्' लोग जहाँ कोई विकसित ज्ञानपुष्प देखते हैं, जहाँ कहीं तेरे गुणों की सुगन्धि पाते हैं वहीं जा पहुँचते हैं और उसमें समवेत होकर, तल्लीन होकर तेरे भिवतरस का आस्वादन और संग्रहण करते हैं। प्रत्येक ब्रह्मचर्चा के स्थान से, प्रत्येक हरिकीर्तन-मंडली से, प्रत्येक ग्रुभयज्ञ से, प्रत्येक सद्ग्रन्थ से और प्रत्येक चेतानेवाली घटना से, अर्थात् जहाँ भी कहीं तेरे लिए 'सोम अभिषुत किया' जाता है, उन सभी स्थलों से वे तल्लीन होकर चुपके से मधु को, सोमरस को, ज्ञानामृत को ग्रहण कर जाते हैं। इस तरह ये लोग ज्ञानधनी, भक्तशिरोमणि बनकर सब संसार के लिए भक्तिपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं, संसारी प्यासों को ज्ञानामृत पिलाते हैं।

इन भक्तों में ऐसा सामर्थ्यं इसलिए आ जाता है चूंकि ये दुनियावी कामनाओं से पीड़ित नहीं होते। ये निष्काम होते हैं। ये अपनी सव कामनायें इन्द्र प्रभु में समिपित कर चुके होते हैं। जैसे कि रथ में पैर रखकर, रथ में बैठकर हमें अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए स्वयं अपने प्रयत्न से नहीं चलना पड़ता, रथ हमें स्वयं पहुँचा देता है, उसी तरह ये तेरे स्तोता भक्त लोग अपनी कामना-मात्र की तुझ परमेरवर में रखकर निश्चिन्त हो जाते हैं कि तुम सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञानी प्रभु स्वयमेव उनकी सब शुभकामनाओं को ठीक तरह पूर्ण करोगे, स्वयमेव अभीष्ट फल को प्राप्त कराओगे। ओह ! इस इन्द्र-रथ का आश्रय पाकर, अपने कामनारूपी पैरों को समेट कर इस रथ पर बैठ जाने पर, कोई तृष्णा-व्याकुलता नहीं रहती, कोई चिन्ता-जलन नहीं रहती, कोई झंबट व परेशानी नहीं रहती।

यसन्त ही नहीं दिल्तु श्रीया की रमणीय है, वया और इसके लनन्तर जानवाकी शरप के शाब

. । ई क्रांश्मर हुउन हिए कि उपीक्षी क्रम इन्हें कि उन

शब्दार्थ मधौ नं जैसे मधु पर मक्षः मधुमिक्षकार्ये आसते बैठती हैं वैसे इमे ये ते तेरे बहाकृतः ज्ञान निष्पादन करनेवाले भक्त लोग हि निष्चय से सुते प्रत्येक सुत सोम पर, प्रत्येक ज्ञान-निष्पादन के स्थल पर संचा समवेत होकर, तन्मग्न होकर बैठते हैं। और ये बसूयवः वसु व अभीष्ट फल चाहनेवाले जरितारः स्तोता, भवत लोग इन्द्रे परमेश्वर में कामं अपनी इन्छा को, कामनामात्र को आदधुः रख देते हैं, समर्पित कर देते हैं, रथे न जैसे रथ में पादं पैर को रख देते हैं [और बैठ जाते हैं]।

₹€%.

प्रावन (प्रनाम

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१३ मार्गशीर्ष

महि महे त्वसे दीध्ये चृनिन्द्रियेत्था त्वसे अतंव्यान् । यो अस्मे सुमृति वाजसातौ स्तुतो जने सम्येश्चिकेतं ॥

—ऋक्० ५।३३।१

ः ऋषिः संवरणः प्राजापत्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः विष्टुप् ।

विनय जीवन का संग्राम बड़ा विकट है। मैं क्षुद्र हूँ, अत्यन्त निर्बल हूँ। परन्तु हे इन्द्र! तुम तो महान् हो, बलवान् हो, सर्वशिक्तधाम हो, और तुम्हारी शिक्त का आश्रय पाकर मैं निर्वल भी महावली हो सकता हूँ। इसलिए मैं आज "अतव्यान्" होकर भी महान् बल पाने के लिए महत्त्वपूर्ण 'आरम्भ' करने लगा हूँ। तेरा ध्यान करके मैं आज अपनी सुप्त शिक्तयों को जगाता हूँ, अपनी छिपी हुई 'नर' शिक्तयों को, नेतृत्व की शिक्तयों को उद्बुद्ध करता हूँ, ध्यान द्वारा अपने पौरुषों को प्रदीप्त करता हूँ, अपने-आपको प्रकाशित करता हूँ। इस प्रकार महान् बल को धारण करके मैं अपनी विजय-यात्रा पूरी करूँगा। परन्तु हे इन्द्र! यह सब मैं तुम्हारा अवलम्बन पाकर ही कर सकूँगा। तुम 'समर्य' हो, इस संसार-समर में विजय प्राप्त करानेवाले हो। उस श्रेष्ठमित को तुम्हीं जानते हो और तुम्हीं दे सकते हो जिसके द्वारा इस घोर जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति होती है। मैं जानता हूँ कि भिक्त से अभिमुख हुए तुम नित्य सुमित देनेवाले पथप्रदर्शक बन जाते हो। इसलिए इस दोन जन पर भी कृपा करो। तुम्हारा नाम लेकर, तुम्हारे लिए, मैं आज इस प्रकार महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ, महान् बल पाने के लिए अपने पौरुषों को प्रदीप्त करने का महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ,

HE WISH SPECIAL OF THE PARTY OF

शब्दार्थ महि महत्त्व के साथ महे तबसे महान् बल के लिए मैं नृन् अपनी नर-शिक्तयों को, पौरुषों को दीध्ये प्रदीप्त करता हूँ, ध्यान द्वारा प्रदीप्त करता हूँ; इत्था इस प्रकार तबसे इन्द्राय बलस्वरूप इन्द्र के [पाने के] लिए अतब्यान् मैं निबंल [अपनी नृ-शिक्तयों को प्रदीप्त करता हूँ] या जो कि इन्द्र स्तुता भिक्त से अभिमुख किया गया समर्थः संग्राम करानेवाला, संग्राम में हितकारक अस्म जने इस निबंल जन के लिए वाजसातौ जीवन-संग्राम में सुमित उत्तम मित को विकेत जानता है।

वैदिक वितय

388

बेश्वान देव

१४ मार्गशीर्ष

स इत्तन्तुं स वि जानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुया वदाति । य ई चिकतद्वमृतस्य गोपा अवश्चरंनपुरो अन्येन पश्येन ॥

一ऋ० ६।६।३

ऋषिः भरद्वाजो बाहंस्पत्यः । देवता वैश्वानरः । छन्दः प्रस्तार पङ्क्तिः ।

विनय — मैं नहीं जानता कि यह जो संसाररूपी वस्त्र बुना जा रहा है उसका ताना क्या है, बाना क्या है, और जब कभी बुनते हुए इसका कोई तन्तु टूट जाता है तो उसे जोड़ने-वाला कौन है। हाँ, वह वैश्वानर अग्नि अवश्य जानता है। वह ही इस संसाररूपी वस्त्र के लिए ताना तनना और बाना भरना जानता है। वह अग्नि ऋक् [ज्ञान] के ताने में यजु (कर्म) का बाना डालता हुआ इस महायज्ञ के वस्त्र को निरन्तर बुन रहा है, और यही समय-समय पर किसी ज्ञानतन्तु के विच्छिन्न होने पर नया ज्ञान देने द्वारा, वक्तव्य के बोलने द्वारा, उसे जोड़ता रहता है।

यह वैश्वानर अग्नि कौन है ? यह वह अग्नि है जो इस विश्व-शरीर का अग्नि है, जो कि असंख्यों व्यिष्टि (वैयक्तिक) अग्नियों को सम्बिट (सामूहिक) अग्नि से एक करनेवाला है, अतएव जो व्यक्तियों के मरते रहने पर भी अमर रहनेवाला है, जो अमरत्व का रक्षक 'अमृतस्य गोपा' है। यह अग्नि इस सब संसार को ज्ञान, चैतन्य, स्फूर्ति दे रहा है। यह अपने व्यब्टिरूप से जहाँ नीचे पृथिवी पर पैर बनकर विचर रहा है, वहाँ यह अपने सम्बिट्रूप से ऊपर द्यलों के में नेत्र होकर सबको देख रहा है। भाइयो ! क्या तुमने 'वैश्वानर अग्नि' को पहचाना ? यह वह अग्नि है जिसमें या जिसके द्वारा यह संसाररूपी महान् यज्ञ हो रहा है।

शब्दार्थ — सः वह वैदवानर अग्नि इत् ही तन्तुं ताना तनने को और सः वही ओतुं बाना करने को विजानाति जानता है, सः वह ऋतुथा समय-समय पर वक्त्वानि वक्तव्य ज्ञानों को भी वदाति बोलता है, प्रकाशित करता है। यः जो [वैद्यानर अग्नि] अमृतस्य गोपाः अमरत्व का रक्षक हो अवः इधर नीचे चरन् चलता हुआ और परः ऊपर-ऊपर अन्येन अपने दूसरे रूप से परयन् देखता हुआ हैं इस संसार को चिकेतत् जान रहा है, इसमें ज्ञान-चैतन्य दे रहा है।

यात या यात्व तिसा पर

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५ मार्गशीर्ष

त्रा संयतिमिन्द्र णः स्वस्ति शंत्रुतूर्याय बृहतीममृधाम् । यया दासान्यायीणि वृत्रा करो वजिन्त्सुतुका नाहुंपाणि ॥

-ऋक्० ६।२२।१०; यजुः० ३३।१६

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय-हे इन्द्र ! तुम्हीं पूरी तरह शत्रु का विनाशं करनेवाले हो । तुम शत्रु का इतनी अच्छी तरह विनाश करते हो कि उसका सब शत्रुत्व, सब बुराई विनष्ट हो जाती है; किन्तु उस मनुष्य की अच्छाई जरा भी नष्ट नहीं होने पाती, बल्कि वह मनुष्य अधिक श्रेष्ठ बन जाता है। तुम दास-शत्रुओं को आर्य बनाकर उनका शत्रपना नष्ट कर देते हो और मानुष-शत्रुओं को उत्तम आचरणवाले मनुष्य बनाकर उनका शतुत्व नष्ट कर देते हो। तुम अपनी जिस स्वस्ति से, जिस स्वस्थता से, जिस निविकारता से, जिस कल्याणमय अवस्था से ऐसा करते हो वह हमें भी प्रदान करो। हम अपने शत्रुओं का सच्चे अर्थों में विनाश कर सकें, इसके लिए वह अपनी स्वस्ति, वह अपनी निर्विकारता हमें भी प्राप्त कराओ। यह ठीक है कि हममें वह संयम, वह महत्ता, वह अहिंसा नहीं है जिसके बिना तुम्हारी यह स्वस्ति की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। परन्तु ये गुण हमें अन्य कौन प्रदान करेगा ? हे इन्द्र ! तुम्हीं वह महान् अहिंसारूपिणी संयम-वाली स्वस्ति-शक्ति हममें भर दो जिसके प्रयोग से मनुष्यत्व से गिरे हुए, उपक्षय करनेवाले, दास भी आर्य-मनुष्य वन जाते हैं और मनुष्य-'वत्र' भी उत्तम गमन व आचरणवाले, सुन्दर वृद्धि करनेवाले या तेरे सुपुत्र बन जाते हैं; शत्र नहीं रहते। हम भी, हे वज्रवाले ! हे पाप का वर्जन करानेवाले ! हम ऐसे ही ठीक प्रकार से शत्रु का विनाश कर सकनेवाले होना चाहते हैं। उलटे तरीके से, असंयम और हिंसा के तरीके से शत्रुओं का विनाश करने का यत्न करते-करते हम तंग आ गये हैं। इसलिए हे इन्द्र! अब हमें तुम्हीं अपना वह संयम प्रदान करो, अपनी वह महत्ता प्रदान करो, अपनी वह अहिंसा-शक्ति प्रदान करो और उस स्वस्ति व निर्विकारता का प्रदान करों जिसके साधन से मनुष्य किसी की भी हिंसा न करता हुआ सबकी उन्निति ही साधता है और इस प्रकार इस संसार में पूरी तरह शतुरहित हो जाता है। I HE TOTAL PIEK

शब्दार्थ है इन्द्र है इन्द्र ! शत्नुतूर्याय शत्रुओं के विनाश के लिए नः हमें वह बृहतीं महान् अमृध्रां हिंसारहित, अहिंसिका संयतं संयमवाली स्वस्ति स्वस्थता, निर्विकारता की अवस्था, कल्याणमयता को आ [भर] सब ओर से प्राप्त कराओ, यया जिस [स्वस्ति] द्वारा तुम दासानि वृत्रा दास-शत्रुओं को आर्याण आर्य करः कर देते हो, बना देते हो और विष्ठान् हे विष्ठां वाले ! नाहुषाणि [वृत्रा] मनुष्य-शत्रुओं को सुतुका उत्तम गमन व विद्वाले या सुपुत्रं बना देते हो।

Digitized by Ary Samual Foundation Chemial and egangoth

वंद मार्गशीर्ष

विश्वेषापदितिर्यिक्षियां नां विश्वेषापतिथिर्मानुंपाणाम् । श्राग्निर्देवानामवं श्राष्टणानः सुंमृळीको भवतु जातवेदाः ।।

--ऋक् ४।१।२०; यजुः० ३३।१६

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः अष्टिः ।

विनय-क्या तुम जानते हो कि हम मनुष्य जो देवों का यजन करते हैं और उसके बदले में ये देव हम मनुष्यों को इष्ट फल प्रदान करते हैं, यह सब क्योंकर होता है ? हम मनुष्यों का देवों के साथ जो यह यज्ञिय सम्बन्ध जुड़ा है, उसका जोड़नेवाला कौन है ? यह अग्नि है. जातवेदा है। इस प्रयोजन के लिए यह अग्निदेव जहाँ एक तरफ सब देवों का अदिति है, वहाँ दूसरी तरफ सब मनुष्यों का अतिथि हुआ है। जहाँ यह सब यज्ञियों, यजनीयों, देवों, का अखण्डित निवास-स्थान है, उनकी माता है, वहाँ यह हम मनुष्यों के उपकार के लिए स्वयं यजनीय-पूजनीय अतिथि होकर हमारे पास भी आया हुआ है। इस अतिथि-रूप से यह हमारा हिव ग्रहण करता है और अदिति-रूप से यह उसे देवों को पहुँचाता है। और फिर जो ये देवगण प्रतिफल में हमारे लिए 'अवः' देते हैं, रक्षा एवं तृष्ति आदि भेजते हैं, उसे स्वीकार करता हआ यही अग्नि 'जातवेदा' होकर हम मनुष्यों को अभीष्ट सुख पहुँचाता है। इस समय इसका नाम जातवेदा इसलिए होता है चूँकि तब इसमें देवों द्वारा प्रतिफल में आया हुआ 'वेदस्' अर्थात अभीष्ट ऐश्वर्य उत्पन्न हो चुका होता है। यह प्रित्रया है जिससे कि यजन द्वारा हमें अभीष्ट फल, सुख, शान्ति, समृद्धि आदि प्राप्त होते हैं। यह अग्निदेव ही है जिसके द्वारा 'हम देवों को भावित करते हैं और देव हमें भावित करते हैं एवं परस्पर भावित करते हुए हम परम कल्याण की तरफ जा रहे हैं'। देखो, यह सब अग्निदेव की महिमा है। उपनिषदों में इसकी महिमा प्राणाचिन आदि नाम से बहुत-बहुत गाई गई है। निस्सन्देह इस अग्निदेव की जितनी महिमा गाई जाय उतनी थोड़ी है।

है परमेश्वर ! हे अग्नियों के अग्नि ! तुम हमपर ऐसी कृपा करो जिससे कि ये महिमा-शाली अग्निदेव हम यजनशील पुरुषों के लिए सदा उत्तम सुख देनेवाले रहें, सदा श्रेष्ठ सुख प्रदान करते रहें।

शान्दार्थ अग्नि विश्वेषां सब यज्ञियानां यजनीयों का, देवों का अदितिः अखण्डित निवास-स्थान है, या माता है और विश्वेषां सब मानुषाणां मनुष्यों का अतिथिः अतिथि है, आता हुआ मेहमान है। अग्निः वह अग्नि देवानां देवों के अवः रक्षण-तृष्ति आदि फल को आवृणानः स्वी-कार करता हुआ जातवेदाः और अभीष्ट ऐश्वर्यों से युक्त हुआ-हुआ [हमारे लिए सदा] सुमृळीकः उत्तम सुख देनेवाला भवतु हो।

368

वैदिक विजय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१७ मार्गशीर्ष

ये <u>रू</u>पाणि प्रतिमुञ्चम<u>ाना</u>ऽ त्रस<u>ुराः</u> सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भर्रन्त्युग्निष्टाँल्<u>लो</u>कात् प्रणुदात्यस्मात् ॥

—यजुः० २।३०

ऋषिः वामदेवः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिक् पंङ्क्तिः ।

विनय है जगदीस्वर ! यहाँ से असुरों को दूर कर दो, प्रच्छन्न असूरों को दूर भगा दो। यह लोक, यह स्थान तो देवों के लिए है। इस मेरें अध्यातम, अधिभूत और अधिदेव लोक में दैव भाव, दैव मनुष्य, दैवी शक्तियाँ ही रहनी चाहिएँ। किन्तु हे अग्ने ! आसुर भाव, असुर लोग, आसुरी शक्तियाँ भी यहाँ आ घुसती हैं। ये असुर अपने नग्नस्वरूप में तो यहाँ आ नहीं सकते, इसलिए ये अपने अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य के असली स्वरूपों को छिपाकर ज्ञान, धर्म और ऐश्वर्य के रूपों को दिखलाते हुए यहाँ आते हैं। अपने असली दुर्भावों को अन्दर दबाकर अपने को बड़े सद्भावों से प्रेरित हुए प्रकट करते हैं। अपने स्वार्थपूर्ण अभिप्रायों को इस प्रकार उच्च सिद्धान्तों में लपेटकर लोगों के सामने पेश करते हैं कि लोग इन्हें 'देव' समझते हैं। इसीलिए असूर होते हुए भी ये यहाँ की 'स्वधा' को प्राप्त करते हैं, यहाँ के अन्त से, रस से, स्थूल पार्थिय शक्ति से युक्त होकर ये विचरते हैं। परन्तु अन्दर से ये बिलकुल असुर होते हैं, अशोभन, बरे पूरुष होते हैं। यज्ञ का, श्रेष्ठ संगठन का ध्वंस करनेवाले होते हैं। वसुओं में (प्राणों में) ही रमनेवाले इन्द्रिय-भोगरत होते हैं। इसलिए ये स्वार्थी लोग सदा अपने ही पेट भरने में लगे रहते हैं। ये 'परापूर' और 'निपूर' होते हैं, धर्म से वहत दूर होकर, बिलकूल विमुख होकर भी अपने-आपको भरते हैं और धर्म से नीचे गिरकर निकृष्ट उपायों से भी अपने को भरते हैं। अधर्म, अन्याय द्वारा दूसरों को हरते हुए और अपने स्वार्थों को पूरा करते हुए, किन्तु ऊपर से अपने-आपको धार्मिक सच्चे दिखलाते हुए ये असूर इस लोक में धन-सूख-यश पाते हुए विचरते हैं। इसलिए हे अग्ने ! इन प्रच्छन्न असुरों को, जो कि खुले असुरों की अपेक्षा बहुत भयंकर होते हैं, इस पवित्र लोक से दूर कर दो। निःसन्देह तेरी सन्तापक शक्ति के सामने ये ठहर नहीं सकते हैं, तेरे तेज को यह सह नहीं सकते हैं। अतः अब इन असूरों को यहाँ से बहिष्कृत कर दो और इस स्थान को, इस समाज को, इस पवित्र संगठन को अस्ररहित कर दो।

शब्दार्थ — ये जो रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः अपने रूपों को छिपाकर, रोचक रूपों को दिखलाते हुए असुराः सन्तः असुर, राक्षस होते हुए भी स्वध्या अन्न से, रस से, स्थूल पार्थिव- शिक्त से (युक्त होकर इस लोक में) चरन्ति विचरते हैं और ये जो परापुरः धर्म से दूर हटकर अपने-आपको पूरते हैं निपुरः नीचे गिरकर निकृष्ट उपायों से भी अपने को पूरते हैं भरन्ति इस प्रकार अपने को भरते हैं या दूसरों को हरते हैं तान् उन (छिपे असुरों) को अग्निः तेजीमय संतापक अग्नि अस्मात् लोकात् इस लोक से प्रणुवाति दूर कर देवे, हटा देवे।

वैदिक विनय

रहंप्र

स्व यह दन म गिमश

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१८ मार्गशीर्ष

ईशो ह्यग्निरमृतंस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः। मा त्वां वयं संहसावज्ञवीरा माप्संवः परि पदाम माद्वेवः।।

—ऋक्० ७।४।६

ऋषिः वसिष्ठः । देवता अग्निः । छन्दः स्वराड् पङ्वितः ।

विनय—हे अग्ने! हम तुम्हारी बहुत-सी विफल उपासना करते हैं। तुम तो सर्वशिक्त-मान् हों, हमें सब-कुछ दे सकते हो। हमें प्रभूत अमृत, विविध प्रकार का आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ हो, सुवीरता आदि सिहत सब प्रकार का भौतिक धन देने में समर्थ हो, परन्तु हम ही हैं जो कि तुम्हारी आराधना करने के अयोग्य हैं। अतएव तुम सर्वदाता से भी हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। हम कितने मूर्ख हैं कि निर्वीय होकर, विकारयुक्त होकर और सेवा-रिहत होकर तुम्हारा भजन करना चाहते हैं! भला हम कायर लोग, हे सहसावन्! तुम्हारी क्या उपासना कर सकते हैं? हम विकारयुक्त मिलन हृदयोंवाले तुम्हारी क्या उपासना करेंगे? हम सेवारहित स्वार्थी पुरुष तुम्हारी उपासना से क्या लाभ प्राप्त करेंगे? अतः हमने आज से निश्चय किया है कि अब हम वीयहीन, विकृत और असेवक होकर कभी तुम्हारी उपासना में नहीं बैठेंगे। हम सब कमजोरियों को हटाकर, निर्भय वीर होकर तुम्हारी आराधना करने बैठेंगे और दिन-रात निरन्तर सेवा-कार्य करते हुए ही अब हम प्रातः-साय तुम्हारा भजन किया करेंगे। सचमुच तभी हम तुम्हारे पास बैठने के योग्य होंगे, तुम्हारी उपासना करने के अधिकारी बनेंगे, और तभी उपासना द्वारा तुमसे अमृतत्व आदि आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को, वीरता आदि सद्गुणों को तथा अन्य भौतिक ऐश्वर्यों को भी प्राप्त कर सकेंगे।

इसिए हैं अने ! इन प्रस्कृत अपूर्ध को, को 14 खने असूरों की विषयी पहुन सर्पसर होते हैं. इस पवित्र लोड़ से दूर कर दो ! कि.सर्वेह तेने सर्वायक एतिया के सम्पत्न ये उहर नहीं सक्ते हैं. तेरे तेज को यह सह वहीं सक्ते हैं ! संस्थ अस इन अनुरों को सहा में बहा में बोरफ्त कर को और इस

न कि एक प्रकार कर हुए पनित्र संगत की असुद्राहित कर की

शब्दार्थ अग्नि परमेश्वर हि निश्चय से भूरेः बहुत प्रकार के अमृतस्य अमरपन के, आध्यात्मिक ऐश्वर्य के दातोः देने में ईशे समर्थ है और सुवीयस्य सुन्दर वीरतासहित रायः धन के, भौतिक ऐश्वर्य के, देने में ईशे समर्थ है। परन्तु सहसावन् हे सर्वशक्तिमान् ! बलवन् ! वयं हम त्वा तुमको अवीराः वीरतारहित, कायर होकर मा मत परिषदाम उपासना करें अप्सवः कुरूप, विकृत होकर मा मत उपासना करें।

३१६

0819 0:1-1

Digitized by Anya Camai Foundation Channai and a Congati

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६ मार्गशीर्ष

त्वे अंसुर्य वसं<u>वो</u> न्यृंष्वन् कर्तुं हि ते मित्रमहो जुषन्ते । त्वं दस्यूँ <u>रोक्षसो</u> अग्न आज उह ज्योतिर्जनयकार्याय ॥

ऋक्० ७।४।६

ऋषिः वसिष्ठः । देवता वैश्वानरः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय -- हे अग्ने ! तुझमें आश्रय लेकर ये पृथिव्यादि वसु अपने असुर्य को, प्राणवत्व को, सामर्थ्य को प्राप्त कर रहे हैं, तुझमें ही आश्रय पाकर ब्रह्मचारी वसु लोग भी अपने प्राणवत्य और प्रज्ञावत्य (वल और ज्ञान) को प्राप्त कर रहे हैं। ये वसु इस सामर्थ्य को इस-लिए पा रहे हैं, विलक तेरे आश्रय को भी इसलिए पा रहे हैं, चूँकि ये तेरे 'ऋतु' का सेवन करते हैं। इस संसार में जो तेरा महान् कर्म चल रहा है उसका ये सेवन करते हैं, उसके अनुकृत आचरण करते हैं। तेरे महान संकल्प व ज्ञान के अनुसार ये अपना व्यवहार, कर्म करते हैं। परन्त जो लोग तेरे 'ऋतु' का सेवन नहीं करते हैं वे तेरे इस घर से बहिष्कृत हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। हे अग्ने! तुम तो 'मित्रमहः' हो। तुम्हारा तेज मित्र है, स्नेह करनेवाला है। जो लोग तम्हारे इस मित्र तेज से मैत्री करते हैं वे संसार में 'आर्य' कहलाते हैं। पर जो इस स्नेह करनेवाले तेरे तेज से द्रेष करते हैं, जिन्हें यह तेरा तेज अच्छा नहीं लगता, वे ही 'दस्यु' नाम से पुकारे जाते हैं। क्यों कि, इस तेज से मैत्री करनेवाले ही तेरे इस तेज को, प्रकाश को प्राप्त कर सकते हैं। अतः वे ही तेरा प्रकाश पाकर श्रेष्ठाचरणवाले अर्थात् आर्य बनते हैं। अपने स्वार्थमय क्षुद्र प्रकाश में मस्त रहनेवालों, दूसरे 'दस्यु' लोगों को तेरी विस्तृत ज्योति प्राप्त नहीं होती। दस्य अर्थात् दूसरों का उपक्षय करनेवाले वे इसलिए वनते हैं क्योंकि वे स्वार्थान्ध होते हैं, क्योंकि वे प्रकाश से प्रेम न रखने के कारण तेरी विस्तृत ज्योति को न पाकर अपने में अन्धे होते हैं। अतएव जब तू अपने किसी घर में, किसी लोक में विस्तृत ज्योति को प्रकाशित कर देता है तो वहाँ ये अन्धकारप्रिय दस्यु नहीं ठहर सकते। वहाँ से ये निकल जाते हैं। इस प्रकार, हे मित्रमहः ! तू आर्यों के लिए महान् ज्योति देता हुआ दस्युओं को निकाल रहा है, इस प्रकार तेरे ऋतु का सेवन करनेवालों को अपना सहारा देता हुआ, ऐसा न करनेवालों को इस परम अवलम्बन से विञ्चत रख रहा है और इस प्रकार तू तेरा सहारा लेनेवालों को प्राण व बल देता हुआ दूसरी को विनष्ट कर रहा है।

शब्दार्थ — वसवः वसु त्वे तुझमें [आश्रित हो] असुर्यं प्राणवत्व को, सामर्थ्यं को नि ऋण्वन् प्राप्त कर रहे हैं, हि क्योंकि वे ते तेरे ऋतुं कमें का मित्रमहः हे मित्र तेजवाले ! जुषन्त सेवन करते हैं। अग्ने हे अग्ने त्वं तू आर्याय आर्यों, श्रेष्ठों के लिए उद्य विस्तृत ज्योतिः ज्योति को जनयन् प्रकाशित करता हुआ वस्यून् वस्युओं, दूसरों का उपक्षय करनेवालों को ओकसः घर से आजः खदेड़ देता है, निकाल देता है।

7 th @ 1 2011

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and egangotif

२० मार्गशीर्ष

त्वावंतो हीन्द्र ऋत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ। विश्वेदहांनि तविषीव उग्र श्रोकः कृणुष्व हित्वो न मंधीः॥

—ऋक्० ७।२५।४

ऋषिः वसिष्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय - जगदीव्वर ! तुम मेरे आत्मा के भी आत्मा हो । यह जान लेने पर अब मैं तुम्हारे-जैसे आत्मीय के कर्म के लिए सदा उद्यत रहता हूँ। मैं प्रातः से सायंकाल तक और फिर सायं से प्रातः तक जो कुछ करता हूँ वह सब प्रभो ! तुम्हारे लिए करता हूँ । हे शूर ! तुम सब जहान के रक्षक हो। इसलिए, तुम्हारे लिए कर्म करता हुआ मैं अब तुम्हारे-जैसे महान् रक्षक के दान में भी हो गया हूँ, तुम्हारी महान् रक्षा में आ गया हूँ। तुमसे मेरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। परन्तु फिर भी, यह संसार-संग्राम वड़ा विकट है। पाप की प्रवल शक्तियाँ मुझे समय-समय पर अपना भय दिखलाती हैं, मुझे संत्रस्त करती रहती हैं। उस समय, हे इन्द्र! मैं सब सुध-बुध भूल जाता हूँ। तुम्हारी रक्षा, शक्ति, सब भूल जाता हूँ। इसलिए मैं तो चाहता हूँ कि हे इन्द्र ! तुम मुझमें अब अपना घर कर लो, हमेशा के लिए घर कर लो। अपनी दिव्य सेना के साथ, अपनी सब उग्रता और ओजस्विता के साथ मुझमें अपना घर बना लो। हे सेनावाले ! हे उग्र! मुझमें अपना घर बना लो ! तभी ये आसुरी शक्तियाँ मुझे भयभीत न कर सकेंगी। नहीं तो मैं इन भयों और आशंकाओं से ही मरा जा रहा हूँ। हे इन्द्र ! मुझे इस मरने से बचाओं, मुझमें अपना स्थिर घर करके मरने से बचाओ । मैं तुमसे और कुछ नहीं चाहता, और कुछ आकांक्षा नहीं करता, बस मुझमें अब अपना घर बनाओ। हे हरियोंवाले ! तुम अपनी ज्ञान-किया और बलकिया के हरियों से इस सब संसार का धारण-पोषण कर रहे हो, तुम मुझे अब इस तरह विनष्ट मत होने दो। मुझमें अपना घर बनाओ और इस तरह मुझे विनष्ट होने से बचाओ।

शब्दार्थ — इन्द्र हे परमेश्वर ! मैं त्वावतः तेरे-जैसे [आत्मीय] के ऋत्वे कर्म के लिए हि ही, निःसन्देह अस्मि हूँ, सदा उद्यत हूँ और शूर हे शूर ! त्वावतः तेरे-जैसे अवितुः रक्षक के रातौ दान में भी हूँ। परन्तु तिवषीवः हे सेनावाले ! उग्र हे उग्र ! ओजस्विन् ! तुम अब विश्वा इत् अहानि सब ही दिनों के लिए, हमेशा के लिए मुझमें ओकः अपना घर कृणुष्व कर लो, बना लो हरिवः हे हरियोंवाले ! न मधीः मुझे मरने न दो।

THE TREE HE FOR FOR FOR THE STATE OF THE PROPERTY OF THE STATE OF THE

785

वैदिक विनय

1 % 135 Fir 30FFF fir

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२१ मार्गशीर्ष

का ते अस्त्यरं इकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मधवन् दाशेम। विश्वां मतीरा तंतने त्वाया अर्था म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥

ऋक्० ७।२१।३

ऋषिः वसिष्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय-अपने सूक्तों से, स्तोत्रों से और वेदमन्त्रों की स्तुतियों से भी हम तेरी क्या अलंकृति कर सकते हैं ? हम तेरी क्या शोभा बढ़ा सकते हैं ? हम तो, हे इन्द्र ! उस समय की प्रतीक्षा में हैं जब हम अपने-आपको तुझे समर्पित कर देंगे, तुझे दे देंगे। कब हम, हे मघवन ! सचमुच तेरे लिए अपनी भेंट चढ़ा सकेंगे ? वह समय कब आयेगा ? अपने-आपको तुझे दे देने के लिए हम आतुर हो रहे हैं। मेरे सम्पूर्ण ज्ञान, मेरे सम्पूर्ण ध्यान, मेरे सम्पूर्ण विचार, मेरे सम्पूर्ण संकल्प तेरी ही कामना के लिए उठ रहे हैं। दिन-रात की मेरी सम्पूर्ण मतियाँ अपने पंख फैलाये तेरी ही तरफ उड़ रही हैं। मेरे मन की सम्पूर्ण गतियाँ तेरे ही उद्देश्य से हो रही हैं। मैं अपने सम्पूर्ण अन्त:करण से निरन्तर तुझे ही याद कर रहा हूँ। फिर भी हे इन्द्र ! न जाने क्यों तू मेरी सब पुकारों को अनसुनी कर रहा है। मैं दर्शन पाने के लिए, तुझे आत्मसमर्पण कर देने के लिए पुकार रहा हूँ। न जाने कब से पुकार रहा हूँ। हे इन्द्र ! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुन ले ! हें ऐश्वर्यवालें! मघवन्! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुनी कर दे, सफल कर दे।

शब्दार्थ सुक्तैः स्तुति के सुन्दर वचनों से ते तेरी का क्या अरंकृतिः अलंकृति, शोभा अस्ति हो सकती है ? मघवन् हे ऐश्वर्यवाले ! ते तेरे लिए हम कदा कब नुनम् सचमूच दाशेम अपने-आपको दे देंगे ? मैं अपनी विश्वाः सम्पूर्ण मतीः मतियाँ त्वाया तेरी कामना से ही आततने विस्तृत कर रहा हूँ, अधा अब तो इन्द्र हे इन्द्र ! मे मेरी इमा इन हवा पुकारों को शुणवः सुन लो।

वैदिक विनय

335

इस रलाल कारत है

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

रं२ मार्गशीर्ष

तस्यं वृयं सुंमतौ यज्ञियस्याऽपि भद्रे सौंमनुसे स्याम । स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रों ऋस्मे ऋाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ॥

—ऋक्० ६।४७।१३; ऋक्० १०।१३१।७; यजुः० २०।५२

ऋषिः गर्गः । देवता इन्द्रः । छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः ।

विनय हम चाहते हैं कि हम पूजनीय परमेश्वर के प्यारे बनें। हम सदा उन यि यदि व की सुमित में रहें, उनके कल्याणकारक सौमनस में बसें। हमें सदा उनकी श्रेष्ठ मित मिलती रहे, उनकी शुभ प्रसन्नता प्राप्त होती रहे। यह सब सुलभ है यदि हम उसका यजन करते रहें। वही एकमात्र इस संसार में हम मनुष्यों का यजनीय है, यज्ञाई है। यजन किया हुआ वही हमारा 'सुत्रामा' है। उस-जैसा श्रेष्ठ रक्षक हमारा और कौन हो सकता है? क्योंकि वही है जो अपनी निजी शक्ति रखता है। संसार में अन्य कभी उसी की शक्ति पाकर शक्तिमान् हुए हैं। एक वही है जो कि 'स्ववान्' है। परन्तु उस सुत्रामा प्रभु का यजन करना आसान काम नहीं है। उसके यजन में जो सबसे बड़ा बाधक है वह हमारा 'द्वेष' है। जरा-से भी द्वेष को अपने हृदय में स्थान देकर हम उसका पूजन नहीं कर सकते। जिसके लिए यह पृथिवीतल, सब संसार द्वेषरहित हो गया है वही इन्द्र प्रभु का यजन कर सकता है। इसलिए वे इन्द्र ही हमपर कृपा करें; हमसे द्वेष को सर्वथा हटाकर हमें बिलकुल द्वेषरहित कर दें। अहा! सर्वथा द्वेषरहित हो जाना, कभी भी कहीं भी द्वेष न रहना, यह कैसी सुन्दर अवस्था है! कैसी आनन्दमय अवस्था है! उस अवस्था में पहुँचकर तो इन्द्र की सुमित हमपर बरसती है और उसके सौमनस में हम स्नान करते हैं।

शब्दार्थ —वयं हम तस्य उस यजियस्य यजनीय देव की सुमतौ सुमित में स्थाम हों, और उसकी मद्रे कल्याणकारक सौमनसे सुमनस्कता, प्रसन्नता में अपि भी हों। सः वह सुद्रामा श्रेष्ठ रक्षक स्ववान् अपनी शक्तिवाला इन्द्रः परमेश्वर अस्मे हमसे आरात् दूर चित् ही द्वेषः द्वेष को सनतः विलकुल युयोतु हटा देवे।

THE INTER STREET

300

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३ मार्गशीर्ष

त्वं नों अग्ने वरुंणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽवं यासिसीष्ठाः। यर्जिष्ठो वर्हितमः शोशुंचानो विश्वा द्वेषाँसि प्र मुंमुग्ध्यस्मत् ॥

-ऋक्० ४।१।४; यजः० २१।३

ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।

विनय-देवों का अनादर करना बड़ा अनर्थकारी होता है। जब हम प्रकृति के देवों का, उनके नियमों की अवज्ञा कर अनादर करते हैं, या मनुष्य-देवों (विद्वानों) का उनके उपदेशों की अवहेलना कर अनादर करते हैं, उस समय हम (न जानते हए भी) पाप-बन्धन में गिर जाते हैं। क्योंकि, हे अग्ने ! तुम्हारी पापनिवारक वरुण शक्ति मानों रोषयुक्त होकर उसी समय हमें बाँध लेती है ज्यों ही हम इस प्रकार किसी धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करते हैं. और इस बन्धन से फिर हमें तभी छुटकारा मिलता है जब हम पर्याप्त दुःख भोग चुकते हैं। इसलिए हे अग्ने ! तुम तो विद्वान हो, सर्वज हो, हमारे पाप-बन्धन (वरुण) के विषय में सब-कूछ जानते हो। तुम्हीं ऐसी कृपा करो कि हम अब इन देवहेडनों (देवों के अनादरों) से दूर रहें, बचे रहें और हम कभी तुम्हारे वरुण के क्रोध के भाजन न हों। परन्तु यह तभी हो सकता है जब हमारा देखों से छटकारा हो चुका हो। हम देवों का अनादर इसीलिए करते हैं क्योंकि हम किन्हीं तीव्र राग-द्वेषों में फंसे होते हैं। अत: हे अग्ने ! पहले तो तुम हमें द्वेष, क्रोध, हिंसा, अन्याय आदि के जंजाल से मुक्त करो। तुमसे बढ़कर इस संसार में हमारे लिए कोई यजनीय नहीं है। तुम यजनीयतम हो। यदि तुम्हारी दया से हममें यह यज्ञभावना जागृत रहे, तब तो हममें द्वेष उत्पन्न ही न हो सकें। पर यदि ये उत्पन्न हों, तो भी हे विह्नतम ! हे सर्वश्रेष्ठ वाहक ! शुभ गुणों को प्राप्त करानेवाली तुम्हारी वाहक शक्ति के कारण ये द्वेष मुझमें ठहर न सकें, स्थिर न हो सकें। और यदि ठहर भी जायँ तो हे शोश्चान ! अत्यन्त प्रदीप्त अग्ने ! तुम इन्हें अपने जाज्वल्यमान तेज से भस्म कर दो, राख कर दो। अपने इन उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के त्रिविध रूप द्वारा इस प्रकार तुम हममें से द्वेषों को समाप्त कर दो, हे अग्ने ! हमारा द्वेषों से सर्वथा छटकारा कर दो।

शब्दार्थ-अग्ने हे अग्ने ! त्वं तुम वरुणस्य वरुण के, पापनिवारक देव के, उसके पाप-बन्धन के विषय में विद्वान् पूरी तरह जानते हुए देवस्य देव के हैड: अनादरों को नः हमसे अव-यासिसीष्ठाः दूर करो। तुम यजिष्ठः यजनीयतम विद्वितमः सबसे बड़े वाहकशोशुचानः और अत्यन्त प्रदीप्त हो, तुम अस्मत् हमसे विश्वा द्वेषांसि सब द्वेषों को प्रमुमुग्धि पूरी तरह छुड़ा दो।

to way fare the up of the se as as a sele to the fine fine

27311 20121 (272)

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रे४ मार्गशीर्ष

सं त्वं नो अग्नेऽवमो भं<u>वो</u>ती नेदिष्ठो <u>अ</u>स्या <u>खपसो</u> व्युष्टौ । अवं यक्ष्व <u>नो</u> वर्षणं रराणो <u>वी</u>हि मृ<u>ं</u>ळीकं सुहवो न एघि ॥

- ऋक्० ४।१।५; यजुः० २१।४

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय है अग्ने ! हम तुम्हें पुकार रहे हैं। आज हम तुम्हें अपने पाप-बन्धन से छुट-कारा पाने के लिए पुकार रहे हैं। तुम अपनी रक्षा के साथ आओ। हमारे रक्षक बनो। तुम बेशक सब प्रकार से 'परम' हो; परन्तु हमारी रक्षा के लिए 'अवम' हो जाओ, नीचे उत्तर आओ, हमें अपनी निकटता का अनुभव कराओ। हम पिततों की रक्षा के लिए तुम्हारा अवम होना जरूरी है। यह देखो, उषा का उदय हो रहा है, एक नये दिन का प्रारम्भ हो रहा है, हमारे लिए एक नवीन प्रकाश के पाने का समय आ रहा है। इस शुभ प्रभात में तो, हे अग्ने ! तुम हमारे निकटतम हो जाओ, आकर हमें अपनाओ। हम तुम्हें न जाने कब से रिझाने का यत्न कर रहे हैं। त्याग, तप, संयम, नियम आदि तुम्हारे प्रेम के पाने का कोई साधन हमने बाकी नहीं छोड़ा है। आज तो हम यह अपने पित्रत्र आत्मविलदान को भेंट हाथ में लेकर तुम्हें पुकार रहे हैं। क्या हमारे इस सुन्दर महान् बिलदान से भी तुम प्रसन्त न होगे? हमारी इस सुखदायी आत्मा-हित को तो, हे अग्ने ! तुम अवश्य स्वीकार करो। अब तो प्रसन्त होओ और रममाण होते हुए आज तो हमारे इस पापबन्धन को काट गिराओ, और इस प्रकार हमारे इस यजन को सफल कर दो। पुकारते-पुकारते बहुत समय हो गया है। अब तो, हे अग्ने ! तुम हमारे लिए सुगमता से बुलाने योग्य हो जाओ, हमारी पुकार पर आ-जानेवाले हो जाओ। आओ, हे अग्ने ! आओ, यह आहुति स्वीकार कर हमारा बन्धन छुड़ाओ।

और पदि उहर मी जाने तो है पासुनाम । अरवान प्रवास । तुम उन्हें जाने जापनस्पतान सेन से अरम कर की, राख कर ती । जाने इन उत्पांत रिवालिशनम के निर्मित रूप हारा इस प्रकार तुम सुमने से हुंपों की समान्त कर की, है अपने ! हमारा देवों से तर्नभा छहकारा

शब्दार्थ अग्ने हे अग्ने ! सः वह प्रसिद्ध त्वं तुम नः हमारे लिए ऊती अपने रक्षण के साथ अवमः नीचे उतरे हुए, नजदीकी भव हो जाओ, अस्याः इस उषसः व्युष्टो उषा के उदयकाल में, नवप्रकाश-प्राप्ति के समय में नेदिष्ठः हमारे अत्यन्त निकट हो जाओ । रराणः प्रसन्न, रममाण होते हुए नः हमारे वष्णं वष्ण-पाश को, पाश-बन्धन को अवयक्ष्य यजन द्वारा काट दो, नष्ट कर दो । मृळोकं [हमारी इस] सुखदायक हिव को बीहि स्वीकार करो, नः हमारे लिए सुहवः सुगमता से, बुलाने योग्य एधि हो जाओ।

2302

वैदिक विनय

1 19 50

पार आहे आरो भी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५ मार्गशीर्ष

यस<u>्य</u>ेमे हिमर्वन्तो महित्वा यस्य संमुद्गं <u>र</u>सर्या सहाहुः । यस्<u>ये</u>माः <u>प्रदिशो</u> यस्यं <u>वा</u>हू कस्मै देवायं हविषां विधेम ॥

—ऋक्० १०।१२१।४; यजुः० २५।१२

ऋषिः हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः । देवता कः । छन्दः विराट् ब्रिष्टुप् ।

विनय — क्या तुम पूछते हो कि हम किस देव की उपासना करें ? ये देखो, ये ऊँचे-ऊँचे पर्वत, ये हिम से ढके हुए आकाश से वातें करनेवाले उन्नत पर्वत-शिखर जिसकी मिहमा को गा रहे हैं; यह समुद्र, यह दिग्-दिगन्त तक फैला हुआ असीम दिखाई देनेवाला विस्तृत समुद्र, अपने में आ-आकर गिरनेवाली निदयों के सिहत जिसके ऐक्वयों का बखान कर रहा है; और ये दिशायें जिस देव की हैं, ये अनन्त दिशायें जिसके फैले हुए वाहुओं के समान हैं; उस देव को, हे मनुष्यो ! तुम पहचानो । ये ऊँचे खड़े हुए गगनचुम्बी विशाल पर्वत यदि तुम्हें किसी महान् रचिता की तरफ इशारा करते हुए दिखाई देते हैं, संसार के ये अपार पारावार अपनी लहरों में उमड़ते हुए यदि तुम्हें किसी अद्भृत शक्ति का स्मरण दिलाते हैं, और ये प्रकृष्ट दिशायों जिसकी बाहु हैं — ऐसा ध्यान करने पर यदि तुम्हें कोई विराट् पुष्ठ अनुभवगोचर होता है तथा इन दिशाओं में फैले हुए संसार के देखने पर यदि तुम्हें इस सबका जीवन और प्राण होकर इसमें रमे हुए किसी आत्मा का दर्शन होता है तो वही एकमात्र देव है जो कि हम सबका उपास्य है, आराध्य है। वह 'क' नाम का देव है, वह सुख-स्वष्ट्य है। वह प्रजापित है, हम सब-के-सब उसकी प्रजा हैं। आओ, हम सब प्रजाजन, हम सब पुत्र उस परमदेव को नमस्कार करें, अभिमान को त्यागकर उसके चरणों में अपना मस्तक नमायें और अपने तुच्छ सर्वस्व की भी भेंट देकर उस आनन्द-स्वष्ट्य का पूजन करें।

शब्दार्थ — यस्य जिसकी महित्वा महिमा को इमे हिमवन्तः ये बरफीले पहाड़ आहुः कह रहे हैं और यस्य जिसकी महिमा को रसया सह निदयों-सिहत समुद्रं यह समुद्र कह रहा है इमाः प्रदिशः ये प्रकृष्ट दिशायें यस्य जिसकी हैं, ये दिशायें यस्य जिसके बाहू भुजाओं के समान हैं कस्में उस सुख-स्वरूप देवाय प्रजापित देव का हम हिवषा हिव द्वारा विधेम पूजन करें। □

वेदिक विनय

- ३०३

पण प्रमा छन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२६ मार्गशीर्ष

ऋ<u>चं वाचं प्रषेद्ये मनो</u> यजुः प्रषे<u>द्ये</u> साम <u>प्राणं प्रषेद्ये</u> चक्षुः श्रोत्रं प्रषेद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥

—यजुः० ३६।१

ऋषिः दध्यङ्ङाथर्वणः । देवता अग्निः । छन्दः पङ्क्तिः ।

विनय-हे प्रभो ! मैं पूर्ण पुरुष बन्गा । इस प्रयोजन के लिए मैं ऋक्रूप वाग्देव की शरण आऊँगा, यजुरूप मनोदेव की शरण लूँगा और सामरूप प्राणदेव की शरण पकड्ँगा। इस प्रकार अपनी तीनों शक्तियों को प्राप्त कर लूँगा। वाणी की भारी शक्ति को सम्पूर्ण ऋग्वेद द्वारा, सम्पूर्ण ज्ञानकाण्ड द्वारा, सम्पूर्ण श्रवण द्वारा प्राप्त कर लुँगा । सम्पूर्ण यजुर्वेद द्वारा, कर्म-काण्ड द्वारा, मन द्वारा अपनी मनः (दर्शन) शक्ति को समृद्ध कर लूँगा और अपनी प्राण-शक्ति को सम्पूर्ण सामवेद, उपासनाकाण्ड और निदिध्यासनों द्वारा प्रदीप्त कर लूँगा। इसी प्रकार चक्ष (विज्ञान) की महान् शक्ति को, श्रोत्र की विस्तृत शक्ति को, अन्य सब इन्द्रियों और अंगों की शक्ति को प्राप्त कर लूँगा। प्रत्येक अंग की शक्ति को इतनी पूर्णता के साथ प्राप्त कर लूँगा कि मुझे उस-उस अंग का ओज भी मिल जायगा। 'ओज' वह सर्वोत्कृष्ट शक्ति है या वह सर्वो-त्कृष्ट रूप है जिसे आत्मिक तेज समझना चाहिये। जब मैं अपनी वाक् आदि सब इन्द्रियों का वा आत्माङ्गों का ओज प्राप्त कर लूँगा तो सम्पूर्ण आत्मा का 'सह ओज' भी, सम्पूर्ण शरीर का सामहिक तेज भी, मुझे सहज में ही प्राप्त हो जायगा। और इस ओज-प्राप्ति से मेरा जीवन परिपूर्ण जीवन हो जायगा। एवं, परिपूर्ण जीवन में 'प्राण' और 'अपान' की जो दो जीवन-क्रियायें ठीक प्रकार से चला करती हैं, वे मुझमें अपना ठीक काम करती हुई स्थिर रहेंगी। ये आदान और विसर्ग की कियायें जब जहाँ बिगड़ती हैं तभी वहाँ जीवन बिगड़ता है और ह्रास होता है। अतः मुझमें जब इन प्राणापान क्रियाओं के द्वारा शारीरिक भोजन का आदान तथा शारीरिक दोषों का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा, एवं मानसिक और आत्मिक भोजन का भी आदान तथा मानसिक और आत्मिक भोजन का भी आदान तथा मानसिक और आत्मिक मलों का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा, तो उस समय मेरा जीवन (शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन) जीवन बन जायगा, और हे प्रभो ! मैं तेरा परिपूर्ण पुरुष कहला सक्रा।

शब्दार्थ — मैं ऋचं वाचं ऋक्रिप वाक् को प्रपद्ये प्राप्त करता हूँ, मनः यजुः यजुरूप मन को प्रपद्ये प्राप्त करता हूँ साम प्राणं सामरूप मन को प्रपद्ये प्राप्त करता हूँ और चक्षुः श्रोत्रं चक्षु-श्रोत्र आदि को प्रपद्ये प्राप्त करता हूँ। ये वाक् वाक् शवित आदि ओजः वाक् आदि का ओज तथा सह ओजः इनका इकट्ठा ओज प्राणापानौ एवं प्राणन-अपानन किया, आदान और विसर्ग-किया मिय मुझमें हों, ठीक प्रकार से होती रहें।

308

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangot

ः २७ मार्गशीर्ष

यन्में छिद्रं चक्षुंचो हृदंयस्य मनंसो वातिण्णं बृहस्पतिमें तद्धातु । शं नो भवतु सुवनस्य यस्पतिः ॥

-यजुः० ३६।२

ऋषिः दध्यङ्डाथर्वणः । देवता बृहस्पतिः । छन्दः निचृत् पङ्कितः ।

विनय मैंने जो अपनी ओर दृष्टि फेरी है, अपने को टटोला है तो मैं देखता हूँ कि मुझ में त्रुटियाँ-ही-त्रुटियाँ हैं, मैं दोषों से भरा हुआ हूँ। जबतक मैंने अपने को नहीं देखा था, तब तक मैं भी अन्य दुनियावी लोगों की तरह व्यर्थ में औरों को बुरा-भला कहता हुआ सन्तुष्ट फिरता था। पर आज आत्मिनिरीक्षण करने पर अपनी आँख आदि बाह्यकरणों (इन्द्रियों) की रोग-अशक्ति आदि विकलताओं को तथा इनकी प्रसिद्ध सदोषताओं को तो मैं अनुभव करता ही हैं, किन्तु जब मैं अपने अन्दर अधिक घुसता हूँ और अपने मन के तथा हृदय (बुद्धि) के ज़ब्मों को, गहरे घावों को देखता हूँ तो मैं घबरा जाता हूँ। ओह ! मेरा मन कितना मलिन है, कितना दुर्बल है ! मेरी बुद्धि कितनी विकृत है ! अपने इन अन्दर के करणों की इस भयंकर दुर्दशा को, इन भयंकर किमयों को देखकर मैं प्रायः निराश हो जाता हूँ। सोचने लगता हूँ क्या मेरी दे किमयाँ कभी ठीक भी हो सकती हैं या नहीं ? इसलिए हे बृहस्पते ! ज्ञानपते ! तुम ही कृपा करो कि मेरी इन न्यूनताओं को, मेरे इन ज़ख्मों को, शीघ्र भर दो। तुम इस बृहत् जगत के पालक-रक्षक हो। तुम मेरी भी रक्षा करो। इस जगत् का, इस भूवन का जो भी कोई पति है क्या उसने हमको रचकर हमारी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया है ? नहीं, हे बृहस्पते ! भूवनपते ! तुम्हारे ध्यान-विचार से मिलनेवाले शक्ति-प्रवाह से हमारे असंख्यों छिद्र और हमारी भारी-से-भारी किमयाँ एक बार में ठीक हो सकती हैं। इसलिए हे ज्ञानपते ! तुम अब मेरी सब हीनताओं को पूरा कर दो। मेरे ही लिए नहीं किन्तु हम सब, मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी होओ। तुम सबके धारण करनेवाले हो। सब बिगड़ों को बनानेवाले हो। मैं अपने-आप में तो सर्वथा अशक्त हूँ, कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। तुम्हीं, हे बृहस्पते ! जब मेरी सब त्रुंटियों को भर दोगे, मेरी सब न्यूनताओं को पूर दोगे, तभी मैं पूर्ण पुरुष बन सकूँगा।

शब्दार्थ — मे मेरे चक्षुषः आँख की, बाह्येन्द्रियों की यत् जो छिद्रं छिद्र, दोष, न्यूनता है, भीर हृदयस्य हृदय का, बुद्धि का मनसो वा अथवा मन का जो अतितृष्णम् गहरा घाव है मे मेरे तत् उस छिद्र, घाव को बृहस्पतिः बृहत् संसार का ज्ञातमय पालक परमेश्वर वधातु ठीक कर देवे। यः जो भुवनस्य जगत् का पतिः स्वासी है वह नः हमारे लिए शं कल्याणकारी सबतु होवे।

वैदिक विनय

ETTO SIE EIN

FRAX

the grant of the state of the s his history of the processing

Demy cruby Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

देद मार्गशीर्ष

मन्ये त्वा युद्धियं युद्धियां मन्ये त्वा च्यवं न पच्ये तानाम् । मन्ये त्वा सत्त्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृष्मं चेष्णीनाम् ॥

—ऋक्० दाहदा४

ऋषिः तिरश्चीर्द्यतानो वा मारुतः। देवता इन्द्रः। छन्दः पङ्क्तिः।

विनय हे इन्द्र! मैंने तूझे जाना है, पहचाना है, मैं तुझे यज्ञियों-का-यज्ञिय करके देख रहा हूँ। इस संसार में जो ठीक यज्ञ चल रहे हैं, उन असंख्यात यज्ञों द्वारा बेशक असंख्यात देवों का यजन किया जा रहा है, किन्तु वे सब-के-सव यज्ञ और यजनीय अन्त में जिनका यजन कर रहे हैं वह एक देवों का देव तू ही है। वह यज्ञ ही नहीं है जिसका अन्तिम ध्येय तू नहीं है। और मैं देखता है कि अच्यूतों का भी च्यवन तू है। संसार के लोग जिन्हें बहुत ध्रव और स्थायी समझते हैं उन्हें तू क्षण-भर में च्युत कर सकता है। अपने को अचल समझनेवाले वडे-बड़े अभिमानी सम्राटों के सिंहासनों को तू पलक मारते में धूलि में मिला देता है, बड़े-बड़े स्थिर पहाड़ों को तू एक भूकम्प से पृथिवी के समतल कर देता है, और लाखों वर्षों की उम्रवाले सम्पूर्ण ग्रहों को त कभी एक टक्कर से चकनाचुर कर देता है। तेरी शक्ति की हम जीव लोग कर्लना तक नहीं कर सकते। हम प्राणियों में जो थोड़ी-वहुत वलराशि, सत्त्व दिखाई देता है, उस बल-राशि में तू हमसे बहुत ऊँचा उठा हुआ है, केतु-रूप है। जैसे अपने आदर्शसूचक झण्डे को देखकर उसके उपासक उससे नवोत्साह प्राप्त करते हैं, वैसे मैं तुझ उन्नत अनन्त बल को देखकर अपने में महान् शक्ति-संचार को प्राप्त करता हैं। तू हमारा 'सत्त्वों का केतु' है। तू बल (सस्व) का आदर्श है, और प्राणि (सत्त्व) या पुरुषत्व तुझमें पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। इसलिए तू 'पुरुषोत्तम' है, मनुष्यों का 'वृषभ' है। पुरुष होकर भी तू हमसे इतना उत्तम है, इतना ऊँचा उठा हुआ है कि तू ऊपर से हम सब प्राणियों पर इंड्ट फलों की वर्षा कर रहा है। संसार में जो असंख्यात प्राणियों की प्रतिक्षण असंख्यात इच्छायें पूर्ण हो रही हैं, उन्हें तू ही ऊपर से बरसा रहा है। अज्ञानी लोग समझते हैं कि हमारी इच्छा पूर्ण करनेवाला यह पुरुष है या वह पुरुष है, दूसरे लोग समझते हैं कि हमारी इच्छा-पूर्ति करनेवाला हमारा ज्ञान है, हमारा बल है या धन है। परन्तु हे इन्द्र ! मैं तो अनुभव करता हूँ कि सब मनुष्यों की सब इच्छा-पूर्ति करनेवाला तू ही है, एकमान तू ही है।

शब्दार्थ इन्द्र हे इन्द्र ! मैं त्वा तुझे यित्रयानां यित्रयं यज्ञाहीं का यज्ञाहं मन्ये मानता हूँ, त्वा तुझे अच्युतानां च्यवनं च्युत न होनेवालों का भी च्यावियता मन्ये मानता हूँ। त्वा तुझे सत्वनां बलगाली प्राणियों में केतुं बहुत ऊँचा उठा हुआ, झंडा मन्ये देखता हूँ, और त्वा तुझे वर्षणीनां मबुष्गों का वृष्णं सब कामनाओं का देनेवाला, बरसानेवाला मन्ये अनुभव करता हूँ।

411

SIRE O'ED

नामा वावन है

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२६ मागंशीवं

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्म इव सुधितो गुर्मिणीषु । दिवे दिव ईड्यो जागृवदिमं हेविष्मंदिम मेनुष्येभिग्गिनः ॥

—ऋक्० इ।२६।२ं; साम० पू० शशाना७

ऋषिः विश्वामितः। देवता अग्निः। छन्दः तिष्टुप ।

विनय तुम कहते हो कि आत्मा दिखाई नहीं देता। पर यदि तुम इसे देखना चाहते हो, तो तुम इस आत्माग्नि को प्रज्वलित क्यों नहीं कर लेते ? अर्ण में या दियासलाई में विद्यमान भौतिक अग्नि भी तो तब तक दिखलाई नहीं देता जब तक कि मन्थन (रगड़ने) द्वारा उसे प्रज्वलित नहीं कर दिया जाता। तुम जरा स्वात्म-रूपी दियासलाई या अरिण से प्रणव (ईश्वर नाम) रूपी (दियासलाई की) डिब्बी या उत्तरारणि पर ध्यानरूपी मन्यन करके देखो, तो तुम देखोगे कि तुम्हारा आत्माग्नि चमक उठेगा, जातवेदा जाग उठेगा। अरे ! योग-रूपी अरणि और स्वाध्यायरूपी उत्तरारणि के सम्बन्ध से तो अन्तः करण में परमात्मा तक प्रकाशित हो जाता है। यह ठीक है कि प्रारम्भ में वह आत्मज्योति एक चिनगारी के रूप में ही प्रकट होती है। अतएव इस आत्मज्योति की इस समय इतनी अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, जैसे कि गिभणी स्त्री अपने गर्भ की रक्षा करती है। पर क्या हम अपने इस ज्ञानगर्भ की कुछ रक्षा करते हैं ? नहीं, यह सब हम न जानते हुए बड़े भारी गर्भपात के पापुभागी हो रहे हैं। जैसे माता-पितारूपी अरणियों से प्रकट हुई सन्तानरूपी अग्नि प्रारम्भ में गर्भावस्था में होती है, वैसे ही हम सब मनुष्य-शरीर पानेवालों के अन्दर जन्म से आत्मज्योति गामित रहती है, जो कि हममें जीव के मनुष्य-योनि-सम्बन्ध से उत्पन्त हुई है। पर हम लोग इस गिंभत 'सुधित' ज्योति को पालित-पोषित कर बढ़ाने की जगह भोगादि में पड़कर इसे दबा देते हैं, इस सूरक्षित गर्भ को विनष्ट कर देते हैं। ओह ! हम कितना भारी भ्रूणहत्या का पाप करते हैं ! पुण्यात्मा हैं वे पुरुष जो इस गिभत आत्मज्योति को बढ़ाकर इस द्वारा अपने-आपको जगाते हैं, ज्ञानीपार्जनरूपी समिधाधानों से इस शिशु-अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और 'जागृवत्' होते हैं तथा जो घृताहुति-रूपो आत्मबलिदानों को दे-देकर इस अग्नि को प्रचण्ड भी कर लेते हैं, 'हिविष्मत्' होते हैं। संसार के महात्माओं को देखो, इन्होंने इसी प्रकार अपने में जातवेदा की चिनगारी को इतना बढ़ाया है कि वे आज सब-कुछ भस्म कर सकनेवाले महानल हो गए हैं, महाशक्ति, महात्मा हो गये हैं। ये देखो ! जागुवान्, हविष्मान् मनुष्य अपनी इस प्रज्वलित आत्मारिन का प्रतिदिन भजन-स्तवन कर रहे हैं, इसे और-और बढ़ा रहे हैं। इनके अन्दर ये आत्मदेव निरन्तर ज्ञानों और बलिदानों द्वारा पूजित और पोषित हो रहे हैं, उठो मनुष्यो तुम भी अपनी आत्माग्नि को बढ़ाओ और जागृत होकर तथा हिव हाथ में लेकर इस आत्माग्नि को नित्य अधिक-से-अधिक प्रदीप्त करते जाओ।

शब्दार्थ — जातवेदाः ज्ञान व ऐइवर्यवाला अग्नि अरण्योः अरणियों में निहितः छिपा हुआ होता है और यह वहाँ गिंभणीषु गर्भ इव गिंभणियों में गर्भ की तरह सुधितः अच्छी प्रकार धारित, सुरक्षित होता है। अग्निः यह अग्निदेव जागृविद्भ जागनेवाले, ज्ञानयुक्त हविष्मिद्भः हिववाले, आत्मत्यागी मनुष्येभिः मनुष्यों द्वारा तो विवे विवे प्रतिदिन ही ईड्यः पूजित व प्राधित होता है।

वैदिक विनय

pffeiere so

प्रस्कृतिहितो जात्रवेदा तथे एउ सार्थको संविधापुर । हिन्ने हेन हेन्सो जात्रवदियं हेन्सिसियार्थकरमेनिस्सा

- মালত হার্চার আলত বত প্রাহাত

न्हींतः विश्वामितः । देवता संवितः । प्रत्यः भिष्यः । विवयः -तुमः तहते हो कि आस्या दिखाई नहीं देवा । पर योग्रं तुम प्रश रेखना सामने

हो, तो तुम इस आस्थारित को प्रवृत्तिक वर्षा गृही कर लेले ! अरोध से या विधासवाद से विश्वनात भोतिक वर्षात्र की तो तम तक दिखागाई नहीं देता जब सम्बंधि महत्वत (स्पाइत) तारा तमे प्रवृत्तित नहीं कर दिया जाता। तम गरा स्थारम-ल्यो दिशोम-सर्थ मा अरोध मे

हारा रम प्रकालन नहा कर दिया जाता। तम वर) स्वारम-स्था पर स्मान हम नदान करो

वता, तो तम देखोग रक तुम्हारा आत्मार्गन चमक घडेगा, जातवेदा नाग 58गा। अरे ! योक इसो अरोज और स्ट्राइश्वायएगी जलसारांग के सम्बद्ध से तो अरत-शरण में मर्द्धांक्या रैक प्रकाशित हो जाता है / यह ठोक है कि प्रायम्भ में मूह आराध्योति एक निर्णाणने में स्ट्रों हो

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः इंडिंड क्रिक्ट क्रिक्ट क्रिक्ट शहराहरू

बिना स्वयं परिश्रम किये बिना थके देवों की मैत्री

transcription. It became the terms of the contract of the cont

स्यो जात्मवानवानो को है-हकर इस अधिन को प्रचण्ड भा कर नेते हैं, 'हाबरमत' होते हैं, 'मेश्वर के बहारमाओं को बत्तो, इस्होन इसर प्रकार अवन य अधनोवर की विनका हो को रणनी अबदात है कि वे आज सन्कृष्ट प्रस्त कर स्कलवान महानम हो गए हैं, सहाजनिया, बहारमा हो में हैं हैं के

देखों ! जागुजान, श्रीद्रव्यान सतुत्व अपनी इस प्राचीकत आस्थानि का प्रतिस्थि अजान क्ल

हारा पूजित और पोपित हो रहे हैं, उठो मनुष्यों तुम भी अपनी आस्मानिन को बदाजों और जानम होकर तथा होने हाथ में सेकर इस आस्मानित की निस्य स्थित संशोध प्रदोषन करते जाते । सामाने आस्मेन्द्र साम में सेवबेंगाला जीन सरण्योः सर्विपनों में विक्रितंत्रियां हका

होता है जोर पह जहां गणियोध गये हव गणियोध में गर्भ को सबह स्थित अन्त्रों अत्याह साधित मुक्ताब होता है। अधित यह गणिवन यांग्यांट्य प्राणंत्रों है। आरोपना इतिस्थातिम

्रियाल, सामस्याल सामग्रीता प्रमुख हाटा हो दिये कि प्रतिष्ठ हो देश्य प्रीति न प्राप्ति

त्यव विश्व मध्यम मीयमात्र्यने विश्वति प्रतिमी स व्याप्त र

पौष (धनु) मास के लिए

का बीहर किए के ए वह में प्राणदायक व्यायाम के विकास के किए हैं कि कि

घुटनों तथा टाँगों को स्वस्थ करनेवाला

दोनों पाँवों को मिलाकर सीघे खड़े हो जाइये। पाँव के अंगूठे जरा-से बाहर की ओर घूमे हुए हों, भुजायें सीधी लटकती रहें, हथेलियाँ बाहर की ओर हों। बाहुओं और टाँगों की मांसपेशियों को खूब तान लीजिये। अब कूल्हों के ऊपरी भाग द्वारा टाँग की मांसपेशियों को जोर से अपनी तरफ खींचते हुए दायें पैर को भूमि से ऊपर उठाइये। टाँग को घुटने पर जरा भी झुकने न दीजिये और ना ही पाँव को इधर-उधर हिलने दीजिये। इस मांसपेशियों के खिचाव के द्वारा ही दायीं टाँग इतनी सुकड़ जाये कि यह पैर भूमि से दो-तीन इञ्च ऊपर जाये। दाहिने पाँव को टेककर, फिर यही व्यायाम बायें पैर से कीजिये, अर्थात् बाँयें पैर को अच्छी तरह तानते हुए ऊपर उठाइये। इस प्रकार कई बार कीजिये। जब पैर ऊपर उठे तो खास अन्दर भरिये और जब नीचे जाये तो खास बाहर निकालिये। स्मरण रिखये कि शारीर लगातार सीधा रहे और इधर-उधर हिले-जुले नहीं। इस व्यायाम को करते हुए टाँगों और घुटनों पर अपने मन को केन्द्रित कीजिये।

इस प्रकार ध्यान कीजिए-

ध्यान—''मैं स्फूर्ति और शक्ति से परिपूर्ण हो रहा हूँ। यह व्यायाम मुझे नवीन ओज और जीवन प्रदान कर रहा है।…"

इन अङ्गों को गौणतया चैत्र, आषाढ़ और आश्विन के व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है।

-Alexandra de la completa del la completa de la com

305

प्रकृतिक दिन करित करित प्रकृति करित प्रवृति प्रवृति करित है।

इस कारान

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१ पौष

त्वद् विश्वां सुभग सौभंगान्यग्ने वियन्ति वृतिनो न वृयाः।
श्रुष्टी र्यिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवोवृष्टिरीडचो रीतिरपाम्।।

-ऋक्० ६।१३।१

ऋषिः भरद्वाजो बाईस्पत्यः । देवता अग्निः । छन्दः पङ्क्तिः ।

विनय हम कितने मूर्खं हैं कि मूल को न सींचकर पत्तों को पानी दे रहे हैं ! हे अग्ने ! तुम तो सब सौभगों के कल्पतर हो। परन्तु हम एक तुम्हारा सेवन न कर अपनी अनिगनत इच्छाओं के, इष्ट वस्तुओं के पीछे मारे-मारे फिर रहे हैं। इस संसार में जो भी कुछ विविध प्रकार के सौभाग्य के सामान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो भी कुछ सुन्दर ऐश्वर्य दीख रहे हैं वे सब-के-सब एक तुमसे ही निकले हैं, तुमसे ही सर्वत्र फैले हैं। यह विश्व जिन अनन्त प्रकार की सुन्दर सम्पत्तियों से भरा पड़ा है उन सब के मूल में, हे सुभग ! तुम ही हो। यदि हम एक तुम्हारी उपासना करें, तो हमारी शेष सब उपास्य वस्तुएँ हमें स्वयमेव मिल जायँ; तुम वृक्ष के प्राप्त करने से शेष शाखा, डाली, पुष्प, फल आदि सब-कुछ हमें स्वयमेव प्राप्त हो जाय। एक तुम्हारे सुभग सेवन से हमें सब सौभग मिल जाया। इतना ही नहीं, किन्तु ये सौभग, ये सुन्दर ऐरवर्य हमें ठीक प्रकार से और ठीक प्रमाण में मिल जायँगे। जब हम तेरा सेवन करेंगे तो हमें जब जिस ऐश्वर्य की, जिस कम से, जिस मात्रा में आवश्यकता होगी, तभी वह ऐश्वर्य उसी ऋम, उसी मात्रा में हमें ठीक-ठीक मिलता जायगा और वड़ी शीघ्रता से तुरन्त मिलता जायगा। तेरे भजनेवाले को सब भौतिक धन, उसकी पार्थिव (शारीरिक) आवश्यकताओं की पूर्ति के सब साधन शीघ्र ही मिल जाते हैं। उसे पाप के समूल नाश के लिए, पाप से लड़ने के लिए, जीवन-संघर्ष में विजयी होने के लिए जिस बल, तेज, सामर्थ्य की आवश्यकता है, वह भी ठीक समय पर मिल जाता है। इसके बाद उसे अन्तरिक्षलोक की वृष्टि, मानसिक लोक की दुर्लभ महान् संतुष्टि, आनन्द व तृष्ति प्राप्त हो जाती हैं। और यह दिव्य वृष्टि ही नहीं, किन्तु इन दिव्य जलों की प्रेरक, इनको गति देनेवाली जो स्तुत्य जगद्वन्द्य दिव्य ज्योति है, वह आदित्य ज्योति भी अन्त में उन्हें मिल जाती है। इस प्रकार पार्थिव, आन्तरिक्ष और दिव्य (आत्मिक) एक-सै-एक ऊँचे ऐश्वर्य, सम्पूर्ण ऐश्वर्य, एक तेरा ही सेवन करते जानेवाले को पूरी तरह मिल जाते हैं। फिर भी हम मूर्ख न जाने क्यों, तेरे ही एक सेवन में नहीं लगते, एक तुझ मूल का आश्रय नहीं पकडते।

शब्दार्थ — अग्ने हे अग्ने ! सुभग हे सुन्दर ऐश्वर्यवाले ! त्वत् तुझसे ही विश्वा सब सौभ-गानि सुन्दर ऐश्वर्य वियन्ति विविध प्रकार से निकलते हैं, विननः न जैसे वृक्ष से वयाः शाखायें [विविध प्रकार से निकलती हैं] । तुझ वृक्ष का सेवन करनेवालों को श्रृष्टी शीघ्र ही रियः भौतिक धन वृत्वतूर्ये वाजः युद्ध में बल दिवः वृष्टिः अन्तरिक्ष की दिव्य वृष्टि तथा अपां रोतिः इन जलों को गति देनेवाली ईष्ट्यः स्तुत्य ज्योति प्राप्त हो जाती है ।

390

राजा अर्था इस र्वस

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२ पौष

क्व स्य ते रुद्र मृळ्याकुईस्तो यो अस्ति भेषाजो जलांषः। अप्रभक्ता रपंसो दैवस्याभी तु मां वृपभ चक्षमीथाः॥

—ऋक्० २।३३।७

ऋषिः गृत्समदः। देवता रुद्रः। छन्दः तिष्टुप्।

विनय मैंने बेशक बहुत अपराध किये हैं। उन्हीं का फल भोगता हुआ मैं आज इतना दु:खी हूँ, आर्त हूँ, रोगग्रस्त हूँ। परन्तु हे सद्र ! मैं जानता हूँ कि तुम जहाँ ताड़ना करते हो, वहाँ प्रेम भी करते हो। तुम रुद्र हो, तो वृषभ भी हो। तुम कभी तुरन्त दण्ड देते हो, तो कभी सहन (क्षमा) भी करते हो। तुम्हारा कठोर हाथ जहाँ हमें ताड़ना करता है, वहाँ तुम्हारा करणा-हस्त कभी हमें प्रेम भी दिखलाता है। मैं आज तुम्हारे उस भयदायक हस्त का तो अच्छी तरह अनुभव करता हूँ जो कि उग्ररूप होकर हमारा दण्डिवधान करता है। परन्तू मैं जानता हूँ कि तुम्हारा वह दूसरा 'मृडयाकु' सुखदायक हस्त भी है जो कि कल्याणरूप होकर हमें शान्ति और सान्त्वना प्रदान करता है। मैंने अवश्य देवों के प्रति अक्षम्य पाप किये हैं, किन्तू मैं दु:ख भी बहुत भीग चका हैं। अब तो मैं दुर्बल अधिक ताड़ना को नहीं सह सकता, इसलिए, हे काम-नाओं के पूरा करनेवाले ! हे सुखवर्षक ! तुम्हीं मुझे सहन करो, क्षमा करो ! मेरा यह सच्चा पश्चात्ताप मुझे अब पाप में पड़ने से बचायेगा । इन असह्य पीड़ाओं ने मुझे पाप की दु:खरूपता अनुभव करा दी है। इसलिए मैं अब सहनीय हुँ, तुम्हारी क्षमा का पात्र हुँ। इस समय तो तुम मुझे अपने उस दूसरे करुणा-हस्त का ही अनुभव कराओ। तुम सच्चे वैद्य हो, तुम ही पूर्ण चिकित्सक हो। आ: ! तुम्हारा वह सुखदायक हस्त कहाँ है जो कि औषधमय है, जो कि आनन्द-जनक है ? तुम्हारा वह 'मृडयाकु' हस्त कहाँ है जो कि मेरे इस दैव्य पाप को शमन कर देगा, जो कि मेरे इस पाप-रोग को दूर कर देगा ? मुझे तो अब अपने इसी हस्त का संस्पर्श कराओ। हे वृषभ ! मुझे अव क्षमा करो, और अपने इसी सुखहस्त का अनुभव कराओ।

शब्दार्थ — रुद्र हे रुद्र ! दु:ख-रोगनाशक ! ते तेरा स्यः वह मृड्याकुः सुखदायक हस्तः हाथ क्व कहाँ है, यः जो कि भेषजः औषधमय और जलाषः आनन्दजनक अस्ति है जो दैवस्य देव-सम्बन्धी रपसः पाप का, रोग का अपभर्ता दूर करनेवाला है ? वृषभ हे सुखवर्षक ! तू नु अब तो मा मुझे अभिचक्षमीथाः क्षमा कर, सहन कर।

है। हस्तिए भाउपोर्ड जास्त्रको | अन्य र चयो । तुमसं प्रकीर्थ होये नो ही प्रतासान्य यह नुन्दारा सारवारित निविद्ध है। यहा तुम इसे अझान नहीं व रोगे रे यह अनुन तमहें निरस्तर बीजवान

बैविक विनय

SIEIR OFF

५० न्दर देखे।

३ पौष

यो मत्येष्वमृतं ऋतावां द्वेवो देवेष्त्ररतिर्निधायि। होता यजिष्ठो महा शुचध्ये हुव्येर्ग्निर्मतुंष ईर्यध्ये॥

—ऋक्० ४।२।१

ऋषि वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

विनय-यह आत्माग्नि हममें और किसलिए रक्खा हुआ है ? मिट्टी हो जानेवाले हम मत्यों में यह जो कभी न मरनेवाला एक अमृततत्त्व, सच्चा, सत्यरूप, 'आत्मा' कहलानेवाला एक तत्त्व, निहित है, इन इन्द्रिय आदि देवों के बीच में जो यह एक देव, इन सब देवों में असंग रूप से गया हुआ एक अमर देव रक्खा हुआ है, यह और किस प्रयोजन के लिए है ? निस्संदेह यह इसी-लिए है कि यह हममें बढ़े, प्रदीप्त हो, अपनी महिमा द्वारा विविध प्रकार से प्रदीप्त हो। यह जीवन इसीलिए है कि इस द्वारा आत्मा अपने-आपको विकसित कर सके। यह संसार इसीलिए है कि इसमें आत्माग्नि अपना अधिक-से-अधिक प्रकाश कर सके; अपनी महान महिमा द्वारा, अदभत सामर्थ्य द्वारा, अपने दिव्य ऐइवर्यों द्वारा अपने-आपको अधिक-से-अधिक प्रकाशित कर सके। इंसीलिए यह आत्मा 'होता' बना है, दान-आदान करनेवाला हुआ है। आत्मा के लिए हम जो कुछ बलिदान करते हैं, उससे हजारों गुणा आदान उसके विविध ऐश्वयों के रूप में हमें प्राप्त होता है। इसलिए यह आत्मा ही यजिष्ठ, सर्वश्रेष्ठ यजनीय है। इसका ही यजन करके हमें आत्मिक सामध्यों और आत्मिक ऐश्वयों में अपने को प्रदीप्त करना चाहिए। किन्तु आत्मा से यह अद्भुत सामध्यों, दिव्य ऐश्वयों का आदान तभी हो सकता है जब हम आत्मा के लिए दान, आत्म-बलिदान करते रहें। ओः ! यह दिव्य अग्नि तो मनुष्य को आत्मबलिदान के लिए निरन्तर प्रेरित भी कर रहा है। बाह्य अग्निहोत्र का अग्नि यदि हमें कुछ प्रिय लगता है, यदि इसके प्रति हमें कुछ आकर्षण होता है, तो इससे सहस्रों गुणा प्रिय और आकर्षक यह अपना अन्दर का आत्माग्नि है। यह प्यारा आत्मा जब दीख जाता है तब तो मनुष्य पृथिवी-भर को स्वाहा करके भी इसके प्रेम को पाना चाहता है। इसकी ज्योति इतनी प्यारी है कि उसके दर्शन मात्र से मनुष्य शेष सब अनात्म संसार को एकदम बलिदान कर देने के लिए उत्कंठित हो जाता है। इसलिए भाइयो! जरा देखो! अन्दर देखो! तुममें प्रदीप्त होने की ही प्रतीक्षा में यह तुम्हारा आत्माग्नि निहित है। क्या तुम इसे प्रदीप्त नहीं करोगे ? यह अमृत तुम्हें निरन्तर बलिदान (यजन) के लिए प्रेरित कर रहा है, क्या तुम उसकी बात नहीं सुनोगे ?

शब्दार्थ — यः जो मत्येषु मरणशील मनुष्यों में अमृतः कभी न मरनेवाला ऋतावा सत्य-रूप होकर और देवेषु इन्द्रियादि देवों के बीच में अरितः देवः उनमें असंगरूप से गया हुआ एक देव होकर निधायि निहित है, वह होता दान-आदान करनेवाला यिजष्ठः सर्वश्रेष्ठ यजनी अग्निः आत्माग्नि हममें मह्नाः अपनी महिमा द्वारा शुचध्ये प्रदीप्त होने के लिए ही [निहित है] और मनुषः मनुष्य को हथ्यैः आत्म-हवनों से [यजन की] ईरयध्ये प्रेरणा करने के लिए ही निहित है।

वैदिक विनय

WIFEIF OT

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४ पौंच

नाहमतो निरंया दुर्गहैतत्, तिर्श्चतां पार्श्वाचिर्गमाणि। बहूनि मे अर्कृता कत्त्वीनि युध्ये त्वेन सं त्वेन पृच्छै।।

—ऋक्० ४।१८।२

ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता इन्द्रांदिती। छन्दः ब्रिष्टुप्।

विनय-इस दूनियावी पगडंडियोंवाले रास्ते से मैं नहीं चल्गा, जिससे संसार चलता है। मैं तो सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचूँगा। मैं मामूली मनुष्य नहीं हूँ, मैं श्रेष्ठ देव हूँ। मैं भोग भोगने आया हुआ पथिवी पर रेंगनेवाला कोई संसारी कीड़ा नहीं है, मैं परब्रह्म भी तरफ़ वेग से उड़नेवाला अदम्य आत्मा हूँ। सांसारिक मुखों के पीछे फिरना और वहाँ नाना दुःख भोगना-इस रास्ते को मैं नहीं पकडूँगा । मेरे लिए यह वड़ा दु:खप्रद है । इस संसाररूपी वड़े भारी गर्भ में अन्य संसारियों की तरह रास्ता पकड़ने के लिए मैं अपरिमित समय तक पड़ा नहीं रह संकता। मैं तो अभी इस संसार-बन्धन से बाहर निकल्गा, मुक्त होऊँगा। मैं सांसारिक सुखों की दु:खरूपता को जानता हूँ। मैं जानी हुआ हूँ, मैं अब इनमें नीचे नहीं उतल्गा। मैं तो सीधा चल्गा। सामने के पादर्व को तोड़कर, दीवार को फोड़कर सीधा बाहर निकल्गा। तुम मुझे बेशक चले रास्ते से ही चलने को कहते रहो, पर मैं तो धारा को चीरकर, पहाड़ को लाँघकर सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचूंगा। तुम कहते हो कि यह असम्भव है, पर मैं कहता हूँ कि मैंने तो अभी बहुत-से ऐसे कार्य करने हैं जो कि दुनिया के लिए नये हैं। मैं आश्रम-क्रम से न चलकर अभी सीधा संन्यासी बन्गा। इस संसार में पूर्ण ब्रह्मचारी होना असम्भव समझा जाता है, पर मैं पूर्णरूप से ब्रह्मचारी बनूंगा। अपने से राग-द्वेष को बिल्कुल निकाल देना बेशक समुद्र को सुखा देना है, पर मैं इस प्रकार राग-द्वेष से सर्वथा रहित भी होऊँगा। तुम बेशक मुझे संसार के बनाये रास्तों से ही धीमे-धीमे चलने को कहते हो, पर मैं तो सब संसार से उलटा चलूंगा। मैं संसार-भर से लडूंगा। हाँ, जहाँ मैं इस सब संसार से लडूँगा, वहाँ प्रभु के सामने झुकूँगा। जहाँ एक तरफ इस मत्त संसार से लड़ाई ठानूँगा, पग-पग पर भिडूँगा, वहाँ दूसरी तरफ अपने परम गुरु से नम्र भाव से पूछूँगा, शिष्य-भाव से उपदेश प्राप्त करूँगा। एवं उस प्रभु की तरफ वेग से आकर्षित होता हुआ और प्रभू के उस प्रवल आकर्षण में मार्ग की सब विघ्त-बाधाओं को विनष्ट करता हुआ मैं अभी इस संसार-कारागार से बाहर निकल्गा, मोक्ष प्राप्त करूँगा।

शब्दार्थ — अहं मैं अतः इस संसारी रास्ते से न निरयाः नहीं निकल्गा। एतत् दुर्गहा यह मेरे लिए कठिन है, दुर्ग्रह है। मैं तो तिरश्चिता सीघे मार्ग से पाश्वित् सामने के पाश्वें से ही निर्गमाणि भेदन करके निकल जाऊँगा। मैंने तो बहूनि बहुत-से अकृता अभी तक किसी से न किये गये कर्मों को कर्त्वानि करना है। त्वेन एक से मैं युध्ये लडूँगा, जब कि त्वेन एक से, दूसरे से संपृच्छे मैं पूछूँगा, नम्न होकर उपदेश प्राप्त करूँगा।

वैदिक विनय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

प्र पौष

त्वं मुहीम्विनं विश्वधेनां तुर्वीतेये व्ययाय क्षरंन्तीम्। श्र<u>रं</u>म<u>यो नमसैज</u>दणैः सुतर्णां श्रंकृणोरिन्द्र सिन्धून् ॥

-ऋक्० ४।१६।६

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय-'हे इन्द्र! तू उसकी सहायता करता है जो अपनी सहायता अपने-आप करता है। इसलिए जो मन्ष्य स्वयमेव अपनी विघ्न-बाधाओं को हटानेवाला, अपने मार्ग के शत्रुओं का विनाश करनेवाला 'तूर्वीति' होता है, उसके लिए तू मार्ग साफ कर देता है। परन्तु ऐसा मनुष्य दूसरों से प्राप्तब्य, वाञ्छनीय, 'वय्य' भी अवश्य होता है। तेरा भक्त कभी केवल विनाश करनेवाला घोर नहीं होता है, किन्तु दूसरों का सहारा, सौम्य भी अवश्य होता है। जो तेरा सच्चा भक्त है वह जहाँ मार्ग के राक्षसों, असुरों का संहार करनेवाला होता है, वहाँ वह जनता की सेवा करनेवाला, उनका आश्रय, प्रेमभाजन भी अवश्य होता है। ऐसे अपने सच्चे उत्कृष्ट भक्त के लिए, हे इन्द्र ! तू कुछ उठा नहीं रखता है। इस 'तुर्वीति' और 'वय्य' पुरुष के लिए तू इस महान् पृथिवी को अभीष्ट फल दुहनेवाली एक वड़ी गौ बना देता है और बड़े-से-बड़े समुद्रों को 'स्तरण' कर देता है। उसके मार्ग में चाहे स्थल आये या जल, तू किसी वस्तु को बाधक नहीं रहने देतां। जब मनुष्य 'तुर्वीति' और 'वय्य' होकर तुझे पाने निकलता है, तेरे पन्थ का पिथक बनता है तो उसके राह में खड़ी हुई बड़ी-से-बड़ी पार्थिव बाधाओं को तू बाधायें नहीं होने देता, किन्तु अपनी कृपा से उन्हें सब-कुछ देनेवाली, अपेक्षित आवश्यकताओं को पूरा करने-वाली, विविध सहायताओं के रूप में बदल देता है। उसके मार्ग में पड़नेवाले बड़े-से-बड़े तुफानी समुद्रों को भी तू अपने 'नमः' द्वारा शान्त कर देता है। मानो ऋद्ध-से-ऋद उत्तेजित समुद्रों को अपने 'नमः' नामक सबको नमानेवाले शान्ति-वच्च द्वारा तू शान्त, रममाण, प्रसन्न कर देता है, और तब छनके जल उस भक्त को डुबा देने की जगह उसे पार तराने में सहायक हो जाते हैं। यह सब, हे इन्द्र! तेरीं महिमा है, तेरी अपने भक्तों के प्रति करुणा है। नहीं, मैं कहुँगा कि यह सब 'तुर्वीति' और 'वय्य' होने का सामर्थ्य है, तेरे ऐसे उत्कृष्ट भक्त बनने का माहातम्य है।

नि:सन्देह, हे इन्द्र ! तुम हमें भी विपत्तियों के भारी-से-भारी पहाडों को लेंबा दोगे, भयंकर-से-भयंकर समुद्रों को तरा दोगे, बस केवल हमारे 'तूर्वीति वय्य' बनने की देरी है, बस

तुम्हारे ऐसे पूरे भक्त बनने की देरी है।

का शब्दार्थ इन्द्र हे इन्द्र ! त्वं तू तुर्वीतये शत्रुओं का नाश करनेवाले के लिए वय्याय और दूसरों से प्राप्तव्य, वांछनीय भक्त पुरुष के लिए महीं अवनीं इस महती पृथिवी को विश्वधेनां सब-मुछ देनेवाली, सब प्रकार से प्रीणन करनेवाली और क्षरन्तीं अभीष्ट फलों को प्राप्त कराने-वाली, उनसे पूरित करनेवाली [वना देता है] तथा एजत् वहुत उछलते हुए, तूफानी अर्णः समुद्र-. जल को नमसा अपने नमः द्वारा, वच्च द्वारा अरमयः रममाण, शान्त कर देता है, एवं सिन्धून् समुद्रों को सुतरणान् सुगमता से तरने योग्य अकृणोः कर देता है।

318

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ पौष

प्रते पूर्व<u>ाणि</u> करंणानि विपाऽऽविद्वाँ त्र्रांह <u>विदुषे</u> करांसि । यथा यथा वृष्ण्यां<u>नि</u> स्वगूर्ता ऽपांसि राजन नर्याविवेषीः॥

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता इन्द्रः । छन्दः स्निष्टुप् ।

विनय हे इन्द्र ! तुम हमारे कर्मों में भी बसते हो । परन्तु तुम्हारा निवास हमारे उन्हीं श्रेष्ठ कर्मों में होता है जो कि स्वयं हमारे अन्दर से निकले 'स्वगूर्त्त' होते हैं, जो कि सब नरों के हितकारी 'नर्य' होते हैं और जो बलकारक (शक्ति बढ़ानेवाले) 'वृष्ण्य' कर्म होते हैं। यों कहना चाहिये कि तुम्हारे निवास के कारण ही हमारे कर्मों में यह श्रेष्ठता और शक्ति उत्पन्न होती है। धन्य हैं वे पूरुष जिनके कर्मों में तुम इस प्रकार व्यापते हो, आविष्ट होते हो। हे राजन ! ज्यों-ज्यों तुम किसी मनुष्य के कर्मों में इस प्रकार विराजने लगते हो, त्यों-त्यों उसका कर्म-सामर्थ्य बढता जाता है, त्यों-त्यों उसके कर्म का प्रवाह अधिक-से-अधिक क्षेत्र को घेरता जाता है। अन्त में उसका मानसिक कर्म, उसका ज्ञान अत्यन्त व्यापक और तेजस्वी हो जाता है, उसके ज्ञान-कर्म में भी तुम्हारा निवास हो जाता है, अतः वही मनुष्य होता है जो कि ठीक-ठीक कर्त्तव्य-कर्मों को जान सकता है, और दूसरों को बतला सकता है। क्योंकि तब वह है विप्र ! तुम्हारे पूर्व-कारणों का भी पूरा जाननेवाला 'आविद्वान्' हो जाता है। तुम्हारा जो इस संसार में सनातन कर्म चल रहा है और वह जिन सनातन शुद्ध साधनों, करणों, से चल रहा है उसे वह साक्षात् जानने लगता है। अतः वही बता सकता है कि अमुक समय में कर्तव्य कर्म क्या है, वही दूसरों का पथप्रदर्शक हो सकता है, वही सच्चे ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है, वही है जो सच्चे अर्थों में भविष्यद्-वाणी कर सकता है, तेरे सनातन करणों के जानने के कारण बता सकता है कि तेरी सृष्टि में अब तेरा क्या कर्म होनेवाला है। नि:सन्देह ये बातें आम लोगों से करने की नहीं होतीं। 'आविद्वान्' की इन बातों को विद्वान् ही समझ सकता है। विद्वान् पुरुष ही परस्पर, हे सर्वज्ञ ! तेरे इन करणों व करणीयों की कथा-चर्चा किया करते हैं। पर यह तो ठीक है कि ज्ञान की यह उच्च अवस्था उन्हीं पुरुषों को प्राप्त होती है जिनके कर्मों में तुम्हारा निवास हो जाता है। जितना-जितना किसी के कर्म तुमसे व्याप्त होने लगते हैं उतना-उतना ही उसमें सच्चा ज्ञान प्रकट होने लगता है। इसलिए, हे मनुष्यो ! देखो, ज्ञान के साथ कर्म के इस सम्बन्ध को देखो, अपने कर्मों को बिना विशुद्ध किए कोई मनुष्य ज्ञानोपदेष्टा नहीं बन सकता। अपने कर्मों में प्रभु को बसाये बिना कोई मनुष्य प्रभू की बात करने का अधिकारी नहीं हो सकता।

शब्दार्थ - राजन् वे सच्चे राजा यथा-यथा ज्यों-ज्यों तू वृष्ण्यानि बलकारक स्वगूर्ता स्वयं अन्दर से निकले नर्या मनुष्यों के हितकारी अपांसि कर्मों को अविवेषीः व्वाप्त करता है, त्यों-त्यों विप्र हे सर्वज्ञानमय! ते तेरे पूर्वाणि करणानि सनातन कर्मों, कर्म-साधनों को आविद्वान् प्रत्यक्ष समझनेवाला ज्ञानी करांसि कार्यों को, कर्तव्यकर्मों को विदुषे समझनेवाले ज्ञानी के लिए प्र आह अधिकाधिक प्रकर्ष से कह सकता है, कहता है, कथा-चर्चा करता है।

ह प्रमेश्वर । उम तर २९४। क्रिर अभिगणन कर्न

itized by Arva San Frontigation Chennal and eGango

नू ब्हुत इंग्द्र नू गृं<u>णा</u>न इषं जि<u>रित्रे नद्यो</u> न पींपेः । अकोरि ते हरि<u>वो</u> ब्र<u>ह्म</u> नव्यं <u>धि</u>या स्यांम र्थ्यंः स<u>दा</u>साः ॥

—ऋक्० ४।१६।२१

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता इन्द्रः । छन्दः बिष्टुप् ।

विनय हे परमेश्वर ! तू सदा सब सन्तों द्वारा स्तुति किया गया है। मैं भी आज तेरी ही स्तुति कर रहा हूँ। स्तूयमान होता हुआ तू अब तो मुझ स्तोता की भी इच्छाओं को पूर्ण कर दे। मुझे वह 'इष' प्रदान कर दे जिसका मैं भूखा हूँ। इस अन्न से तू मुझे छका दे। जैसे कि निदयाँ जल से भरपूर होती हैं, वैसे तू मुझे मेरे 'इष' से भरपूर कर दे। मैं तो तेरे दर्शन का भूखा हूँ। अपना यह दर्शन देकर हे इन्द्र! तू मुझे पूरी तरह परितृष्त कर दे। मैंने आज तेरा नया अनुभव किया है, तेरे एक नये स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया है और मैंने तेरे इसी स्वरूप के खूव गुण गाये हैं। हे हरिवन् ! तू अब अपने इस रूप के दर्शन देकर मुझे पूरी तरह तृप्त कर दे। हे हरिओंवाले ! मैं देखता हूँ कि तू अपने इस संसाररूपी रथ को अपनी ज्ञान-क्रिया और बल-किया के हरिओं (घोड़ों) से संचालित कर रहा है। तेरे इस स्वरूप को देखकर मैं अब और कुछ नहीं चाहता, इतना ही चाहता हूँ कि मैं तेरे इस रथ के योग्य हो जाऊँ, 'रथ्य' हो जाऊँ, इस तेरे संसार में बसने योग्य हो जाऊँ, सच्चा मनुष्य बन जाऊँ, तेरा मनुष्य बन जाऊँ। अब मैं तेरा मनुष्य दनकरें ही इस संसार में रहना चाहता हूँ। तेरे हरिवान् रूप को देखकर अब मैं चाहता हैं कि अपनी बुद्धि से, अपने कर्म से तेरा रथ्य हो जाऊँ और सदा तेरा संभजन करनेवाला हो जाऊँ। तेरा रथ्य होने के लिए यह आवश्यक है कि मैं सदा तेरा संभजन किया करूँ। इस-लिए हे इन्द्र ! अब तू ऐसी कृपा कर कि मैं अपनी प्रत्येक बुद्धि से, अपने प्रत्येक कर्म से सदा रथ्य बना रहें और सदा तेरा संभजन करनेवाला बना रहें।

शब्दार्थ—इन्द्र हे इन्द्र ! न निःसंदेह तू स्तुतः स्तुति किया गया है, न अब भी तू गृणानः मुझसे स्तूयमान होता हुआ जरित्रे मुझ स्तोता के लिए इषं इष्ट वस्तु को, अन्न को नद्यः न निदयों की तरह पीपेः भरपूर कर दे। हरिवः हे हरिओंवाले ! ते तेरा नब्यं नया बह्य अनुभव, ज्ञान अकारि मैंने किया है, मैं धिया बुद्धि और कमं से रथ्यः तेरे रथ के योग्य और सदासः तेरा सदा संभजन करनेवाला स्याम होऊँ।

की बसाये जिसा कोई महत्य प्रथा की बाद करने का अधिकारी नहीं ही महता

एवा वस्^च इन्द्रीः सत्यः सम्राट् , इन्तां वृत्रं वरिवः पूरवें कः । पुरुष्टुत कत्वां नः शाग्धि रायो मेक्षीय तेऽवंसो दैन्यंस्य ॥

ऋक्० ४।२१।१०

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

विनय-परमेश्वर ही सच्चे सम्राट् हैं। इस संसार में मेरे लिए और कोई सम्राट् नहीं है। दुनिया के सम्राट् कहे जानेवाले मनुष्य झूठे सम्राट् हैं, बिलकुल अनीश्वर-अशक्त-तुच्छ प्राणी हैं-यह मुझे पग-पग पर अनुभव होता है। इन मनुष्य-सम्राटों की हैसियत तो उन इन्द्र के म्काबिले में खिलौने के सम्राट् से अधिक नहीं है। इन्द्र जब चाहते हैं तब क्षण में इन 'सम्राटों'. को ऊपर से उठाकर नीचे रख देते हैं, इस लोक से उठाकर परलोक में कर देते हैं। इस विश्व में जो भी कुछ वस जहाँ भी कहीं दिखाई देता है उसके अधीश्वर तो ये इन्द्र ही हैं। इन ऐश्वर्यों का स्वामी मैंने कभी किसी और को नहीं समझा है। ऐसे जगत के अधीश्वर होते हुए ये इन्द्र मनुष्य का सेवन कर रहे हैं, प्रत्येक मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। मनुष्य के वृत्रों, शत्रओं का हनन करते हए और नानाविध ऐश्वर्य देते हुए उनकी सेवा कर रहे हैं। सचमुच असली सम्राट् सेवा करने-वाला ही होता है। प्रजाजनों की उन्नित की सब विघ्न-बाधाओं को (वृत्रों को) पटाना तथा उनमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक ऐश्वयों को विकसित करना, यही सम्राट् का कर्त्तव्य-होता है। हे सच्चे सम्राट ! हे सबसे स्तुति किये गए प्रभो ! मैं तुझसे क्या मांगुं ? मैं जिन ऐरवयाँ के योग्य हूँ उन्हें तुम मुझे दे ही रहे हो। मुझे तो तुम यह शक्ति प्रदान करो कि मैं तुम्हारे इन ऐस्वर्यों की पाने और रखने में समर्थ हो सकूँ। मेरे 'ऋतु' को, मेरे कर्म व प्रज्ञा को तुम ऐसाः बनाओ, ऐसा बलवान् और शृद्ध बनाओं कि इन द्वारा मैं तेरे ऐश्वयों को पाने का पात्र हो जाऊँ। तब मैं तेरे दैव रक्षणों का भी भागी हो जाऊँगा। ये दुनियावी बादशाह मेरी रक्षा करते हैं या मुझे मारते हैं इसकी मुझे कुछ भी परवाह नहीं होती। उनके मानुष रक्षणों के पाने की मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। मैं तो तेरे दैव रक्षणों को पाना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि तेरी दिव्य रक्षा मुझे मिलेगी तो दुनिया में मेरा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकेगा। इसलिए हे सच्चे सम्राट्! मैं तो एक तेरे ही साम्राज्य के नीचे रहना चाहता हूँ और केवल तेरे ही दिव्य रक्षण को पाना चाहता है।

शब्दार्थ — इन्द्रः परमेश्वर एव ही वस्वः ऐश्वर्यं का सत्यः सम्राट् सच्चा सम्राट् है, वृतं शत्तु को, बाधा को हन्ता विनाश करनेवाला वह पूरवे मनुष्य के लिए वरिवः सेवन को या ऐश्वर्यं को कः करता है। पुरु स्तुत हे बहुतों से स्तुति किये गये तू नः हमें कत्वा कमं व प्रज्ञा से रायः ऐश्वर्यं को [पाने के लिए] शिध समर्थं बना, मैं ते तेरे वेव्यस्य अवसः दिव्य रक्षण को मक्षीय भोगूँ, प्राप्त करूँ।

वैदिक विनय

YINGIN ONE

ह पौषं

तस्मां ऋग्निर्भारंतः शर्मे यंसज्ज्योक् पंश्यात् सूर्यमुचरंन्तम् । यो इन्द्रांय सुनुवामेत्याह नरे नयाँय नृतंपाय नृणाम्।।

一ऋक्० ४।२५।४

ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता इन्द्रः। छन्दः तिष्टुप्।

विनय—"आओ हम इन्द्र का यजन करेंगे"—इस प्रकार जो मनूष्य कहता है, जो स्वयं इन्द्र का यजन करता है और दूसरों को यज्ञ करने की प्रेरणा करता है, जो यह यज्ञ करता है और करवाता है, वह मनुष्य नि:सन्देह महापुरुष होता है। वह सच्चा ब्राह्मण होता है, मनुष्य-समाज का सच्चा नेता होता है। वह आदर्श पुरुष बनता है। ओह ! वह इन्द्र जो कि असली नर है, असली पुरुष है, जो कि हम नरों का एकमात्र हितकारी है, और जो कि हम नरों में 'नृतम' है, हम पुरुषों में पुरुषोत्तम है, उस इन्द्र का यदि हम नर लोग यजन नहीं करेंगे तो और किसका यजन करेंगे ? उस नेता 'नर' इन्द्र का, जिसके हाथ में इस विशाल ब्रह्माण्ड की बागडोर है, जो कि इस सकल चराचर सृष्टि का संचालक है, उस 'नर' का यजन करना मनुष्य-'नर' की उन्नति के लिए आवश्यक है। इस इन्द्र-'नर' का यजन किये बिना मनुष्य अपने मनुष्यत्व की पूर्णता को कभी नहीं प्राप्त कर सकता, पूर्ण नर नहीं हो सकता। इसलिए वे ही महिमाशाली पुरुष अपने पुरुषार्थ को प्राप्त कर रहे हैं जो कि इन्द्र का यज्ञ कर रहे हैं और करवा रहे हैं।

ऐसे ही इन्द्रयाजी पुरुषों को 'भारत अग्नि' अपने शरण में लेता है, अपना आश्रय, अपना सख प्रदान करता है। 'भारत अग्नि' वह अग्नि है जो कि हमारा भरण करता है, जो कि हमारे शरीर का और इस संसार-शरीर का भरण (धारण, पोषण) करता है। यह प्राणाग्नि है, इसी अग्नि में इन्द्र के लिए यज्ञ किया जाता है। इसमें जब हम इन्द्र के लिए अपने सब भोग्यजगत्-रूपी सोम का और भोगेच्छा-रूपी सोमरस का हवन करते हैं तो हममें यह प्राणाग्नि खूब प्रदीप्त होता है और प्राणरूप सूर्य 'इन्द्र' के द्वारा हमारी सोमाहुति को इन्द्र परमेश्वर तक पहुँचाता है। एवं प्रदीप्त हुआ यह 'भारत अग्नि' हमारा भरण करता है, हमारा पूरा धारण-पोषण करता है। हमें अपना महान् आश्रय, महान् रक्षण, महान् आनन्द प्रदान करता हुआ हमारा पूरी तरह घारण और पोषण करता है। हममें 'भारत' प्राण भरपूर होता है और इस प्राण के साथ हमारा सम्पूर्ण मनुष्यत्व विकसित होता है।

शब्दार्थ नरे असली नर नर्याय नरों के हितकारी और नृणां नृतमाय नरों में नरोत्तम इन्द्राय इन्द्र के लिए यः जो पुरुष सुनुवाम इति 'आओ, हम उसका यजन करें' ऐसा आह कहता है तस्में उसके लिए भारतः अग्निः भरण करनेवाला प्राणाग्नि शर्म अपनी शरणों, सुख को यंसत देता है, वह ज्योक चिरकाल तक उच्चरन्तं उदय होते हुए सूर्यं सूर्य को पश्यात् देखता है।

३१५

MAL AND SWIT

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotif

१० पौष

अयं होता मथमः पश्यंतेमिदं ज्योतिरमृतं मत्येषु । अयं स जीक्रे भ्रुव आ निष्त्तो उर्मर्त्यस्तुन्वा वर्धमानः ॥

न्मक् ६।६।४

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता वैश्वानरः । छन्दः व्रिष्टुप् ।

विनय है मनुष्यो ! अपनी आत्मा को देखो ! यह अभौतिक अग्नि है, न मरनेवाला चेतन अग्नि है। यह पहले से विद्यमान 'होता' है, दान-आदान करनेवाला है। भौतिक अग्नि का हवन तो हम अब पीछे से जन्म पाकर करते हैं, पर यह आत्माग्नि का हवन अनादि काल से चल रहा है। हमें जो कुछ ज्ञान-बल-ऐश्वर्य का आदान मिल रहा है यह इसी आत्माग्नि के हवन से मिल रहा है। इनका देनेवाला बाहर और कोई नहीं है, अन्दर का होता हमारा यह आत्मा ही है। हे मनुष्यो ! तुम उसे देखो ! उस असली अपने-आपको देखो जो कभी न मरने-वाला है। हमारे मरने पर जब और सब-कुछ राख हो जाता है, तब भी जो रहता है वह यही हमारी अमर आत्म-ज्योति है। मरने पर यह केवल अप्रकट हो जाता है, संसार की दृष्टि में छिप जाता है, किन्तु फिर जन्म होने पर यह ध्रुव, स्थिर, नित्य आत्मा, पहले से स्थिरतया बैठा हुआ ही आत्मा पुनः प्रादुर्भूत हो जाता है, जिनत हो जाता है। जैसे काष्ठ में पहले से स्थित भौतिक अग्नि संघर्षण आदि से प्रदीप्त हो जाता है, जैसे पहले से विद्यमान जाठर अग्नि समय आने पर भूख के रूप में प्रकट हो जाता है, वैसे ही यह 'ध्रुव आनिषत्त' आत्मानि उत्पत्तिकाल में केवल पुनर्जनित हो जाता है। यह तब पैदा नहीं होता, किन्तु प्रकट होता है। इसीलिए, यद्यपि यह कभी न घटने बढ़नेवाला अमर्त्य है, तो भी यह पुनर्जनित होकर अपने तन् द्वारा, अपने शरीरों आदि बाह्य प्रकाश द्वारा बढ़ता है। तनू और कुछ नहीं है यह केवल आत्मा का विस्तार है। स्थूल शरीर द्वारा ही नहीं किन्तु इससे बहुत अधिक अपने मनोमय व विज्ञान-मय आदि आन्तर शरीरों द्वारा यह आत्मानिन बढ़ता है, नानारूप से बढ़ता है। यह अपनी मन व बद्धि की वृत्ति द्वारा तो इतना विस्तृत हो जाता है कि सब संसार को व्याप्त कर लेता है।

हे मनुष्यो ! तुम इस आत्माग्नि को क्यों नहीं देखते ? तुम अपने न जाने किन-किन मर्त्य रूपों को दिन-रात देखते हो, पर इस अमृत, असली, अपने-आपको क्यों नहीं देखते ? तुम

जरा उसे देखो तो अमर हो जाओ, अभी अमर हो जाओ।

शब्दार्थ — अयं यह आत्माग्नि प्रथमः पहले से विद्यमान होता होता, दानादान-कर्ता है, हे मनुष्यो ! इमं इसे पश्यत देखो ! इदं यह मत्येषु हम मरनेवालों में अमृतं ज्योतिः कभी न मरनेवाली ज्योति है । अयं सः यही वह ध्रुवः नित्य, स्थिर, आनिषत्तः पहले से बैठा हुआ ही अग्नि जने फिर प्रादुर्भूत होता है और अमर्त्यः अमर्त्यं, अभौतिक होकर भी तन्वा अपने शरीर आदि विस्तार द्वारा वर्धमानः बढ़ता हुआ होता है ।

वैदिक विनय

रिट्य गुणा की धारण करते इंट के सूरी की परित

११ पौष

<u>जपक्षेतार</u>स्तवं सुप्र<u>णी</u>ते अने विश्वांनि धन्या दर्धानाः। सुरेतं<u>सा श्रवंसा तुञ्जंमाना श्र</u>ाभि ष्यांम पृत<u>नायू</u>ँरदेवान्।।

—ऋक्० ३।१।१६

ऋषिः गाथिनो विश्वामितः। देवता अग्निः। छन्दः तिष्टुप्।

विनय — सब अदेवों को, अदैवभावों को, हम विनष्ट कर देंगे। ये राक्षस यद्यपि हम पर बार-बार हमला करते हैं, अपनी आसूरी सेना के साथ आकर हमपर चढ़ाई करते हैं, परन्त हे अग्ने ! तेरी शरण लेकर हम इनके प्रबल-से-प्रबल आक्रमणों को परास्त कर देंगे। तेरी शरण पकड लेने पर, तेरे निकटवर्ती 'उपक्षेता' हो जाने पर कोई आसूर भाव हमें दवा नहीं सकता। हे सुन्दर और प्रकृष्ट नीतिवाले ! हम जब कभी आसुरी वृत्तियों के वशवर्ती होते हैं तो इसीलिए होते हैं क्योंकि हम तुम्हारी श्रेष्ठ नीति का अनुसरण नहीं करते। यदि हम तुम्हारे श्रेष्ठ और प्रबल नेतृत्व में चलें तो हम कभी किसी से पराजित न हो। इसलिए अब हमने तेरे नैतिक नियमों का पूरा-पूरा पालन करने का निश्चय कर लिया है। तेरी नीति के अनुसार चलते हुए अब उन सब अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुणों को अपने में धारण कर लेंगे जिनके कारण मनुष्य धन्य कहलाता है। अदेवों को दूर करनेवाले अभय, सत्त्व, शुद्धि आदि दैवी सम्पत्ति से अब हम अपने को सम्पन्न कर लेंगे। इस प्रकार सव धन्य गुणों को अपने में धारण करते हुए और आत्मबलिदान करते हुए हम सब असुरों का अभिभव कर देंगे। इन धन्यगुणों के धारण करने से हममें जो एक श्रेष्ठ वीर्य से युक्त एश्वर्य, प्रभुत्व उत्पन्न हो जायेगा, वह हमारे लिए आत्मत्याग करने को बहुत सुगम कर देगा। यह आत्मत्याग वह वज्र है जिसके सामने कोई नहीं ठहर सकता। 'सुरेता श्रव' से तीक्ष्ण किये गये इसी वज्र से हम अपनी सब आसुरी वृत्तियों का पराभव कर देंगे। इसी प्रकार हे अग्ने ! तेरी दृढ़ शरण ले लेने पर कोई आसुर भाव अब हमपर आक्रमणकारी नहीं हो सकेगा, तूफान की तरह उठनेवाले प्रबल-से-प्रवल आसूरभाव का आक्रमण हमपर सफल नहीं हो सकेगा।

शब्दार्थ सुप्रणीते हे श्रेष्ठ और प्रकृष्ट नीतिवाले ! तब तेरे उपक्षेतारः पास रहनेवाले, शरण में आये हम अपने में विश्वानि सब धन्या धन्य बनानेवाले गुणों को दधानाः धारण करते हुए और सुरेतसा श्रेष्ठ वीर्य से युक्त श्रवसा ऐश्वर्य द्वारा, प्रभुत्व द्वारा तुंजमाना दान करते हुए, आत्म-बलिदान करते हुए पृतनायून् आक्रमणकारी अदेवान् अदेवों को, असुरों को अभिष्याम प्रास्त कर देवें।

जरा रहे हैंसी से अबर हो जाओ, जाने अबर हो बोडों ।

330

MINIS OFF

त्र गार्वाचाता गार्ड उटाका मान्त कर्त

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२ पौष

को नीनाम वर्चसा सोम्याय, मनायुवा भवति वस्ते उसाः। क इन्द्रेस्य युच्यं कः सीखायं को भ्रात्रं विष्टि कुवये क ऊती ॥

-ऋक्० ४।२५।२

ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता इन्द्रः। छन्दः विष्टुप्।

विनय-यह दुनिया किधर जा रही है ? क्या करना चाहिये और क्या कर रही है ? लोग न जाने किन-किन जड़ और चेतन मूर्तियों के सामने झुकते हैं, पर कौन है जो कि अपने प्रभ परमेश्वर के सामने झुकता है ? उस अमुत्त के सामने भौतिक रूप से झुकना तो हो नहीं सकता, मानसिक और बाहरी वाणी से ही हो सकता है, तो कौन है जो उस प्रभु के सम्मुख वाणी द्वारा, विचार द्वारा व प्रार्थना द्वारा नम्र होता है ? वह तो सोम्य है, हमारे सम्पूर्ण सोम का पात्र है। हमें अपने सब भोग्य पदार्थों को, अपने सब ऐश्वयों को उसके सामने झका देना चाहिये, उसे समर्पित कर देना चाहिये। नहीं, हमें तो अपने सब सोमसहित अपने-आपको ही उसके चरणों में समर्पित कर देना चाहिये। पर उस जगत के एकमात्र स्वामी का भी हमसे से कौन है जो सच्चा पूजन करता है ? उसका मनन करना तो मुक्किल है, पर कौन है जो उसके मनन करने का इच्छुक भी होता है ? कौन है जो मनन द्वारा उस इन्द्र की ज्ञानरूप किरणों को अपने में धारण करता है ? अथवा इन इन्द्रियों को ही 'उस्रा' समझो जो उस इन्द्र की हैं, इन्द्र की गौएँ या किरणें हैं। तो कौन है जो इन इन्द्रियों को या इन शरीरों को उस इन्द्र के समझ-कर वस्त्र की तरह ओढ़ता है, असंग होकर घारण करता है ? हंम दुनिया में नाना प्रकार के (धनी, मानी, ज्ञानी आदि) लोगों को अपना साथी-संगी, इंष्ट-मित्र, भाई-बन्ध बनाते फिरते हैं, और मानते हैं, पर कौन है जो उस इन्द्र को अपना साथी बनाना चाहता है ? कीन है जो उसे सखा करना चाहता है, और ऐसा विरला कौन है जो उससे भ्रातृभाव स्थापित करना चाहता है ? उस कान्तदर्शी सर्वज्ञ-पुरुष के लिए कौन है जो इतनी कांति, प्रीति व भक्ति रखता है ? ओह ! इस दुनिया में हम अन्धाधुंध अपने काम करते जा रहे हैं, पर जो इस दुनिया का असली स्वामी है, जो हमारा सब-कुछ है, जो हमारा अपना है उसकी तरफे हम कुछ भी ध्यान नहीं दे रहे। हम क्या कर रहे हैं ?

शब्दार्थ — सोम्याय सोम के योग्य इन्द्र के लिए कः कौन वचसा वाणी द्वारा नानाम नमन करता है ? वा अथवा कौन है जो उस इन्द्र के मनायुः मनन करने की इच्छावाला भवति होता है ? कौन उसकी उस्राः किरणों व गौओं को वस्ते घारण करता है ? कः कौन इन्द्रस्य इन्द्र के युज्यं साथ की, कः कौन उसकी सखायं मैत्री की भात्रं या भातृभाव की विष्ट कामना करता है ? कः कौन कवये उस क्रांतदर्शी इन्द्र के लिए ऊती कांति, प्रीति व भिक्त को रखता है ? □

4 4 5 (1 6 8 6

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३ पौष

त्वां वर्षेन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां रायं खभयां को जनांनाम्। त्वं जाता तरणे चेत्यों भूः पिता माता सदमिन् मार्जवाणाम्।।

-ऋक्० ६।१।५

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता अग्निः । छन्दः तिष्टुप् ।

विनय-इस पृथिवी पर पृथिवी-निवासी लोग नाना प्रयोजनों के लिए भौतिक अग्नि को बढ़ाते हैं, प्रदीप्त करते हैं। मनुष्य अपने वैयक्तिक और सामूहिक धनों द्वारा भी वैयक्तिक और सामृहिक भौतिकाग्नि को नाना प्रकार से बढ़ाते हैं। परन्तु, हे अभौतिक अग्ने ! तुझे भी हम पृथिवी-निवासी इस पृथिवी पर बढ़ाते हैं। बेशक हम इस बात को जानते नहीं। इस पृथिवी पर जो भी कुछ दिखाई देता है, जो भी कुछ बल, तेज, ज्ञान की उन्नित का कार्य हो रहा है वह सब तेरी महिमा है, तेरी ही विभूति है, तेरी ही वृद्धि है। इसी तरह मनुष्यों के दोनों प्रकार के धनों - वैयक्तिक एवं सामूहिक धनों - से जो भी कुछ घटित हो रहा है, जो भी कुछ वैयक्तिक या सामृहिक उन्नति-प्रगति के कार्य हो रहे हैं वे सब हे अग्ने ! तेरा ही ज्वलन है, तेरा ही प्रकाश है। इस तरह इस पृथिवी पर चारों तरफ तू-ही-तू प्रकाशित हो रहा है, सब तरफ़ तू-ही-तू चमक रहा है। पर आक्चर्य की बात है कि तेरे बढ़ानेवाले होते हुए भी हम इस संसार के दुःखसागर में गोते खा रहे हैं। चौबीसों घण्टे दुःखी और संतृप्त हैं। इसका कारण यह है कि हम तुझे जानते हुए नहीं बढ़ा रहे हैं। तू तो चेत्य है, हमारा संज्ञेय है, हमारा एकमात्र जानने योग्य है। यदि हम तुझे सम्यक् प्रकार से जानकर बढ़ायें तो हम इस दु:ख-सागर से तर जायँ, क्योंकि तब हम तेरा यज्ञ करनेवाले हो जायँ। यदि हम जान लेवें कि इस संसार में यह जो कुछ दीख रहा है वह सब तेरा ही तेज प्रकाशित हो रहा है तो हमारे लिए संसार में कोई दुःखप्रद वस्तु न रहे, सब-कुछ पवित्र यज्ञिय बन जाय। इसलिए हे तरणे ! हे हमारे तराने-वाले ! तू हमें अपना ज्ञान कराकर हमारा त्राता हो जा, हमारा रक्षक हो जा। हे अग्ने ! तू तो सदा ही हम मनुष्यों का पिता और माता है, पर हम तुझे जानते नहीं हैं। हे सब तरफ प्रज्वलित होनैवाले! है हम द्वारा बढ़ाये जानेवाले प्रभो! अब तू हमारा त्राता हो जा, हमारा पिता और माता हो जा। f is an are the present it is a filler

शब्दार्थ — त्वां तुझको पृथिव्यां पृथिवी पर क्षित्यः पृथिवीनिवासी पुरुष वर्धन्ति बढ़ाते हैं, त्वां तुझको जनानां मनुष्यों के उभयासः दोनों प्रकार के रायः धन बढ़ाते हैं। तरणे हे दुःख-सागर से पार तारनेवाले ! त्वं तू चेत्यः संज्ञेय, सम्यक् प्रकार से जानने योग्य होकर त्वाता हमारा रक्षक भूः हो, तू तो सर्वं इत् सदा ही मानुषाणाम् मनुष्यों का पिता माता पिता और माता है।

३२२

त्वार तका के ति सिंह हैं

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१४ पीव

शिक्षें यामिन् महियाते हिवे दिवे राय आ केहिचिद् विदे।
नहि त्वद्रन्यन् मधवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥

-ऋक्० ७।३२।१६; अथर्वे० २०।५२।२

ऋषिः वसिष्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः बृहती ।

विनय-हे परमेश्वर ! हे मेरे पिता ! मैं तुम्हें देना चाहता हूँ, अपना सब-कुछ दे देना चाहता हूँ। जब मैं तेरे अनन्त उपकारों को अनुभव करता हूँ तो हे प्रतिपालक ! मैं तुझे अपना सर्वस्व समर्पण किये बिना नहीं रह सकता। तब अपना सब-कुछ तेरे चरणों में रख देने को आतुर हो उठता हूँ। परन्तु हे इन्द्र ! तू कहाँ विद्यमान है ? मैं तुझे कहाँ पाऊँ ? मैं तुझे देने कहाँ जाऊँ ? यह सब-कुछ मैं समझ नहीं पाता । इस दुनिया में जो तेरे सच्चे भक्त होते हैं, जिनमें तेरा अधिक-से-अधिक प्रकाश होता है उन पूजनीय, तेरा पूजन करनेवाले भक्तों को मैं सदा अपना धन देता रहता हूँ, उनका निरन्तर भरण-पोषण करता रहता हूँ। ऐसे त्यागी महात्माओं के लिए, ऐसे तेरे 'बन्दों' के लिए मेरा घर हर समय खुला हुआ है। नहीं, ये सन्त तो जहाँ भी कहीं विद्यमान हों मैं इन्हें प्रतिदिन अपना धन पहुँचाता हुआ अपने धन को सफल किया करता हूँ। इस तरह इन महानुभावों को नित्य दान देता हुआ मैं अनुभव करता हूँ कि मैं तुम्हें देता हूँ। इन तेरी महिमा बढ़ानेवाले पूजनीयों की तृष्ति करने से, हे इन्द्र ! क्या तुम्हारी तृष्ति नहीं होती है ? तुम्हें तुप्त करने के लिए मैं और क्या करूँ ? सचमुच, हे मघवन् ! तुम्हारे सिवाय हमारा कोई बन्धु नहीं है, और कोई प्राप्तव्य नहीं है, तथा कोई तुम्हारे-जैसा प्रतिपालक पिता नहीं है, कोई श्रेष्ठ सच्चा पिता नहीं है। पर तुझ पिता को हम अपनी भेंट कैसे पहुँचावें ? तुम्हें पहुँचाने के लिए ही तो मैं प्रतिदिन तेरे सन्तों की सेवा किया करता हूँ, तुम्हें तुप्त करने के लिए ही मैं प्रतिदिन तेरे भक्तों को दान किया करता हैं।

शाब्दार्थ — कुहचिद् विदे जहाँ भी कहीं विद्यमान महयते तेरा स्तुति-पूजन करनेवाले तेरे भक्त के लिए मैं रायः धनों को विदे विदे प्रतिदिन, सदा आ पूरी तरह से शिक्षेयम् इत् देता ही रहता हूँ। मध्यन् हे परमेश्वर ! त्वत् अन्यत् तेरे सिवाय और कोई नः हमारा आप्यं सम्बन्धी, प्राप्तव्य नहि नहीं अस्ति है, तथा तेरे सिवाय और कोई वस्यः श्रेष्ठ पिता पिता चन भी हमारा प्राप्तव्य नहि नहीं अस्ति है, तथा तेरे सिवाय और कोई वस्यः श्रेष्ठ पिता पिता चन भी हमारा प्राप्तव्य नहिं है।

वैदिक विनय

\$53

सदा प्रसना रह

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

१५ पौष

विश्वदानी सुपर्नसः स्याम पश्येम तु सूर्यमुच्चरेन्तम् । तथा कर्द् वसुपतिवसूनां देवाँ श्रोहानोऽवसार्गमिष्ठः ॥

-ऋक्० ६। ४२। ४

हारहा । वेहार के महिला मारद्वाजः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः गायत्री ।

विनय — लोग न जाने क्या-क्या इच्छायें करते हैं। पर हम तो केवल इतना चाहते हैं कि हम सदा प्रसन्न रहें, आनन्दित रहें, हर समय 'सुमनाः' रहें। हमारा आनन्द कहीं अज्ञान का आनन्द या विपरीत प्रकार का आनन्द न हो, इसलिए इतना और चाहते हैं कि हम निरन्तर नवप्रकाश को पाते रहें, सूर्य के उदय को सदा देखते रहें, ज्ञानोदय को उत्तरोत्तर उपलब्ध करते रहें। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान-प्रकाश में उन्नत होते हुए हम अधिकाधिक उत्तम आनन्द से आनन्दित रहें, प्रसन्न बने रहें। बस, वसुओं के वसुपित से, सम्पूर्ण ऐश्वयों के अधीश्वर से हम और कुछ नहीं चाहते। उसके अनन्त ऐश्वयं-भंडार से हम केवल यही प्राप्त करना चाहते हैं, इसे ही हम सवौत्कृष्ट ऐश्वयं समझते हैं। हम जानते हैं कि ये हमारे प्रभु देवों के देव हैं, सम्पूर्ण देवों को वहन करनेवाले हैं, सम्पूर्ण दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाले हैं और ये प्रभु हमारी दौड़कर रक्षा करनेवाले हैं, आड़े समय पर भक्तों की रक्षा के लिए तुरन्त अपनी रक्षा-सहित आ पहुँचनेवाले हैं। हम चाहते हैं कि रक्षा के साथ आनेवाले ये हमारे वसुपित प्रभु दिव्य गुणों को प्राप्त कराते हुए हमपर ऐसी कृपा कर कि हम उनके सूर्यप्रकाश में विकसित होते हुए सदा आनन्दित रहें, हर समय प्रसन्नमना बने रहें। बस, हमें और कुछ नहीं चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये।

शब्दार्थ हम विश्वदानी सदा, सर्वकाल सुमनसः आनित्दत, प्रसन्नमन स्याम रहें नुं और उच्चरन्तं उदय होते हुए सूर्यं सूर्यं को पश्येम देखते रहें, वसूनां ऐश्वयों का वसुपितः ऐश्वयोधिपित देवान् देवों, दिव्यगुणों को ओहानः वहन करनेवाला, प्राप्त करानेवाला और अवसा आगमिष्ठः रक्षण-शक्ति के साथ आनेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभु तथा करत् वैसा करे।

३२४

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotin-

वंद पौष

सुपर्णोऽसि गुरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीदः, भासान्तरिक्षमापृणः । ज्योतिषा दिवमुत्तमान्, तेर्जसा दिशः ऽ उद् दृंद्रं ।।

च्याः० १७।७२

ऋषिः कुत्सः। देवता अग्निः। छन्दः निचृदार्षी पङ्क्तिः।

विनय हे जीव ! तू अपने को नहीं जानता । तू तो सुपणं है, गरुत्मान् है, तू सुन्दर पतन-वाला है, तू सुन्दर उड़ान उड़ने के लिए, ऊँची उन्नित करने के लिए उत्पन्न हुआ है । तू सब शुभ लक्षणों से युक्त है । तेरी आत्मा गुरु है, गौरवयुक्त है, बड़ी महान् है, तू उठ, तू इस पृथिबी के तल पर बैठ । तू सम्पूर्ण पृथिवी का आदमी है । तू एक घर का, एक देश का, या एक जाति का नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पृथिवी का पुरुष है । पृथिवी के पीठ पर स्थित होकर तू चमक और अपनी दीप्ति से अन्तिरक्ष को भर दे । जब तू अपनी मानसिक दीप्ति को दिखलाएगा तो उसकी प्रभा से इस संसार का सब मानसिक जगत् चकाचोंध हो जायगा । नहीं, तू और ऊपर उठ, तू अपनी आत्मज्योति से चूलोक को उठा ले । यह द्युलोक जिन दिब्य पुरुषों से बना है, थमा है, उनकी-सी दिब्यता तुझमें भी विद्यमान है । तू जरा अपनी आत्मज्योति को चमका, जरा दिब्य-ज्योति को भी प्रकाशित कर । और इस तरह ऊपर उठता हुआ तू चारों दिशाओं को भी अपनी तेजस्विता से उन्नित करता जा । तेरा तेज दिगन्तों तक ऐसा फैले कि तेरी साधना चारों दिशाओं के मनुष्यों को भी साथ लेती हुई हो, उन्हें भी साथ में दृढ़ और उन्नित करती जाये । तू साधारण आदिमयों की तरह क्यों बैठा है ? तू तो वह अग्नि है जिसने कि अपने प्रदीपन से सम्पूर्ण संसार को ब्याप्त कर लेना है। तू उठ, तू सुपर्ण है, तू गरुत्मान् है।

no so so the b to to to a fire extend to pissivers

प्रशी में स्थाना माना है और शुक्ष, में जानवाने । पेनन क्यानाने हेर निक तमान

मिसरीह, इन्ह के बाम वह कबायकारी, वृद्ध के प्रतिहास परम करवायकारी है।"

केरवर्ध को वेस वाओ । ओह ! मेरे इन गहान सारमवांगतानों से पांतवान में, है पूर ! यब दुम पूर्व पूर्व आधि करा होते. यम पूर्व निसास कर होता. इस सो गह द्विता को यह उनेपी--

शब्दार्थं तू सुपर्णः सुन्दर उन्नित करनेवाला गरुत्सान् गुरु आत्मावाला असि है, तू पृथिव्याः पृथिवी के पृष्ठे पृष्ठ पर सीद बैठ भासा अपनी दीप्ति से अन्तरिक्ष अन्तरिक्ष को आपृण भर दे, ज्योतिषा अपनी ज्योति से दिवं द्युलोक को उत्तभान ऊपर उठा ले, और तेजसा अपने तेज से दिशः दिशाओं को उद् दृंह उन्नत कर।

क ल्याण कारा वान

Digitized by Arya Samai Foundation Chennal and eGangotri

१७ पौष

श्रहं च त्वं चे द्वत्रहन्त्सं युज्याव सिनिभ्य श्रा। श्रातीवा चिददिवोऽनुं नौ शूर मंसते, भद्रा इन्द्रंस्य रातयेः॥

—ऋक्० डा३२।११

ऋषिः प्रगायो घौरः काण्वः । देवता इन्द्रः । छन्दः बृहती ।

विनय-'इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं, इन्द्र के दान बड़े कल्याणकारी हैं' इस टेक के साथ मैंने तेरी बहुत गुणगीतियाँ गाई हैं। हे इन्द्र! तेरे दानों की, तेरी देनों की बहुत स्तूतियाँ गाई हैं, पर ये वाचिक स्तुतियाँ बहुत हो चुकीं। अब तो, हे वृत्रहन् ! आओ, मैं और तुम मिल जायेँ और मिलकर कियामयी वाणी द्वारा दूनिया को दान की महिमा दिखलायें। कोई भी मेल, कोई भी संयोग, बिना दान-प्रतिदान के नहीं हो सकता। मेरा और तेरा यह संयोग तभी हो सकेगा जब मैं अपना सर्वस्व तुझे दे दूँ और प्रतिदान में तू मेरा अभीष्ट ऐश्वर्य मुझे दे दे; जब मैं अपने सब टेढेपन को, अपने सब विकार को त्याग दूँ और प्रतिदान में हे वृत्रहन् ! तू सब विध्न-बाधाओं को छिन्न-भिन्न करके अपनी समता से, अपनी पवित्रता से मुझे भर दे। यह हमारा संयोग, यह योग, यह योग-प्रक्रिया तब तक चलेगी, जब तक तुझसे मुझे मेरे सब अभीष्ट ऐक्वर्य न मिल जायँगे, जब तक मुझे पूर्ण प्राप्ति न हो जायगी। तो आओ, मेरे इन्द्र ! तुम भी आगे आओ, मैं आत्म-बलिदान के रास्ते आज तुमसे संयुक्त होने निकला हुँ। मैं एक के बाद एक ऐसे-ऐसे आत्मबलिदान करूँगा कि इन्हें देख दुनिया दहल जायगी। कट्टर-से-कट्टर अदानियों के हृदय हिल जायँगे। दान के माहात्म्य को देख यह दुनिया एक बार तो आत्मत्याग के लिए तत्पर हो जायगी। जिन्हें आत्मत्याग में जरा भी विश्वास नहीं, जिन्हें आत्मबलिदान में कुछ भी श्रद्धा नहीं, वे भी दान की शक्ति को अनुभव करेंगे, हमारी आत्माहुतियों की महिमा को समझेंगे, तथा हमारे इस दान-प्रतिदान का अनुमोदन करेंगे। तो लो, मैं अपने एक-एक अंग को काट-काटकर तुम्हारे चरणों में रखता जाता हूँ और तुम, हे वज्जवाले ! भेदन कर-करके मेरे लिए एक-एक उच्च ऐश्वर्य को देते जाओ। ओह ! मेरे इन महान् आत्मबलिदानों के प्रतिदान में, हे शूर ! जब तुम मुझे पूर्ण प्राप्ति करा दोगे, जब मुझे निहाल कर दोगे, तब तो यह दुनिया भी कह उठेगी-"नि:सन्देह, इन्द्र के दान बड़े कल्याणकारी, इन्द्र के प्रतिदान परम कल्याणकारी हैं।"

शब्दार्थ — वृत्रहन् हे विघ्नों के छिन्न-भिन्न करनेवाले इन्द्र ! अहं च त्वं च मैं और तूं, हम दोनों संयुष्याव संयुक्त हो जायें, तब तक आ जब तक सिनम्यः पूर्ण प्राप्तियों हो जायें, जिस से अरातीवा अदानी, कभी त्याग न करनेवाला चित् भी अदिवः हे वज्रवाले ! शूर हे शूर ! नौ हमारा [हमारे दान प्रतिदानों का] अनुमंसते अनुमोदन करे, विचार करके समझ जावें निःसन्देह इन्द्रस्य परमेश्वर के रातयः दान, देनें मद्राः कल्याणकारी हैं।

३१६

राज्या स्वाते

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and

१८ पौष

सत्यमिद् वा छ तं वयमिन्द्रं स्तवाम् नानृतम् । महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतीषि सुन्वतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः।

न्ह० दाइरा१२

ऋषिः प्रगायो घौरः काण्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः बृहती ।

विनय हमने जो इन्द्र की परम कल्याणकारी देनों की स्तुति की है, वह निःसंदेह सच्ची स्तुति है, अनृत नहीं। हमने जो उस महान् इन्द्र की महान् महिमा गाई है वह भी निःसन्देह सच्ची है, कदापि अनृत नहीं। हम जानते हैं कि हम यह सच्चे इन्द्र का ही गुण-कीर्त्तन कर रहे हैं, अनृत इन्द्र का नहीं; सच्चे परमेश्वर की ही स्तुति कर रहे हैं, मिथ्या परमेश्वर की नहीं। इसलिए हमारी यह स्तुति कभी विफल नहीं जायगी, यह अवश्य फल लायगी। यह हमारी सच्ची स्तुति हमें इन्द्र के अवश्य दर्शन करायगी, इन्द्र के कल्याण-दानों का अनुभव करायगी। ओह ! हमारी यह स्तुति तो इतनी सच्ची है कि हम साक्षात् देख रहे हैं—इस संसार में यज्ञ न करनेवालों का, 'असुन्वत्' लोगों का, उतना ही बड़ा विनाश हो रहा है जितना बड़ा यज्ञ करनेवाले 'सुन्वत्' लोगों का कल्याण हो रहा है। 'असुन्वत्' लोगों का वध इसीलिए हो रहा है चूँ कि यज्ञ न करने के कारण इन्हें प्रतिफल में इन्द्र का कल्याणदान नहीं मिल रहा है। इसके विपरीत 'सुन्वत्' लोगों का इसलिए कल्याण हो रहा है, चूँिक उन्हें प्रतिफल में सब ज्योतियों का बहुत-बहुत दान मिल रहा है। और ज्योतियों के मिल जाने पर फिर क्या नहीं मिलता? हे मनुष्यो ! तुम इस साक्षात् सत्य को क्यों नहीं देखते ? सत्य इन्द्र के इस सत्य-स्वभाव को क्यों नहीं अनुभव करते ? तुम किस अनृत दुनिया में रह रहे हो ? क्यों धोखे पर धोखा खा रहे हो ? यह देखों, जो हो रहा है वह यही है कि अत्यागियों का निरन्तर वध हो रहा है और आत्म-त्यागी दिनोंदिन ऊपर चढ़ रहे हैं। यह सब इन्द्र की 'भद्र राति' मिलने और न मिलने का परिणाम है। तो तुम भी क्यों नहीं अनुभव करते और एकस्वर होकर बोलते—'इन्द्र की राति भद्र है, सचमुच इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं!'

शब्दार्थ — वयं हम तं उस इन्द्रं इन्द्र की वै उ ित:सन्देह सत्यं इत् सच्ची ही स्तवाम स्तुति कर रहे हैं, अनृतं झूठी न नहीं। देखो, असुन्वतः यज्ञ न करनेवाले का महान् बड़ा वधः विनाश हो रहा है और सुन्वतः यजनशील की भूरि बहुत-बहुत ज्योतीं पि ज्योतियाँ [मिल रही] हैं, क्यों कि इन्द्रस्य इन्द्र के रातयः दान भद्राः कल्याणकारी हैं।

वैदिक विनय

: ३२७

रश्वयं दा।

Digitized by Arya Samai Foundation Chennal and eGangotri

१६ पौष

यमंग्ने मन्यंसे र्यायं सहंसावन्नमर्त्य । तमा नो वार्जसातये वि वो मदे यज्ञेषुं चित्रमा भरा विवंक्षसे ॥

—ऋक्० १०।२१।४

ऋषिः विमव ऐन्द्रः । देवता अग्निः । छन्दः अस्तार पङ्क्तिः ।

विनय-हे शक्ति के भण्डार ! सहसावन् ! तुम महान् हो, तुम ज्ञान, बल आदि सब प्रकार से महान् हो, बहुत अधिक महान् हो। तुम्हारी महत्ता को अनुभव करके, हे अमर अग्ने! मैं तुम्हारी शरण पड़ गया हूँ। तुम्हारी शरण में आकर मैं तुमसे और क्या माँगूँ? मुझे तो मांगने का शऊर ही नहीं है, मुझे वह ज्ञान ही नहीं कि अपने योग्य वस्तु को ठीक जान सक्। इसलिए, हे अग्ने ! तुम ही जिस ऐश्वर्य को मुझे देने योग्य समझते हो उसे मेरे लिए ला दो, मुझे प्रदान करते रहो। मेरे विकास के लिए अब किस ऐश्वर्य की आवश्यकता है यह तम्हीं ठीक जानते हो, तुम ही जान सकते हो। इसलिए मेरी उन्नति के लिए, मेरे बल-लाभ (वाजसाति) के लिए योग्य 'रिय' को तुम ही प्रदान करो। नहीं, 'अपने बल-लाभ (वाजसाति) के लिए' ऐसा मैं क्यों कहूँ ? बल लाभ करके मैं और क्या करूँगा ? मुझे तेरे विमद के लिए, तेरी तथा देवों की विशेष प्रसन्तता के लिए, यज्ञों में तुम्हारी परितृष्ति करने के लिए ही तेरा दिया 'रिय' चाहिये। तेरे दिये आवश्यक रिय को पाकर, ज्ञान-बल आदि से सम्पन्न होकर मैंने तेरे लिए ही यज्ञ-कर्म करना है, और मैंने क्या करना है ? यज्ञों में तेरी परितृष्ति कर सकूँ इसीलिए, हे अग्ने ! तू मुझे अपना 'चित्र' धन प्रदान कर । तु मेरे लिए जो ऐश्वर्य देगा वह मेरे हितामें अद्भुत गुणकारक सिद्ध होगा, वह मेरे लिए तेरी पवित्र-पूज्य भेंटरूप होगा, उससे ही निःसन्देह मेरा कल्याण सिद्ध होगा। इसलिए हे अग्ने ! तू मुझे अपना चित्र-ऐश्वर्य दे, अपनी परितृप्ति के लिए दे और उस परितृष्ति द्वारा महान् हो, अपने दिव्य रूप से महान् होता हुआ भी मेरी इस परितृष्ति द्वारा मानुषिक रूप से भी महान हो।

शब्दार्थ सहसावन् हे शक्ति के भंडार ! अमर्त्य अग्ने अमर अग्ने ! तू यं जिसे रॉय मुझे देने योग्य ऐश्वर्य मन्यसे समझता है तं उसे नः हमें वाजसातये बल-लाभ के लिए, उन्निति के लिए आमर ला दे, यज्ञेषु यज्ञों में वः तुम्हारी विमदे विशेष प्रसन्नता व परितृष्ति के लिए विवं उस आश्चर्यकर व पूज्य धन को आ ला दे, विवक्षसे तू महान् 'होता' है।

- ३२५

हरामा भरा जामनायों को पूर्ण को

Digitized by Arya Samaj Foundation

२० पौष

ह्रिटिस्पृशंस्त त्रासते विश्वेषु सोम धार्मसु । त्र<u>धा कार्मा इमे मम</u> वि वो मटे वितिष्ठन्ते वसूयवो विवेक्षसे ।

--ऋक्० १०।२५।२

ऋषिः विमदः । देवता सोमः । छन्दः आस्तार पङ्क्तिः ।

विनय हे सोम! मैं जानता हूँ कि तेरे हृदय को स्पर्श करनेवाले तेरे अनन्य भक्त जगह-जगह पर विराजमान हैं। सब धामों में, सब स्थानों में, सब लोकों में तेरे ये निष्काम भक्त बैठ हुए तेरा भजन कर रहे हैं। मैं अपनी भिवत से तेरे हृदय को स्पर्श कर सकूँगा, यह मैं नहीं जानता। कम-से-कम यह स्पष्ट देखता हूँ कि मैं तेरी निष्काम भिवत नहीं कर सकूँगा। मुझमें तो बहुत-सी कामनायें विद्यमान हैं। गुझमें बड़ा बनने की, प्रतिष्ठा पाने की महत्त्वाकाक्षायें सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छायें विद्यमान हैं। ऐसे नाना प्रकार के वसुओं को चाहनेवाली इच्छायें विविध प्रकार से मुझमें उठ रही हैं। यह ठीक है मेरी ये इच्छायें आखिर में तेरी प्रसन्नता व परितृष्ति के लिए ही उठ रही हैं, इन्होंने कभी तुझे ही समिपत हो जाना है, पर तो भी इन्होंने मेरे हृदय को घर रखा है। हे सोम! क्या मेरी इन कामनाओं को पूरा करके तुम मेरे हृदय को हल्का न करोगे? नहीं, तुम इन्हें पूरा करो और मेरी परितृष्ति पाकर महान् होवो। वैसे तो तेरे हृदय तक पहुँच करनेवाले तेरे ज्ञानी निष्काम भक्त ही तुझे अधिक सच्चे अर्थों में बढ़ा रहे हैं, परन्तु मेरी यह अर्थार्थी भिवत, मेरी ये इच्छायें भी अन्त में तुमहें बढ़ाने के लिए ही हैं। इसलिए हे सोम! तुम मेरी इन कामनाओं को पूरा करो, तो शायद मैं भी कभी तेरा निष्काम उपासक हो जाऊँगा, तेरा हृदयस्पर्शी भक्त बन जाऊँगा।

हुनी ! सून रहते परिवृद्ध माना उस आसा के लिए करित होजी

शब्दार्थ सोम हे सोम ! ते तेरे हृदिस्पृशः हृदय को स्पर्श करनेवाले भक्त विश्वेषु धामसु सब स्थानों में आसते बैठे हुए हैं, विराजमान हैं। अध पर मुझमें इमे ये मम मेरी वसूयवः ऐश्वर्यों को चाहनेवाली कामाः कामनायें वः विमवे तुम्हारी प्रसन्तता व परितृष्ति के लिए वि तिष्ठन्ते विविध प्रकार से उठ रही हैं, [जिनसे अन्ततः]विवक्षसे तुम महान् होते हो।

वैदिक विनय

2 14211m 5 41 W 5

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१ पौष

श्रा पंत्रस्य दिशां पत त्रा<u>र्जी</u>कात् सोंम मीढ्वः । श्रातवाकेनं सत्येनं श्रद्धया तपंसा सुत इन<u>्टा</u>येन<u>्टो</u> परि स्रव ॥

—ऋक्० हा ११३।२

ऋषिः कश्यपः । देवता ववमानः सोमः । छन्दः विराट् पङ्कितः ।

विनय सोम ! तुम इन्द्र के लिए परिस्नुत होओ। हे ज्ञानमय भिनतभाव ! तुम मुझ आत्मा के लिए परिस्नुत हों ओ। तुम कहाँ से परिस्नुत होते हो और तुम कैसे अभिषुत होते हो यह मैं जानता हूँ। हैं दिशाओं के पति ! तुम ऊपर से बरसते हो और दिशाओं का, चारों दिशाओं में बसनेवाले संसार का रसप्रदान द्वारा परिपालन करते हो। तुम मेरे अन्दर की विशाओं के, चंतुर्विध प्रेरणाओं के भी रक्षक हो। पर तुम ऊपर जिस स्थानविशेष से आते हो वह 'आर्जीक' है, ऋजुभाव है, सरलता और समता का लोक है। जहाँ सरलता अकुटिलता नहीं है वहाँ तुम्हारा प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । सरलभाव तुम्हारी जन्मभूमि है । इस 'आर्जीक' से आते हुए, हे सिंचन करनेवाल ! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्तस्तल को अपने रस से सिंचित कर देते हो। मेरे रोम-रोम को अपने अमृत से नहला देते हो। इस प्रकार के हे सोम ! तुम मुझमें आओ। सत्य वचन, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप द्वारा उत्पन्न होकर मुझमें आओ। मैं खूब जानता हूँ कि सत्यवचन और सत्यकर्म के नियमों का पालन किये बिना भिक्तभाव उदित नहीं होता है। श्रद्धापूर्वक कष्ट सहे बिना प्रेम का प्रसाद नहीं मिलता है। इन चारों साधनों को साधित कर लेने पर ज्ञान का निष्पादन होता है, भिक्तरस का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए वचन और कर्म में सत्य का व्रत लेकर अटल श्रद्धा को धारण करके और कठोर तपस्या करता हुआ ही मैं प्रार्थना कर रहा हूँ "हे सोम! तुम मुझमें आओ। मेरी आत्मा तुम्हारी प्यासी है, इसलिए हे इन्दो ! तुम मुझमें परिस्नुत होओ, इस आत्मा के लिए क्षरित होओ।"

शब्दार्थ सोम हे सोम ! दिशांपते हे दिशाओं के पालक ! मीढ्वः हे सिचन करनेवाले ! तुम आर्जीकात् सरलता के लोक से आपवस्व आओ, क्षरित रहो । तुम ऋतवाकेन सत्यवचन से सत्येन सत्य व्यवहार से श्रद्ध्या श्रद्धा से तपसा तप से सुंतः अभिषुत होते हो, उत्पन्न होते हो । इन्ह्री हे सोम ! तुम इन्द्राय आत्मा के लिए परिस्नव परिस्नुत होओ ।

ह शालमरा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chem-

२२ पौष

यत्र ज्यो<u>ति</u>रज<u>स</u>ं यस्मिन् <u>छो</u>के स्व<u>र्</u>डितम् । तस<u>्मि</u>न् मां घेहि पवमा<u>ना</u> ऽमृते <u>छो</u>के श्रक्षित, इन्द्र्यिन<u>टो</u> परि स्वव ॥

-ऋक्० हा ११३१७

ऋषिः कश्यपः । देवता पवमानः सोमः । छन्दः विराद् पङ्क्तिः ।

विनय सोम ! इन्द्र के लिए परिस्नुत होओ। हे ज्ञानमय भिक्तभाव ! तुम मुझ आत्मा के लिए प्रादुर्भूत होओ। मैं तुम्हारी अद्भुत महिमा को जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम मुझे ऊँचे-से-ऊँचे लोक में ले-जा सकते हो, मोक्ष-सुख तक पहुँचा सकते हो, इसलिए हे पवमान ! हे पवित्रतम ! तुम मुझे वहाँ पहुँचा दो जहाँ प्रकाश कभी मिटता नहीं, जहाँ अविनश्वर ज्योति है। तुम मुझे उस लोक में स्थापित कर दो जहाँ सुख निहित है, जहाँ आनन्द का अखण्ड निवास है। इस प्रकार तुम मुझे अमृत के उस अक्षीण लोक को प्राप्त करा दो जहाँ मृत्यु का कभी प्रवेश नहीं, जहाँ क्षय की कोई आशंका नहीं। हे क्षरित होनेवाले सोम ! तुम मुझे यह सब-मुख प्राप्त करा सकते हो। तुम्हारा सहारा पाकर मैं परमधाम तक पहुँच सकता हूँ। इसीलिए मेरा आत्मा तुम्हें पाना चाह रहा है। तुम्हारी एक बूँद के लिए व्याकुल हो रहा है, इसलिए हे इन्दो ! तुम मुझमें परिस्नुत होओ, इस आत्मा के लिए क्षरित होओ।

वर के इन होता हो को का का मान है। है कि हो समार भे चेता के मेरी करते हैं है की

शब्दार्थ — यज्ञ जहाँ अजस्रं अविनश्वर ज्योतिः ज्योति है यस्मिन् सोके जिस सोक में स्वः सुख-आनन्द हितम् रखा हुआ है, पवमान हे पवित्रतम सोम ! तू मा मुझको तव वहाँ अमृते मरणरहित अक्षिते क्षयरहित लोके लोक में घेहि स्थापित कर दे। इन्दो हे सोम ! इन्द्राय आत्मा के लिए परिस्रव परिस्रुत होओ।

वैदिक विनय

ह ं की सन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रं३ पौष

पेश्वभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यैसते । इन्द्रं नृम्णं हि ते शबो हनों वृत्रं जयां श्रपो ऽर्चन्ननुं स्वराज्यम् ॥

—ऋक्० शाद ०।३

ः ऋषिः गोतमो राहूगणः । देवता इन्द्रः । छन्दः पङ्वितः ।

विनय – हे इन्द्र ! तू अपने राजत्व को, अपने राज्य को नहीं अनुभव करता । तू अपने स्वराज्य को नहीं पहचानता। यह शरीर-राज्य, यह सब अन्दर का साम्राज्य तेरा ही है। इस समय इसपर बेशक वृत्र ने कब्जा कर रखा है; कामरूप, पापरूप, विदेशी शतु ने इसे दबा रखा है। तेरी इन्द्रियाँ, तेरी मनोवृत्तियाँ, तेरी वासनायें और तेरी बुद्धियाँ भी इस समय वृत्र की ही गुलामी कर रही हैं। परन्तू असल में हें इन्द्र ! ये तेरी ही प्रजा हैं। तु अब अपने स्वराज्य का आदर कर। इन अपनी प्रजाओं का फिर राजा हो। अपनी इस स्वराज्य-साधना के लिए उठ। देख, तेरे सिवाय इस राज्य का अन्य कोई अधिपति नहीं हो सकता। इसलिए हे इन्द्र! तू स्व-राज्य-स्थापना के लिए उठ। आगे बढ़! मुकाबिला कर! सब शत्रुओं को धर्षित कर, हरा! तेरे वज्य को इस संसार में कोई नहीं रोक सकता। तेरी शक्ति की गति अप्रतिहत है। क्यों तु कहता है कि राग-द्वेष दुर्जेय हैं ? नहीं, तेरे संकल्प-वज्र के लिए कुछ भी दु:साध्य नहीं है, तेरी प्रतापाग्नि में सब राग-द्वेष आदि क्लेश भस्मावशेष हो जायेंगे। तेरी स्वराज्य-स्थापना में कौन बाधा डाल सकता है ? क्या तू समझता है कि संस्कार वड़े प्रवल हैं ? नहीं, तू अपने बल को नहीं समझता। तेरा बल तो नि:संदेह 'नूम्ण' है, सबको नमा देनेवाला बल है, सच्चा बल है। वह दृढ़-से-दृढ़ संस्कारों को भी हटा देगा, मिटा देगा। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं पैदा हुई जो तेरा बल नमा देवे। इस प्रकार हे इन्द्र! तू अपने वज्र द्वारा, अपने वीर्य द्वारा 'वृत्रासुर' का हनन कर और विजयी होकर अपनी प्रजाओं को प्राप्त कर । एवं हे इन्द्र ! तू अपने स्वराज्य को स्थापित कर, अपने स्वराज्य को फिर स्थापित कर।

शब्दार्थ इन्द्र हे आत्मन् ! तू स्वराज्यं अनु स्वराज्य के अनुकूल अर्चन् साधन करता हुआं प्रेहि आगे बढ़ अभीहि मुकाबिला कर धृष्णुहि शत्रु का धर्षण कर, ते तेरा बज्रः वज्र न नहीं नियंसते रोका जा सकता । ते तेरा शवः बल हि निश्चय से नृम्णं सबको नमानेवाला है, संच्चा बल है । वृत्रं वृत्रासुर को, कामरूप या पापरूप वृत्र को हनः हनन कर और अपः अपनी प्रजाओं को जय जीत ।

वैदिक विनय

elf 1919 of

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रे४ पौष

इन्<u>ट</u> तुभ्यमिदंद्विवो ऽनुत्तं वाज्जिन् <u>वी</u>यम् । यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चेन्ननुं स्वराज्यम् ॥

—ऋक्० शादना७

ऋषिः गोतमो राहूगणः । देवता इन्द्रः । छन्दः पङ्क्तिः ।

विनय — हे इन्द्र ! तू स्वराज्य की साधना में सफल होगा, अवश्य सफल होगा। माया-वाले मृग को माया द्वारा ही मारकर अवश्य सफल होगा, क्योंकि तेरा वीर्य, तेरा बल स्वाभा-विक है। संसार में एक तू ही है जिसके लिए बल कहीं बाहर से प्रेरित नहीं हुआ है, कहीं अन्यत्र से नहीं आया है। यह तेरे ही अन्दर से निकला है, तेरा अपना है, तेरा स्व-बल है। स्व-बल से ही स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। तेरे मुकाबिले में जो मायावी मृग है उसके पास स्वबल नहीं है। वह छल-कपट द्वारा तेरे ही बल को तेरे विरुद्ध प्रयुक्त कर रहा है और राज्य कर रहा है। परन्तु ऐसा माया का बल कितनी देर टिक सकता है ? वह नहीं जानता कि माया उत्पन्न होते ही अपने साथ विरोधी माया को भी उत्पन्न करती है। माया जन्म के साथ ही अपने विनाश के लिए अभिशापित होती है। ऋण-विद्युत् धन-विद्युत् को पैदा किये बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकती। इसलिए हे आत्मन् ! तू इन भयंकर-से-भयंकर भी दीखनेवाले माया के बने मृगेन्द्रों से, प्रकृति के पुतलों से, क्यों भयभीत होता है ? यह माया (यह प्रकृति) तो स्वयं विनश्वर स्वभाव वाली है। अपने में ही विरुद्धता रखने के कारण स्वयं विनष्ट हो जानेवाली है। देख, ये परस्पर विरोधी रज और तम स्वयं लड़ रहे हैं। उनमें धनात्मक होने से यद्यपि रज विजयी हो रहा है, पर वह भी उससे अधिक धनात्मक सत्त्व के मुकाबिले में दब जाता है और फिर रज और तम के बिना न रह सकने के कारण वह विजयी सत्त्व भी तेरे सामने से स्वयं भाग जाता है। यह देह घात करने से कभी नष्ट नहीं होता, फिर-फिर पैदा हो जाता है। तू इन अजेय संस्कारों को भी अपने विरुद्ध संस्कारों द्वारा ही जय कर लेता है। एवं हे इन्द्र ! तू देह से देह तो दग्ध करता है, मन से मन को मार लेता है, संस्कारों से संस्कारों को नष्ट कर देता है, प्रकृति के पुतलों को प्रकृति के द्वारा ही पिघला देता है, इन माया के मृगों को माया द्वारा ही मार देता है। पर यह काया, माया से इसीलिए मरती है चूँकि इसमें कुछ भी स्व-बल नहीं है। अतः, हे इन्द्र ! जब तू अपना स्वबल प्रकट करेगा तो नि:सन्देह तेरा स्वराज्य हो जायेगा, तेरा स्वराज्य स्थापित हो जायेगा ।

शब्दार्थ—इन्द्र हे इन्द्र ! अद्रिवः हे दुर्भेद्य शस्त्रवाले या वृत्र को वश में करनेवाले ! विज्ञन् हे वज्जवाले ! तुभ्यं इत् तेरे लिए ही वीर्यम् वीर्यं, बल अनुत्तं अप्रेरित है, कहीं बाहर से आया नहीं है । यत् ह जिस कारण निश्चय से स्वराज्यं अनु स्वराज्य के लिए अर्चन् साधना करता हुआ त्वं तू उस प्रसिद्ध मायिनं मायावाले मृगं दूसरे की वस्तु को छीननेवाले असुर का तं उ ऐसे असुर का भी मायया माया द्वारा ही अवधीः वध कर देता है ।

वैदिक विनय

* \$ \$ \$

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotr

२५ पौष

स्वादोरित्था विषुवतो मध्वः पित्रन्ति गौर्यः। या इन्द्रेण स्यावरीर्वृष्णा मर्दन्ति शोभसे वस्वीर्नु स्वराज्यंस् ।।

> -- ऋक्० शद्धा१०; सा० पू० **प्रा**शा३।१ —सा० उ० ३।२।१५; अथर्व० २०।१०६।१

ऋषिः गोतमो राहगणः । देवता इन्द्रः । छन्दः पङ्क्तिः ।

विनय-स्वराज्य में ही प्रजाओं को असली सुख मिलता है। स्वराज्य में ही प्रजायें अपना अधिक-से-अधिक विकास कर सकती हैं। जब अन्दर स्वराज्य स्थापित हो जाता है, जब इस शरीर-राज्य की बागडोर इन्द्र (आत्मा) के अपने हाथों में आ जाती है तब गौरियों को, इन्द्रिय आदि इन्द्र-प्रजाओं को जो अलौकिक दिव्यसुख मिलता है, उनकी जो अद्भुत शोभा, दीप्ति बढ़ती है उसका हम साधारण लोग इस समय अनुमान भी नहीं कर सकते। क्योंकि, हमारे अन्दर या तो आत्मिक अराजकता फैली हुई है या किसी असूर का विदेशी शासन चल है; स्वराज्य नहीं है। इसलिए हमारे अन्दर तो ये गौरियाँ इस समय विषयरूपी मदिरा का ही पान कर रही हैं और इन नशीले आत्मघातक 'सुख' को ही सुख समझ रही हैं। इन्हें उस दिव्य सोमरस के पान का सुख अभी कैसे मिल सकता है जो आत्मराज्य हुए बिना नसीब नहीं होता ? हाँ, जहाँ कहीं यह वृषा आत्मा फिर अपने 'स्व'-राज्य को सँभाल लेता है, वहाँ की अवस्था बिलकुल पलट जाती है। वहाँ ये इन्द्रियाँ स्वराज्य के अनुकूल चलनेवाली संयमयुक्त हो जाती हैं। ये वसुरूप, स्वराज्य की सम्पत्तिरूप या स्वराज्य की सज्जी वासिनी हो जाती हैं। ेये अपनी प्रदीप्ति के लिए बलवान् इन्द्र के साथ चलनेवाली हो जाती हैं। इन्द्र के साहचर्य से संचमुच इनकी शोभा, दीप्ति, अकल्पनीय प्रकार से बढ़ जाती है। प्रातिभ श्रावण वेदन आदि सिद्धियों तथा नाना अन्य अद्भुत शक्तियों के रूप में ये अत्यन्त शोभित और प्रदीप्त हो जाती हैं। उस समय ये गौरियाँ स्वाधीनता को पाकर इन्द्र के साथ में अत्यन्त आनन्द प्राप्त करती हैं। तभी इन्हें उस 'मधु का, उस मोक्ष-सुख का, उस सोम का' पान प्राप्त होता है जो स्वादु है, ब्रह्मानन्द के रस से रसीला है, दिव्य माधुर्य से भरा है और जो व्यापक है, सबके लिए समान है, भौतिक सुख की तरह एकदेशी और सापेक्ष नहीं है, अतएव विषय-मदिरा की तरह नशीला भी नहीं है। यही सच्चा सोमरस का पान है जिसे आत्मवश्य इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। यही असली भोग है, 'शुद्ध भोग' है, अविद्या आदि क्लेशमलों से सर्वथा रहित निर्मल भोग है जिसको मुक्ता-वस्था में आत्मशक्त-रूप गौरियाँ उपभोग करती हैं। ओह ! हम बद्ध पुरुष तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि "शुद्ध भोग" भी कोई वस्तु हो सकती है।

शब्दार्थ — वे गौर्यः प्रकाशमान इन्द्रियां या आत्मशक्तियां इत्था इस प्रकार से स्वादोः स्वादु, ब्रह्मानन्द-रस से रसीले विष्वतः व्यापक मध्वः सोमरस का, शुद्ध भोग का, मोक्ष-सुख का पिबन्ति पान करती हैं याः जो स्वराज्यं अनु स्वराज्य का अनुसरण करनेवाली होकर वस्वीः वसुरूप या वासिनी होकर और शोभसे अपनी शोभा व दीप्ति के लिए वृष्णा बलवान् इन्द्रेण आत्मा से सयावरीः साथ मिलकर चलनेवाली होकर मदन्ति आनन्दयुक्त होती हैं।

338

Wienis cha

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६ पौष

यच्चिद्धि संत्य सोमपा अनाशस्ता ईव स्मिसं। त्रा तू नं इन्द्र शंसय गोष्त्रश्रवेषु शुभ्रिषुं सहस्रेषु तुवीमघ ॥

—ऋक्० १।२६।१; अथर्व० २०।७४।१

ऋषिः शुनःशेपः आजीर्गातः । देवता इन्द्रः । छन्दः पङ्क्तिः ।

विनय यद्यपि हम बुरे हैं, अप्रशस्त हैं, तो भी हे इन्द्र ! तुम हमें श्रेष्ठ बना दो, प्रशस्त बना दो। तेरे भक्त होकर हम बिलकुल गये-वीते तो नहीं हो सकते, तो भी हममें जो बुराइयाँ-सी हैं उन्हें तुम अपनी दया से दूर कर दो। तुम्हारी दया पाकर हम प्रशस्त न बन सकेंगे तो हम और प्रशस्त कैसे बनेंगे ? हे सत्यस्वरूप ! हे सोमपान करनेवाले ! तुम अपनी सत्यमयता द्वारा, अपने सोमपान के गुण द्वारा हमें प्रशस्त कर दो। इस संसार में भौतिक साधारण प्रशस्तता भौतिक सम्पत्तियों द्वारा होती है, इसलिए हे बहुत ऐश्वर्यवाले ! तुम हमें गौओं और अरवों के दान द्वारा और इन गौओं और अरवों के शोभन प्रकार के तथा बहुत संख्या में दान द्वारा प्रशस्त बना दो। हम लोगों में बड़ी सुन्दर-सुन्दर गौएँ और अश्व हों तथा ऐसी सहस्रों गौएँ और अश्व हों। पर ये बाहर की गौएँ और अश्व निरर्थक हैं, भारभूत हैं और हमें परा-धीन करनेवाले हैं जब तक कि हम लोग अन्दर की असली गौओं और अक्वों में प्रशस्त न हों। हमें वास्तव में प्रशस्त बनानेवाली जो असली गौएँ हैं वे तो वाणी आदि इन्द्रियाँ हैं, आत्म-शवितयाँ हैं; और जो असली अरव हैं वे वीर्य आदि हैं, आत्मतेज हैं। ये ही हमारे अपने गौ और अरव हैं। हे तुवीमघ ! तुम अपने सत्य द्वारा हमारी वाणी आदि इन्द्रियों को श्रेष्ठ, सुन्दर और शुभ्रि बनाओं तथा ऐसी क्रुपा करो कि ऐसी सुन्दर आत्मशक्तियाँ हममें सहस्रों प्रकार से प्रकट हों, तुम अपने सोमपान के गुण द्वारा हमारे वीर्य आदि बलों को उत्तम, तेजस्वी और शोभन बनाओ तथा ऐसी कृपा करों कि ये आत्मतेज हममें हजारों प्रकार से चमके। हे इन्द्र! इस प्रकार तुम हम अप्रशस्तों को प्रशस्त कर दो, गौओं और अश्वों द्वारा प्रशस्त कर दो।

शब्दार्थ-सत्य हे सत्यस्वरूप ! सोमपाः हे सोमपान करनेवाले ! यत् चित् हि यद्यपि हम अनाशस्ताः इव अप्रशस्त-से, ब्रे-से स्मिस हैं तु तो भी तुवीमघ हे बहुत ऐश्वयंवाले ! इन्द्र इन्द्र ! तूनः हमें शुश्चिषु शोभन, श्रेष्ठ सहस्रेषु हजारों प्रकार के गोषु गौओं में अरवेषु तथा अश्वों में आ शंसय प्रशस्त नर दें।

33%

5 9 1 2 4 1 2 CU CU CE

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२७ पौष

ससन्तु त्या त्ररात<u>यो</u> बोधंन्तु शूर रातयं:। त्रा तू नं इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभिषुं सहस्रेषु तुवीमघ।।

—ऋक्० १।२६।४; अथर्व० २०।७४।४

ऋषिः शुनःशेपः आजीगितः । देवता इन्द्रः । छन्दः पङ्कितः ।

विनय हम अप्रशस्त इसीलिए हैं चूँ कि हममें बुरी वृत्तियाँ जाग रही हैं और अच्छी वृत्तियाँ सो रही हैं। हे शूर इन्द्र! तुम अपने पराक्रम से इस क्रम को जलटा दो। ऐसी कृपा करो कि हममें अदान की बुरी वृत्तियाँ सो जायँ और दान की शुभ वृत्तियाँ जाग जायँ। हममें अदान की, कंजूसी की, स्वार्थ की, हिंसा की आसुरी वृत्तियाँ प्रसुप्त हो जायँ और दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जायँ, तथा दान की, उदारता की, यज्ञ की, प्रेम की देवी वृत्तियाँ जाग जायँ और पूर्ण रूप में विकसित हो जायँ। ये अरातियाँ, ये स्वार्थादि की क्लिंड वृत्तियाँ ही हैं जो हमें बुरी, अप्रशस्त बना रही हैं, अतः ये ही हमारी शत्र हैं। हमारे बन्धु तो वे यज्ञ आदि की वृत्तियाँ हैं जो हमें शोभन बनाती हैं और हमें ऊँचा उठाती हैं। इसलिए हे शूर! तुम ऐसी लड़ाई लड़ो कि हमारे ये सब स्वार्थीद शत्र अब इस हृदय की रणभूमि में सदा के लिए सो जायँ, और वे यज्ञादि बन्धु इस हृदय-मन्दिर में सदा जागनेवाले हो जायँ। जब ऐसा हो जायगा तो हममें अशोभन गौएँ तथा अशुभ अक्षव नहीं रहेंगे, किन्तु हममें श्रेंड्ठ ही आत्म-शक्तियाँ तथा श्रेंड्ठ ही वीर्य प्रकट होंगे तथा सहस्रों प्रकार से प्रकट होंगे। इस तरह हे तुवीमघ! तुम हमें अब प्रशस्त कर दो, श्रेंड्ठ गौओं तथा श्रुंध्न अक्षों द्वारा प्रशस्त कर दो।

शब्दार्थ -- शूर हे शूर ! त्याः वे अरातयः अदान-वृत्तियाँ, शत्रु ससन्तु सो जायँ तथा रातयः दानवृत्तियाँ, बन्धु बोधन्तु जाग जायँ। तु इस प्रकार तुवीमघ हे बहुत ऐश्वर्यवाले इन्द्र ! तू नः हमें शुश्चिषु शोभन, श्रेष्ठ सहस्रेषु हजारों प्रकार की गोषु गौओं में अश्वेषु तथा अश्वों में आ शंसय प्रशस्त कर दे।

月早長

CICILI (14-815)

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२८ पोष

निकर्देवा मिनीमसि निकरा यौपयामसि, मंत्रश्रुत्यं चरामसि । प्रक्षेत्रिरपिक्षेत्रिरत्राभि सं रंभामहे ॥

—ऋक्० १०।१३४।७; सा० पू० २६२।६।२ ऋषिः गोधा। देवता इन्द्रः। छन्दः पङ्गितः।

विनय हे देवो ! वेदोक्त देवो ! हमने इस संसार में वेदमंत्रों की शरण ले ली है। हम समझ गये हैं कि मंत्रों के मनन करने से, वेदज्ञान पा लेने से, हम भवसागर से तर जायेंगे। इस-लिए हम अब वेद के अनुसार चलते हैं, वेदानुकूल ही आचरण करते हैं; मंत्रों से जो कुछ सुनते हैं, मंत्र के मनन से जो उपदेश ग्रहण करते हैं, ठीक उसी के अनुसार अपना आचरण करते हैं। न तो हम किसी की हिंसा करते हैं और न ही किसी को विमोहित करते हैं। क्रोध, द्वेष आदि के वश होकर हम न तो किसी भाई का हिंसन करते हैं, न किसी को दु:ख पहुँचाते हैं और न किसी भाई को लुभा-ललचा कर, मोहित करके कोई अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। जो द्वेषराग-ग्रस्त मलिनमन लोग हिंसा करने तथा धोखा देने में प्रवृत्त होते हैं वे तो पवित्र वेदमंत्रों के अध्ययन के अधिकारी ही नहीं होते, वे वेद के आशय को समझ ही नहीं सकते, और, हे देवो ! वे तुम्हें जान ही नहीं सकते । इसलिए हमने तो हिंसन और विमोहन के कीचड़ से सर्वथा निकलकर अब वेदमंत्रों की पावन शरण ले ली है। इस प्रकार, हे देवो ! हमने तुम्हारे महान् अवलम्बन को ग्रहण कर लिया है। हमने अपने दोनों पाश्वों से तुम्हारा सहारा ले लिया है और अपने दोनों बाहुओं से भी तुम्हारा आश्रय पकड़ लिया है। मानो हिंसा के त्याग द्वारा हमने 'पक्षों' से तुम्हारा सहारा ले लिया है, तो विमोहन के त्याग द्वारा हमने "अपिकक्षों" से भी तुम्हारा अवलम्बन पा लिया है। इस प्रकार पूरी तरह तुम्हारा आंचल पकड़े हम ठीक ही रास्ते जायेंगे, पुरुषार्थं को पा जायेंगे, मनुष्य-जन्म सफल कर जायेंगे।

शब्दार्थ — देवा: हे देवो ! हम निकः न तो मिनीमिस हिंसा करते हैं आ और निकः ना ही कभी योपयामिस विमोहन करते हैं, हम मंत्रश्रुत्यं मंत्र-श्रुत्ति के अनुसार ही चरामिस आच-रण करते हैं। इस प्रकार हमने अब इस संसार में पक्षेमिः अपने पाश्वों द्वारा अपिकवेभिः और अपने बाहुओं द्वारा तुम्हें अभि संरभामहे सब तरह से अवलम्बन कर लिग्ना है।

बैदिक विनय

वश्य

त महान है

Digitize by Arya Samar Foundation Chemnar and eGangotin

२६ पौष

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिल्लोकाऽ श्रिध श्रिताः। यऽईशे महतो महाँस्तेने गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्।।

HERELT OF OFF CONTROS OF

-यजुः० २०।३२

ऋषिः कौण्डिन्यः । देवता परमात्मा । छन्दः पङ्क्तिः ।

बिनय में तेरे रूप को देख रहा हूँ, तेरे एक महान् रूप को देख रहा हूँ। हे परमात्मन् ! इसी रूप में तुझ परमात्मा को में अपनी आत्मा में ग्रहण कर लेना चाहता हूँ। तू वह है जो सब भूतों का अधिपति है, सकल चराचर प्राणिमात्र का अधिष्ठाता और परिपालक है; तू वह है जिसके आधार पर सब लोक स्थित हैं, जिसके अन्दर सब अनन्तों लोक और सब ब्रह्माण्ड आश्चित हैं, स्थान पा रहे हैं; और तू वह महान् है जो महत्-तत्त्व आदि से लेकर सब प्रकृति के विकारों का, आकाश आदि महान्-से-महान् पदार्थों का मालिक है, ईश्वर है। हे महान् ! उसी तेरे महत्व से, उसी तेरे स्वरूप द्वारा में तुझे ग्रहण करता हूँ। मुझमें (अपने में) मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। हां, मैं क्षुद्र तुझ इतने महान् को अपने में धारण करता हूँ। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि मैं तुझे तेरे ही उस महत्त्व द्वारा, तेरे ही उस ईश्वरत्व द्वारा धारण करता हूँ जिससे कि तू इतना महान् हुआ है, इतना ईश्वर हुआ है और '(मिय) मुझमें' धारण करते का भी तो यही अर्थ है कि तेरा होकर, तेरा बनकर मैं मुझमें (अपने में) तुझे धारण करता हूँ, आत्मा बनकर तुझ आत्मा का धारण करता हूँ। ओह ! इस प्रकार तुझे अपने में धारण कर के मैंने सब तेरा साम्राज्य, सब तेरा ब्रह्माण्ड अपने में धारण कर लिया है, सचमुच सब-कुछ अपने में धारण कर लिया है।

भी सम्हारा अवसम्बन पा निया है। यस प्रकार पूरी तरह सुम्हारा आंचन प्रकट हम ठोक हो

राहते जायरी, प्रवार्ध की या जावरी, सनुष्य-नन्म सरास कर जायरी।

शब्दार्थ यः जो भूतानां सब प्राणियों का अधिपतिः अधिष्ठाता और पित है यस्मिन् जिसमें लोकाः सब लोक अधिश्रिताः आश्रय पा रहे हैं और यः जो महान् महान् महतः सब महत् आदि महान् वस्तुओं का ईशे ईश्वर है, तेन उससे, उसके इस महत्त्व व ईश्वरत्व द्वारा अहं में त्वां तुझको गृह्णामि ग्रहण करता हूँ, धारण करता हूँ; मिय मुझमें, अपने में अहं मैं त्वां तुझको गृह्णामि धारण करता हूँ।

335

बैदिक विनय

माघ मास

trille

PIPILE BUILDING

राजा [मिट्टों] को बीटोए करनेपाल

ह्यांत्रण में गरे की जार रखन हुए राजा भी मृद्धिया नाम जानिय योग भागति को मान-प्राचित को कृत संधानिय । यम पर के जायहाँ के बन पर, अपने को जारा नेरक राहने को मांवते हुए सार्ट केरीर की यहाँ तक नीन फूक्ष के बास जन्मा सहें ने जाइने । फिर मार्ट-पीरे सोब सुद्ध सा में हुए सार्ट स्थानाम में अपने पैर के बुक्त पर ही सार्टा करीर सुना रहना

प्रकृतिहरू विधिक सर ती कारबे। बास वाले वहने हो, काती वाले उस ती हो।

'नर' लोगों ने सदा सत्य बोला है और वैसा ही किया है।

THE REPORT OF

इस कारों के लिए मांग

DIRECT AUTOR

माघ (मकर)

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

टखनों [गिट्टों] को नीरोग करनेवाला

पूर्व-निर्दिष्ट विधि से खड़े हो जाइये। हाथ नीचे लटके हों, छाती आगे उभरी हो। हथेलियाँ शरीर की ओर रखते हुए हाथों की मुट्ठियाँ बाँध लीजिये और भुजाओं की मांस-पेशियों को कस लीजिये। अब पैर के अंगूठों के बल पर अपने को खड़ा करके घुटने को मोड़ते हुए सारे शरीर को जहाँ तक नीचे फ़र्श के पास ले-जा सकें ले जाइये। फिर धीरे-धीरे सीधे खड़े हो जाइये। इस सारे व्यायाम में अपने पैर के अंगूठों पर ही सारा शरीर तुला रहना चाहिये और एड़ियाँ फ़र्श से न छूनी चाहियें। जब अपना शरीर नीचे ले-जा रहे हों तो गहरा क्वास अन्दर भरिये और जब खड़े हो रहे हों तो गहरा क्वास बाहर निकालिये।

अपना मन टखनों, गुल्फों (गिट्टों) पर रखिये।

ध्यान—ध्यान कीजिये कि "मेरी टाँगें मजबूत हैं। मुझमें चलने का अपार सामर्थ्य है। मैं पूर्ण स्वस्थ हो रहा हुँ, """।

इन अंगों के लिए गौणतया वैशाख, श्रावण और कार्तिक मास के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

ा है सामने कि 18 है।

शिशिर की ऋतुचर्या

I fine to fine the state of the state of the

लक्षण—पूर्ण जाड़े की ऋतु के बाद जब जाड़ा कुछ कम होने लगता है, शीत ढिलने लगता है पर इतना कम नहीं होता कि समता (वसन्त) का मौसम आ जाय, उसका नाम शिशिर है। इसे पतझड़ भी कहते हैं, क्योंकि इस समय पत्तों को शीर्ण करनेवाली वायु चलने-लगती है। प्रायः इसके महीने माघ और फाल्गुन हैं।

महिमा—शिशिर में सूर्य भगवान् उत्तरायण हो जाते हैं। उत्तरायण वह दिव्य प्रशस्त-काल है जिसमें शरीर त्यागने के लिए भीष्मिपताभह जैसे महापुरुष छः महीने प्रतीक्षा करते रहे थे। यह ज्ञानियों को मुक्ति प्रदान करनेवाला ज्योतिर्मय-काल शिशिर में प्रारम्भ होता है। इसमें अति शीत की सब तंगियाँ हट जाती हैं। सह्य अच्छा शीत पड़ता है। जो शीत पड़ता है वह वायु का शीत होता है, तीखा कठोर शीत समाप्त हो जाता है। इसमें चलनेवाली वायु से वृक्ष-वनस्पतियों के पुराने पत्ते-फल आदि झड़ने लगते हैं और वे वसन्त के नये अंकुर पाने के लिए तैयार हो जाते हैं।

गुण-शिशिर ऋतु शीतल, अत्यन्त रूक्ष, वायु और अग्नि को बढ़ानेवाला है।

पथ्यापथ्य—इसमें हेमन्त जैसा ही व्यवहार करना चाहिये। भेद यह है कि हेमन्त सिनग्ध होती है, परन्तु यह शिशिर आदानकाल आ जाने से अतिरूक्ष होती है तथा वातकारक होती है। इसलिए भोजनाच्छादन में वातवृद्धि से बचने का ध्यान रखना चाहिये। वात, पित्त, कफ किस-किस ऋतु में संचित, कुपित व शान्त होते हैं, इसके लिए निम्नलिखित तालिका देखिये—

दोष	संचित	कुपित	शान्त
वात	ग्रीष्म में	वर्षा में	शरद् में
पित्त	वर्षा में	शरद् में	हेमन्त में
कफ	शिशिर में	वसन्त में	ग्रीष्म में

एवं शिशिर में कफ संचित होता है। यह संचित कफ इस ऋतु की शीतलता के साथ-साथ शुष्कता के कारण इस समय तो कुपित नहीं होता, पर वसन्त में जाकर कुपित होता है। अतः इस ऋतु में स्निग्ध पदार्थों का अतिसेवन भी छोड़ देना चाहिये जिससे कफ अधिक संचित च हो सके।

कहावत के अनुसार माघ में मिश्री तथा फाल्गुन में चना नहीं खाना चाहिये।

3.85

प्रमा। मुक्त क्लाइ ख्यादिया है अन्या

१ मांघे

मू<u>षो</u> न शिश्ना व्यद्नित माध्यः स्तोतारं ते शतकतो । सकृत् सुनौ मधवन्निन्द्र मृ<u>ळ</u>याऽधौ पितेवं नो भव ॥

--ऋक्० १०।३३।३

ऋषिः कवष ऐलूषः । देवता इन्द्रः । छन्दः सतो बृहती ।

विनय-मैं तेरा स्तोता हूँ, तेरा सन्ध्या-वन्दन करनेवाला हूँ, तेरा हवन-पूजन करने-वाला हूँ। तो भी, हे शतऋतो ! मुझे ये आधियाँ, ये मानसिक पीड़ायें खाये जा रही हैं। जैसे पान चढ़ाये गये, आटे से स्नान कराये गये सूत को चूहे काटने लगते हैं, सब तरफ से चिपटकर खाने लगते हैं, उसी तरह ये मानसिक पीड़ायें मुझे नाना तरह से सता रही हैं, खाये जा रही हैं। अपूर्ण रहती हुई मेरी अनगिनत कामनायें मुझे काट रही हैं, काम-क्रोध-लोभ मुझमें उछल रहे हैं, राग-द्वेष मुझे पीड़ित कर रहे हैं, नाना मोह मुझे दबा रहे हैं, भयंकर भय मुझे व्यथित कर रहे हैं, मद-मत्सर मुझे मार रहे हैं, विविध चिन्तायें मुझे जला रही हैं, इस प्रकार अनिगनत आधियाँ मुझपर सब तरफ से चढ़ रही हैं, मुझे पल-पल में व्याकुल कर रही हैं। हे प्रभो ! मैं कब तक इनका भक्ष्य बना रहूँगा? कब तक इस तरह बेचैन बना रहूँगा? इनसे मेरी कौन रक्षा करेगा ? तेरे स्तोता की और कौन रक्षा करेगा ? हे मघवन् ! तुम्हीं मुझे एक बार अच्छी तरह सुखी कर दो। इन आधियों को हटाकर, इन मूषकों को भगाकर मुझे सुखी कर दो और पिता की तरह मेरे पालक हो जाओ। तेरे सिवाय इस दुनिया में मेरा रक्षक कौन है ? मेरा पिता कौन है ? इसलिए हे इन्द्र ! तुम्हीं मुझ स्तोता के, मुझ पुत्र के पिता होओ, रक्षक होओ। पिता की तरह मुझे अब ऊपर अपनी गोद में उठा लो। मुझे अपनी उस शान्त, निरुपद्रव, सुरक्षित शरण में उठा लो जहाँ कभी इन मूषकों की गति नहीं है। क्ष किस-किस ऋत में रंजित.

शब्दार्थ — शतकतो है बहुत कर्मवाले ! ते तेरे स्तोतारं स्तोता होते हुए भी मा मुझको आध्यः मानसिक पीड़ायें वि अदिन्त विविध प्रकार से खा रही हैं मूषो न जैसे चूहे शिश्ना आटे से स्नान कराये गए, पान किये हुए सूत को खाते हैं। मधवन् हे ऐश्वर्यवाले ! इन्द्र हे इन्द्र ! तू नः हमें सकृत् एक बार सु अच्छी तरह मृष्डय सुखी कर दे, अध और नः हमारा पिता इव पिता की तरह रक्षक भव हो जा।

E mark

385

वैदिक विनय

TOFF

२ माघ

व्यं घो ते त्वे इद्विन्ट्र विमा ऋपि ष्मसि । निहि त्वदन्यः पुंरुहूत कश्चन मर्धवृत्रस्ति मर्डिता ॥

-ऋक् दाइइ।१३

ऋषिः कलिः प्रागाथः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराड् बृहती ।

विनय हे परमेश्वर ! हम तेरे हैं, निश्चय से तेरे हैं। हम सोच-समझकर तेरे हो चुके हैं, अपने-आपको तुझे समर्पित कर चुके हैं और अब तुझमें ही रहना चाहते हैं, तुझमें ही अपना सव आत्मविकास पाना चाहते हैं। ज्ञानी, विप्र भी हम तुझमें, तेरे आश्रय से ही होना चाहते हैं। वह ज्ञान तो नहीं है, निरा अज्ञान है, जो तेरे आश्रय से नहीं उत्पन्न हुआ है। ऐसी विप्रता को, ऐसी पण्डिताई को हम क्या करेंगे, जो हमें तुझसे दूर करनेवाली हो ? उससे तो मूर्खता भली है। हमें पण्डित कहलाने की, ब्राह्मण कहलाने की, विद्वान् कहलाने की जरा भी इच्छा नहीं है, यदि यह तुझसे दूर हटने से मिलती हो। हम तो संसार के हरेक ज्ञान में, हरेक कमें में, हरेक बात में पहले यह देख लेते हैं कि उसमें तेरा अवलम्बन है कि नहीं। जिसमें तेरा अव-लम्बन, तेरा निवास नहीं होता उससे कुछ भी मतलब नहीं रहता, फिर वह वस्तु इस संसार में चाहे बड़े-से-बड़ा पाण्डित्य हो, बड़े-से-बड़ा धन हो, बड़ी-से-बड़ी सेना हो, बड़े-से-बड़ा साम्राज्य हो। हमारे लिए वह सब निस्सार है। क्योंकि, हमने खूब अच्छी तरह जान लिया है कि इस संसार में तेरे सिवाय और कहीं सुख नहीं है, तेरे सिवाय इस संसार में और कोई सख देनेवाला नहीं है, दे सकनेवाला ही नहीं है। हमने संसार की एक-एक वस्तु को परख-परखकर देख लिया है कि कहीं भी सुख नहीं है जहाँ कि तू नहीं है। तो हे पुरुहत ! हे सदा सबसे बहुत बार पुकारे गये प्रभो ! तुझे छोड़कर हम और कहाँ जायँ ? हम तो इसलिए हे मघवन ! तेरे होकर शान्त हो गये हैं। तेरे हो गये हैं, पूरी तरह तेरे हो गये हैं। I In Court of the American

शब्दार्थ — इन्द्र हे परमेश्वर ! वयं हम घ निश्चय से ते तेरे हैं, और त्वे मुझमें, तेरे आश्रय से इत् उ ही हम विप्राः ज्ञानी, विप्र अपि भी स्मिस होवें। पुरुह्त हे बहुतों से पुकारे गये ! मघवन् हे ऐश्वर्यवाले ! त्वत् तुझसे अन्यः अन्य कश्चन कोई मिडता सुख देनेवाला हि निश्चय से न नहीं अस्ति है।

वैदिक विनय

\$8\$.

त्म भानना ही

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennar and eGangoth

३ माघ

यद् चार्व इन्द्र ते शतं, शतं भूमीकृत स्युः। न त्वां विजिन सहस्रं सूर्यो अनु न जातमेष्ट रोदंसी।।

—ऋक् व दाउ । प्रः साव पूर्व ३।२।६।६; साव उर्व २।२।११; —अथर्व २०।६१।१; २०।६२।२०

ऋषिः पुरूहन्मा आङ्गिरसः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराड् बृहती ।

विनय-परमेश्वर ! यह जो विशाल द्यौ दीख रहा है, यदि ऐसे-ऐसे सैकड़ों चुलोक उत्पन्न हो जायँ, ऐसे-ऐसे सैकड़ों आकाश उत्पन्न हो जायँ, तो भी वे तेरी अनन्तता को नहीं पहुँच सकते । यह विस्तृत पृथिवी ही नहीं, किन्तु यदि ऐसी-ऐसी सैकड़ों पृथिवियाँ एकत्रित कर दी जायें, तो भी वे तेरे विस्तार को नहीं व्याप सकतीं। यह जीवों से भरी भूमि ही नहीं, किन्त यदि ऐसी सैकड़ों भूमियाँ हो जायँ, तो भी उनके अनन्यों जीव मिलकर तेरे चैतन्य का पार नहीं पा सकते । हे विज्ञन ! हे अनन्त सामर्थ्य ! वह एक जाज्वल्यमान सूर्य तो क्या, ऐसे सहस्रों सूर्य, ऐसे अनन्तों सूर्य मिलकर चमकें, एक बार इकट्ठे होकर चमकें, तो भी वे तेरी ज्योति की बरा-बरी नहीं कर सकते, तेरे परम प्रकाश को नहीं पा सकते। यह जो उत्पन्न संसार चल रहा है, ऐसे-ऐसे हजारों, बल्कि अनन्तों संसार, एक के बाद एक उत्पन्न हो-होकर समाप्त होते जायेंगे, परन्तू वे तेरी आयु को अनन्तकाल में भी नहीं माप सकेंगे। और यह रोदसी, यह द्यावापृथिवी, यह जमीन और आसमान, यह ब्रह्माण्ड और ऐसे-ऐसे हजारों-लाखों ब्रह्माण्ड भी तेरी विशालता की, तेरी गंभीरता की कभी थाह नहीं लगा सकेंगे। तो हे इन्द्र! हम भला क्षुद्रातिक्षुद्र जीव तुझे अपने तुच्छ ज्ञान से कहाँ व्याप्त कर सकते हैं ? तेरी कल्पना करने में ही हमारी तो सब विचारशक्ति कुंठित हो जाती है, हमारो बुद्धि चुप हो जाती है। हम इतना ही कह सकते हैं— "तुम अनन्त हो, तुम अनन्त हो, हे प्रभो ! तुम असीम हो, तुम असीम हो, तुम कल्पना के भी अगोचर हो, अगोचर हो।"

शब्दार्थ — इन्द्र परमेश्वर ! यत् यदि ते तेरे शतं सौ द्यावः द्युलोक हों उत और यदि शतं सौ भूमीः भूमियां स्युः हों [तो भी वे तेरा प्रतिमान नहीं कर सकते] विज्ञन् हे अनन्त सामर्थ्यं ! सहस्रं हजारों, अनन्तों सूर्याः सूर्यं त्वा तुझें न नहीं व्याप्त कर सकते और जातं यह उत्पन्न हुआ संसार रोदसी ये विशाल द्यावापृथिवी, ये जमीन-आसमान सहस्रों होकर भी न अनु अष्ट तुझें महीं व्याप्त कर सकते, तेरी अनन्तता को नहीं पहुँच सकते।

388

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४ साघ

न <u>पा</u>पासौ मनामहे नारांपासो न जल्हेवः। यदिनिवन्द्रं वृषंणं सर्चां सुते सर्वांयं कृणवांमहे,॥

-ऋक्० दाइशा११

ऋषिः भगः प्रागाथः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृद् बृहती ।

विनय-देखो, हमने 'वृषण' इन्द्र को अपना सखा बना लिया है, वलवान् सर्वशंवित-मान् इन्द्र को, सब कामनाओं के बरसानेवाले इन्द्र को अपना सखा बना लिया है। हमने उसे अपना ऐसा सखा बना लिया है कि अपने हरिकी त्तांनों में, अपने सम्मिलित ध्यानों में, अपने यज्ञ-कर्मों में, अपने सोमाभिषव के सव अवसरों में हम इकट्ठे होकर, तन्मय होकर सदा उसकी मित्रता का अनुभव करते हैं। क्या तुम पूछते हो कि हमने उससे ऐसा संख्य कैसे प्राप्त कर लिया है ? इसका कारण यह है कि हम कभी पापी होकर उसको नहीं मानते, न उसकी उपासना करते हैं। अपने को परमेश्वर का माननेवाला कहना और साथ ही पाप करना, ब्रह्मचर्य, आदि नियमों का भंग करना, यह कितनी लाञ्छनीय बात है! हम तो निष्पाप होकर ही परमेश्वर की उपासना करते हैं। और फिर कभी हम दानहीन होकर भी परमेश्वर का भजन नहीं करते । अनुदार होना या आत्मत्याग से डरना और परमेंश्वर की राह चलना, ये विलकुल उलटी बातें हैं। अतः हम तो सर्वस्व त्यागते हुए, अपने को भी समर्पण करते हुए ही प्रभु का भजन करते हैं। इसी तरह ज्वलन-रहित होकर भी हम कभी इन्द्र का आराधन नहीं करते। जो अग्न्याधान नहीं करता, अपने को प्रज्वलित नहीं करता, उसकी स्तुति-प्रार्थनायें निष्फल होती हैं, वे इन्द्र तक नहीं पहुँचतीं, वे उसे परमेश्वर से जोड़नेवाली नहीं होतीं। इसलिए हम अग्निचर्या करते हुए अपने को संप्रदीप्त करके ही इन्द्र के आराधन में बैठते हैं। ये ही तीन कारण हैं जिनसे हमने इन्द्र के हृदय को हर लिया है। ओह! वे इन्द्र तो हम सब मनुष्यों को इकट्ठा अपना मित्र बना सकते हैं और बनाने को उद्यत हैं, और उन-जैसा सर्वशक्तिमान्, सब कामनाओं का पूरक मित्र और कौन हो सकता है ? पर यह तभी है, यदि हम पापी न होकर, अदानी न होकर और अनिन न होकर उनके पास पहुँचें, यदि हम निष्पाप, उदार और प्रज्वलित होकर अपनी मित्रता का हाथ आगे बढ़ायें, यदि हम इन तीन गुणों को धारण करके उनके सख्य के पात्र हो जायँ।

शब्दार्थ हम न न तो पापासः पापी होकर, न न अरायासः अदानी होकर न और न जल्हवः अप्रज्वलित होकर मनामहे इन्द्र को मानते हैं, उनकी उपासना करते हैं। यत इत् जिस कारण से ही हम न अब वृषणं बलवान, कामों के वर्षक इन्द्रं परमेश्वर को सुते अपने यश-कर्मों में सचा सम्मिलित होकर, तन्मय होकर सखायं कृणवामहे सखा कर लेते हैं, मित्र बना लेते हैं।

इस्यका की वध

५ माघ

अकर्मा दस्युर्भि नौ अमुन्तुर्न्यन्ते अमीतुषः। त्वं तस्यामित्रहन् वर्धद्वीसस्य दम्भय।।

─ऋक्० १०।२२। द

ऋषिः विमदः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृद् बृहती ।

बिनय है परमेश्वर ! तेरा अमित्र, तेरा शत्रु कौन हो सकता है ? और तेरा शत्रु होकर कोई इस तेरे संसार में कैसे रह सकता है ? नहीं, मनुष्य तो इतना गिरता है कि वह तेरा शत्रु भी बनता है। वह तेरा शत्रु तब होता है जब तेरे संसार से शत्रुता करता है, जब वह संसार का उपक्षय करनेवाला 'दस्यु' बनता है। 'दस्यु' वह मनुष्य होता है जो अकर्मा होता है, जो कमंहीन होता है, जो बिना कमं किये जीना चाहता है, बिना श्रम किये खाना चाहता है, बिना यज्ञ किये भोगना चाहता है। ऐसा मनुष्य अपने इस अकर्म द्वारा जगत् का उपक्षय करता है, इसीलिए वह 'दस्यु' व 'दास' कहलाता है। ऐसा दस्यु 'अमन्तु' - अमननशील होता है। यदि बहु मनन करने लगे तब तो वह कभी अकर्मा व दस्यु न रहे। पर वह तो अन्यवत होता है, कुछ अन्य ही प्रकार के उलटे व्रत लिये होता है। वह मनन क्यों करेगा ? वह तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सच्चे वृतों से उलटा हिंसा, असत्य, स्तेय आदि के कर्मों को निःशंक होकर करता है। अतएव वह 'अमानुष', मनुष्यता से गिरा हुआ, नामधारी मनुष्य ही होता है। ऐसा मनुष्यत्वहीन मनुष्य तुझसे अमित्रता न करेगा तो और क्या करेगा? जब ऐसा दस्यु हमारे अभिमुख होता है, हमपर हमला करता है तो हे अमित्रहन् ! ऐसे दास के लिए, इस प्रकार जगत् के उपक्षय करनेवाले के लिए तू वधरूप हो जाता है, सहज स्वभाव से मृत्युरूप हो जाता है। है इन्द्र! तू सदा ही ऐसे दस्युओं का दमन करता रह, विनाश करता रह और इस प्रकार से संसार का रक्षण करता रह, पालन करता रह।

शब्दार्थ है इन्द्र! अकर्मी कर्महीन मनुष्य दस्युः दस्यु, उपक्षय करनेवाला होता है, यह मः हमारे अभि अभिमुख होता है, हमला करता है, अमन्तुः यह मनन न करनेवाला अन्यव्रतः अन्य उलटे व्रत व कर्मवाला अमानुषः और मनुष्यता से गिरा हुआ होता है। अभिव्र- हन् हे शबुनाषक ! तस्य उस बासस्य दस्यु का त्वं तू वधः वध, मत्यु होता है, दंभय तू उसका शास कर।

12 102 11 511

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ माघ

श्रमे ता तं इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुप्सपृत्तः। विद्यामः यासां भुजी धेनूनां न वंजिवः॥

न्द्रक् १०।२२।१३:

ऋषिः विमदः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचृदनुष्टुप् ।

विनय है प्रभो ! हम तुमसे शुभ ही प्रार्थनायें कर रहे हैं। हम तुमसे बो प्रार्थनायें कर रहे हैं व सर्वथा हिंसारहित हैं, वे किसी का अनिष्ट चाहनेवाली नहीं हैं, वे सदा सब-के-सब प्रकार से भले की ही कामना करनेवाली हैं और ये प्रार्थनायें हमारे सच्चे दिल से निकंली हैं, निर्मल अन्तः करण से निकंली हैं अतः ये अवश्य तुम्हें समीपता से स्पन्नं करनेवाली हैं, तुम्हारे ह्रव्य तक पहुँचनेवाली हैं। हे परमेश्वर ! हमारी ऐसी प्रार्थनाओं को तुम अवश्य सत्य करो, क्रियान्वित करो। जैसे दूध देनेवाली 'घ्रेनु' से गोस्वामी दूध आदि नाना भोगों को प्राप्त करता है, उसी तरह हमारी ये प्रार्थनायों घेनु होकर हमें भोगों से, अभीष्ट फलों से परिपूरित कर दें। अपनी इन प्रार्थनाओं से हम जो-जो किया व फलरूप भोग चाह रहे हैं उन्हें हम अवश्य प्राप्त कर लें। हे वज्यवाले ! हे शक्तिमय ! तुमसे की गईं और तुमसे हिसाहीन तथा हृदयस्पर्शी रूप से की गईं ये हमारी प्रार्थनायें कैसे निष्फल हो सकती हैं, कैसे असत्य व अपूर्ण रह सकती हैं?

शब्दार्थ इन्द्र हे परमेश्वर ! ते तेरे प्रति की गई ताः वे आहसन्तीः हिंसारहित, सबका भला चाहनेवाली उपस्पृशः तुझे समीपता से स्पर्श करनेवाली प्रार्थनायें अस्मे हमारे लिए सत्या सत्य सन्तु हो जायें; ऐसी हो जायें कि यासाः जिन प्रार्थनाओं के मुजः भोगों को, फलों को बिजवः हे वज्रवाले ! हम धेनूनां न दुहनेवाली गौओं के [भोगों] की तरह विद्याम प्राप्त करें।

वैदिक विनय

३४७

उसे वतपालक लेना

Digitized by Arya Samai Foundation Chennai and eGangotri

७ माध

त्वमंग्ने वतुपा श्रंसि देव श्रा मर्त्येष्वा। त्वं युक्केष्वीळचे:।।

—ऋक्० दा११।१; यजुः० ४।१६; अथर्व० १९।५९।१ ऋषिः वत्सः काण्वः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय है अगने ! तू वतों का पालन करनेवाला है, पूरी तरह सब सत्य नियमों का स्व-भावतः पालन करनेवाला है। तू ऐसा पूरा व्रतपालक है इसीलिए तू देव है, पूरा देव है और ऐसा देव हो कर तू हम मत्यं मनुष्यों में आया हुआ है, समाया हुआ है। तू पूर्ण व्रतपालक होकर हम मनुष्यों के अन्दर आकर बैठा हुआ है। हे आत्मन्! इस तरह तुझे अपने में पाकर भी यदि हम व्रतपालक न वन सके तो हम कितने अभागे हैं! तू तो हममें इसलिए आया हुआ है कि हम भी तुझ द्वारा व्रतपालक हो जाये, हम भी तेरे व्रतपालन के स्वभाव को अपने में पूरी तरह प्रति-विम्वत कर लेवें। जो तू सब यज्ञों में हमारा ईड्य हो रहा है, हमारे सब शरीरों में हमारे सब स्व क्यों में अग्निदेव होकर हमारा पूजनीय हो रहा है वह भी इसीलिए है कि हम तेरा यजन करते-करते व्रतपालक बन जायें, तुझ योग्य हिव प्रदान करते-करते 'व्रतपाः' अवस्था को पा जायें। हे अग्ने! आज हम तेरे 'व्रतपाः' स्व क्य को साक्षात् अनुभव कर रहे हैं और चाह रहे हैं कि हम भी इसी तरह अपने अहिसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पूरे पालन करनेवाले हो जायें। इसलिए, हे हमारे अग्ने! तू हमें भी 'व्रतपा' बना, अपने-जैसा पूरा और दृढ़ व्रतपालक बना।

शब्दार्थ अरने आत्मन् ! त्वं तू वतपाः वतपालक असि है, देवः तू देव है आ और मत्येषु हम मनुष्यों में आ समन्तात् है, समाया हुआ है। त्वं तू यशेषु यशों में ईडचः पूजनीय ह।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द माध

न <u>देवाना</u>मति वर्तं शतात्मी चन जीवति । तथी युजा वि वर्दते ॥

- ऋक्० १०।३३।६

ऋषिः कवय ऐलूषः । देवता उपमश्रवा मैसातिथिः । छन्दः गायती ।

विनय मनुष्यो ! देखो, देव लोग अपने व्रतपालन में बड़े कठोर हैं । इन देवों के नियम अटल हैं । ये किसी के लिए टल नहीं सकते । इन ईश्वरीय नियमों को तोड़ने का यत्न करना वड़ी मूर्खता है । इन्हें तोड़ने का यत्न करनेवाला टूट जायगा, पर ये नियम न तोड़े जा सकेंगे । इनका अतिक्रमण करके, इनका उल्लंघन करके 'शतात्मा' पुरुष भी नहीं बच सकता, सौ मनुष्यों की शक्ति रखनेवाला, शतगुणा वीर्य रखनेवाला मनुष्य भी जीवित नहीं रह सकता । उसे भी व्रत-भंग पर अपने बड़े-से-बड़े साथी से बलात् वियुक्त हो जाना पड़ता है । देव नियमों का भंग करने पर हमारे सब सम्बन्ध विच्छिन्त हो जाते हैं, हमारे सब जोड़ टूट जाते हैं । उस समय हमारी सहायता करना चाहता हुआ भी हमारा बलवान्-से-बलवान् जोड़ीदार, हमारा समर्थ-से-समर्थ साथी, हमारी सहायता नहीं कर सकता । उसके देखते-देखते हमें नियमभंग का कठोर दंड भोगना पड़ता है । वह भी हमें बचा नहीं सकता । इसलिए हे भाइयो ! हमें कभी मद में आकर, अपने किसी भी प्रकार के बल के घमंड में आकर, कभी भूलकर भी देवों के व्रतों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये, देवों के नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

शब्दार्थ — देवानां देवों के वतं अटल नियम को अति अतिक्रमण करके शतात्मा सौ मनुष्यों की शक्ति रखनेवाला, शतगुणा वीर्यवाला पुरुष चन भी न नहीं जीवित जीता, बचता। तथा और वैसे ही, वह युजा अपने साथी से, साथी की सहायता से विवव्ते वियुक्त हो जाता है।

वैदिक विनय

388

प्रमञ्जा मी मार्ग देना है

ं हे माघ

निह नु ते महिमनः समस्य न मंघवन् मघवन्सयं विद्यः। न राधंसो राधसो नूतंनस्येन्द्र निर्देशे इन्द्रियं ते।।

-ऋक्० ६।२७।३

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः तिष्दुप् ।

विनय हे परमेश्वर ! हम तेरी महिमां को कहाँ जान सकते हैं ? तू महान् है। तू ज्ञान में, कमें में, शक्ति में, परिमाण में, सब गुणों में अति महान है, बहुत-बहुत बड़ा है, यह हम प्राय: सदा ही अनुभव करते हैं और अपने इस अनुभव को मनुष्य-साथियों में नाना तरह से बखान भी करते रहते हैं। परन्तु हे प्रभो ! हम तेरी सम्पूर्ण महिमा को कैसे समझ सकते हैं ? हे मघवन ! हम तेरे मघवत्त्व को भी कहाँ जान सकते हैं ? हे ऐश्वर्यवाले ! हम तेरे ऐश्वर्यवत्त्व की, तेरे ऐश्वर्यों की थाह भी कहाँ पा सकते हैं ? संसार के कूछ ऐश्वर्यों को देखकर हम कल्पना करते हैं कि ऐसे ही कोई बड़े-बड़े दिव्य ऐश्वर्य भी होंगे, और कल्पना करते हैं कि इसी तरह सब स्थानों में, सब ब्रह्माण्डों में जो तेरे ऐश्वर्य बरस रहे हैं तथा सब कालों में, अनादि भूत और अनंत भविष्यत में, जो तेरे ऐश्वर्य फैले पड़े हैं-वे कितने अनन्त हैं, वे कितने अद्भृत हैं ! इसी प्रकार तेरे राधसों का, तेरी सिद्धियों का, तेरे सफलता दिलानेवाले सामध्यों का, तेरे इन साधक ऐश्वयों का अन्त भी हम मनुष्य कहाँ पा सकते हैं ? हम सोचते हैं तेरे 'राधस्' ऐसे हैं, तू इस प्रकार से सिद्धि प्राप्त कराता है, परन्तू तु तो अपने कभी समाप्त न होनेवाले अद्भत नये-से-नये राधसों को, साधक सामथ्यों को, निकालता ही चला जाता है और दुनिया को आश्चर्य-चिकत करता रहता है। सचमूच, हे इन्द्र! हम तेरे इन्द्रिय को, तेरे इन्द्रपन को नहीं पा सकते, नहीं समझ सकते। तेरी इन्द्रियशक्ति गम्भीर है, बड़ी गम्भीर है। हम जैसे अपनी इन्द्रियों से काम करते हैं, वैसे तेरी कोई इन्द्रिय दृष्टिगोचर होती नहीं, तो भी तू न जाने कैसे इन सब ब्रह्माण्डों को हिला रहा है, प्रत्येक वस्तु में अन्तर्गामी होकर किस अद्भुतता से उसे ठीक-ठीक चला रहा है ! ओह ! इन्द्रं ! तेरी शक्ति असीम है, तेरा राधस अगाध है, तेरा ऐक्वर्य अनन्त है, तेरी महिमा अपार है !

शब्दार्थ — ते तेरी समस्य समस्त महिमनः महिमा को नु निःसन्देह निह हम नहीं विचः जान सकते, मघवन् हे ऐरवर्यवाले ! मघवत्त्वस्य तेरी ऐरवर्यमत्ता को भी न हम नहीं समझ सकते । और तेरे नूतनस्य नये-से-नये राधसो राधसः एक-एक राधस को, साधक ऐरवर्य को न हम नहीं जान सकते तथा इन्द्र हे इन्द्र ! ते तेरी इन्द्रियं इन्द्र-शक्ति, तेरा इन्द्रपना न किः नहीं ववृशे देखा जा सकता ।

340

गरायना द्वा द्वारा है या दिन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१० माघ

स नः पिनः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुह्तः। इन्द्रो विश्वा अति द्विषः॥

--ऋक्० दाश्दाश्श

ऋषिः इरिबिठिः काण्वः । देवतां इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय — वे 'पिप्र' परमेश्वर और वे 'पुरुहूत' परमेश्वर हमें भी पार लगावें। हम उन प्रभु का स्मरण कर रहे हैं जो पूरण करनेवाले हैं, किमयों को भरपूर कर देनेवाले हैं, और उन प्रभु को पुकार रहे हैं जिन्हें सन्त लोग सदा पुकारते रहे हैं और जिन्हें सभी लोग समय-समय पर पुकारते रहते हैं। वे ही प्रभु हमें इस द्वेष-सागर से पार लगायें। हमने बहुत द्वेष किया है और बहुत द्वेष पाया है। बहुतों से भन्नता की है और बहुतों को भन्न बहुत द्वेष किया है हमें इस समय सब जगह अपने द्वेषी नजर आते हैं, सब जगह अपने भन्न-ही-भन्न दिखाई देते हैं। हम इनसे कैसे पार उतरें? यह और कुछ नहीं है, हमारे ही अन्तर् की द्वेष-भावना दुस्तर समुद्र बन-कर हमारे सामने आ गई है। जब से हमें ज्ञान हुआ है तब से हम उन 'पिप्र' प्रभु की ही याद में रहने लगे हैं। हम जान गए हैं कि यदि वे पूरण करनेवाले हमें अपनी भरणरूपी नौका प्रदान कर देंगे तो हम कुशल-क्षेम से इस भयंकर द्वेष-सागर को तर जायेंगे। हम जान गये हैं कि यदि हमारे हृदय की क्षुद्रताओं के गढ़े भरपूर हो जायेंगे और हमारा हृदय विभाल तथा प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण हो जायगा, तो हमारे अन्दर देष की वासना भी नहीं ठहर सकेगी। इसलिए अब हम उस पूरण करनेवाले प्रभु को ही पुकार रहे हैं, बार-बार पुकार रहे हैं। ओह ! अब तो वे ही पुरुहूत 'पिप्र' परमेश्वर हमें इस द्वेष-सागर से पार लगायें, इस दुस्तर सागर से पार उतारें।

शब्दार्थ — सः वह पित्रः पूरण करनेवाले पुरुहूतः बहुतों से पुकारे गये इन्द्रः परमेश्वर नावा नौका द्वारा, अपनी शरणरूपी तरणसाधन द्वारा नः हमें स्वस्ति कुशलतापूर्वक विश्वा द्वियः अति सब द्वेषों से लँघाकर पार्थाति पार लगायें।

३४१

व्यानमेशाली वरम इव इस द्वासिशाल विनास्

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

११ माघ

स नः शक्रश्चिदा शक्रद् दानवाँ अन्तरा<u>भ</u>रः। इन<u>्द्रो</u> विश्वभि<u>र</u>ूतिभिः॥

- ऋक् o दा३२।१२

ऋषिः मेधातिथिः काण्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय-वे शक परमेश्वर हमें भी शक्तिसंयुक्त करें। हम अशक्त, पग-पग पर गिरने-वाले हम असमर्थ, शक्ति-याचना के लिए और कहाँ जायँ? सिवाय उन सर्वशक्तिमान इन्द्र के शक्त-प्राप्ति की आशा हम और कहाँ से लगावें ? ओह ! वे शक्र तो 'दानवान्' हैं और 'अन्तरा-भर' हैं। उन परिपूर्ण परमेश्वर ने कंभी किसी से कुछ लेना नहीं है; उन्होंने तो सदा सबको देना-ही-देना है। ऐसे दानवान् होकर वे हमारे अन्तरों को, हमारे छिद्रों और किमयों को भरने-वाले हैं, हमारे अन्तस्तल को (उसके दोषों और त्रुटियों को) पूरनेवाले हैं। वे अन्दर से भरने-वाले हैं, अन्दर से हमारे आन्तर स्थल को भरपूर कर देनेवाले हैं। वे इन्द्र यदि चाहें तो हमें अपनी सब ऊतियों से, सब रक्षाओं से, सब पालनाओं से, तृष्तियों से हमारी सब किमयाँ दूर कर सकते हैं और हमें अन्दर से भरकर शक्त बना सकते हैं। हम उन्नित-पथ पर चढ़ते हुए पग-पग पर अपनी अशक्ति अनुभव कर रहे हैं। इस तरह अपनी घोर अशक्ति, भारी निर्वलता को अनुभव करते हुए ही हम आज शक्ति के भिखारी हुए हैं। जब से हमें ज्ञान मिला है कि हमें शक्ति अन्दर से ही मिलेगी तथा हमारे आन्तर को भर सकनेवाले वे शक्र प्रभू ही हैं, तब से हम उन शक के द्वारे आ बैठे हैं। हम आज साक्षात् देख रहे हैं कि उन शक के सिवाय इस संसार में और कोई शक्ति देनेवाला नहीं है, उनके सिवाय इस संसार में और कोई हमारे आन्तर को भरनेवाला नहीं हैं। ओह ! अब तो वे सर्वशक्तिमान् शक ही हमें शक्ति से युक्त कर देवें, वे सर्वसमर्थं इन्द्र ही हमें सामर्थ्य प्रदान कर देवें।

शब्दार्थ सः वह शकः शक्तिमान् नः हमें चित् भी आ अशकत् शक्तियुक्त करे, समर्थ करे। क्योंकि वह दानवान् दान देनेवाला अन्तरामरः अन्दर के अन्तस्तल को भरनेवाला, अन्दर के अन्तर (छिद्र, कमी) को भरनेवाला है। इन्द्रः वह परमेश्वर अपनी विश्वाभिः सब अतिभिः रक्षाओं आदि से [हमें शक्तियुक्त करे, समर्थ करे]।

३४२

वैदिक विचय

5020

Digitized by Arya Samaj Foundation Cherns

१२ माघः

त्वं ह्यंग्ने अग्निन्ता विशो विषेण सन् सता। सखा सख्यां समिध्यसे ॥

ऋक्० दा४३।१४

ऋषिः विरूप आङ्गिरसः । देवता अग्निः। छन्दः गायती।

विनय हे अग्ने ! तू निःसन्देह अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त किया जाता है । जैसे इस संसार में आग से आग जलाई जाती है, जैसे एक ज्ञानी विप्र द्वारा दूसरा मनुष्य भी ज्ञान-सम्पन्न हो जाता है, विप्र आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है, जैसे एक श्रेष्ठ सास्विक पुरुष से दूसरे में भी सात्त्विक भाव जग जाते हैं, साधु के सत्संग से दूसरा भी साधु हो जाता है, और जैसे सच्चे मित्र द्वारा दूसरे में भी मैत्री-भाव पैदा हो जाता है, सच्चे प्रेम द्वारा दूसरे में भी प्रेम उपज जाता है, वैसे ही हे अग्ने ! हे मेरे परम आत्माग्ने ! मैं जान गया हूँ कि तू आत्माग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है, मुझ अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है। मैं अग्नि बनकर अपनी आत्मा को तेजस्वी करके ही तुझे अपने में प्रदीप्त कर सक्रा। मैं ज्ञानी विप्र बनकर, सच्चा ब्राह्मण बनकर ही तुझ ज्ञानमय ब्रह्म को अपने में प्रकाशित कर सक्र्या। मैं श्रेष्ठ-सज्जन-सात्त्विक पुरुष होकर अपनी सज्जनता द्वारा, अपने सात्त्विक भावों द्वारा ही तुझ 'सत्' को प्राप्त कर सकूँगा। मैं अपने सख्य भाव द्वारा, अपने प्रेममय भिक्तभाव द्वारा ही तुझ सच्चे सखा को अपना सखा बना सक्रा। ओ, अग्ने ! मैं तुझे सिमद्ध करूँगा, अवश्य सिमद्ध करूँगा। मैं तुझे अग्नि द्वारा ही समिद्ध करूँगा। मैं ज्ञान की अग्नि, श्रेष्ठता की अग्नि और प्रेम की अग्नि बनकर तुझे अपने में समिद्ध कहँगा।

शब्दार्थं --अग्ने हे अग्ने ! त्वं तू हि नि:सन्देह अग्निना. अग्नि द्वारा सिमध्यसे प्रदीप्त किया जाता है। विप्रः तू विप्र, परम ज्ञानी विष्रेण मुझ ज्ञानी द्वारा, सन् तू सत् श्रेष्ठ सता मुझ साधु श्रेष्ठ द्वारा और सखा तू सच्चा सखा सख्या मुझे सखा द्वारा प्रदीप्त किया जाता है प्रकाशित किया जाता है। Commenter, which have provided to the character profits to the

वैदिक विनय

343

रस कार्यारमा स्त पा डितर

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३ माघ ते देग्ने स्वाध्यो <u>इहा</u> विश्वा नृचक्षसः । तर्रन्तः स्याम दुर्गहां ॥

-- ऋक् ० ८।४३।३०

ऋषिः विरूप आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः गायती ।

विनय है प्रभु! हम तेरे लिए ही कर्म करनेवाले हों। हम सदा, सब काल, आठों पहर, दिन और रात जो कुछ करें वह सब तेरे लिए ही करें और सब सुकर्म ही करें। अहा, अपने छोटे-से-छोटे और वड़े-से-बड़े कर्म को तुझे समिपत करते जाना, अपने एक-एक कर्म से आठों पहरों में निरन्तर तेरा ही पूजन करते जाना, यह कितना सात्त्विक जीवन है, कितना शान्त और सुखमय जीवन है। जब हम श्वसन तक के अपने प्रत्येक कर्म को इसी तरह तेरे ही लिए पिवत्र भाव से करने लगते हैं, तब हमारा ज्ञान भी पिवत्र और विशुद्ध हो जाता है। तब हम प्रत्येक वस्तु को निर्लेप होकर उसके विशुद्ध स्वरूप में देखने लगते हैं। तब हम सब मनुष्यों को और सब बातों को उनके ठीक-ठीक रूप में देखने और पहचानने लगते हैं, 'नृचक्षस्' हो जाते हैं। इस तरह उत्तम कृति और विशुद्ध दृष्टिवाले होकर, हे परमात्मन्! हम सब दुर्गहों को आसानी से तरते चले जाते हैं। ओह, सचमुच निर्लेप होकर काम करनेवाले 'नृचक्षस्' पुरुषों के लिए इस संसार में कठिन-से-कठिन प्रसंग 'सुतर' हो जाते हैं, उनके लिए भयंकर-से-भयंकर दीखनेवाली आपत्तियाँ कुछ भी भयंकरता नहीं रखतीं। हम भी इसी तरह हे अग्ने! तेरी कृपा से सब दुर्गहा अवसरों को आसानी से तरते जायँ, 'स्वाध्यः' और 'नृचक्षस्' होकर आसानी से तरते जायँ।

शब्दार्थ — अपने हे परमात्मन् ! हम विश्वा अहा सब दिन, सदा घ निश्चय से ते इत् तेरे ही लिए स्वाध्यः उत्तम कर्म करनेवाले हों, नृचक्षसः मनुष्यों को ठीक पहचाननेवाले हों और इस तरह दुर्गहा हुर्लंघ्यों, वाधाओं को तरन्तः तरते जानेवाले स्थाम हों।

My SET Tanis

१४ मार्च <u>ऋ</u>ग्नि <u>म</u>न्द्रं पुंर<u>ुपि</u>यं <u>श</u>ीरं प<u>ाव</u>कशोचिषम् । हृद्भिमेन्द्रेभिरीमहे ॥

ऋक्० दा४३।३१

ऋषिः विरूप आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय-यह अग्निदेव मन्द्र है, हिषत कर देनेवाला है, आनन्दरूप है। यह ऐसा मन्द्र है, ऐसा मस्त कर देनेवाला है कि इसके दर्शनमात्र से, इसके स्मरणमात्र से हममें आनन्द की लहरें चल उठती हैं। इसीलिए यह अग्नि बहुत प्यारा है, सब तरह से प्यारा है और असल में सब का प्यारा है। परन्तु यह अग्नि हममें सोया पड़ा है। यह पवित्र दीप्ति, अग्नि हममें सोया पड़ा है। इसकी शोचि, इसकी ज्योति इतनी पवित्रताकारक है कि यदि यह हममें जग जाय तो हमें नख से शिख तक पवित्र कर दे, हमारी नस-नस को, हमारे रोम-रोम को पवित्र कर दे, बल्कि हमारे प्राण और मन के एक-एक परमाण को पवित्र कर दे। पर हा ! यह हममें जग नहीं रहा है, सोया हुआ है। इसे कौन जगाये ? इसे कैसे जगायें ? ओह, यह मन्द्र अग्नि मन्द्रों द्वारा ही जगाया जा सकता है, मन्द्र हृदयों द्वारा ही जगाया जा सकता है। ईसे जगाने के लिए हृदय चाहिये और मन्द्र हृदय चाहिये। आओ, भाइयो! हम अपने मन्द्र हृदयों द्वारा इस मन्द्र परमात्मा को अपने में प्राप्त कर लें, प्रबुद्ध कर लें। ये देखो, भक्त लोग अपने उन् भिक्तभाव-भरे हृदयों द्वारा जो प्रभु-वाणी सुनकर मोर की तरह आनन्द-मस्ती में नाच उठते हैं, अपने हृदय के उन कोमल मनोभावों द्वारा जो हरिनाम का स्मरण हो आते ही हमें रोमांचित और पुलकित कर देते हैं और अन्त:करण के उन मनोवेगों द्वारा जो प्रभु का हार्दिक अनुभव करके हमें आनन्दा-श्रुओं में रुला देते हैं, अपने मन्द्र प्रभु को नाना तरह से जगा रहे हैं, नाना तरह से रिझा रहे हैं, आओ, हम भी क्यों न इसी तरह इस मन्द्र अग्नि को अपने में जगायें और अपने मन्द्र हृदयों द्वारा इसे प्रतिदिन रिझावें ?

शब्दार्थ — पुरुप्रियं बहुत प्यारे और पावकशोचिषं पवित्र ज्योतिवाले शोरं किन्तु सोये पड़े हुए मन्द्रं मस्ती देनेवाले, हिषत करनेवाले, आनन्दरूप अग्नि परमात्मा को हम मन्द्रः मादन, हिषत होनेवाले ही हिष्मः हृदयों से ईमहे चाह रहे हैं, प्राप्त करना चाह रहे हैं।

इम वस भिले

१५ मार्च यो <u>ऋरिन तन्वो</u> दमें <u>देवं</u> मत्तः सप्पर्यति । तस्<u>मा</u> इद्दीद्युद् वस्तुं ॥

-ऋक्० दा४४।१५

ऋषिः विरूप आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे मनुष्यो ! वस् देनेवाले जिस अग्नि को तुम ढुँढते हो वह कहीं बाहर नहीं है। वह तो हमारे अन्दर है, हमारे शरीर में ही विद्यमान है। वह अग्नि हमारे शरीर के घर में, हमारे शरीररूपी यंज्ञशाला में नाना प्रकार से जल रहा है, प्रदीप्त हो रहा है। जो मनुष्य इस शरीर-गृह में जलनेवाले देव अग्नि का ठीक प्रकार पूजन करता है उसे ही बस, अभीष्ट फल मिलता है। ये देखो, जाठराग्नि से लेकर आत्माग्नि व परम आत्माग्नि तक, पाथिव अग्नि से लेकर परम दिव्य अग्नि तक सब स्वरूपों में अग्निदेव हमारे शरीररूपी यज्ञ-गृह में ही जल रहा है। यदि नियमित भोजन, ज्ञयन और व्यायाम आदि द्वारा जठराग्नि का ठीक प्रकार परि-चरण करेंगे तो हमें शारीरिक वसु मिलेगा। यदि हम प्राणायामादि से प्राणाग्नि का सेवन करेंगे तो हमें प्राणबल प्राप्त होगा। सूक्ष्म प्राणाग्नि में व इन्द्रियाग्नि में हवन करने से हमें इच्छा-संयम् व शब्दादि विषयों का वसु प्राप्त होगा। चित्ताग्नि की ठीक परिचर्या से हमें वासनाशद्धि प्राप्त होगी। मनरूपी अग्नि का विधिवत् यजन करनै से हमें बहुमूल्य विचारों का निधि (खजाना) प्राप्त हो जायगा, और बुद्धि-अग्नि के पूजन से ज्ञान का दिव्य ऐश्वर्य भी हस्तगत हो जायगा। इसी तरह आत्मसंयम-योगाग्नि में सब प्रकार के कर्मों का हवन करने से तथा आत्माग्नि व ब्रह्माग्नि में नाना प्रकार के उच्च यज्ञ करने से हमें वे सब ऊँचे-से-ऊँचे अध्यात्म-ऐइवर्य प्राप्त हो जायँगे जिनके लिए देव भी तरसते हैं। इसलिए, हे मनुष्यो ! आओ, हम अपने शरीर के दम में, दमत करने में ही, उस सच्चे अग्नि को ढूँढ लें जिसकी ज्वालायें हमारे काय, प्राण, मन आदि में जल रही हैं। उसी के हवन से हमें वसु मिल सकता है, केवल उसी के युजन से हमें सब ऐश्वर्य मिल सकता है।

शब्दार्थ यः जो मर्तः मनुष्य तन्वः शरीर के दमे गृह में या दमन में देवं देव अग्नि अग्नि को सपर्यति सेवन करता है, यजन करता है तस्में उसके इत् ही लिए (यह अग्नि देव) वसु ऐश्वर्य को दीदयत् देता है।

३४६

ाचरारी। हा स्त प्रमा- विकि

१६ माघ

त्वामंग्ने म<u>नीषिण</u>स्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः। त्वां वर्षन्तु <u>नो</u> गिर्रः॥

-ऋक्० दा४४।१६

ऋषिः विरूप आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः गायती ।

विनय हे अग्ने ! तुम्हारा असली प्रीणन करनेवाले, तुम्हें अच्छी तरह बढ़ानेवाले तो वे पुरुष होते हैं जो मनीषी हैं, जो मन के ईश्वर हैं, जो अपने मन के पूरे मालिक हैं। मन के गुलाम तो इस संसार में प्राय: सभी लोग होते हैं, पर विरले ही हैं जो मन के स्वामी होते हैं, जो अपने मन को पूरी तरह अपने काबू में रखते हैं। ऐसे मनीषी लोग इस मन के संयम के लिए जो सतत आत्मबलिदान करते हैं, उन आहुतियों से हे अग्ने ! तुम खूब संतृप्त होते हो, खूब प्रदीप्त होते हो। दूसरे हैं जो चित्तियों से, चित्त-कर्मों से तुम्हारा संतर्पण करते हैं। ये चित्त-शुद्धि द्वारा, और चित्त-शुद्धि करानेवाले निष्काम कर्मों द्वारा, तुम्हें बढ़ाते हैं। इस चित्त-शुद्धि और निष्कामता के लिए जो इन्हें आत्मत्याग करना पड़ता है उन आहुतियों से भी, हे अपने ! तुम खूब संतृप्त होते हो, खूब प्रदीप्त होते हो। यद्यपि तुम्हारा असली प्रचार, तुम्हारी महिमा का विस्तार ये मनीषी और चित्तिवाले लोग ही करते हैं, तो भी हमारी वाणियों द्वारा भी-हमारे मन्त्रपाठों, स्तुतिगीतों और कथा-चर्चाओं द्वारा भी - कुछ-न-कुछ अवश्य तुम्हारी महिमा बढ़ती है, तुम्हारा प्रचार होता है। नहीं, यदि ये हमारे पाठ, स्तोत्र, वैखरी वाणी से ही नहीं किन्तू अन्दर की वाणियों से भी निकले होते हैं, तब तो इनसे भी तुम्हारी महिमा पूरी-पूरी ही बढ़ती है, तुम्हारा सच्चा प्रचार होता है। इसलिए हे अग्ने ! हमारे आत्माग्ने ! तुम हमारी इन वाणियों द्वारा भी बढ़ो। जहाँ तुम मनीषियों और शुद्धचित्त पुरुषों के मनों और चित्तों द्वारा बढ़ते हो, वहाँ तुम हमारी इन वाणियों द्वारा भी बढ़ों, प्रदीप्त होओ।

शब्दार्थ — अग्ने हे अग्ने ! स्वां तुझे मनीषिणः मन के ईश्वर लोग हिन्वन्ति प्रीणित करते हैं, बढ़ाते हैं और त्वां तुझे [दूसरे लोग] चित्तिभिः चिन्तनों से या चित्तशृद्धि के कर्मों से बढ़ाते हैं तथा नः हमारी गिरः ये वाणियाँ भी त्वां तुझे वर्षन्तु बढ़ाएँ।

बैदिक विनय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangoth

१७ मार्घ

अग्निः शुचित्रतत<u>मः शुचित्रियः</u> शुचिः कृतिः । शुचीं रोचत आहुंतः॥

-ऋक्० डा४४।२१

ऋषिः विरूप आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

विनय इस अग्निदेव से बढ़कर संसार में और कोई पवित्र वस्त नहीं है, शुचित्रत वस्तु नहीं है। यह शुचित्रततम है। शुचिता तो इसका व्रत है, नियम है, स्वाभाविक गुण है। यह ऐसा शुचित्रत है कि इसके संस्पर्श में आकर कोई वस्तु अशुचि नहीं रह सकती, इसमें पड़कर कोई वस्तु अपवित्र नहीं रह सकती। यह सकल संसार निःसन्देह महामलिन है, पर इस पवित्र अग्नि के इसमें रमने के कारण यह भी उपादेय हो गया है। अग्नि-रहित हो जाने पर इस देह को छूने से भी शौच करना पड़ता है, परन्तु यह ऐसा महा-अशुचि देह भी इस पावक अग्नि के निवास के कारण कितना पवित्र हो गया है! यह अग्नि शुचि-ज्ञानी है और शुचि-कवि है। इस आत्मा से जो ज्ञान उतरता है वह पवित्र ही ज्ञान होता है। इस आत्मा से जो काव्य निकलता है वह पवित्र ही काव्य होता है। यह ज्ञान और काव्य ही क्या, अग्निदेव का तो प्रत्येक प्रकाश, प्रत्येक दीप्ति ही शुचि होती है, पवित्र-ही-पवित्र होती है। क्या तुमने कभी आहुत होते हुए अग्निदेव के दर्शन किये हैं ? अहा ! जब अग्नि में आहुतियाँ पड़ती हैं और इन आहुतियों को पाकर यह अग्नि प्रदीप्त होता है, विशाल रूप में देदीप्यमान होता है, उस समय उसकी इस रोचमान मूर्ति की पवित्रता, इस छवि की पवित्रता वस देखने योग्य होती है, अनुभव करने योग्य होती है। ओह, अग्निदेव की पावनी मूरत पर हम सौ-सौ बार बलि जायें! इसकी इन पवित्र ज्वालाओं में कोई अपवित्रता कैसे ठहर सकती है ? सचमुच, हाँ सचमुच, अग्निदेव से बढ़-कर इस संसार में और कोई पवित्रताकारक वस्तु नहीं है। हे मनुष्यो ! यदि तुम्हें पवित्रता प्राप्त करनी है तो तुम इस अग्निदेव का आराधन क्यों नहीं करते ? इस अपने अन्दर के अग्नि का प्रदीपन क्यों नहीं करते ?

विनय-अग्निः अग्नि शुचित्रततमः सबसे अधिक पवित्र त्रतवाला है, यह शुचिः विप्रः पवित्र ज्ञानी और शुचि: कविः पवित्र कवि है। यह आहुतः आहुतियाँ पाकर शुचिः पवित्र होकर, पवित्र रूप में ही रोचते प्रकाशित होता है।

Digitized by Arya Sanga Foundation Cheminal and essention 7 HSIP ET VIC

१८ माघ

वृहिनिद्धिम एं<u>षां</u> भूरिं श्वस्तं पृथुः स्वर्रः । ये<u>षामिन्द्रो</u> युवा सस्त्रो ॥

-ऋक्० दा४५।२; सा० उ० ५।२।२१

ऋषिः त्रिशोकः काण्वः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय — जिनका सदाशक्ति इन्द्र सखा होता है वे इस संसार में बहुत चमकते हैं। जिसको कभी बुढ़ापा नहीं आ सकता, जिसकी शक्ति का कभी ह्रास नहीं हो सकता वह सदा-तरुण परमेश्वर जिनको अपना सख्य प्रदान करता है, वे महान् यज्ञ करते हैं और महायज्ञ द्वारा इस संसार में बहुत देदीप्यमान होते हैं। वे ऐसा महान् यज्ञ करते हैं जिसमें 'इष्टम' अग्नि से दीपन बहुत भारी होता है, जिसमें 'शस्त' = स्तुतिपाठ बहुत-बहुत होता है और जिसका 'स्वर' = यज्ञ-स्तम्भ बहुत बड़ा होता है। बाहर के द्रव्यमय यज्ञ में तो बड़े-से-बड़ा इध्म संसार-भर की काष्ठ-सिमधाओं को जलाने से हो सकता है, बड़े-से-बड़ा 'शस्त' चारों वेदों का बार-बार करने से हो सकता है और बड़े-से-बड़ा 'स्वरु' एक बड़े वृक्ष से वनाया जा सकता है; परन्तु इन्द्र-सखा लोग ज्ञानमय यज्ञ को करते हैं; उसका अग्निसंदीपन तो बहुत ही बृहत् होता है, चूंकि वे 'आत्मा' को, अपने-आपको इष्टम बनाकर जला देते हैं, अपने को इतना संदीपित करते हैं कि सब संसार में चमक उठते हैं, अपनी आत्माग्नि से विश्व-भर को प्रकाशित कर देते हैं। इनके इस अन्दर के यज्ञ में 'शस्त' भी बहुत अधिक होता है, चूँ कि ये भक्त लोग दिन-रात में जो भी कुछ जिह्वा से बोलते हैं, जो कुछ भी मानसिक वाणी से उच्चारण करते हैं वह सब भगवान का स्तुतिपाठ. ही होता है, वह सब इन्द्र का शंसन ही होता है। इस तरह इनके यज्ञ में अखण्ड स्तुतिपाठ चलता है, ऐसा भूरि शस्त होता है जो कभी समाप्त नहीं होता। इसी तरह इनके इस यज्ञ का 'स्वहं' भी बहुत ही बड़ा होता है, चूँकि ये उस 'आदित्य' को यूप बनाकर अपना अध्यात्म-यज्ञ करते हैं जिससे यह समस्त संसार-रूपी पशु बँधा हुआ है। उनके इस यज्ञ का झंडा [केतु] वह देदीप्यमान सूर्य होता है जो कभी म्लान नहीं हो सकता, कभी नीचा नहीं हो सकता। ओह! इन्द्र का सखा हो जाने पर मनुष्य कितना महान् हो जाता है, कितना महान् हो जाता है !

शब्दार्थ येषां जिनका युवा सदाशक्ति इन्द्रः परमेश्वर सखा सखा होता है तेषां उनका इध्मः अग्निसंदीपन बृहत् इत् बहुत ही बृहत् होता है शस्तं उनका स्तुतिपाठ मूरि बहुत होता है और स्वरुः उनका यज्ञस्तम्भ पृथुः बहुत बड़ा होता है।

वैदिक विनय

3×6.

१. 'आत्मा वा इच्मः'-तै० ३।२।१०।३

२. 'आदित्यो वै यूपः' ।--ऐतः ४।२८, ते । २।१।४।२

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६ माघ

श्रयुंद्ध इद् युधावृतं शूर श्राजेति सन्वंभिः। येषामिन्द्रो युवा सर्खा ॥

—ऋक्० दा४५१३; सा० उ० ५।२।२१।३ ऋषिः विशोकः काण्वः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायती ।

विनय — युद्धों में विजय पाने के लिए हम सेनाएँ रखते हैं, छावनियाँ बनाते हैं, सैनिकों में हिस्रवृत्ति जगाते और पुष्ट करते हैं, युद्धविद्या के शिक्षणालय चलाते हैं और घातक-से- घातक शस्त्रास्त्रों का आविष्कार करते हैं, परन्तु क्या हम इसके लिए कभी सदायुवा 'इन्द्र' का सख्य पाने का भी यत्न करते हैं ? क्या हम विजय पाने के लिए कभी मनुष्यों की सात्त्विक वृत्तियाँ जगाकर उनके महान् सत्त्वों महान् वलों को संग्रह करने की भी ज़रूरत समझते हैं ? बात यह है कि हमें इसमें विश्वास नहीं कि जिसका इन्द्र सखा है उसमें इतनी शरता आती है कि वह अकेला ही, बिना युद्धविद्या जाने, बिना युद्ध का अनुभव प्राप्त किये, योद्धाओं से घिरे हुए सैन्य को भगा देता है, अपने सत्त्वों द्वारा हरा देता है। असल में सच यह है कि परमेश्वर की मैत्री पाने वाला मनुष्य बिना युद्ध किये, श्रीकृष्ण को तरह बिना हिथयार उठाये, प्रतिद्वन्द्वी को जीत लेता है। सचमुच परमेश्वर से शक्ति पानेवाला महापुष्प अकेला ही चतुरंगिणी सेना रखनेवाले महाशत्रु को अपनी इन्द्र-शक्ति के सामने झुका देता है। इस सत्य में हमें विश्वास इसलिए नहीं होता चूंकि हम परमेश्वर को नहीं जानते, उसकी शक्ति को नहीं देखते, उस रास्ते नहीं चलते। ओह ! हम कव उस रास्ते चलेंगे ? हम कव विजय-प्राप्ति के लिए परमेश्वर का सख्य पाना अनिवायं समझोंगे ? हम कब पशुवल का संग्रह करने की अपेक्षा आत्मिक सत्त्वों को बढ़ाना सिखाकर संसार को सुखी करेंगे ?

शन्दार्थ — येषां जिनका युवा सदायुवा, नित्यशक्ति इन्द्रः परमैश्वर सखा सखा है, शूरः शूर होकर वह अयुद्ध इत् युद्धविद्या न जाननेवाला, युद्ध का अनुभव न रखनेवाला भी युधा-वृतं योद्धाओं से घिरे हुए शत्रुवल को सत्त्वभिः अपने आत्मिक सत्त्वों से, सात्त्विक बलों से आ अजित परास्त कर देता है।

३६०:

ड मध्वना त मुक्ता दृढ बना है

२० माघ

जुत त्वं मंघवञ्छणु, यस्ते वर्ष्टि <u>वि</u>वक्षि तत्।। यद् <u>वी</u>ळयांसि <u>वी</u>ळु तत्।।

न्यक्० दा४४।६

ऋषिः विशोकः काण्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय है मघवन् ! तू मुझे भी सुन, जरा मेरी प्रार्थना को भी सुन ! तू तो प्रार्थनाओं को ऐसा सुननेवाला है कि तुझसे प्रार्थी जो कुछ चाहता है, जो कामना करता है, उसे तू वह प्राप्त करा देता है। मैं जानता हूँ, अच्छी तरह जानता हूँ कि तू मनुष्य को सब-कुछ दे देता है, उसकी सब शुभकामनाओं को पूर्ण कर देता है। फिर भी, तू मेरी प्रार्थना को क्यों नहीं सुनता, इसे क्यों नहीं पूरी करता ? हे इन्द्र ! तू मुझे दृढ़ कर दे, शक्तियुक्त कर दे, पूरा समर्थ बना दे। ओह ! तू तो जिसे दृढ़ करना चाहता है और दृढ़ बना देता है, वह पूरी तरह दृढ़ हो जाता है, अडिग हो जाता है। फिर उसे संसार की कोई शक्ति दबा नहीं सकती। वह अच्छेदा, अभेदा हो जाता है। इस संसार के हजारों शत्रु उसे हरा नहीं सकते, लाखों दु:ख-क्लेश उसे डरा नहीं सकते, असंख्य प्रलोभन उसे गिरा नहीं सकते, वह पूर्ण 'वीलु' हो जाता है। हे इन्द्र ! तू मुझे भी ऐसा दृढ़ वीर बना दे। तू मेरी इस प्रार्थना को सुन, मेरी इस कामना को पूर्ण कर।

PLACED SET INTER SELECTION OF SELECTION OF SELECTION OF SELECTION

THE BEER SAR AND BY SAR AND THE BY FROM

शब्दार्थ — मघवन् हे ऐश्वर्यवन् ! ईश्वर ! त्वं तू उत और भी, मुझे भी शृणु सुन, यः जो प्रार्थी ते तुझसे जो कुछ बष्टि चाहता है, कामना करता है उसे तू तत् वह विवक्षि प्राप्त करा देता है यत् जिसे तू वीलयासि दृढ़ करता है तत् वह वीलु दृढ़ हो जाता है।

348

हम या भाका प्रमास कार विकार है

Digitized by Arya Samar Foundation Chennal and eGangotin

२१ माघ

यच्चिद्धि शश्वंतामसीन्द्र साधारणस्त्वम् । तं त्वां वृयं ईवामहे ॥

ऋक्० दाइशा७

ऋषिः प्रगाथः काण्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायती ।

विनय-परमेश्वर ! तुम सभी मनुष्यों में व्याप रहे हो । तुम तो सभी वस्तुओं में व्याप रहे हो, और समान रूप से व्याप रहे हो। तुम सबके लिए साधारण हो, तुम सबके हो, समान रूप से सबके हो। छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, इस देश का, उस देश का, इस धर्म का, उस धर्म का-तुम सबके हो, समान भाव से सबके हो। अनादिकाल से जो जीव होते रहे हैं उन सभी के तुम रहे हो, और अनन्तकाल तक जो जीव होते रहेंगे उन सभी के तुम रहोगे। इस तरह तुम सनातन सर्वसाधारण हो। तो भी हम तुम्हें पुकारते हैं, उन्हीं तुम्हें पुकारते हैं जो तुम सर्व-साधारण हो। तुम ऐसे अद्भुत हो कि सबके लिए साधारण होते हुए भी तुम सबके लिए विशेष भी होते हो। सब भक्तों की आवश्यकताओं को तुम इतनी पूरी तरह पूर्ण कर रहे हो कि हरेक यही अनुभव करता है कि मानो तुम्हें उसके सिवाय और किसी की चिन्ता नहीं है। सभी मनुष्यों का विकास तुम इतनी सूक्ष्मता में और इतनी परिपूर्णता के साथ कर रहे हो कि हरेक मनुष्य को अनुभव होगा कि मानो तुम अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसी के विकास में लगे हुए हो। इसलिए, हे इन्द्र ! हम तुम्हें पुकारते हैं। सबका कल्याण करते हुए तुम हमारे कल्याण के लिए आओ, सभी की उन्नति करते हुए तुम हमारी उन्नति के निमित्त आओ। जो दूसरों का अकल्याण व अवनित चाहता हुआ तुम्हें अपने लिए पुकारता है, वह अज्ञानी तुम्हें जानता नहीं। इसलिए हे इन्द्र ! हे साधारण ! तुम तो सबके होते हुए हमारी उन्नति व कल्याण के लिए आओ ! हम तुम्हें पुकार रहे हैं, हे इन्द्र ! हम तुम्हें प्रेमवश पुकार रहे हैं।

शब्दार्थ इन्द्र परमेश्वर! यत्चित् यद्यपि हि सचमुच त्वं तुम शश्वतां सनातन रूप से सबके, सब मनुष्यों के लिए साधारणः साधारण असि हो, तो भी तं उन्हीं त्वा तुम्हें वयं हम हवामहे पुकारते हैं।

359

SINALE OFF

ठम उन्ध्र के पाराहित्य में वृता की नाश करें

२२ मार्घ

इन्द्रं वृत्राय इन्तवे देवासी द्धिरे पुरः। इन्द्रं वाणीरनूषता समोर्जसे॥

न्यक्० दाश्रार्र

ऋषिः पर्वतः काण्वः । देवता इन्द्रः । छन्दः उष्णिक् ।

विनय देव लोग वृत्रवध के लिए इन्द्र को आगे करते हैं, इन्द्रं को पुरोहित बनाते हैं। यह इन्द्र ही है जो वृत्रासुर का वध कर सकता है। जैसे आधिदैविक जगत् में सूर्य-इन्द्र मेघवृत्र का वध किया करता है, जैसे अधिभूत के देव विद्वान् लोग राजा इन्द्र द्वारा पापियों का विनाश करते हैं, वैसे यहाँ अध्यात्म में आत्मा इन्द्र है जो 'पाप्मा' वृत्र का हनन करता है। पाप हमपर दिन-रात हमला करता रहता है और प्रायः सदा सफल होता रहता है। हम जानते हैं कि यह पाप है, यह नहीं करना चाहिये, तो भी हम रुक नहीं सकते। हम इन्द्रियों को रोकते हैं, मन से विचार करते हैं और बुद्धि से निश्चय करते हैं, पर फिर भी हम रुक नहीं सकते। इसका कारण यह है कि हम आत्मा द्वारा पाप का नाश नहीं करते हैं, हमने आत्मा की पीछे डाल रक्खा है। देखो, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे जो है वह हमारा असली आत्मा है। यदि हम उस आत्मा को आगे ले आयें, पुरोहित कर लेवें, इन्द्रियादि देवों को इस आत्मा का अनुयायी, वश्य, पीछे चलनेवाला बना लें, तो फिर वृत्रासुर कभी दुबारा हमारे सामने न आ सके, इसका समूल नाश हो जाय। यह काम है, इच्छा है, स्वार्थ है जो सब पापों की जड़, मूल है। पर आत्मप्रकाश हो जाने पर इस स्वार्थ का हममें कुछ काम नहीं रहता, यह विलीन हो जाता है। आत्मराज्य हो जाने पर यह 'काम' इन्द्रियादिकों को अपना अधिष्ठान नहीं बना सकता। तब तो ये हमारे देव आत्मिक ओज के अधिष्ठान बन जाते हैं। वृत्र का अन्धकार हट-कर हमारे अन्दर आत्मसूर्य का ओज चमकने लगता है। और देखो, आत्मा के इस ओज को प्रकट करने के लिए ये वाणियाँ, वाणी की स्तुतियाँ वहुत सहायक होती हैं। जब हम सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं या स्वयं गाते हैं कि आत्मा की शक्ति इतनी महान् है तो इससे आत्मा का ओज हममें जागृत होता है। वेद-मन्त्र जो इन्द्र की स्तुतियों से भरे पड़े हैं, वे इसीलिए हैं कि हम इस दिव्य वाणी द्वारा आत्मिक ओज को अपने में सम्यक्तया प्रकट कर लें और उस द्वारा महाबली वृत्र का संहार कर दें। अतः आओ, भाइयो ! हम भी इन्द्र को पुरोहित करके अपने में वृत्र का समूल नाश कर लें और इसके लिए अपने में आदिमक ओज को स्तुति-प्रार्थनाओं द्वारा सम्यक्तया भर लें।

शब्दार्थ — देवासः देवों ने वृद्धाय हन्तवे वृत्र के हनन के लिए इन्द्रं इन्द्र को पुरः दिखरे पुरोहित किया है और सम् ओजसे आस्मिक ओज की सम्यक् प्रकार से उत्पत्ति के लिए ये वाणीः ये वाणियाँ इन्द्रं इन्द्र की ही अनूषता स्तुति कर रही हैं।

वैदिक विनय

\$ 6 9.

तरी ही अर्थ

२३ माधैं <u>नहां</u>ग नृ<u>ंतो</u> त्व<u>ट</u>न्यं <u>वि</u>न्दा<u>मि</u> राधंसे । <u>रा</u>ये द्युम्नाय शर्वसे च गिर्वणः ॥

-ऋक्० दार्था१२

ऋषिः विश्वमना वैयश्वः । देवता इन्द्रः । छन्द उिणक् ।

विनय है नचानेवाले ! हे इन सब चराचर सृष्टियों को कठपुतिलयों की तरह हिलानेवाले ! मैं तुम्हारी शरण पड़ा हूँ। जब से मैंने अनुभव किया है कि इस गितमय समस्त ब्रह्माण्ड को गित देनेवाले तुम हो, इस संसार में होनेवाले छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े कमों को प्रेरित करनेवाले तुम हो, तुम्हारी इच्छा बिना इस संसार में घास का एक तिनका भी नहीं हिल सकता और तुम्हारी इच्छा होने पर एक पल में इस पृथिवी पर प्रलय आ सकता है, तब से मैं तुम्हारी शरण आ पड़ा हूँ। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी कृपा बिना मैं कुछ नहीं पा सकता। इस संसार में तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है जो मुझे कोई सिद्धि व सफलता दिला सके। मुझे कोई नहीं दिखाई देता जो मेरे छोटे-से-छोटे अभीष्ट को सिद्ध कर सके। मेरी जीवन-साधना के तो एकमात्र तुम्हीं आधार हो! पर हे वाणियों से संभजनीय! मैं तो देखता हूँ कि यदि मैं धन पाना चाहूँ, तेज पाना चाहूँ, वल पाना चाहूँ या कुछ और पाना चाहूँ, इन सब वस्तुओं को भी दे सकनेवाला तुम्हारे सिवाय इस संसार में मेरे लिए और कोई नहीं है। तो मैं और किसका आश्रय लूँ ? मैं तो हे इन्द्र! तुम्हारी शरण पड़ा हूँ, सब जगह भटक-भटककर अब तुम्हारी शरण पड़ा हूँ।

शस्य करने के लिए में नाजियां, याजी की स्त्रीत्तां बहुत सहस्य स्वास्त्राय करते हैं या स्थ्रत गाते हैं कि आधार की जांबर हो। का योग हमसे यान्य होता है। वद्भारय को इन्ह्यू को स्तरित्तां के हम डम विच्छ वाणी बादा आदिषक जोना को अपने से सुन्य ब्रुक्तां गहान्यों नृत्र का संवार कर है। अन अध्योत कानुभों है हुए बहु

शब्दार्थ अंग हाँ, नृतः हे नाचनेवाले ! राधसे साधना-सिद्धि व सफलता के लिए मैं स्वत् तुझसे अन्यं अन्य किसी को निह नहीं विन्दािम पाता हूँ, गिर्वणः हे वाणी से संभजनीय ! राये धन के लिए द्युम्नाय तेज के लिए च और शवसे बल के लिए मैं और किसी को नहीं पाता हूँ।

में बूच का सुबूच साथ कर ले और उनके लिए अने में अधिन है। कर का मान प्रकृति

\$ 68.

वैदिक विनय

I TO THE TREETING TO IS

भाग करता

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGango

रे४ माघ

यतौ यतः समीहंसे ततौ नोऽ श्रभयं कुरु। शं नंः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥

—यजुः० ३६।२२

ऋषिः दध्यङ्ङायर्वणः । देवता ईश्वरः । छन्दः भुरिगुष्णिक् ।

विनय हम किसी भी घटना से, किसी भी स्थान में, किसी भी काल में क्यों डरते हैं? वास्तव में डरने का कहीं भी कोई कारण नहीं है। फिर भी हे परमेश्वर ! हम इसलिए डरते हैं क्योंकि हम तुम्हें भूल जाते हैं, क्योंकि सदा हम सर्वत्र सब घटनाओं में तुम्हारा हाथ नहीं देखते। यदि हम संसार की सब घटनाओं को तुम्हारा 'संचेष्टित' देखें, तुम द्वारा सम्क्यतया की गई देखें तो हम कभी भी भयभीत न हों। तुम तो परम मंगलकारी हो, सम्यक् ही चेष्टा करने-वाले हो, सदा सबका कल्याण ही करनेवाले हो। इसलिए हे प्रभो ! तुम जहाँ-जहाँ से चेष्टा करते हो, जिस-जिस स्थान, काल, कारण व कर्म से अपना संचेष्टन करते हो वहाँ-वहाँ से हमें अभय कर दो, वहाँ-वहाँ से हमें बिलकुल निर्भयता ला दो। पर तुम कहाँ संचेष्टन नहीं कर रहे हो? तुम किस जगह नहीं जाग रहे हो ? ओह, यदि हम संसारी मनुष्य इतना अनुभव करें तो इस संसार में हमारे लिए अभय ही अभय हो जाय। इस संसार में सुख, सौहार्द, प्रेम और निर्भयता का राज्य हो जाय। कहीं कोई निर्बल को न सतावे, कभी कोई मूक पशुओं पर भी हाथ न उठाये। तब न केवल सब प्रजायें सुख-शान्ति पायें, न केवल वालक आदि सब मनुष्य-प्राणी क्षेम मनायें, किन्तु संसार की आगे आनेवाली संततियाँ भी कल्याण को प्राप्त करें तथा सब पशु-पक्षी भी इस बृहत् प्राणी-परिवार के अंग होते हुए निर्भय होकर इस पथिवी पर विचरें। इस समय जो यह संसार स्वार्थान्ध होकर गरीबों को नाना प्रकार से सता रहा है, अपने भोग-विलास के लिए प्रतिदिन असंख्य पशुंओं को काट रहा है—यह सब घोर अनर्थ तब शान्त हो जाय, सब पाप-अन्याय समाप्त हो जाय। प्रभो ! हे जगदीश्वर ! तुम ऐसी ही कृपा करो। हम सब प्राणी सदा सर्वत्र तुम्हारे ही 'समीहन' को अनुभव करें, तुम ऐसी ही कृपा करो। हमारी प्रजाओं के लिए तुम ऐसा ही 'शं' कर दो, हमारे पशुओं के लिए भी तुम ऐसा ही परिपूर्ण 'अभय' कर दो।

शब्दार्थ - यतः यतः जहाँ-जहाँ से तुम सं ईहसे सम्यक् चेष्टा करते हो ततः वहाँ से नः हमें अभयं अभय कुरु कर दो । नः हमारी प्रजाभ्यः प्रजाओं के लिए शं कल्याण कुरु कर दो और नः हमारे पशुभ्यः पशुओं के लिए अभयं अभय कर दो ।

175

BYLEC OFFER

2471 383

र्थ माध

त्रह्म सूर्यसम् ज्योतियाः संमुद्रसम् द सरः। इन्द्रः पृथिच्ये वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते।।

—यजुः० २३।४८

ऋषिः प्रजापतिः । देवता ब्रह्मादयः । छन्दः अनुष्टुप् ।

विनय नया तुम इस स्वयंप्रकाश और सर्वजगत्-प्रकाशक सूर्य को देखकर आश्चर्य करते हो कि इसके समान कोई दूसरी ज्योति इस संसार में कहाँ हो सकती है ? पर देखो, यह ब्रह्म, यह वेद उसी तरह स्वयं-प्रकाश और सर्वजगत्-प्रकाशक है। हमारे अन्दर यह ब्रह्म, यह ज्ञान, यह ज्ञानमय ब्रह्म अन्दर की ज्योति है, अन्दर का सूर्य है, असली सूर्य है। क्या तुम इस पारावार समुद्र को देखकर समझते हो कि इस-जैसा जलाशय, इतना बड़ा सरोवर और कोई नहीं हो सकता ? नहीं, जरा सूक्ष्मता से देखों कि यह अन्तरिक्ष इसी प्रकार का जलवाष्प-मय बड़ा भारी जलसमुद्र है, हमारे अन्दर इसी प्रकार का हृदयान्तरिक्ष, बहुत बड़ा मानस सरोवर है, इतना ही गंभीर, इतनी बड़ी-बड़ी तरंगोंवाला मनस्तत्त्व का बना हुआ दिव्य समुद्र है। क्या तुम बड़ी भारी पृथिवी को देखकर सोचते हो कि इससे अधिक बड़ी, इससे अधिक वर्षीवाली चिरकालीन कोई और वस्तु क्या हो सकती है ? परन्तु देखो, यह इन्द्र, यह आदित्य इस पृथिवी से लाखों गुना बड़ा और इस पृथिवी से लाखों वर्ष बड़ा है। हमारे अन्दर यह 'इन्द्र' आत्मा, यह परमात्मा पृथिवी से अनन्तों गुणा बड़ा है, और यदि उसकी वर्षों से गणना करें तो इसका कभी आदि ही नहीं है, यह अनादि है, सनातन है। और क्या तुम इस पृथिवी के बृहत् परिमाण को देखकर पूछते हो कि क्या कोई ऐसी वस्तु भी हो सकती है जिसकी कोई मात्रा नहीं, कोई परिमाण नहीं ? तो देखो, इस आदित्य की 'गौ' रूप किरणें इतनी हैं कि उनकी मात्रा नहीं हो सकती, वे गिनी नहीं जा सकतीं। अन्दर आत्मा-इन्द्र की गोरूप किरणें, वाणी आदि आत्म-शक्तियाँ इतनी हैं कि उनका किसी तरह परिमाण नहीं किया जा सकता; बस, यही कहा जा सकता है कि ये अनन्त हैं, ये अनन्त हैं।

शब्दार्थ - ब्रह्म वेद या ज्ञानमय ब्रह्म सूर्यंसमं सूर्य-जैसी ज्योतिः ज्योति है। खौः अन्तरिक्ष सागर या मानस सागर समुद्र समं पार्थिव समुद्र जैसा सरः जलाशय सरोवर है। इन्द्रः आदित्य या महान् आत्मा पृथिव्ये पृथिवी से वर्षीयान् बड़ा या अधिक वृद्ध है। गौः किरणों का या आत्मशक्तियों का मात्रा परिमाण न विद्यते नहीं है।

वैदिक विनय

1 12 50

माहा है पर के हैं। इस वह है है है है।

95138 STE

परम भीन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangoti

२६ माघ

ह्यं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः, श्रयं युक्को सुर्वनस्य नाभिः। श्रयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः पर्मं व्योम।।

-- ऋक्० १।१६४।३५; यजुः० २३।६२; अथर्व० ६।१०।१४

ऋषिः दीर्घतमा औचथ्यः । देवता विश्वे देवाः । छन्दः विराट् व्रिष्टुप् ।

विनय—क्या तुम पूछते हो कि इस अति विस्तीर्यमाण पृथिवी का परला सिरा किस जगह है, अन्तिम सीमा कहाँ है ? अरे जहाँ तुम खड़े हो यह वेदि, यह यज्ञवेदि ही इस पृथिवी की समाप्ति सीमा है । प्रत्येक मनुष्य की अपनी यज्ञवेदि ही उसके लिए इस गोलाकार पृथिवी की अन्तिम सीमा है । यज्ञ के रहस्य को जाननेवाले जानते हैं कि यह सम्पूर्ण ही पृथिवी वेदिरूप है, और अध्यात्म-यज्ञ के लिए हम स्वयं, हमारा यह शरीर ही वेदिरूप है । इस घूमनेवाले संसार-चक्र की, इस संसार-संसरण की सीमा भी हमारी यह शरीर-रूपी वेदि ही है । इस संसार-सागर के परले किनारे पहुँचने के लिए हमें और कहीं जाने की जरूरत नहीं है, यहाँ 'परो अन्तः' हमारे अन्दर 'उरः' (हृदय) रूपी यज्ञवेदि ही है । जब मनुष्य को इस असली यज्ञवेदि का पता लग जाता है तभी वह भवसागर के परले पार पहुँच जाता है ।

तुम इस सम्पूर्ण भुवन के नाभिस्थान को पूछते हो ? देखो, यह यज्ञ ही वह केन्द्रीय वस्तु है जिससे कि यह सब ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड के सब संसार, संसारों की सब वस्तुएँ, परस्पर बँघी हुई हैं। यज्ञरूप से हो परमेश्वर इस सब संसार को यथावत् जोड़े हुए हैं। यज्ञ न रहे तो सब संसार बिखर जाय, सब वस्तुएँ जुदा-जुदा होकर नष्ट हो जायँ। यज्ञ ही वह वस्तु है जो सबका संगतिकरण करनेवाली, सबको ठीक तरह से बाँध रखनेवाली, सर्वत्र सबकी नाभि है।

क्या तुम पूछते हो इस आदित्यरूपी महावीर्यशाली 'अश्व' का वीर्य क्या है ? तो देखो, यह वीर्य सोम हैं। सोमादि वनस्पित के रस के हवन से आदित्य द्वारा सब संसार में सब प्रकार की समृद्धि उत्पन्न होती है, वृष्टिरूप सोमरस के सेचन से सब अन्न और अन्नाश्चित समस्त संसार उत्पन्न होता है। यह सभी संसार उस वृषा 'आदित्य'-पुरुष द्वारा प्रकृति की भोग्यतारूपी सोम से, या जीवों में रहनेवाले भोग प्राप्त करने के रस (इच्छा) रूपी सोम से उत्पन्न हुआ है और होता रहता है।

तुम पूछते हो कि सब वाणियों का परम व्योम कौन है ? वह है ब्रह्मा, चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मज्ञ, या चारों प्रकार के सम्पूर्ण ज्ञान का आश्रय स्वयं परम ब्रह्मा वह परम आकाश है जहाँ से संसार-भर की सब वाणियाँ निकलती हैं और लीन होती हैं। हमारे सब शास्त्रों का, सब वाणियों का, सब ज्ञानों का यही एक रक्षा-स्थान है, यही नित्य आधार है, यही परम व्योम है।

शब्दार्थ इयं यह वेदिः यज्ञवेदि पृथिव्याः पृथिवी का परः परला अन्तः किनारा है, अयं यह यज्ञः यज्ञ विश्वस्य सम्पूर्ण भुवनस्य ब्रह्माण्ड का नाभिः बाँधनेवाला नाभि-स्थान है। अयं यह सोमः सोम वृष्णः महावीर्यशाली अश्वस्य व्यापक आदित्य का रेतः वीर्य, उत्पादक बीज है, और अयं यह सह्मा चारों वेदों का ज्ञाता वाचः वाणी का परमं परम व्योम आश्रय-स्थान है।

= ३६७

¹¹२७ माघ क्षा

यज्जात्रतो दूरमुदे<u>ति</u> दैवं तद्धं सुप्तस्य तथैवेति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

—यजुः० ३४।१

ऋषिः शिवसंकल्पः। देवता गनः। छन्दः विराट् त्रिष्टुप् ।

विनय-यह मन बड़ा प्रबल है। यह सोते-जागते कभी भी चैन नहीं लेता। जितनी देर मैं जागता रहता हूँ उतनी देर यह कुंछ-न-कुछ सोचता हुआ प्रतिक्षण भटकता ही रहता है; कभी भूत की, कभी भविष्यत् की, कभी यहाँ की, कभी वहाँ की, बड़ी दूर-दूर की, किन्हीं-न-किन्हीं बातों के विषय में लगातार संकल्प-विकल्प करता है और जब मैं सो जाता हुँ, मेरी सब जागृत कियायें बन्द हो जाती हैं, तब भी यह मन अपने में ही उसी तरह काम करता रहता है, कहीं-कहीं के दूर-दूर के स्वप्न देखता-फिरता रहता है। बल्कि सुषुप्तिकाल में भी इसकी वृत्ति बन्द नहीं होती। सचमुच यह कथानक के 'भूत' की तरह चौबीसों घंटे बड़े वेग से कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। अगले ही क्षण में यह न जाने कितनी दूर जा पहुँचता है। बाह्य प्रकाश का प्रसिद्ध अति तीव्र गतिवेग भी इसके गतिवेग के सामने तुच्छ है। यह आन्तर प्रकाश तो एक क्षण में चाहे कितनी दूर, असंख्यात मील दूर पहुँच सकता है। उस 'भूत' की तरह यह भी क्षण में बड़े-बड़े कार्य पूरे कर सकनेवाली एक महान् शक्ति है। परन्तु यह दैव शक्ति है, प्रकाशमंय ज्योतिर्मय शक्ति है। यह आनंतर ज्योति है। यह मन महाशक्ति है, दिव्य ज्योतिर्मय महाशक्ति है। मूझे तो, हे प्रभो ! जब से इस मन का, इस संकल्पमय दिव्य महाशक्ति का, ज्ञान हुआ है तब से मेरा तुमसे अन्य कुछ प्रार्थना करना समाप्त हो गया है, तब से मेरी तुमसे केवल एक प्रार्थना रह गई है, "तुम मुझे इतना बल दो कि मेरा यह मन केवल शुभ कल्याण-संकल्पों का ही करने-वाला हो जाय।" यह जो मन मुझमें चौबीसों घंटे कुछ-न-कुछ संकल्पन करता रहता है, उस संकल्प-प्रवाह में एक भी बुरा या अशुभ संकल्प मुझमें न उठे। बस, इतना हो जायगा तो शेष सब-कुछ स्वयमेव हो जायगा । तूने इस दिव्य शक्ति को प्रदान करके मुझे सब-कुछ प्रदान कर दिया है। बस, मुझे इतनी शक्ति और दे दे कि मैं तेरे इस यन्त्र की दिव्यता को कायम रख सक, इस मन द्वारा निरन्तर और दिव्य शुभ कल्याणकारी संकल्पों का ही प्रवाह चला सकै, कभी अहित चाहनेवाले, गिरानेवाले अपवित्र, अशिव संकल्पों को न उठने दे सकूँ। बस, हे प्रभो ! तू मेरे मन को इस तरह शिवसंकल्प बना दे, इस महाशक्ति को शिव-संकल्पमयी कर दे। फिर मुझे और कुछ नहीं चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये। भव वर्गणपूर्व निक

शब्दार्थ यत् जो दैवं दिव्य शक्तिरूप [मेरा मन] यत् जो जाग्रतः मेरे जागते हुए दूरं उदिति दूर-दूर फिरता है और सुप्तस्य मेरे सोते हुए उ भी तत् जो वह तथेव एति उसी तरह दूर-दूर जाता है, तत् वह दूरंगमं दूर-दूर पहुँचनेवाला ज्योतिषां एकं ज्योतिः ज्योतियों की एक ज्योति मे मन मेरा मन शिवसंकल्पं सदा शुभ ही संकल्प करनेवाला अस्तु हो जाय।

विदिक विनय

रास्तर सहरिक रेन्द्र

Digitized by Arya Samaj Foundation Cl

२८ माघ

श्राहस्ता यद् यदी वधत क्षाः श्राचीभिवेदानोम्। शुष्णं परि प्रदाक्षिणिद् विश्वायवे नि शिश्नथः॥

सक्० १०।२२।१४

ऋषिः विमद इन्द्रः । देवता इन्द्रः । छन्दः पादनिवृद् बृहती ।

विनय - हे इन्द्र ! तुम सब मनुष्यों का भला करनेवाले हो, सब विश्व का कल्याण करनेवाले हो। जब कभी कोई महाअसुर विश्वव्यापी होकर विश्व-भर को पीड़ित कर देता है तो तुम्हीं उसका संहार करके विश्व का पालन करते हो। यह मायावी 'शुष्ण असूर' हमारे रुधिर का, धन-जन-भोजन-जीवन-प्राण आदि रुधिर का, इस प्रकार शोषण करता है कि हमें इसका कुछ भी पता नहीं लगता। असली शोषण-कर्म करनेवाला और इस चसने में बड़ा भाग बँटानेवाले इसके बड़े-बड़े साथी असुर भी अपने-आपको अन्त तक छिपाये रखते हैं। रुधिर आदि की बहुत कमी हो जाने पर जब हम जानना चाहते हैं कि ये हमारा शोषण करने-वाले कौन हैं, तब भी ये विदित नहीं होते हैं, 'वेद्य' ही रहते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु ये 'वेद्य' असुर अपने इस राक्षसी शोषण के नृशंस कृत्य को छिपाने के लिए अपनी आसुरी 'शचीओं' द्वारा, शक्तियों व कर्मों द्वारा एक बहुत बड़ा आवरण खड़ा कर लेते हैं। एक नयी पृथिवी, एक नई सृष्टि ही रचकर हमारी आँखों में धूल डालते रहते हैं। हम आँखों से इनकी इस कौशल-पूर्ण पार्थिव रचना को देखते हुए 'वाह-वाह' करते जाते हैं और अपने-आपको चुसवाते जाते हैं। परन्तु हे इन्द्र! छिपे हुए इन शोषक असुरों का यह पार्थिव विस्तार चाहे कितना बड़ा हो, चाहे कितना आडम्बरपूर्ण हो, किन्तु न इसके हाथ होते हैं और न पैर । यह माया-ही-माया होता है। तुमसे अनुप्राणित न होने के कारण न तो इसमें कोई असली कर्मशक्ति होती है और न इसका कोई आधार होता है। अतः इस 'अहस्ता अपदी' मायामयी पृथिवी को तुम काफी हद तक बढ़ने भी देते हो। शुष्णासूर अपने इस विश्वव्यापी शोषण की आड़ करने के लिए इसे इतना बढाता जाता है कि इस आवरण को विश्वभर में फैला देता है और इस विश्वव्यापी आवरण द्वारा अपने-आपको सब जगह परिवेष्टित कर लेता है, सब तरफ से लपेट लेता है, पूरी तरह छिपा लेता है और एक विश्वव्यापी माया-दुर्ग में अपने को सुरक्षित कर लेता है। पर इसके इतना बढ़ जाने पर भी हे इन्द्र! तुम इस 'शुष्ण' के सब पार्थिव विस्तार को एक बार में छिन्त-भिन्न कर देते हो, शुष्णासुर के सब ठाठ को गिरा देते हो, सम्पूर्ण माया को पूरी तरह मिटा देते हो।

शब्दार्थ — हे इन्द्र ! यत् जब विद्यानां वेदितव्य, छिपे हुए [शोषक असुरों] की शबीमिः शिक्तियों से अहस्ता बिना हाथवाली अपदो बिना पैरवाली आः पृथिवी, पार्थिव आवरण, माया की भूमि वर्धत बढ़ती है तो तुम शृष्णं शृष्णासुर को परि परिवेष्टित करके प्रविक्षिणित् घेरे हुए, लपेटे हुए, छिपाये हुए [इस पृथिवी को] विश्वायवे सब मनुष्यों के हित के लिए निश्चित्यः पूरी त्रह नष्ट कर देते हो।

वैदिक विनय

3.3.2

मक्ता तेण येगाज वीणिये

२६ माघ

तेजो<u>ंऽसि</u> ते<u>जो</u> मिये धेहि। <u>वीर्य</u>मिस <u>वीर्य</u> मिये धेहि। बर्लम<u>िस</u> ब<u>र्ल</u> मिये धेहि। <u>श्रोजो</u>ऽस्यो<u>जो</u> मिये धेहि। मुन्युरंसि मुन्यु मिये धेहि। सहोंऽसि सहो मिये धेहि॥

–यजुः० १६।६

ऋषिः आभूतिः । देवता सोमः । छन्दः निचृच्छक्वरी ।

विनय हे सोम ! तू तेज:स्वरूप है, तू मुझमें तेज को धारण करा। तेजस्विता, उग्रता के बिना मैं प्रलोभनों को नहीं जीत सकता और प्रलोभनों की बिना जीते मैं शारीरिक वीर्य का भी संरक्षण नहीं कर सकता। इसलिए तेज को देकर, हे वीर्य के भंडार ! तू मुझमें वीर्य को धारण करा, मुझे ऊर्ध्वरेता बना, मेरे सब अंगों में नवजीवन की स्फूर्ति उत्पन्न करा, जिससे मैं सच्चे वल को धारण कर सकूँ। तू तो बल है, संसार के सब बल हिस्तबल, विद्युत्बल, पृथिवी आदि को धारण करने का इन्द्रबल तक सब बल—तेरे ही सेवन से प्राप्त होते हैं। तो, मैं निर्वल तेरे सिवाय और कहाँ से बल की याचना करूँ ? वलहीन रहकर मैं आत्मा को नहीं पा सकता, कभी ओज को, आत्मिक तेज को नहीं प्राप्त कर सकता। अतः मुझे बली बनाकर, हे ओजो-मय ! तू मुझे ओज भी प्रदान कर। जब मुझमें ओज आ जायगा, आत्मतेज समा जायगा तो हे मन्युरूप ! मुझमें भी पाप के दलन लिए, अन्याय के विध्वंस के लिए स्वभावत: मन्यु प्रदीप्त हुआ करेगा, वह राग-द्वेष-रहित प्रशान्त आत्म-ज्वलन प्रकट हुआ करेगा जिसके उदय होने पर सब पाप भस्म हो जाता है और सब असत्य विलीन हो जाता है। परन्तु साथ ही, हे सह:-स्वरूप ! तू मुझे आत्मा की वह 'सह:शक्ति' भी प्रदान कर जिससे मैं घोर-से-घोर मुसीबतों को भी हँसता हुआ सह सकूँ, उस तपस्या की शक्ति को धारण करा जिसके सामने कोई विरोधिनी शक्ति नहीं ठहर सकती, जिसके होने पर असह्य-से-असह्य विपत्तियाँ खेल हो जाती हैं और जिसकी अग्नि में कठोर-से-कठोर हृदय भी पिघल जाते हैं। इस प्रकार हे सोम ! तुझे अपने में बसा कर, तेरा पान करके मैं स्थूल तेज से लेकर तपस्या के तेज तक तेरे सब तेजों को प्राप्त कर लूँ, हे सोम ! तेरे छहों सामध्यों की अपने में धारण कर सोममय होऊँ।

शब्दार्थ — तेजः तू तेज असि है, तेजः तेज को मिय मुझमें धेहि धारण करा। बीय तू वीयं असि है वीयं वीयं को मिय मुझमें धेहि धारण करा। बलं तू बल असि है, बलं बल को मिय मुझमें धेहि धारण करा। बोजः तू ओज असि है ओजः ओज को मिय मुझमें धेहि धारण करा। मन्यु तू मन्यु असि है मन्यु मन्यु को मिय मुझमें धेहि धारण करा। सहः तू सहः असि है, सहः सह को मिय मुझमें धेहि धारण करा।

विकालेता है और एक विश्वत्यापी सावा हुएँ में अवने को सुरक्षिण कर लाता है। पर इसके इतना बढ़ जाने पर भी हे एन्ट्र ! तुम इस 'मुख्य के सब पारिज विस्तार को एक बार में लिनेन-विकाल कर देते हो, शब्धान्य के सब ठाउ को पिसा देते हो। सम्पूर्ण माना को पुरी तरह मिन्या

95 (19 16 N-41) 8

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३० मांघै

तच्चर्श्वर्टेवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शारदः शातं जीवेम शारदेः शातः शापुंयाम शारदेः शातं प्र स्रवाम शारदेः शातमदीनाः स्याम शारदेः शातं, भूयंश्र शारदेः शातात्।।

- यजुः० ३६।२४; ऋक्० ७।६६।१६

ऋषिः दध्यङ्ङाथर्वणः । देवता सूर्यः । छन्दः भूरिग् बाह्मी त्रिष्टुप् ।

विनय-देखो, सामने यह सूर्य, यह संसार की आँख, यह देवों का हितकारी चक्षु अपने निर्मल शुक्र प्रकाश में चमक रहा है, उदित हो रहा है। नहीं, और गम्भीरता से देखों, वह महान् सूर्य, प्रेरक प्रभु, हममें से प्रत्येक के सम्मुख सदा उदयमान रहा है। अपने प्रकाश से सव संसार को दर्शन-शिवत देता हुआ सदा सब देवस्वभाव मनुष्यों का निरन्तर हित करता हुआ यह परम विशुद्ध-चक्षु अनादि काल से चमक रहा है। आओ मनुष्यो ! आओ, हम इस सूर्य को देखते हुए सौ वर्ष तक जीते रहें, हम सौ वर्ष तक इस दिव्य सूर्य को आन्तर नेत्रों से अनु-भव करते रहें और सौ वर्ष तक उसकी अनुकूलता में प्राणों को धारण करते रहें। ओह! यदि हम याद रखें कि ऊपर वह आँख हमें संदा देख रही है, वह विशुद्ध-चक्षू हमें निरन्तर ठीक-ठीक जान रही है तो हम क्यों न विशृद्ध आचरणवाले होंगे, और क्यों न पूरे सी वर्ष तक जीने वाले होंगे ? यदि हम ध्यान रखें कि वह देवों का हित-चक्षु निरन्तर हमारी अध्यक्षता कर रहा है तो हम क्यों न दिव्य आचरणवाले होंगे, क्यों न सौ वर्ष तक दिव्य जीवन ही बितायेंगे ? तो, भाइयो ! आओ, हम उस सूर्य के प्रकाश में सी वर्ष देखें, सी वर्ष सक जीवें; उस दिव्य आँख के नीचे सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक प्रवचन करें; और उसकी ही अध्यक्षता में सौ वर्ष तक अदीन, स्वावलम्बी और उत्साहपूर्ण जीवन व्यतीत करें। उसकी अध्यक्षता में रहना और दीन-पराधीन होना, यह कैसे हो सकता है ? नहीं-नहीं, हम तो सौ वर्ष से भी अधिक देर तक देखते और जीते हुए, सुनते और सुनाते हुए, अपराधीन पुरुषार्थमय पूर्ण जीवन वितायेंगे, एवं अदीन होकर हम सौ वर्ष से भी अधिक जीएँगे, अवश्य सौ वर्ष से भी अधिक जीवेंगे।

शब्दार्थ तत् वह देवहितं देवों का हितकारी चक्षुः चक्षु सबको दिखानेवाला, सर्वाध्यस्य ज्ञानस्वरूप पुरस्तात् हमारे सामने, सदा समक्ष शुक्रं शुद्ध रूप उत् चरत् उदय हुआ है। उसकी सहायता से हम शतं शरदः सौ वर्ष तक पश्येम देखें, शतं शरदः जीवेम सौ वर्ष तक जीवें, शतं शरदः श्रृणुयाम सौ वर्ष तक सुनें शतं शरदः प्रव्रवाम सौ वर्ष तक बोलें, शतं शरदः अदोनाः स्याम सौ वर्ष तक अदीन रहें, शतात् शरदः भूयश्च सौ वर्ष से अधिक भी देखते, सुनते, वोलते हुए अदीन होकर जीते रहें।

कृतं मे दक्षिणे इस्ते जयो मे सन्य आहितः। अथर्ववेद ७।५२।=

हुआ हुए एस जिल्ला पर्न कर्नाट राज में प्रकार हुए हैं। ताओ मनुष्यों के आहा, हुए पूर्व

ized by Arva Samar Foundation Chennal and eG

ARE TORRESTED TRANSPORTED AND PROPERTY AND

बोह्य कार्य, अवर्ष क्षणेयाच प्राप्तः सूर्व प्र बंबाय क्षतः

HATER THE BEE SEE SEE WITH THE SEE

for the Clares in the authority and the suffering to a post

3413310 off : 11131 ofF

मेरे दायें हाथ में कर्म, पुरुषार्थ है और मेरे बायें हाथ में विजय रखी हुई है

हाम-प्राथित हाना, पढ़ केस हो प्रत्या है है तही-तही, हम का बा त्या से की अध्य ने हैं कर हैं के हैं होए बाल पूर्व मान बार स्वाहें हुए, चर्ण जेन प्रवर्णकर पूर्व बीचूर्व विकास, एक

File The first of the page followed by the page in the page page

राजार्थ - सम यह देशील देवों का किस्कारी बन्ध रस समनो दिवाने प्राप्त सर्वाज्य

शान्तवार पुरत्नाम स्वारं भागते । इस स्थान पुरू क्षा कर वात वरत सामान । पाना महानवार ते स्थान प्रति । पाना महानवार ते स्थान स्

PHE TRUE DESIGNATION AND

फाल्गुन (कुम्भ) के लिए प्राणदायक व्यायाम

A134144 341414

पैरों की स्वस्थता तथा नीरोगता लानेवाला

अपने शरीर को पृथिवी की तरफ़ मुँह करके इस प्रकार दिगन्तसम फैलाइये कि हाथों की हथेलियाँ और पैरों के अँगूठे के सिवाय कोई अंग भूमि को न छू रहा हो। अब कोहनी से हाथों को मोड़ते हुए यहाँ तक शरीर को नीचे लाइये कि आपकी ठोड़ी जमीन को छू जाय। फिर हाथों को सीधा करते हुए शरीर को ऊपर उठाइए। ध्यान रिखये कि आपके घुटने भूमि को न छुएँ। इसे वार-वार कीजिए। जब शरीर को नीचे ले-जा रहे हों तो गहरा स्वास अन्दर भिरिये। जब शरीर को ऊपर उठा रहे हों तो स्वास बाहर निकालिये।

(2)

अब दूसरे व्यायाम के लिए सीधे खड़े हो जाइये। हथेलियाँ शरीर की ओर रखते हुए मुट्ठियाँ बाँध लीजिए। अब अपने पैरों के अँगूठों के वल होकर अपने शरीर को ऊपर उठाइए। इस अवस्था कें अपने हाथ और पैर की मांसपेशियों को ताने रखिये। फिर शरीर को नीचे ले आइए। इसे बार-बार कीजिये। जब आप अँगूठे पर खड़े हों तब स्वान अन्दर भरिये और जब शरीर सीचे ले-जाएँ तो स्वास को बाहर निकालिये और मांसपेशियों को ढीला कर दीजिये।

ध्यान इस प्राणायाम में अपना मन पैरों पर एंकाग्र कर उन्हें स्वस्य तथा पूर्ण चित्रित

कीजिये।

'मुझमें अव्भात स्फूर्ति है, मुझमें जीवन-प्रवाह वह रहा है।' इस प्रकार ध्यान की जिए। इन अंगीं को गीणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और मार्गशीर्ष के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता

TOP-THE PRINCIPLE AND THE REPORT OF A PRINCIPLE AND THE PRINCIPLE

है।

to the finite was the challenger of the said of

Chiditad by Arva Samai Foundation Chernai and eGangotri

वं फीलगुन

त्राति तृष्टं वंवक्षियायेव सुमनां ऋसि । प्र<u>मा</u>न्ये यन्ति पर्युन्य आंसते येषां स्रख्ये ऋसि <u>श्</u>रितः ॥

—ऋक्० ३।६।३

ऋषिः गाथिनो विश्वामितः । देवता अग्निः । छन्दः बृहती ।

विनय-जो प्यासा है, जिसे तेरी सच्ची लगन है, जो तुझे पाने को सचमुच व्याकुल है, अतएव जो तीव्र वैरागी है, उसे तू भी अतिशय प्रेम से वहन करना चाहता है, उसके अभीष्ट को तू प्राप्त करा देता है, उसकी प्यास तू बुझा देता है। अरे, तू तो उसकी प्यास बुझाकर ही सन्तुष्ट-मना होता है, 'सुमना' होता है। वैसे तो तूने 'सुमनाः' या 'दुर्मनाः' क्या होना है, परन्तु यदि तू कभी सुमना होता कहा जा सकता है तो अपने इन भक्तों की इच्छा को पूरण करने में अवश्य सुमना होता है, अवश्य प्रसन्न होता है। तू तो सदा संसार के अपने हम पुत्रों को, भक्तों की कामनाओं को पूरा कर रहा है और सदा ही सुमना हो रहा है। परन्तु देखना यह है कि हम तेरे पुत्रों में कितने हैं जो तुझे इस तरह सुमना कर रहे हैं ? कितने हैं जिनमें तुझे पाने की सच्ची लगन है ? कितने हैं जो सचमुच तेरी कामना कर रहे हैं ? ओह ! ये सब सांसारिक लोग तो विषय-भोगों की ही-केवल विषय-भोगों की ही कामना कर रहे हैं। परन्तु जिनके सख्य में तू विद्यमान है, जो तेरा मिलकर आराधन करते हैं, जो तेरे उपासक हैं उन तेरे सखाओं में भी तेरे ऐसे अनन्य .भक्त विरले ही हैं जिनमें तेरे पाने की उत्कट इच्छा है, जो एकमात्र तेरी ही कामना कर रहे हैं। ये धार्मिक लोग अपने संगतों, समाजों में जब कभी तेरी महिमा का हृदयस्पर्शी वर्णन सुनते हैं तो ये भी तेरा अनन्य भजन करना प्रारम्भ कर देते हैं। परन्तु कुछ देर में ही ये ऊब जाते हैं, इनकी सांसारिक वासनायें इन्हें खींचने लगती हैं, सुख-वैभव-प्रतिष्ठा आदि पाने की दबी हुई कामनायें काम करने लगती हैं और ये उठकर फिर अपने उन्हीं पुराने रास्तों पर चल पड़ते हैं। थोड़े ही होते हैं जो भजन में लगे रहते हैं, निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक तेरी ही भिनत करते जाते हैं। इस संसाररूपी मेले में तेरा नाम सुनकर तेरा दर्शन करने तो सभी सखा आते हैं, परन्तु एक तो वे भक्त होते हैं जो तुझे मौनमुद्रा में देखकर कुछ देर प्रतीक्षा करके उठ जाते हैं, तुझे प्रणाम करके चले जाते हैं, परन्तु दूसरे वे लोग हैं जो तुझे पहचान लेते हैं और तुझे घरकर बैठ जाते हैं और तेरे ध्यान में दढ़ आसन लगाकर समाहित हो जाते हैं।

शब्दार्थ — तुष्टं प्यासे को तू अति वविक्षय अतिशय वहन करना चाहता है अय एवं और तभी सुमनाः तू प्रसन्नमना असि होता है। येषां जिनके सख्ये सिखभाव में तू श्रितः असि विद्यमान है, उनमें भी अन्ये एक हैं जो प्रप्रयन्ति अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं और अन्ये दूसरे हैं जो परिआसते तुझे घेरकर बैठ जाते हैं, तेरी उपासना में बैठ जाते हैं।

वेदिक विनय

त्र गात गाउ

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennar and eGangoth

.२ फाल्गुन

मा चिं<u>द</u>न्यद् वि शंसत् सर्वा<u>यो</u> मा रिषण्यत । इन्द्रमित् स्तोता वृषंणं सर्चा सुते मुहुंस्कथ्या चं शंसत ॥

—ऋक्० दाशाशः सा० पू० ३।१।१०; सा० उ० ६।१।४; अथर्वे० २०।द्रश्र

ऋषिः प्रगाथो घौरः काण्वः । देवता इन्द्रः । छन्दः उपरिष्टाद् बृहती ।

विनय-भाइयो ! उस प्रभु के सिवाय इस संसार में हमारा कोई अन्य स्तुति करने योग्य नहीं है। किसी भी अन्य की स्तुति करने से हमारा कुछ वनेगा नहीं। और हम जो यूँ ही दिन-भर बोलते रहते हैं, उससे अपनी हानि ही करते हैं। जो वाणी प्रभु-सेवा के उद्देश्य से उच्चारण नहीं की जाती, जो पर गातमा को साक्षी रखकर नहीं बोली जाती, जिसका प्रभु से कोई सम्बन्ध नहीं होता - ऐसी सव हमारी वाणी न केवल वृथा है, किन्तु हमारा नाश करनेवाली है। जैसे मेंढक के टर्र-टर्र करने का और कुछ परिणाम नहीं होता, सिवाय इसके कि साँप को अपने भक्ष्य का पता मिल जाता है, उसी तरह मनुष्य अपने निरर्थंक और परमेश्वरहीन प्रलापों के करते रहने से काल का ही शीघ्र ग्रास हो जाता है। इसलिए हे मनुष्य-जन्म पानेवालो ! हे सखाओ ! तुम क्यों यूँ ही विनष्ट होते हो ? अपने प्रभु के सिवाय अन्यों की स्तुति करके क्यों हिसित होते हों ? स्वार्थ, हिंसा, राग-द्वेष से भरी वाणियाँ बोल-बोलकर क्यों हिंसक बनते हो और फलत: स्वयं विनष्ट होते जाते हो ? यदि तुम निरन्तर प्रभु-नाम नहीं ले सकते तो कम-से-कम चुप रहो, पर किसी अन्य अस्तुत्य की स्तुति तो न करो ! ऐसी वाणी तो न बोलो जो तुम्हें प्रभु से हटाकर विनाश की तरफ ले-जानेवाली हो ! इसलिए भाइयो ! जागो, आज से एकमात्र उस इन्द्र का ही दिन-रात स्तवन करो, सब अभीष्टों को बरसानेवाले सर्वशक्तिमान् केवल उस परमेश्वर का ही स्तुति-कीर्तन करो। इस संसार-यज्ञ में सिम्मलित सब सखा मिलकर उसी परम प्रभु के स्तोत्रों को गुँजाओ, अपने प्रत्येक यज्ञ-कर्म में उस इन्द्र का ही तन्मरन होकर गुण-गान गाओ। जरा देखो, उस 'वृषण' प्रभु के सिवाय इस संसार में और कौन है जो हमपर सब सुखों और अभीष्टों को बरसा रहा है ? हम यूँ ही मूर्खतावश कभी किसी मनुष्य, स्वामी व राजा को या किसी अन्य शक्ति को समर्थ समझकर उसकी स्तृति में लग जाते हैं। परन्तु देखो ! उस सर्वसमर्थ परमेश्वर के सिवाय हमारा और कौन है जो हमें सब-कुछ प्रदान कर सकता है? अतः आओ ! अब हम सदा उसके ही गीत गायें, और सब-कुछ भूल जायें; मस्त होकर उसके ही स्तोत्र बार-बार सुनायें, प्रेमाश्रु से गद्गद होकर उसके ही गीत निरन्तर गाते जायें।

शब्दार्थ — अन्यत् अन्य किसी के स्तोत्रों को मा चित् कभी मत विशंसत उच्चारण करो, और इस तरह सखायः हे सखाओ, मनुष्य भाइयों! मा मत रिषण्यत अपने को विनष्ट करो। सुते इस संसार-यज्ञ में, प्रत्येक यज्ञ-कर्म में सचा मिलकर, तन्मग्न होकर वृषणं अभीष्टों को बरसानेवाले, सर्वशक्तिमान् इन्द्रं परमेश्वर की इत् ही स्तोत स्तुति करो च और मुहः बारंबार उक्थ्या [उसके ही] भजनों का शंसत उच्चारण करो।

वैदिक विनय

Mil other

म रतला । । वन्या

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangoth

३ फाल्गुन

अग्ने व्रतपते वृतं चंरिष्यामि, तच्छंकेयं तन्में राध्यताम् ।। इदमहमन्त्रंतात् सत्यमुपेमि ।।

—यजुः० १।५

विनय-हे अग्ने ! तुम व्रतपति हो । मैं तो बहुत-से व्रत धारण करता हुँ, पर उन्हें निभा नहीं सकता। एक समय पर दृढ़ निश्चय से, पूरी गम्भीरता से किसी व्रत को ग्रहण करता हूँ, पर पीछे से गिरावट हो जाती है, धीरे-धीरे वह वत-नियम ढीला होता जाता है और छूटे जाता है। इसलिए हे व्रतपते ! मैं आज तेरी शरण आया हुँ। आज वह दिन आ गया है जब कि मैं तझ व्रतपति के सामने अटल, अडिंग व्रत को धारण कर सक्गा। हे अग्ने ! आज मैं तुझे साक्षी रखकर तेरे प्रताप से ऐसे परिपूर्णतया व्रत को धारण करूँगा कि इस व्रत का आगे कभी भी भंग नहीं हो सकेगा। मैं अन्तः करण से कहता हूँ कि धारण किये हुए व्रत को अब मैं प्राणपण से निबाहुँगा, इसपर अवस्य आचरण करूँगा, इससे रत्ती-भर भी इधर-उधर विचलित नहीं होऊँगा। हे व्रतपते ! मैं जानता हूँ तुम अपने व्रतों के ऐसे परिपूर्ण पति हो कि तुम्हारे व्रत कभी कहीं किसी के लिए कुछ भी नहीं टल सकते; तुम मेरे वत के भी पति हो जाओ, मेरे इस व्रत की भी रक्षा करो, इसके पालक हो जाओ। तुम ऐसी कृपा करो, ऐसी शक्ति प्रदान करो कि मैं इस वत को पूरा कर सक, इसे पूरा करने में अवश्य समर्थ हो सक, । मेरा यह वत संसिद्ध हो, अवश्य पूर्ण हो। मैं आज अन्य बातों को छोड़कर सत्य के ही महान वृत को ग्रहण करता हैं। यदि मैं इस सत्य के व्रत का पालन कर सक्रा, तो अन्य व्रतों को पाल सकना मेरे लिए कुछ भी कठिन नहीं रहेगा। तो यह लो, हे अग्ने ! मैं आज से अनुत को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हुँ; हे प्रकाशस्वरूप ! मैं अनृत से सत्य को प्राप्त हो जाता हूँ। मैं आज से मन, वाणी अर कर्म से सत्य का ही पालन करूँगा। मैं सत्य को जानूँगा और सत्य को ही प्रकट करूँगा। मेरे हृदय में जो कुछ होगा उसे ही वाणी में लाऊँगा और उसे ही अपनी किया द्वारा प्रकट करूँगा। मैं जानता हुँ कि यह कठिन है, परन्तु हे अग्ने ! तेरी सहायता से इस संसार में कुछ भी कठिन नहीं है, कुछ भी असम्भव नहीं है। इसलिए हे व्रतपते ! मैं तो आज से सत्यवती हो गया हूँ, आज से 'सत्य' का हो गया हैं।

शब्दार्थ — अग्ने हे अग्ने ! व्रतपते हे व्रत के पालक ! मैं व्रतं व्रत को चरिष्यामि आचरण करूँगा, पालूँगा । ऐसी कृपा करो कि तत् उस व्रत को मैं शकेयं पूरा कर सकूँ, मे मेरा तत् वह वृत राध्यतां सिद्ध हो, पूरा हो अहं मैं इदं यह, आज से अनुतात् अनृत से हटकर सत्यं सत्य को, सत्य के व्रत को उपमि प्राप्त होता हूँ, लेता हूँ ।

वतः आया ! अव हम सहा उपक हो बांत वार्य , और श्व-इछ नुज जार्य , मन्त्र होकर उसके

ही स्त्रीय बार बार सुनाव, प्रमान से महमद हारूर अवन ही मान निरूपर माने बाद

ड या द न वार्षाः हम श्रुची करि

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and Can

४ फाल्गुन

त्वं विश्वंस्य धनदा ग्रंसि श्रुतो य ई भवंन्त्याजयः। तवायं विश्वंः पुरुहूत पार्थिवी ऽवस्युर्नामं भिक्षते॥

—ऋक्० ७।३२।१७

ऋषिः वसिष्ठः । देवता इन्द्रः । छन्दः भुरिग् बृहती ।

विनय—इस सब जहान को धन देनेवाले अकेले तुम ही हो। इस विश्व में जिस किसी को जिस किसी प्रकार का ऐश्वयं मिल रहा है वह तुम ही से मिल रहा है। तुम ऐश्वयं देनेवाले प्रसिद्ध हो। तुम इन्द्र हो, परम ऐश्वयंवाले हो। इस संसार में नाना प्रकार के ऐश्वयों को पाने के लिए जो ये विविध संघर्ष होते रहते हैं, देवासुर-संग्राम चलते रहते हैं, उनमें विजेता हो कर जो लोग ऐश्वयों को प्राप्त कर रहे हैं। हम सदा से सुनते आए हैं कि धन-ऐश्वयों को जितानेवाले तुम ही हो। तब तुम क्यों नहीं देखते कि इस पृथिवी पर इस समय कैसी तबाही मची हुई है, महान् विनाश उपस्थित हो रहा है ? सब वर्म की मर्यादाएँ टूट गई हैं, सब कम बिगड़ गए हैं। यह संसार तुम्हारे ऐश्वयों से सर्वथा रहित हो गया है। पृथिवी पर एक ऐसा संग्राम चल रहा है कि सब लोग उख अोर निर्बल हो गए हैं, सच्चे ऐश्वयं से हीन हो गये हैं। संत्रस्त हुए ये सब लोग अब तुम्हें याद कर रहे हैं, हे पुस्हूत ! बार-बार तुम्हें पुकार रहे हैं। हे इन्द्र ! तुम कब इस पृथिवी को सुखी करोगे, कब इस संग्राम में विजयी कराकर अपना ऐश्वयं प्रदान करोगे ? देखो, ये सब-के-सब पृथिवीवासी तुम्हारे रक्षण की भिक्षा माँग रहे हैं, सब मनुष्य रक्षा चाहते हुए तुम्हारा नाम पुकार रहे हैं।

शब्दार्थ — त्वं तुम विश्वस्य सब संसार के धनदाः धन-ऐश्वयं देनेवाले श्रुतः प्रसिद्ध असि हो, ये जो ई ये [संसार में] आजयः संग्राम भवन्ति होते हैं उनमें धन जितानेवाले तुम ही हो। देखो, अयं यह विश्वः सब पाष्टियः पृथिवीलोक पुष्टूत हे बहुत पुकारे गए! अवस्यः रक्षा चाहता हुआ तव तेरे नाम नाम की, प्रसिद्ध रक्षण की भिक्षते भिक्षा माँग रहा है।

वैदिक विनय

dah

इस लिप्यवारियां भी क्रारण में रहे

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotin

५ फाल्गुन

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधी छोरासी श्रवतद्विषः । तेषां वः सुम्ने सुंच्छिदिष्टंमे नरः स्याम ये चं सूरयंः ॥

—ऋक्० ७।६६।१३

ऋषिः वसिष्ठः । देवता आदित्यः । छन्दः आर्षी भुरिग् बृहती ।

विनय - हे आदित्यो ! हम अब तुम्हारे 'सुम्न' में रहना चाहते हैं, तुम्हारे सुख व ऐश्वर्य में बसना चाहते हैं। अभी तक हम तुम्हारी महिमा नहीं जानते थे, तुमने जो अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके दिव्य प्रकाश प्राप्त किया है और आदित्य बने हो, उसका सामर्थ्य नहीं समझते थे। तुम तो इस संसार के 'नर' हो, नेतृत्व करनेवाले हो। तुम संसार-नेता यदि हमें अपनी शरण प्रदान करोगे तो हम अवश्य कृतकृत्य हो जायेंगे। परन्तु हम तुम्हारी इस सर्वश्रेष्ठ सुखमय शरण को तभी प्राप्त कर सकेंगे जव हम सत्यसेवी हो जायेंगे। हम जानते हैं कि तुम कितने भारी 'ऋत' के उपासक हो और कितने घोर 'अनृत' के विरोधी हो। तुमने जो इतना ऊँचा पद प्राप्त किया है उसका रहस्य यही है कि तुमने अनन्यभाव से सत्य का सेवन किया है। जब कोई मनुष्य सत्य का आराधन शुरू करता है तो सबसे पहले यज्ञ के, त्याग के महान् सत्यसिद्धान्त का प्रकाश हो जाता है, इसीलिए 'ऋत' शब्द यज्ञ का भी वाचक हो गया है। तुम न केवल सत्य व यज्ञ से पूर्णतया युक्त हो, 'ऋतावान्' हो, अपितु तुम तो 'ऋतजात' भी हो, तुम ऋत से उत्पन्न हुए हो, तुमने अपने-आपको बिलकुल बदलकर सत्य में अपना दूसरा जन्म प्राप्त किया है, तुम्हारा अणु-अणु सत्य का बना हुआ है, यज्ञभावना से भावित है और अव तुम्हारा जीवन सत्य के ही बढ़ाने में लगा हुआ है। तुम 'ऋतावृध्' हो। अनृत को हटाकर निरन्तर सत्य की वृद्धि कर रहे हो। इसलिए बुम अनृत के घोर शत्रु हो। अनृत के साथ तुम्हारा सहज वैर है। जहाँ तुम हो वहाँ अनृत नहीं ठहर सकता। तुम अनृत की छाया तक को नहीं सहन कर सकते। इसलिए हे नरो ! हम भी अब सत्यसेवी होकर ही तुम्हारे 'सुम्न' को प्राप्त करना चाहते हैं, तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ शरणतम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। हम ही नहीं किन्तु हमारी तरह और भी जो कोई तुम्हारी इस महिमा को जानते हैं, जो 'सूरि' व ज्ञानी हुए हैं उन सबको, है आदित्यो ! उन सबको तुम अपना सुख प्राप्त कराओ, सर्वश्रेष्ठ शरण देने-वाला अपना महान् सुख प्राप्त कराओ।

शब्दार्थ नरः है संसार के नेताओ ! आदित्यो ! जो तुम ऋतावानः सत्य व यज्ञ से युक्त ऋतजाताः सत्य में जन्मे हुए ऋतावृधः सत्य को बढ़ानेवाले और घोरासः घोर अनृतद्विषः असत्यविरोधी हो तेषां उन वः तुम्हारे सुच्छिदिष्टमे उत्तम सर्वश्रेष्ठ शरण देनेवाले सुम्ने
सुख व ऐश्वर्य में स्याम हम हों; ये च तथा जो अन्य सूरयः ज्ञानी हैं वे भी हों।

304

नम शर है।

Digitized by Arya Samar Foundation

६ फील्गुन

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्षसम् । अधारयद्धरितोर्भूरि भोजेनं ययोर्न्तर्हिश्चरंत् ॥

-ऋक्० ३।४४।३

ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः । देवता इन्द्रः । छन्दः बृहती ।

विनय —ये इन्द्र, ये परमेश्वर 'हरि' हैं, पाप-ताप को हरण करनेवाले हैं। इसलिए इन इन्द्र-सूर्यं की असंख्यों रिश्मयाँ 'हरि' कहलाती हैं; ये भी अज्ञान-अन्धकार, मिलनता और रोग का हरण करती हैं, और इसीलिए इन इन्द्र की दो प्रसिद्ध शक्तियों का नाम भी 'हरि' हुआ है; इन्हें ऋक् और साम कहो, वाणी और प्राण कहो, ज्ञान और बल कहो। इन हरियों-सहित वे हरि इस संसार के अणु-अणु में, रोम-रोम में रम रहे हैं और इसको हरिमय कर रहे हैं। तभी तो वह द्यौ: 'हरिधायस्' हुआ है, यह पृथिवी 'हरिवर्पस्' हुई है और द्यावापृथिवी 'हरितु' बने हैं। वह 'द्यौः' हरि की उन असंख्यातों हरि-रिक्मयों से भरपूर है, उन ही द्वारा धारित है। यह पृथिवी भी उन्हीं हरि-रिहमयों से ढकी हुई है, उसके हरित्व से रंगी हुई हरिवर्णा हो रही है। ये द्यावापृथिवी हरित्, हरिमय बन गये हैं। इस प्रकार इन इन्द्र ने हरि होकर द्यौ और पृथिवी को धारण कर रक्खा है। उसने इस बावापृथिवी को न केवल धारण कर रक्खा है अपितुं वह इसका लगातार पोषण भी कर रहा है। वह इन हरितों (द्यावापृथिवी) में प्रभूत भोजन, बहुत-बहुत भोग-सामग्री, सब चराचर प्राणियों के लिए अनिगनत प्रकार के भाग उत्पन्न करके उनका निरन्तर पालन-पोषण भी कर रहा है। उसने द्यावापृथिवी को ही नहीं, किन्तु इसके लिए अमित भोजन को भी धारण कर रक्खा है। इस घारण-पोषण के लिए वह हरि इनके अन्दर संचारित है, इन द्यावापृथिवी का अन्तर्यामी होकर विचर रहा है, प्रत्येक वाणी व पदार्थ के अन्दर प्राण होकर उसे अन्दर से गति दे रहा है। वह हरि चूँकि इस प्रकार अपनी हरि-शक्तियों-सहित इन द्यावापृथिवी का अन्तरचारी हो रहा है, यही कारण है जिससे ये बावापृथिवी 'हरित' हो गये हैं। अहा ! यह सब संसार कैसा हरिमय हो रहा है ! हमारे 'हरि' प्रभ के रमने के कारण देखो, कैसा हरिमय हो रहा है!

शब्दार्थ इन्द्र परमेश्वर हरिधायसं द्यां अपनी 'हरि'-रिश्मयों से धारित हुए खुलोक को तथा हरिवर्पसं पृथिवीं हरित्व से रेंगी हुई, हरिवर्णा भूमि को अधारयत् बारे हुए है, और वह उन हरितः हरित्, हरिमय हुए [द्यावापृथिवी] के भूरि बहुत, अगणित भोजनं भोग-सामग्री को भी धारे हुए है, ययोः जिन (हरितों, द्यावापृथिवी के) अन्तः अन्तर्यामी होक्दर हरिः वह हरि प्रभु चरत् चल रहा है, चरण कर रहा है।

वैदिक विनय

308

इसारा न्याह

७ फालींन

नाहि ते शूर राधसो उन्तं <u>वि</u>न्दामि सुत्रा । <u>ढश</u>स्या नो मधवन् नू चिदद्रि<u>वो</u> थि<u>यो</u> वाजैमिराविथ ॥

-ऋक्० दा४६।११

ऋषि: वशोऽश्व्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः विराड् बृहती ।

विनय-अहो ! तेरे राधसों का कुछ भी अन्त नहीं है। तेरे सफलता प्राप्त करानेवाले ऐश्वर्य, तेरे सिद्धि दिलानेवाले सामर्थ्य एक-से-एक वढ़कर हैं। इस संसार के जो नानाविध भौतिक धन हैं, जो विज्ञान के चमत्कारी ऐश्वयं हैं, हमारे लिए तो वे ही अनगिनत हैं। अग्नि आदि एक ही तेरा देव जितने हमारे प्रयोजन संसिद्ध कर सकता है उन्हीं का हम पार नहीं पा सकते। परन्तु जब मनुष्य ऊँची भूमियों को प्राप्त करता है तो जो दिव्य सिद्धियों के ऐश्वर्य का भंडार उसके लिए खुल जाता है, वह सब तो अनन्त है, अद्भुत है, अपार है; उसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता। सचमुच, हे शूर! तू अपने जिन चित्र-विचित्र राधसों को बरसाता हुआ संसार के छोटे-बड़े पुरुषों को उनके अपने-अपने क्षेत्रों में विजय दिला रहा है और संसार को अग्रसर कर रहा है, उनका पार हम क्षुद्र मनुष्य कहाँ पा सकते हैं ! हे मघवन् तू हमें भी हमारे योग्य ऐक्वर्यों को प्रदान कर, अवस्य-अवस्य प्रदान कर। पर नहीं; हे इन्द्र ! हम तुझसे ऐरवर्य क्यों माँगें ? ऐरवर्यों की तो तू बिना माँगे हमपर अनन्त वर्षा कर रहा है। तू तो हमारी धियों को ठीक कर, जिनके ठीक न होने के कारण ही हम इस ऐश्वर्य-वर्षा में रहते हुए भी तेरे ऐश्वर्यों को प्राप्त नहीं कर रहे हैं। तेरे ऐश्वर्यों को हम अपनी धियों, बुद्धियों तथा कर्मों द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु हमारे ये ज्ञान और कर्म विगड़े हुए हैं, बड़े अरक्षित हैं। काम-क्रोध आदि प्रबल शत्रुओं के लगातार आक्रमणों के कारण हमारी बुद्धियाँ ही ठीक प्रकार से नहीं सोच सकतीं और हमारे कर्म ठीक नहीं हो पाते, इसीलिए हम तेरे ऐश्वयों से वंचित रहते हैं। हे वज्जवाले ! तू हमारी इन आक्रमणों से रक्षा कर। तू अपने वाजों द्वारा, अपने जानों और बलों द्वारा हमारी बुद्धियों और कृतियों की रक्षा कर । हम तो तुझसे यही माँगते हैं, हे अनन्त ऐश्वर्यवाले ! हम तुझसे यही चाहते हैं।

शब्दार्थ — शूर हे शूर ! सद्रा संचमुच ही ते तेरे राधसः ऐरवयों का अन्तं अन्त निह नहीं विन्दामि पाता हूँ। मधवन् हे ऐरवर्यवाले ! नः हमें नू चित् अवश्य ही तू दशस्य ऐरवर्य प्रदान कर, वाजेिमः ज्ञानों और बलों द्वारा धियः हमारी बुद्धियों व कर्मों की अद्रिवः हे वज्ज-वाले ! आविथ रक्षा कर।

THE PARTY OF THE PARTY OF THE PARTY OF THE PARTY OF THE

350

वेदिक विनय

८ फील्गुन

श्रभ्यूंणोंति यञ्चग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरम्। प्रेमन्धः ख्युन् निः श्रोणो भूत् ॥

-ऋक्० दा७शर

ऋषिः कृत्नुभागंवः । देवता सोमः । छन्दः गायत्री ।

विनय - उस परमदेव की महिमा के स्तुति-गीत मैं कहाँ तक गाऊँ ? उस परम दयालु की दयालुता का वर्णन करने के लिए मैं वाणी कहाँ से लाऊँ ? वे सोमप्रभु तो इस दुर्बल दुनिया पर जो प्रतिक्षण अनन्त उपकार कर रहे हैं, इस दु:खी संसार पर जो हर समय अपनी करणा बरसा रहे हैं उसका जब मैं ध्यान करता हूँ तो भेरा हृदय भर आता है, मेरा कण्ठ रुद्ध हो जाता है। उस प्रेम-सागर की प्रेम-कहानी कहने की चीज नहीं है; वह तो स्वयं अनुभव करने की वस्तु है। अरे, मैं तो साक्षात् देख रहा हूँ कि वह दयामय पिता होकर जो कोई नंगा है उसे ढक रहा है, और वैद्य बनकर जो कोई रोगग्रस्त हैं उन सबको भला-चंगा कर रहा है। यह बात केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं है। वह प्रेममय सोम तो जिसको गुण से नग्न देखता है उसे वह गुण देकर, उसी गुण-वस्त्र द्वारा उसे आच्छादित कर रहा है; और यह सारा संसार जो अपनी-अपनी व्याधि से आतुर हुआ पड़ा है, वह करुणा-परायण उन सब की चिकित्सा कर रहा है और उन सबको ही उल्लाघ (नीरोग) कर रहा है। और क्या कहूँ ! उस सोम की कृपा होती है तो अन्धा भी देखने लगता है और पंगु भी चल निकलता है। एक क्षण में अज्ञानी ज्ञान-प्रकाश पा जाता है और असमर्थं शक्तिपूर्ण हो जाता है। हमारे लिए ये बातें बेशक बड़े चमत्कार की हैं, पर ये इसीलिए हैं चूँकि हम अल्पज्ञानी जीव उस सोम की महान् विभूतियों को नहीं समझ सकते। सचमुच ही, उस सोम की करणा का कभी वाणी से वर्णन नहीं हो सकता, और कोई 'असंभव' नहीं जो उसकी कृपा से सम्भव नहीं हो सकता।

शब्दार्थ — यत् जो नग्नं नग्न है उसे (सोम प्रभु) अभ्यूणोंति ढक देता है, आच्छादित कर देता है, और यत् जो तुरं आतुर, रुग्ण है विश्वं उस सबकी, सब संसार की वह भिषक्ति चिकित्सा कर देता है। उसकी कृपा से अन्धः ईं अन्धा भी प्रख्यत् देखने लगता है और श्रोणः लूला भी निर्भूत् चल निकलता है।

वैदिक विनय

३८१

उ सामा हमार लिए स्तर्व भारा छाना

Pigitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

ह फाल्गुन

सुशेवों नो मृ<u>ळ</u>याकुरट्टंष्तक्रतुर<u>वा</u>तः । भवां नः सोम् शं हुदेः॥

—ऋक्० दा७१।७

ऋषिः कृत्नुभागंबः । देवता सोमः । छन्दः गायत्री ।

विनय-हे सोम ! निःसन्देह तुम हमारे हृदयों में समाये हुए हो। हम जानते हैं कि तुम्हारे रस, सोमरस, का पान हमारे इन हृदयों द्वारा ही होता है। तो फिर हमारे हृदयों में बसते हए भी, हे सोम ! तुम हमें शान्त और सुखी क्यों नहीं करते, हमें अपना रसपान कराकर सरस और सुखमय क्यों नहीं बनाते ? आओ, अब हमारे हृदयों के लिए तुम उत्तम-सुखवाले हो जाओ, सुखप्रदाता हो जाओ। हमें सुखी करो, अपने उत्तम सुख से सुखी करो। अपने सुख से, अपने उत्तम सुख से हमें ऐसा भरपूर कर दो कि दूनिया के सब बुरे सुख, परिणाम में विषरूप :होनेवाले सब विषय आदि के सुख हमारे लिए स्वयमेव त्याज्य हो जायँ, सदा के लिए परित्यक्त हो जायँ। यदि तुम हमारे ऐसे सु-सुखियता हो जाओगे तो तुम हमारे लिए 'अद्प्तऋतु' और 'अवात' भी हो जाओगे। तब तुम्हारी कृपा से हम भी अभिमानरहित, ज्ञान व कर्मवाले तथा अचलायमान हो जायेंगे। हम जो ज्ञान का अभिमान करनेवाले, बड़े अभिमान से कर्म करने-वाले, अभिमान की क्षुद्रता में उछलने-कूदनेवाले होते हैं तथा उद्विग्न और चंचलचित्त होते हैं वह इसीलिए होते हैं क्योंकि हम अनुभव नहीं करते कि तुम अपने सोमरूप से हमारे हृदयों में -समाये हुए हो, क्योंकि तुम्हें हृदय में रखते हुए भी हम तुम्हारे सोमरस से इस तरह सर्वथा वंचित रहते हैं। जिन धन्य पुरुषों के हृदयों को तुम अपने रस से परिपूर्ण करते हो वे तो सर्वथा निरहंकार और शान्त होते हैं, वे महान् ज्ञान और कर्म की शंक्ति रखते हुए भी बिलकुल निरिभमान और नम्र होते हैं; गम्भीर और प्रशान्त होते हैं। इसलिए हे सोम ! हम तुमसे प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे हृदयों के लिए कल्याणकारी होवो, अपनी परम सरसता और शीतलता प्रदान करते हुए हमारे हृदयों के लिए सुखकारी होवी।

शब्दार्थ सोम हे सोम ! तुम नः हमारे लिए सुशेवः उत्तम सुखवाले मृळयाकुः सुख-प्रदाता हा, अवृत्तऋतुः अभिमानरहित, ज्ञान और कर्मवाले और अवातः अचलायमान, शान्त हो, नः हमारे हृदे हृदय के लिए शं कल्याणकारी, सुखकारी भव होवो।

ः ३६२ •

वेदिक विनय

रहिल प्रवान कर

Digitized by Arya Samaj Founda

१० फाल्गुन न<u>स</u>न्यं बलाऽकरं मर्जितारं शतक्रतो । त्वं नं इन्द्र मृळय ॥

—ऋक् पाद । १

ऋषिः एकद्यूनौ धसः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय सचमुच तेरे सिवाय, हे शतकतो ! इस संसार में और कोई सुखियता नहीं है। इन भोग्य विषयों को, जिनके सुख पाने को यह संसार मरा जाता है, मैंने खूब जाँचा है, खूब परखा है, परन्तु हे इन्द्र ! मैंने देखा है कि इनमें तो सुख का लेश भी नहीं है। स्वजनों का प्रेम, धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा आदि को सुखदाता प्रायः सभी अनुभव करते हैं, परन्तु हे इन्द्र! मैंने देखा है कि उनमें भी कोई सुख नहीं है; जो कुछ इनमें उपलब्ध होता है वह भी इनका अपना नहीं है। मैं तो देखता हूँ कि तेज भूख में रूखा-सूखा खा लेने से जो स्वाभाविक सुख होता है, या गुरुचरणों के स्पर्श करने से जो सात्त्विक सुख मिलता है, उसका भी कारण वह भोजन व गुरु-चरण नहीं है, किन्तु तू है, हे शतकतो ! केवल तू है। तो फिर मुझ-जैसा पुरुष सुख पाने के लिए अब इस संसार में दर-दर मारा क्यों फिरेगा ? जिसने देख लिया है कि यह सब संसार जिसके जूठन और आंशिक मुख को भोग रहा है वह असली सुख-भण्डार तू है, वह पुरुष सुख पाने के लिए अब और कहाँ जायेगा ? इसलिए मैंने तो सुखियता तुझे ही कर लिया है। तेरे सिवाय मेरे लिए इस संसार में और कोई सुख दे सकनेवाला नहीं रहा है। ये सांसारिक विषय बेशक अपना सुखद रूप धारण करके, बड़े मनमोहक हृदयहारी रूप धारण करके, मेरे भी इर्द-गिर्द घुमते हैं, पर मैं इनके दु:खरूप नाम-सुख को लेकर क्या करूँगा ? मैं इनकी तरफ दृष्टिपात तक नहीं करता। इसी तरह धन-मान आदि भी अपने मलिन सुखों का प्रस्ताव मेरे सामने रखते हैं, पर मैं इन्हें अस्वीकृत करने के सिवाय और क्या करूँ ? मुझे तो अब जिस सुख की प्यास है वह तेरा सुख है, सीधा तुझसे मिलनेवाला विशुद्ध सुख है। मुझे दूसरे, तीसरे, और हजारों हाथों से आया सुख भी नहीं चाहिये। मुझ चातक की प्यास तो अब ऊपर तुझसे आनेवाले तेरे निर्मल दिव्य सुख से ही मिट सकती है। इसलिए हे इन्द्र! तू अब मुझे अपना सुख प्रदान कर, स्वयं अपना सुख प्रदान कर।

शब्दार्थ — शतऋतो हे शतयज्ञ ! अंन्यं तुझसे अन्य किसी मिंडतारं सुखियता को वला सच-मुच ही मैं निह अकरं नहीं करता हूँ, अतः इन्द्र हे परमेश्वर ! त्वं तू नः हमें मृळय सुखी कर। 34 97401 of (

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

११ फाल्गुन

यो नः शश्वंत् पुराविथाऽमृ<u>ध</u>्यो वार्जसातये । स त्वं नं इन्द्र मृळय॥

-ऋक्० दाद । २

ऋषिः एकद्यूनी धसः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय हे इन्द्र! तू वह है जो सर्वथा अहिंसक है, इतना प्रेममय और सर्वसमर्थ है कि तुझे कभी हिंसा करने की जरूरत नहीं होती; और अहिंसक होने से ही तू सर्वथा अहिंसित भी भी है, तेरा कभी विनाश नहीं किया जा सकता। और हे इन्द्र! तू वह है जो ऐसा अहिंसक होकर, ऐसा प्रेममय होकर पहले से सदैव ही हमारी रक्षा करता आया है। जब-जब कठिन समय आया है, जब-जब दुनिया के सब बलों को हारकर, भग्नाभिमान निर्वल होकर हमने तुझे पुकारा है, तब-तब तूने हमारी रक्षा की है और हमें बललाभ कराया है। सदा नये-नये बललाभ के लिए तू हमारी रक्षा करता आया है। हे इन्द्र! हे वही हमारे इन्द्र! तू इस समय भी हमारी रक्षा कर और हमें सुखी कर। इस समय चारों तरफ निराशा-ही-निराशा छा रही है, पाप की शक्तियों ने हमें चारों तरफ से दबा लिया है, हमारा कुछ बस नहीं चलता। हे इन्द्र! इस समय तू ही हमें बचा, तू ही हमारा उद्धार कर। हमें नया बल प्राप्त कराता हुआ फिर सुखी कर। हे सदा से हमारे बचानेवाले! अमृध्र! हमें सुखी कर, फिर सुखी कर।

शब्दार्थ—इन्द्र हे इन्द्र ! यः जिस अमृध्रः अहिंसक एवं अहिंसनीय तूने नः हमारी पुरा पहले शश्वत् सदा वाजसातये बल-प्राप्ति के लिए आविथ रक्षा की है सः त्वं वही तू नः हमें मृळय सुखी कर ।

नुख भी नहां काहिंगे। मूझ नाल की प्यास ना तम अगर तुर्गने जानेवाने तरे लियंत्र दिस्त तुष ने ही मिट सकती है। उसलिए हे एवं । तथा यह जनता मूस प्रवास कर, रहमें अपना सुख

-इद४

Digitized by Arya Samaj Foundation She man Convolution of GI

१२ फाल्गुन इन्द्र म <u>णो</u> रथंमन, प्रचाच्चित् सन्तमद्रिनः। पुरस्तदिनं मे कृषि।

—ऋक्० दाद । ४

ऋषिः एकद्यूनौ धसः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री।

विनय हे इन्द्र ! तुम मेरे रथ की रक्षा करो, मेरे पिछड़े हुए जीवनरथ की भी रक्षा करो; बल्कि यह मेरा रथ पिछड़ा हुआ है इसलिए हे बज्जवाले ! इसकी तुमें विशेषतया, प्रकृष्टतया रक्षा करो। मैं देख रहा हूँ कि वहुत-से मेरे साथी आगे निकल गये हैं, मेरे देखते-देखते अपने जीवनों को उन्नत बनाकर मुझसे बहुत आगे वढ़ गये हैं। कोई 'धृति' आदि धार्मिक गुणों को अपने जीवन में धारण कर उन्नत हो गया है, कोई 'अभय' आदि देवी सम्पत् के कारण आगे बढ़ गया है, कोई कठोर 'तपस्या' की शक्ति से विशेष वेगवान होकर मुझसे आगे निकल गया है, तो कोई विवेक-वैराग्य आदि 'साधनचतुष्टय' की साधना द्वारा मुझसे बहुत ही आगे बढ़ गया है, तथा कोई महान् आत्मा आत्मिक शक्तियों के दिव्य घोड़े पाकर एकदम हम सबका अतिक्रमण करके अग्रणी वन गया है। ये देखो, कर्मशूर कर्मयोगियों के एक-से-एक बढ़कर रमणीय रथ, ज्ञानियों-योगियों के एक-से-एक तेजस्वी रथ तथा भक्तों-महात्माओं के एक-से-एक दिवय-रथ मुझे पीछे छोड़कर आगे निकलते चले जा रहे हैं; पीछे से आकर भी 'तीव-संवेग' के कारण मुझसे आगे निकलते जा रहे हैं। तो हे परमेश्वर! मैं ही कब तक इस तरह पीछे रहता जाऊँगा ? अपनी इस मन्दगति से घिसटता हुआ चल्गा ? तुम्हीं मुझे इस तरह निरन्तर पिछड़ने से बचाओ, इस सतत अवनित से मेरी रक्षा करो। नहीं-नहीं, तुम केवल मुझे इस अवनित से ही नहीं बचाओं किन्तु मेरी उन्नति करो, निरन्तर प्रगति करो। मेरे इस जीवन-रथ की आगे बढ़ाओ, इसमें अपना इन्द्र-बल भरकर इसे अन्य रथों से भी आगे बढ़ाओ।

शब्दार्थ—इन्द्र हे इन्द्र! अद्रिवः हे वज्जवाले! नः हमारे पश्चात् चित् सन्तं पीछे भी होते हुए, पिछड़ते भी हुए रथं रथ को प्रथय प्रकृष्टतया रक्षा करो। में मेरे एनं इस रथ को पुरस्तात् आगे, आगे बढ़ा हुआ कृषि कर दो।

वैदिक विनय

Mapin of the

341.06

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३ फाल्गुन हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृषि। उपमं वाज्यु श्रवं: ।। पुरस्ताहेन में कथि।

ऋक्० दाद्राप्

ऋषिः एकद्यूनौ धसः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय तो फिर हे इन्द्र! अब क्या देर है ? तुम अब क्यों बैठे हो ? उठो, आज्ञा करो, कृपा करो, मेरे रथ को सबसे आगे कर दो, प्रथम स्थान पर पहुँचा दो। हाँ, सचमुच मैं सर्व-श्रेष्ठ मनुष्य बन्गा, सर्वप्रथम बन्गा। मैं राम की तरह मर्यादा-पुरुषोत्तम होऊँगा, मैं कृष्ण की त्तरह पूर्णपुरुष बन्गा, मैं जीवन की दौड़ में सर्वप्रथम रहूँगा। मेरी यह महत्त्वाकांक्षा स्वाभा-विक है। हरेक मनुष्य पूर्ण होने के लिए उत्पन्न हुआ है। जो कार्य कोई भी एक मनुष्य कर चुका है, वह मैं भी अवश्य कर सकता हूँ। मुझमें भी बिलकुल वैसा ही आत्मा विद्यमान है जैसा राम में था, जैसा कृष्ण में था या जैसा किसी भी महापुरुष में था। तो फिर मेरे उन-जैसे होने में क्या रुकावट हो सकती है ? और सर्वश्रेष्ठ बनाने का जो साधन है वह सब तुम्हारे पास विद्यमान है, मेरे लिए 'वाज' को चाहता हुआ 'श्रवः' तुम्हारे पास उपस्थित है। तुम यदि चाहो तो अपने 'श्रवस्' द्वारा, ऐश्वर्य द्वारा मेरे जीवन में 'वाज', बल और ज्ञान-प्रदान करके मुझे अधिक-से-अधिक उन्नत कर सकते हो। तो फिर हे इन्द्र ! अब तुम उठो, मुझमें उठो जागो; यदि तुम मुझमें उठोगे तो मुझमें वहाँ तक वाज, वहाँ तक ज्ञान व बल, प्रकट होता जायगा जहाँ तक सर्वश्रेष्ठ पुरुष होने के लिए आवश्यक है। अतः अब तुम क्यों बैठे हो ? अपने ऐश्वर्य द्वारा वाज देकर मेरे जीवन को सर्वोच्च बना दो, मेरे जीवन-रथ को सर्वप्रथम स्थान पर लाकर स्थापितं करं दो। नहीं बचाओं किन्तु मेरी ज़नींत करी, निएतर वर्गत करों।

बदाजी, इसमें जपना हन्द्र-बन् भरकर हुए अस्य र्यों में भी में बदाजी।

शब्दार्थ हन्तो तो फिर [हे इन्द्र !] तुम नु अब कि नयों आससे बैठे हो ? नः हमारे रथं रथ को प्रथमं सबसे आगे, प्रथम स्थान पर कृषि कर दो। वाज्य वाज-बल-ज्ञान चाहता हुआ अवः ऐरवरं तो उपमं तुम्हारे पासं [विद्यमान ही है]।

यात्रा तिकार्या है angotri

१४ फाल्गुंन अवा नो वाज्युं रथं सुकरं ते किमित् परि । अस्मान् सु जि़रयुर्वस्कृषि ।।

ऋषिः एकसूनी धसः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायस्रो ।

-अहक् ० दाद । इं

विनय—ये देखो, हे इन्द्र! हमारा रथ, हमारा जीवन तुम्हारे 'वाज' को चाह रहा है, आगे बढ़ने के लिए तुमसे ज्ञान, सामर्थ्य और बल माँग रहा है। जितना वाज इसे तुमसे प्राप्त और बल देकर इसकी तुम रक्षा करो, तृप्त करो, पूर्णता करो। अरे, मैंने तो जीवन की दौड़ में सर्वप्रथम होना है, विजय-पर-विजय प्राप्त करके जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करना है। इसलिए हे इन्द्र! तू मेरे इस वाजयु रथ को अपने वाज से इतना पूर्णतया भरपूर वर दो कि मेरा जीवन पूर्ण जीवन हो जाय, मेरा रथ सबका अग्रणी हो जाय। हे इन्द्र! तेरे लिए सब सम्भव है। तू कुछ भी कर सकता है और बड़ी सुगमता से कर सकता है। तेरे लिए कुछ भी करना सर्वथा सुकर है। तू हमें उत्तम विजेता बना दे। तू हमें ऐसा श्रेष्ठ विजेता बना दे कि हम मार्ग की सब बाधाओं को विजय करते हुए, जीवननाशिनी आसुरी शक्तियों पर एक-से-एक महिमाशालिनी विजय प्राप्त करते हुए अपनी यात्रा को सफल कर लेवें, जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर लेवें।

a for a second and and and antimed a for a second and a for a formal a formal

शब्दार्थं नः हमारे वाजयुं वाज, ज्ञानसामर्थ्यं और बल, चाहते हुए रथे जीवन-रथ की अब रक्षा करो, तृष्ति करो। ते तेरे लिए कि इत् कुछ भी, सब-कुछ परि सब तरह, सर्वथा सुकरं सुकर है। अस्मत् हमें सु जिग्युषः उत्तम विजयी, श्रेष्ठ विजेता कृषि कर दो।

वैदिक विनय

वद्ध .

परा राजन्य के पा

Digitized by Arya Samai Foundation Chennal and eGangotri

१५ फाल्गुन

विद्या हि त्वा तुविकूर्मि तुविदेष्णं तुविम्घम् । तुविमात्रमवीभिः॥

-ऋक्० दादशर; सा० उ० शशह

ऋषिः कुसीदी काण्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः निचंदगायती ।

ं विनयं अब हमने जाना, अब हमने समझा कि तू कितना-कितना कृपालु है, तू किस तरह हमपर अनवरत दया की वर्षा कर रहा है। तेरी रक्षाएँ, तेरी तृष्तियाँ, तेरी दीष्तियाँ, तेरी वृद्धियाँ, तेरी सब प्रकार की कृपाएँ, तेरे सब प्रकार के 'अवस्' हमें प्रतिक्षण अनगिनत प्रकार से प्राप्त हो रहे हैं। ओह, तू तो हमपर अपनी दया बरसाने के लिए ही 'तुविकूर्मि' हुआं हैं, बहुत प्रकार के कर्म करनेवाला अनन्त-कर्मा हुआ है। अपने लिए तो तुझे तीनों कालों में, तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं हैं, फिर भी जो तू अपने इन अनन्त ब्रह्माण्डों में अपना अखण्ड महान् कर्म प्रतिक्षण चला रहा है वह हम जीवों के कल्याण के लिए, हम जीवों के प्रमवश हो कर हो कर रहा है। हमपर कृपालु होकर ही तू 'तुविदेष्ण' = बहुत-बहुत देनेवाला, प्रतिक्षण सबको लगातार यथायोग्य देनेवाला हो रहा है। मनुष्य जब तेरे दानों का अनु-भने करने लगता है तो वह देखता है कि तूने सदा हमको देना-ही-देना है और तेरे इन देने का कहीं अन्त नहीं है। इसी तरह तू हमारे लिए, केवल हमारे लिए, 'तुविमघ' भी हुआ है, बहुत-बहुत ऐश्वर्यवाला ऐश्वर्य-भंडार बना है। स्वयं तो तू परिपूर्ण है, आप्तकाम है, तुझे कभी त्रिकाल में भी किसी भोग की आवश्यकता नहीं है, तो भी जो तू इस संसार में हर समय भोगों को उत्पन्न कर रहा है और उनका दान कर रहा है वह हम जीवों की तृष्ति के लिए, हमारी पूर्णता के लिए ही कर रहा है। और जो तू 'तुविमात्र' हुआ है, बहुत परिमाणवाला हुआ है, वह भी अपने 'अवसों' से हुआ है, अपने रक्षण आदियों को हमें पहुँचाने के लिए हुआ है। हमें तू सदा सर्वत्र अपनी रक्षा प्रदान कर सके इसीलिए मानो तूने अपने को अनन्तकाल और अनन्त देश तक फैला दिया है। आह, तू किस तरह हम पुत्रों के हिल के लिए प्रेमविह्वल होकर अनन्तकर्मी, अनन्तदानी, अनन्तधन और अनन्तपरिमाण हो रहा है ! हे प्रभो ! हम तेरे इन अगणित उप-कारों का कभी कैसे बदला चुका सकते हैं, तेरी अनन्त कृपाओं से हम अनन्तकाल में भी कैसे उऋंण हो सकते हैं ?

जिल्ला कि सामित है। ति सम्देह हम स्वा तुझे अवोभिः रक्षा, तृष्ति, दीष्ति, वृद्धि आदियों से तुष्तिम् बहुत कर्मावाला तुविदेष्णं बहुत दानी तुविमघं बहुत धनवाला तथा तुविमातं बहुत प्रिमाणवाला विद्याजानते हैं।

.वेदद

plante off-

XU. IV

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६ फील्गुन

एतो न्विन्द्रं स्तवामेश्चानं वस्वः स्वराजम् । न रार्थसा मर्थिषन्नः॥

-अथर्वे० दादशार

ऋषिः कुसीदी काण्यः । देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री ।

विनय-देखो, आजकल यह संसार धन के कारण नष्ट हुआ जा रहा है। लोग धन के पीछे पागल तो इसीलिए हो रहे हैं, धन को इतनी बुरी तरह से कमा तो इसलिए रहे हैं कि इससे उन्हें जीवन मिलेगा, किन्तु यह उन्हें मार रहा है। धन आजकल इतना मर्यादा को लांच गया है कि वह 'स्व' होने की जगह हमारा स्वामी वन गया है; इसीलिए इस धन ने हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति को बिलकुल रोक दिया है। धन का जंग लगाकर हमारा यह त्रिविध तेज जाता रहा है, भोग में पड़कर हमारा त्रिविध वीर्य नष्ट हो गया है। इसलिए, हे मनुष्यो ! आओ, हम इस धन की मार से किसी तरह बचें। हे संसार-भर के मनुष्यो ! आओ, हम उस अपने इन्द्र की स्तुति करें, उसके सामने झुकें, जो हमारा परम ऐश्वयं-वाला प्रभु है। यदि हम उस परमैश्वर्यवाले को न भूलेंगे, यदि हम अपने ऊपर उस 'ऐश्वर्यों के ईश्वर' के राज्य को देखेंगे, यदि हम उस स्वयंराजमान के 'स्वराज्' के नियमों में सदा चलेंगे तो ये धन हमें पागल नहीं कर सकेंगे, ये हमारे मालिक नहीं हो सकेंगे। हम पागल इसीलिए होते हैं क्योंकि हम अपने उस 'वस्व: ईशान' को भूल जाते हैं जो हमें जब जिस ऐश्वर्य की जरूरत होती है तब उसी ऐश्वर्य को हमें स्वयमेव दे रहा है; हम धन के गुलाम इसीलिए होते हैं क्यों कि हम स्वयंराजमान होने के स्थान पर धन से राजमान होना चाहते हैं, अपने 'स्व' पर-अपने शरीर, इन्द्रिय आदि धन तथा बाह्य धन पर-राज्य करने की जगह उनके वशवर्ती हो जाते हैं। तभी यह होता है कि भौतिक धन तथा आध्यात्मिक ऐक्वर्य (विभूतियाँ, सिद्धियाँ) हमारे साधन होने की जगह हमारे लक्ष्य बन जाते हैं और हमारी उन्नति को रोक देते हैं। इसीलिए आजी, भाइयो ! अब हम अपने ऐश्वयों के ईशान, 'स्वराट्' प्रभु का भजन करें। उसका भजन किये बिना कभी उसके धन का भोग न करें। अहा, क्या ही सुन्दर दृश्य होगा जब संसार-भर के हम मनुष्य-भाई मिल करके उस अपने 'इन्द्र' प्रभु की स्तुति करेंगे और उसका पूजन करते हुए ही इन धनों का भोग करेंगे और तब ये धन भी नौकरों की तरह हमारी सेवा करनेवाले हो जायेंगे, हमारी उन्नति कराने के लिए उचित साधन बन जायँगे !

शब्दार्थ हे मनुष्यो ! एत उ आओ, हम नु अब वस्वः ईशान ऐश्वयों के ईश्वर स्वराज स्वयं राजमान, स्वराट् इन्द्रं परमेश्वर की स्तवाम स्तुति करें, भजन करें, जिससे वह नः हमें राधसा धन द्वारा, सिद्धियों के ऐश्वर्य द्वारा न मधिषत् न मार दे, न मिटा दे।

वैदिक विनय

马玩是

Digitized by Arva Samai Foundation Chennal and egandoth

१७ फील्ग्रेन

विश्वा हि मंर्त्त्यत्वना उनुकामा शंतकतो । ग्रगंन्म वजित्राशसं: ॥

-ऋ० दाहरा१३

ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । देवता इन्द्रः । छन्दः गायती ।

विनय हे शतंत्रतो ! हम मर्त्यं हैं, मरणशील मनुष्य हैं। यह स्वाभाविक है कि हमारे हृदय कामनाओं से भरे हुए हों। यदि हममें कामनाएँ नहीं रहेंगी तो हम मर्त्यं नहीं रहेंगे; मर्त्यं से ऊपर कुछ वस्तु हो जायँगे, अमर्त्यं हो जायँगे। सब मनुष्यपन कामनाओं के अनुगत हैं। जितने मर्त्यपन हैं वे कामनाओं के पीछे चलने के कारण हैं। हम नाना प्रकार की मृत्युओं के वश इसीलिए होते हैं, दु:ख के गर्त में इसीलिए गिरते हैं, क्योंकि हम कामनाओं से घिरे होते हैं, इच्छाओं से सताये होते हैं। इसलिए हे इन्द्र ! तुम हमें किसी तरह कामनाओं से ऊपर उठाओ। परन्तु बड़ी मुश्किल यह है कि यदि हम इन कामनाओं को दबाते हैं तो ये दबती नहीं, अन्दर-अन्दर से हमें खाने लगती हैं; और यदि हम इन्हें तृप्त करते हैं तो ये और बढ़ती हैं, जैसे घृता-हुति को पाकर अग्नि और भड़कती है उसी तरह ये और बढ़ती हैं। इसलिए, हे शतकतो ! हे प्रभूतसंकल्प ! हम तुमसे प्रार्थना करते हैं, तुम ऐसी कृपा करो कि हमारी ये कामनायें 'आशस्' के रूप में परिणत हो जायँ। हे वज्जवाले ! तुम हमें ऐसी विवेक-शक्ति प्रदान करो कि हम अपनी सब क्षुत्र अनुचित कामनाओं का ज्ञानपूर्वक उन्मूलन कर सकें और इस तरह अपनी व्यापी और अच्छी इच्छाओं को, आशसों को पनपा सकें। यदि तुम ऐसी कृपा करोगे तो जहाँ हमारी सब दबाने योग्य बुरी इच्छायें निर्मूल हो जायेंगी वहाँ हमारी सब बढ़ाने योग्य अच्छी इच्छायें संकल्परूप बन जायँगी, शक्तिरूप हो जायँगी। यही प्रकार है जिससे कि हम इन कामनाओं की साधना द्वारा मर्त्य से अमर्त्य हो जायँगे और एक दिन तुम्हें पा जायँगे। इसीलिए हे प्रभो ! हम तुमसे विनती करते हैं कि तुम हमें कामनाओं से 'आशसों' को प्राप्त कराओ, हमारी विशाल और दृढ़ आशाओं को पूर्ण कराओ। विवार कमी छस्के यह का भीव न करें। तहां, रेवा ही सुनर तुरम होवा वहां स्वाय-कर है हन मनुष्य कार्र विवस करके छस अपने होन्ने असू की स्तृति करने और अवना क्षेत्र कार्र कुर हो

शब्दार्थं शतकतो हे प्रभूतसंकल्प ! विश्वा हि सब ही मर्त्यंत्वना मर्त्यंत्व, मरणशील-तायें; मनुष्यपन अनुकामाः कामनाओं की अनुगत हैं, कामनाओं के कारण हैं। विज्ञिन् हे वज्र-वाले ! हम आशसः आशाओं को, दृढ़ विशाल इच्छाओं को अगन्म प्राप्त हों।

पुत्र हमीं का भीग करेंगे और तब ये तब भी बीहरों की सरह हमारी मैना करतेवाते को बारी

3€0.

MANAGE OF THE

वैदिक विनय

े विका सभी दसके यह का भीष न करे। सहर

इमारी उल्लेखि हराने हे लिए उन्नित साञ्चन यन जाती !

व इसारा इम तेन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chernal and eCangotti

्षद फाल्गुन त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीम<u>हि</u> स्पृधं:। त्वमस्माकं तर्व स्मसि।।

—ऋक्० दाहराइर

ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । देवता इन्द्रः । छन्दः गायती ।

विनय हे जगदीस्वर ! इस स्पद्धीमय जगत् में हमने तुम्हारा आँचल पकड़ लिया है। तुमसे जुड़े रहकर ही हम इस संसार में विजयी हो सकते हैं। लोग वेशक कहते हैं कि संसार में विजयी होने के लिए धन चाहिये, प्रचार चाहिये, सैन्य चाहियें, हथियार चाहियें; किन्तु हम तो देखते हैं कि ये सब तीर-तोपें धरी रह जाती हैं यदि हम तुमसे जुड़े नहीं रहते। सचाई, प्रेम आदि अविनश्वर सत्य नियम हैं जिनसे हम तुमसे जुड़े हुए हैं। यदि कभी हम इन तुम्हारे प्रेम-बन्धनों को तोड़कर जुदा खड़ा हो जाते हैं, किसी स्पर्द्धा में शीघ्र विजयी होने के लिए या किसी शत्रु को किसी-न-किसी तरह अवश्य पराजित करने के लिए यदि हम तुम्हारे इन प्रेम-बन्धनों को भी तोड़कर तुमसे जुदा हो जाते हैं तो हम कहीं के नहीं रहते, हम विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए हे इन्द्र ! हम तो अव तुम्हारे सहाय से-केवल तुम्हारे ही साथ से-अपने प्रतिस्पिधयों का मुकाबिला करना चाहते हैं, अपने शत्रुओं का प्रतीकार करना चाहते हैं। तुम हमें ऐसी शक्ति प्रदान करो कि हम बड़े-से-बड़ा प्रलोभन आने पर भी कभी तुम्हारे सत्य नियमों का उल्लंघन करने का विचार तक न कर सकें, और इस तरह तुमसे कभी जुदा न हो सकें। ओह, हम तुमसे जुदा हो ही कैसे सकते हैं ? तुम्हें छोड़ ही कैसे सकते हैं ? तुम तो हमारे हो, और हम तुम्हारे हैं। तुम ही हमारे हो, और हम तुम्हारे ही हैं। तुम हमारे पिता हो, माता हो, स्वामी हो, सखा हो, गुरु हो, पित हो, सब-कुछ हो। तुम हमारे क्या नहीं हो ? इसलिए हम तो कहते हैं कि तुम हमारे हो, बस हमारे हो। और हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे पुत्र हैं, दुलारे हैं, सेवक हैं, सखा हैं, शिष्य हैं, प्यारे हैं, जो भी कुछ हैं, तुम्हारे हैं, हे प्रभो ! तुम्हारे ही हैं। सचमुच, तुम ही हमारे हो और हम तुम्हारे ही हैं। हमें तुमसे कौन जुदा कर सकता है ? हम तुमसे कैसे जुदा हो सकते हैं ?

शब्दार्थ---इन्द्र हे परमेश्वर ! त्वया इत् तेरे ही युजा साथ से, जुड़े रहने से वयं हम स्पृधः स्पृद्धां करनेवालों का, प्रतिद्वन्द्वियों का प्रतिबुवीमहि प्रतीकार करें, मुकाबिला करें, जीतें। त्वं तू अस्माकं हमारा है और हम तव तेरे स्मिस हैं।

\$3£.

ESIGSIP OF THE

रेक पिया हम केल ल तरी हा पारचया करे

्१६ फाल्गुन त्वामिद्धि त्<u>वा</u>यवौ ऽनुनोनुंवत्रश्चरांन् । सर्खाय इन्द्र कारवैः ॥

ऋक्० दाहराइइ

ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा। देवता इन्द्रः । छन्दः गायत्री।

विनय—हे इन्द्र! हम लोग, हम सब सखा लोग तेरी ही परिचर्या करें; हम सब 'कार' सखा लोग सदा तेरा ही सेवन करें। जिनके हृदयों में तेरे भजन की इच्छा उत्पन्न हुई है, जिनको थोड़ी-बहुत तेरी प्रौति प्राप्त हुई है, ऐसे हम सब सखा लोग कारु होकर तेरा ही परिचरण करें, अपने एक-एक आचरण द्वारा तेरा ही सेवन करें। तुझे चाहते हुए, तुझे प्राप्त करना चाहते हुए, तुझ तक पहुँच करना चाहते हुए हम प्रेम में मस्त होकर तेरे ही स्तुति-गीत गाय, जगह-जगह तेरी ही अलख जगायें। हम कारु होवें, तेरे स्तोता होवें और कर्म करनेवाले स्तोता होवें। हम तेरे कोरे स्तोता न होवें, केवल वाणी से तेरे स्तोत्र-पाठ करनेवाले न होवें, किन्तु हमारा एक-एक कर्म ही तुम्हारी स्तुति-रूप होवे, हमारा एक-एक कार्य ही मुखरित होकर तुम्हारी गुण-गाथा कहनेवाला होवे। ऐसे कारु होकर तेरा बहुत-बहुत स्तवन करते हुए, तेरे बार-बार गुणगान गाते हुए हम विचरें, संसार-भर में विचरें। हम तेरे सखा लोग तेरा ऐसा भिन्त-प्रचार करते हुए एक के बाद एक अपने जीवनों को तेरी सेवा में लय करते जायें, तेरी सिक्रय सेवा में समिप्त करते जायें, और इस तरह इस संसार को ऊँचा-ऊँचा उठाते जायें। आह! इस प्रकार हे इन्द्र! तेरा यह व्यापक कियामय भजन हम सखाओं द्वारा अनवरत चलता रहे, तेरी शक्तिमती भिनत का प्रवाह इस संसार में निरन्तर बहता रहे, हे प्रभो! निरन्तर बहता रहे।

ियत है, स्थाने हैं, जो भी जुट है। युक्त है है समया र सुमान है। है र सम्मुन है। इसियार ही और हम ज़ाहारे ही है। इसे सुमस्त कीन ज़ुदा कर सम्बद्ध है र हम सुनस नसे पुरा हो

शब्दार्थ इन्द्र परमेश्वर ! त्वायवः तुझे चाहते हुए कारवः तेरी सिक्रिय स्तुति करनेवाले सिखायः हम भक्त साथी लोग अनुनोनुवतः एक के बाद एक तेरी बहुत और बार-बार स्तुति करते हुए त्वां इत् हि केवल तुझे ही चरान् परिचर्या करें।

, वहर

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

y riya ogmaj rodinadion onomiarana oc

२० फाल्गुन

श्चम्या दंघामि समिध्यग्ने वतपते त्वि । वर्तं चं श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽश्चहम् ॥

-यजुः० २०।२४

ऋषिः आश्वतराश्विः। देवता अग्निः। छन्दः निचृदनुष्टुप्।

विनय हे अग्ने ! हे व्रतपते ! मैं तुझमें अपनी सिमधा को रखता हूँ । इस सिमधा को रखता हुआ मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ । इस तरह दीक्षित होकर मैं, हे अग्ने ! तुझे

समिद्ध करता हुँ, तुझे प्रदीप्त करता हुँ।

आचार्य अग्ने ! तुम स्वयं व्रतों का ठोक-ठीक पालन करनेवाले हो, अतएव मुझे भी व्रतों का पालन करवा सकनेवाले हो । इसलिए हे व्रतपते ! तुम-अग्न में मैं अपने-आपको समिद्या बनाकर आहित करता हूँ, समिद्ध होने योग्य अपने-आपको तुमसे समिद्ध होने के लिए तुममें समिपत करता हूँ । इस तरह अपने-आपको पूरी तरह तुम्हारे अधीन करके मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ; सत्य पालन आदि शिष्य के व्रत को तथा सत्य की घारणा के लिए तुममें दृष्ठ विश्वासरूप श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ । सत्य व्यवहार आदि व्रतों के पालन करने का दृढ़ निश्चय करके तथा सत्य में और तुममें अविचल श्रद्धा रखकर मैं आज से तुम्हें अपने-आपको सर्वथा समिपत करता हूँ । इस प्रकार तुमसे दीक्षित होकर, ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होकर, तुम्हारा ब्रह्मचरी वनकर, हे ज्ञानमय अग्ने ! मैं तुम्हें सिमद्ध करता हूँ, तुम्हें भी प्रदीप्त करता हूँ । नि:सन्देह, तुम-पवित्राग्न में अपने-आपको जलाकर जहाँ मैं प्रदीप्त होता हूँ वहाँ मुझ जलती हुई सिमधा को प्राप्त करके हे अग्ने ! तुम भी अवश्य प्रदीप्त होते हो, जगत् में प्रकाशित होते हो ।

हे परम आचार्य ! परम अग्ने ! हे पूर्णतया व्रत को पालन करने और करा सकनैवाले ! मैं तुममें अपनी सिमधा को पूर्णतया प्रदीप्त करने के लिए, संसार में जन्म पाने के अपने उद्देश को पूर्ण करने के लिए रखता हूँ । मैं अपने महान् व्रत को और तुममें अटल श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ । इस तरह तुम्हारा बनकर हे परम अग्ने ! मैं तुम्हें बढ़ाता हूँ, तुम्हारे परम तेज को प्रका-

शित करता हूँ।

शब्दार्थ अग्ने हे अग्ने ! व्रतपते हे वर्तों के पालक ! त्विय तुझमें मैं सिमधं सिमधा को अभि आ दक्षािम रखता हूँ। वर्तं च वर्त को श्रद्धां च और श्रद्धा को उपैमि प्राप्त होता हूँ। दीक्षितः एवं दीक्षित होकर अहं मैं त्वा तुझे ईन्धे प्रदीप्त करता हूँ।

वैदिक विनय

\$ 3 5

न द स्व क ८ प

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२१ फाल्गुन

दूराच्चेक<u>मा</u>नार्यं प्रति<u>पा</u>णायाक्षये । त्रास्मां त्रश्रुष्<u>वन्नाशाः</u> कामेनाजन<u>य</u>न् स्वः ॥

-अथर्व० १६।५२।३

ऋषिः ब्रह्मा । देवता कामः । छन्दः चतुष्पादुष्णिक् ।

विनय-अहा ! आज मेरी सुनवाई हो गई है, मुझे मेरा 'प्रतिपालन' मिल गया है, मैं सूखी हो गया हुँ। दिशाओं ने मेरी प्रार्थना को सुन लिया है। न केवल सुन लिया है, अपितू संकल्प के कारण मुझे मेरा अभीष्ट प्राप्त कराकर मुझमें उसका सुख भी उत्पन्न कर दिया है। एक समय था जब मैं दूर से इसकी इच्छा करता था, बार-बार कामना करता था। इस दूरस्थ विषय की, इस दुष्प्राप्य-सी वस्तु की बार-वार प्रार्थना करता था। उस समय लोग मुझपर हँसते थे, मुझे पागल समझते थे। कहते थे, 'यह असम्भव है', 'अभी इसका समय नहीं आया है', 'इस देश के लोगों को रक्षण अभी कसे मिल सकता है', 'इस जन्म में तो यह होनेवाला नहीं है; परन्तु मेरी धारणा दृढ़ थी, मेरी इच्छा सच्ची थी। अतः मैंने इस प्रार्थना को जारी रखा। मेरा हृदय प्रतिपालन, रक्षण पाने के लिए निरन्तर पुकार मचाता रहा। उस समय बेशक यही दीखता था कि मेरे हृदय से निकली ये सव पुकारें, ये सब प्रार्थनाएँ केवल इस शून्य आकाश में लीन हो जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं, विलकुल बेकार जाती हैं। पर अब मैं देखता हूँ कि मेरी हृदय से निकली ये प्रार्थनाएँ प्रभू के अक्षय हृदय में, अक्षय अन्तरिक्ष-हृदय में, ईश्वरीय मनोमय वायु-मंडल में ठीक प्रकार से गृहीत होती थीं और वहाँ सुरक्षित रहती थीं। अब देखता हूँ कि मेरी एक बार की प्रार्थना भी व्यर्थ नहीं गई है। उन्हीं का फल है कि एक वह समय भी आया था जबिक दिशाओं ने इन्हें सुना, चारों दिशाओं के वासियों में इसकी खूब चर्चा हुई। लोग इसे सम्भव, उचित और शीघ्र हो सकनेवाली वस्तु समझने लगे। आज तो यह 'प्रतिपालन' साक्षात् उपस्थित ही हो गया है और इस समय हमें सुखी कर रहा है। सचमुच, इस प्रभु की सृष्टि में कोई सच्चा और दृढ़संकल्प ('काम') व्यर्थ नहीं जाता, कभी व्यर्थ नहीं जाता।

शब्दार्थ — दूरात् दूर से, दूरस्य विषय की चकमानाय बार-बार कामना करते हुए अक्षये अक्षय [ईश्वरीय हृद्य] में प्रतिपाणाय प्रतिपालन के लिए, रक्षण के लिए [पुकारते हुए] अस्मै इस मुझे आशाः दिशाओं ने आ अश्वण्वन् सुन लिया है और कामेन संकल्प द्वारा स्वः उसके सुख को अजनयन् उत्पन्न कर दिया है।

368

वैदिय विनय

मधा का अन्तर्

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and egangetr

२२ फाल्गुन मेधामहं प्रंथमां ब्रह्मण्व<u>तीं</u> ब्रह्मजू<u>ता</u>मृषिष्टुताम् । प्र<u>पी</u>तां ब्रह्म<u>चा</u>रिभिर्देवा<u>ना</u>गर्वसे हुवे ॥

-अथर्वे० ६।१०८।२

ऋषिः शौनकः । देवता मेधा । छन्दः उरोबृहती ।

विनय-मेधा के बिना मैं विनष्ट हुआ जा रहा हूँ। मैं बहुत-कुछ पढ़ता हूँ, उत्तम-उत्तम उपदेश सुनता हूँ, परन्तु उन्हें धारण नहीं कर सकता। मेरे मानसिक देह को ऐसी अवस्था हो रही है जैसे वमन या प्रवाहिका रोग से ग्रस्त पुरुष की होती है। मेरी ऐसी दयनीय दशा इस-लिए हो गई है क्योंकि मुझमें धारणावती बुद्धि या मेधा की कमी है। 'मेधा शक्ति' न होने के कारण, न केवल मेरी आगे की उन्निति रुक गई है अपितु मुझमें जो विद्यमान 'देव' हैं, दिव्य शक्तियाँ हैं वे भी क्षीण होती जा रही हैं, ज्ञान-भोजन न मिलने के कारण विनष्ट होती जा रही हैं। इसलिए मैं अब मेधा का भिक्षुक हुआ हूँ। मैं आज मेधा-शक्ति का आह्वान कर रहा हूँ; अपनी दिव्य शक्तियों की रक्षा के लिए मेघा देवी को पुकार रहा हूँ। ओह, मेघा तो वह मुख्य सर्वश्रेष्ठ शक्ति है जो कि 'ब्रह्मण्वती' है, ब्रह्मा को, ज्ञान को, वेद-ज्ञान को धारण करनेवाली है; अतएव जो ब्रह्मजूत है, ज्ञानियों, ब्रह्मज्ञानियों, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों द्वारा सदा सेवित की गई है। मेघा के बिना तो वेदज्ञान भी नहीं मिल सकता, अतएव सब ज्ञानी लोग सदा इस मेधा का सेवन करते रहे हैं। 'मेधा' वह प्रशस्त शक्ति है जिसका ऋषियों ने भी स्तवन किया है, जिसका साक्षात् दर्शन करनेवाले मुनियों ने भी गुणगान किया है। 'मेघा' वह अमृत है जिसका ब्रह्मचारी पान करते रहे हैं, जिसका पान करके तेजस्वी हुए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-शक्ति की पूर्णता को प्राप्त करते रहे हैं, जिसका पान करके अमृत हुए ब्रह्मचारी अपने अन्दर तीनों लोकों तथा सब देवों को धारण करते रहे हैं। उसी मेधा को मैं पुकार रहा हूँ, उसी दिव्य-शक्ति का मैं अपने में आह्वान कर रहा हूँ। हे मेधे ! तुम आओ, मेरे इन देवों को विनष्ट होने से वचाओ ।

शब्दार्थ — अहं मैं प्रथमां मुख्य, प्रथम ब्रह्मण्वतीं ज्ञान, वेदज्ञान रखनेवाली ब्रह्मजूतां ब्रह्मजानियों से सेवित ऋषिष्टुतां ऋषियों से स्तुति की गई ब्रह्मचारिभिः प्रपोतां ब्रह्मचारियों द्वारा पान की गई मेधां मेधा शक्ति को देवानां अवसे अपनी दिव्य शक्तियों की रक्षा के लिए हुवे आह्वान करता हूँ, पुकारता हूँ।

वैदिक विनय

235

इ उबा प इस कागा

Digitized by Arya Şamaj Poundation Chennal and eGangoth

२३ फाल्गुन

महे नो अन्य बोध्योषों राये दिवित्मंती।

यथा चिन्नो अवीधयः सत्यश्रीवसि वाय्ये सुजाते अश्वीसृतते ।

—ऋक्० प्रा७६।१; सा० पू० प्राशाक्षाः; सा०उ० दा३।११

ऋषिः सत्यश्रवा आन्नेयः। देवता उषाः। छन्दः पङ्क्तिः।

विनय-हे उष: ! तू मुझे आज महान् ऐश्वर्य के लिए जगा। हे जगानेवाली देवि ! त मुझे ऐसा जागत कर कि मेरे लिए आज आत्मज्ञान का प्रकाश हो जाय, मुझे वह आत्मज्ञान मिल जाय जो सब ऐश्वयों का ऐश्वयं है, जो बड़े-से-बड़ा दिव्य ऐश्वयं है। तू तो 'दिवित्मती' है, दिव्य प्रकाश को रखनेवाली देवी है। तु मुझे अपने इस सर्वश्रेष्ठ दिव्य प्रकाश को और कब प्राप्त कराएगी ? जिस तरह तू मुझे समय-समय पर जगाती रही है, मुझमें नये-नये ज्ञान-प्रकाश को चमकाती रही है, मुझे दिव्य उद्बोधनों से ठीक समय पर प्रबुद्ध करती रही है, उसी तरह तू आज हे सुजाते ! हे अश्वसूनृते ! तू आज मेरे इस 'सत्यश्रवा वाय्य' जीवन में उस अपनी परम ज्योति को भी जगमगा दे, उसे जगाकर मेरे इस जीवन को ही सफल कर दे। मेरा जीवन सस्य पर ही आश्रित है, सदा सत्यश्रवण के अनुसार चलनेवाला 'सत्यश्रवा' है। इसलिए यह अवश्य तुझ द्वारा 'वाय्य' है, निरन्तर प्रापणीय है, अविच्छिन्नरूप से विस्तारणीय है। तू महान् व्यापक प्रियसत्यात्मिका वाणी है, तू महान् सत्यसंकल्प-रूपा है। तो मैं अपने इस 'सत्यश्रवस्' जीवन के अविच्छिन्न विस्तार के लिए तुझसे प्रार्थना न करूँ तो किससे प्रार्थना करूँ ? इसलिए, हे अश्वसूनृते ! आज तो तू मुझे अपने उस परम सत्य को भी सुना दे। हे सुजाते ! हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मनेवाली! हे उत्तम ज्ञान के साथ प्रकट होनेवाली! तू मेरे लिए और किस दिन सुजाता होगी ? देख, भौतिक धनों की तो मैंने कभी चाहना ही नहीं की है, ऋद्धि-सिद्धि के दिन्य ऐरवयों की कामना को छोड़े हुए भी मुझे बहुत समय हो गया है, अब तो मैं अवश्य तेरे इस परम ऐश्वर्य का अधिकारी बन चुका हुँगा। इसलिए हे उषः ! तू मुझे आज अवश्य जगा, मुझे अपने उस आत्मज्ञान के महान् ऐश्वर्य में जगा, जिसे प्राप्त कर सब महात्मा लोग मालामाल होते रहें हैं, जिसमें जागकर सब मुक्त जीव निहाल होते रहे हैं। हे उष: ! तू मुझे आज ऐसा ही जगा, ऐसे ही निहाल करनेवाले महान् धन के लिए जगा।

शब्दार्थ — उत्तः हे उताः ! दिवित्मती दिव्य प्रकाशवाली ! तू नः हमें अद्य आज महे राये महान् ऐश्वयं के लिए बोध्य जगा । यथाचित् जिस प्रकार तू पहले नः हमें अबोध्यः जगाती रही है, उसी प्रकार सुजाते हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मनेवाली ! अश्वसूनृते हे महान् व्यापक प्रिय सत्यात्मका वाणि ! तू आज तेरे इस सत्यश्रवसि सत्य ज्ञानवाले वाय्ये निरन्तर विस्तारणीय जीवन में [प्रकट हो] ।

388

वीदक विनय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४ फाल्गुन

मुजाभ्यः पुष्टिं विभर्जन्त आसते रियमिव पृष्टं मुभवन्तमायते । असिन्वन् दंष्ट्रैः पितुरंत्ति भोजंनं, यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्ष्यः॥

--ऋक्० २।१३।४

ऋषिः शौनकोगृत्समदः । देवता इन्द्रः । छन्दः जगती ।

विनय हे प्रभो ! हम देख रहे हैं कि जो लोग सच्चा यज्ञ कर रहे हैं, वे शुष्णासुर के वश होकर कभी अपनी ही पुष्टि में न लगकर, सदा सब ही प्रजाओं के लिए पुष्टि को बाँट रहे हैं, विभाजन कर रहे हैं। वे बैठे हुए ऐसा यज्ञचक चला रहे हैं, सम्पत्ति की उत्पत्ति, विनिमय, व्यय आदि का ऐसे यज्ञिय प्रकार से संचालन कर रहे हैं कि उनके धन की पुष्टि प्रत्येक प्रजा-जन को पहुँच रही है, प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो रही है। अतएव उनके यहाँ अमीर-गरीब के भयंकर भेद और उनके उपद्रव भी नहीं हो रहे हैं। वे तो अतिथियज्ञ के सिद्धान्त को अपने सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए लगा रहे हैं। जैसे आये हुए अतिथि के सम्मुख अपना सर्वश्रेष्ठ और बड़े-से-बड़ा ऐश्वर्य प्रस्तुत कर दिया जाता है, वैसे वे लोग धारक से धारक को, प्रभावशाली से प्रभावशाली सम्पत्ति को समान भोग के लिए सब प्रजाओं में बाँट देते हैं, सब मनुष्यों को सुलभ कर देते हैं। इस प्रकार इनका वह राष्ट्र हे इन्द्र ! तुझ पिता से आये हुए, सबके पालन के लिए तुझसे आये हुए भोजन को ठीक प्रकार खाता है, भोग प्राप्त करता है। वह दंष्ट्रों से उसे न बाँधता हुआ खाता है, भोगता है। यही कारण है जिससे वहाँ तुझ पिता का भोजन सब पुत्रों को पहुँचता है, प्राप्त होता है। यदि दंष्ट्र उस प्राप्त भोजन से अपनी ही पुष्टि करने के लिए उसे बाँघ लें, उसे मुख में ही रोक लें तो वास्तव में उन्हें भी उसकी पुष्टि न मिल सके। इसलिए सबकी पुष्टि में अपनी पुष्टि समझने के कारण उस राष्ट्र में धन-प्राप्ति का साधन बननेवाले लोग धन को, भोजन को, कभी बाँधते नहीं हैं, किन्तु इस भोजन को सबको यथोचित रूप से पहुँचा देते हैं और इस प्रकार प्रत्येक प्रजा-जन को अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त कराते हैं। यह सब यज्ञ-सिद्धान्त की महिमा है, यज्ञ-सिद्धान्त पर आचरण करने का माहात्म्य है। पर नहीं, हे इन्द्र ! इसके लिए हम तुम्हारी ही स्तुति करते हैं। चूंकि इस यज्ञ-सिद्धान्त के मूल में तो तुम हो, प्रथम यज्ञ करने-वाले यज्ञरूप तो तुम हो। सबसे पहले तुम ही 'अनश्नन्' होकर, सब संसार के लिए भोगों को, सब भोजमों को त्याग रहे हो, उनसे यज्ञ-हवन कर रहे हो।

शब्दार्थ—इव जैसे आयते आये हुए अतिथि के लिए पृष्ठं धारक प्रभवन्तं प्रभावभावी दियं ऐक्वर्य को प्रस्तुत किया जाता है, वैसे सच्चे याज्ञिक लोग पुष्टि पुष्टि को प्रजाम्यः सब प्रजाओं के लिए विभजन्तः बाँटते हुए आसते बैठे हुए यज्ञ कर रहे हैं। ऐसा राष्ट्र पितुः तुम पिता से आये हुए भोजनं भोग को दंष्ट्रैः असिन्वन् दाँतों से न वाँधता हुआ अत्ति खाता है, भोगता है, ता उन भोजनों का यः जिस तूने प्रथमं सबसे प्रथम आकृणोः यज्ञ किया है, हवन िकया है सः वह तू उक्ष्यः स्तुत्य असि है।

035

(101) 41) 2M 47

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangoth

२५ फाल्गुन

सक्तुंमिव तिर्तंजना पुनन्तो यत्र धीरा मनंसा वाचमक्रंत । अत्रा सर्वायः स्टियानि जानते भेद्रैषां छक्ष्मीनिहिताधि वाचि॥

—ऋक्० १०।७१।२

ऋषिः बृहस्पतिराङ्गिरसः । देवता ज्ञानम् । छन्दः विष्टुप् ।

विनय जैसे चलनी से छानकर सत्तुओं को साफ किया जाता है, उसी तरह मन से विचार-मनन के साधन से, वाणी को शुद्ध और पिवत्र किया जाता है। जो धीर पुरुष बड़ी सावधानी से पिवत्र हुई वाणी वोलते हैं, जो खूब सोच-समझकर, मन की चलनी से छानकर, कल्याणकारी और पिवत्र शब्दों को ही मुख से निकालते हैं, उनकी वाणी में लक्ष्मी का निवास हो जाता है। किन्तु जैसे सत्तुओं का साफ करना किठन काम है वैसे वाणी को शुद्ध-पिवत्र बनाना भी बहुत ही दु:साध्य है। पर जो धैर्यशाली, प्रज्ञावान् मनुष्य मनन के साधन द्वारा वाणी को निर्दोष और निर्मल बनाने का यत्न करते जाते हैं, वे एक समय उस अवस्था को पहुँच जाते हैं जब कि उनकी वाणी अपनी अद्भृत शक्ति को प्रकट करने लगती है। उस अवस्था में पहुँच-कर ये धीर लोग वाणी के ऐसे सखा हो जाते हैं, शब्द-शिवत से ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध में आ जाते हैं कि वे वाणी के सख्यों को, सब शब्दों के हृदयों और आत्माओं को, जानने लगते हैं; ये शब्द-अर्थ के साहचर्य को, नित्य सम्बन्ध को साक्षात् अनुभव करने लगते हैं। उस समय उनकी वाणी में वह तेज आ जाता है जिससे कि उनकी वाणी से निकले शब्द अर्थों को उपस्थित करने में समर्थ हो जाते हैं। सचमुच उनकी वाणी में कल्याणी लक्ष्मी हो जाती है, उनकी वाणी उनके लिए जब जिस ऐसवर्य को चाहे तब उसे ही उपस्थित कर सकती है।

शब्दार्थ — यत्र जिस अवस्था में धीराः धैर्यशाली ज्ञानी पुरुष तित्तजना सक्तुं इव जैसे चलनी द्वारा सत्तुओं को उस तरह मनसा मन द्वारा, मनन द्वारा पुनन्तः पिवत्र करते हुए वाचं वाणी को अक्रत करते हैं, बोलते हैं, अब्र उस अवस्था में सखायः वाणी के सखा हुए ये लोग सख्यानि उनके सख्यों को, हृदयों को जानते अनुभव करते हैं तब एषां इन लोगों की अधिवाचि वाणी में भद्रालक्ष्मीः कल्याणी लक्ष्मी निहिता निहित होती है, रक्खी होती है।

.. 385

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६ फाल्गुन

महे चन त्वामंद्रि<u>वः</u> परां शुल्कायं देयाम्। न सहस्रांय नायुतांय विज्ञ<u>वो</u> न श्वतायं शतामघ॥

—ऋक् दाशाप्त; सार पूर्व ३।१०।**१**

ऋषिः मेधातिथि-मेध्यातिथी काण्वौ । देवता इन्द्रः । छन्दः विषमा बृहती ।

विनय हे इन्द्र ! मैं तुझे कभी न वेचूँ, किसी भाव न वेचूँ। चाहे कोई मूझे हजार देवे, लाख देवे, करोड़ देवे, इस पृथिवी को सुवर्ण और रत्नों से भरकर देवे, तो भी मैं उसके बदले में कभी तुझे न देऊँ, कभी तुझेँ न छोडूँ। है अद्रिवः ! हे संसार-वत्र के वश करनेवाले ! अपने सव ऐश्वर्यों-सहित यह सम्पूर्ण संसार तो तेरे चरणरज के एक कण की भी वरावरी नहीं कर सकता। तो हे शतामघ ! हे अनन्त ऐश्वर्यवाले ! इस संसार का वह कीन-सा ऐश्वर्य है, वह कौन-सा भोग है जिसे पाने के लिए मैं तुझे दे दूँ, मैं तुझे छोड़ दूँ ? हे शतामघ ! हमारी वाणी तेरे परम-परम ऐश्वर्य को क्या जान सकती है ? तेरे मूल्य को क्या वोल सकती है ? बस, तू तो हे मेरे इन्द्र ! अनमोल है, अनमोल है। ऐसा अनमोल रत्न तू संसार के सभी प्राणियों को प्राप्त है, सभी जीवों के अन्दर समाया हुआ है। पर हाय! ये सोये हुए जीव तुझे नहीं देखते, तेरे मुल्य को नहीं पहचानते। ये नादान लोग तो जरा-जरा-से लोभ से या जरा-जरा-से डर से रोज तुझे त्यागते हैं, रोज तुझे बेचते हैं। ये लोग केवल अपने अभ्यस्त आराम न मिलने के डर से या 'रोजी' छिन जाने जैसे क्षुद्र भय से ही तुझे छोड़ देते हैं, सत्य को त्यागते हुए न्याय आदि सत्य नियमों का उल्लंघन करते हुए तुझे छोड़ देते हैं। ये लोग धन-प्राप्ति के प्रलोभन से, कुछ सांसा-रिक सूख मिलने के लालच में तुझे बेच देते हैं। असत्य-अन्याय को स्वीकार कर तुझ बेच देते हैं। परन्तु वे अज्ञानी तुझे समझते नहीं, हे वज्रवाले ! तेरी कीमत को जानते नहीं। पर तुझ अन-मोल रतन को पाकर अब मैं कैसे कभी तुझे गँवा सकता हूँ ? तुझे पाकर मैने तो सब-कुछ पा लिया है। मूझे तो कोई वस्तु नहीं दीखती जिसे पाने के लिए अब मैं तुझे किसी को दे सकूँ। मैं तो अब भयंकर से-भयंकर भय उपस्थित हो जाने पर भी और मोहक-से-मोहक प्रलोभन के आ जाने पर भी तुझे कभी नहीं छोड़ सकता। मैं संसार के सब भोगों को छोड़ दूँगा, मैं असंख्यों मृत्युओं को सह लूंगा, पर मैंने तुझे ऐसा जान लिया है, ऐसा पहचान लिया है कि मैं अब तेरे त्यागने की बात भी नहीं सोच सकता, मैं तुझे छोड़ने का अर्थ ही नहीं समझ सकता।

शब्दार्थ अद्भिवः हे संसार के वश करनेवाले ! मैं त्वां तुझे महे वड़े-से-बड़े शुल्काय मूल्य से चन भी नहीं परादेयां बेचूँ, दे डालूँ। शतामघ हे अनन्त ऐइवर्यवाले ! विष्ठवः हे वज्जवाले ! न सहस्राय न सहस्र के बदले में न अयुताय न लाख-करोड़ के बदले में और न शताय न अनिनत राशि के बदले में मैं तुझे देऊँ, छोडूँ।

335

5912 (10 618

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२७ फाल्गुन

जित स्वयां तन्वा सं वंदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि । कि में हुव्यमहंणानो जुषेत कदा मृं<u>ळी</u>कं सुमनां श्राभि ख्यंम् ॥

-ऋक्० ७। द्वार

ऋषिः मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । देवता वरुणः । छन्दः त्रिष्दुप् ।

विनय अब मुझे वरुण प्रभु का दर्शन हुए विना चैन नहीं मिल सकता। मैं तो अब पाप-निवारक देव को साक्षात् देख लेना चाहता हूँ। सोते-जागते, उठते-बैठते मेरा मन उघर ही जाता रहता है। खाते हुए, पीते हुए, चलते हुए, फिरते हुए, मुझमें उसी के विषय में नाना प्रकार के विचार-वितर्क उठते रहते हैं। मैं अपने ही शरीर के साथ अपने ही आप में उस वरुण के विषय में वार्तालाप करने लगता हूँ। अब कब मैं उस प्रभु के ध्यान में निमग्न हो सकूँगा? क्या कभी मैं वरुण के अन्दर हो सकूँगा? उस वरुण के महान् आश्रय को पाकर क्या कभी मैं उसी के आधार से प्राण धारण करता हुआ निरन्तर उसी में रम सकूँगा? मैं तो उसके दर्शन पाने के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा करने के लिए तैयार हूँ, अपनी बड़ी-से-बड़ी भेंट चढ़ाने को उद्यत हूँ। पर न जाने वह मेरे इस हव्य को स्वीकार भी करेगा या नहीं? कहीं वह इसे अयोग्य, अमेध्य तो नहीं समझेगा? कहीं वह इस क्षुद्व भेंट से अप्रसन्न तो नहीं हो जायगा? क्या वह सचमुच मेरे इस समर्पण को अऋद, प्रसन्न होता हुआ सेवन करेगा? ओह! न जाने मेरे लिए भी क्या कभी वह सुदिन होवेगा, जिस दिन प्रभु-दर्शन से मैं अपने जीवन को सफल कर सकूँगा? मेरे परम आनन्द का वह दिन, मुझे 'सुमनाः' कर देनेवाला वह दिन कभी आवेगा जब कि मैं उस परम सुखकारी अपने आनन्दरूप वरुण का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँगा, आमने-सामने होकर उसका साक्षात् कर सकूँगा?

शब्दार्थ जित और मैं तत् उस वरुण के विषय में स्वया तन्वा अपने शरीर के साथ, अपने-आप में ही संबदे वार्तालाप करने लगता हूँ, कदा नु अब कब मैं वरुण अन्तः वरुण के अन्दर मुवानि होऊंगा ? किम् क्या अहुणानः अऋद, प्रसन्न होता हुआ वह में मेरे हृब्यं हिव का, मेंट का जुषेत सेवन करेगा ? कदा कब सुमनाः सुमना होकर मैं मूळीकं उस सुखकारी वरुण को अभिष्यं देखूंगा, साक्षात् दर्शन करूँगा ?

800

वेदिक विनय

ण ८ भा प

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

२८ फाल्गुन

प्रीत्यं भृतानि प्रीत्यं लोकान् प्रीत्य सर्वाः मृदिशो दिशंश्च । जपस्थायं प्रथम्जामृतस्यात्मनात्मानंम्भि सं विवेश ॥

—यज्ः० ३२।११

ऋषिः स्वयंभुब्रह्म । देवता परमात्मा । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

विनय-यह जीव भटकता है, खूब भटकता है, अपने प्रभु को पाने से पहले जगह-जगह भटकता है। जब तक कि इसे सब संसार की निःसारता का, अन्य सब वस्तुओं की निःस्सारता का, पूरा अनुभव हो जाय, तब तक यह जीव कैसे उस सारभूत, परमसार परमेश्वर की शरण पकड़ सकता है ? इसीलिए यह सब भूतों में, सब प्राणियों में, नाना प्रकार की अनिगनत योनियों में घूमता है; यह सब लोकों, ऊपर-नीचे-मध्य के अच्छे-बुरे लोकों में फिरता है, अच्छे-बुरे अनु-भव पाता हुआ फिरता है। सुख की चाह में, शान्ति की तलाश में यह सब दिशाओं में मारा-मारा घूमता है, सब उपदिशाओं में, कोने-कोने में, खोजता हुआ भटकता है। अन्त में जब उसे निश्चय हो जाता है कि ये सब अनात्म वस्तुएँ हैं, इनमें उसे कुछ नहीं मिल सकता, जब उसे इनसे सच्चा ज्ञान-युक्त वैराग्य हो जाता है, इनमें कुछ भी आकर्षण नहीं रहता, तभी वह इनसे मुख मोड़कर अपने परमात्मा के प्रति अभिमुख होता है, भोग के मार्ग को छोड़कर अपवर्ग का यात्री बनता है । इस यात्रा में उसे उस सत्य-स्वरूप 'ऋत' से सबसे पहले उपजी हुई, अतएव उसकी सबसे नजदीकी, जिस शक्ति का अनुभव होता है-उसे बुद्धि कहो, 'महत्-तत्त्व' कहो, ब्रह्मवाणी कहो या शक्ति ही कहो - उस 'ऋतस्य प्रथमजा' का आश्रय ग्रहण करता है, अच्छी तरह सेवन करता है। उसके उपस्थान से, संसेवन से उसका आत्मा जागृत हो जाता है, वह आत्मा हो जाता है, अपने स्वरूप को पा जाता है। इसी आत्मा द्वारा तब वह अपने आत्मा को, परम आत्मा को, संप्राप्त कर लेता है, उसमें संप्रविष्ट हो जाता है, सम्मुखतया अवस्थित हो जाता है।

शब्दार्थ — भूतानि प्राणियों में, योनियों में परीत्य घूमकर लोकान् नाना लोकों में परीत्य घूमकर सर्वाः सब दिशः दिशाओं प्रदिशः च और विदिशाओं में परीत्य घूमकर ऋतस्य सत्य स्व-रूप की प्रथमजां प्रथमोत्पन्ना शक्ति का उपस्थाय आश्रयण, संसेवन करके आत्मना आत्मा द्वारा आत्मानं अपने आत्मा को अभि संविवेश सम्मुखतया संप्राप्त हो जाता है।

Ros

3 41 41 EFP WAL AND WILL

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennal and eGangotri

.२६ फ़ाल्गुन

वे<u>दाहमेतं पुरुषं महान्तंमाहित्यवंर्णे</u> तमसः प्रस्तात्। तमेव विद्वित्वाऽति मृत्युमे<u>ति</u> नान्यः पन्थां विद्यतेऽयेनाय।

-यजुः० ३१।१८

ऋषिः उत्तरनारायणः । देवता आदित्यः । छन्दः निचृत् विष्टुप् ।

विनय मैं उस पुरुष को, उस महान् पुरुष को जानता हूँ जो कि सब संसार में परि-पूर्ण हो रहा है, जो इतना महान् है कि ये सब चराचर सुब्टियाँ और ये सब ब्रह्माण्ड उसके एक अंश में स्थित हैं। वह परिपूर्ण पुरुष है, वह सब तरह महान् है। मैं उसे देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ। वह अपने प्रकाशस्वरूप में, अपने उज्ज्वल ज्योतिर्मय रूप में सदा-सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, सदा-सर्वत्र भासित हो रहा है। वह तम से सर्वथा परे है, अज्ञान-अन्धकार उस विशद्ध ज्योति को, उस पवित्र प्रकाश को छूतक नहीं सकते। इस संसार में यदि किसी वस्तु से उसके स्वरूप के प्रति निर्देश किया जा सकता है तो इस जाज्वल्यमान आदित्य को देख लो। वह आदित्य-वर्ण है, प्रचण्ड उज्ज्वल स्वयं प्रकाशरूप है। हे मनुष्यो ! तुम उसे देखो, उसे जानो। उसे ही जानकर मनुष्य मृत्यु को अतिक्रमण कर सकता है। हे मृत्यु से मारे हुए मत्यों ! हे नाना क्लेशों से सताये हुए संसारियो ! तुम उसे क्यों नहीं देखते ? उसे देख लेने पर तो, संसार के अन्य क्लेश तो क्या, मृत्यु का महाक्लेश भी मिट जाता है। उसे देखकर मनुष्य अमर और अभय हो जाता है। इसलिए यदि तुम सव दु:खों-भयों से पार होना चाहते हो, इन क्लेश-बन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हो तो तुम उस व्यापक प्रभु को जानो, उस आदित्य वर्ण को पह-चाना । सुख-शान्ति की अभीष्ट स्थिति में पहुँचने के लिए, छुटकारे का महान् सुख प्राप्त करने . के लिए, अपने परम अयन को पाने के लिए उस प्रभु को जानने के सिवाय और कोई रास्ता . नहीं है, उस पूर्ण पुरुष को देख लेने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

शब्दार्थ — अहं मैं एतं इस महान्तं वड़े महान् पुरुषं व्यापक परिपूर्ण पुरुष [परमेश्वर] को आदित्यवर्ण आदित्य जैसे स्वयं प्रकाश स्वरूपवाले को, तमसः परस्तात् अज्ञान-अन्धकार से बिलकुल परे वेद जानता हूँ, देख रहा हूँ, तं एव उसको ही विदित्वा जानकर मनुष्य मृत्युं मृत्यु को अति एति अतिक्रमण करता है, अयनाय अभीष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए, परमपद पाने के लिए अन्यः और कोई पन्थाः मार्गं न नहीं विद्यते है।

: 803

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३० फालान

चौः शान्ति<u>र</u>न्तरिक्ष दं शान्तिः पृ<u>थि</u>वी शान्तिरापः शान्तिरोषेषयः शान्तिः । वनुस्पतंयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्वह्म शान्तिः सर्वे र शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

-यजुः० ३६।१७

ऋषिः दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता ईश्वरः। छन्दः भुरिक्शक्वरी।

विनय हे प्रभो ! तीनों ही लोक हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों। वह ऊपर का प्रकाशमय आध्यात्मिक द्युलोक, मध्य का मनोमय अन्तरिक्ष लोक तथा यह स्थूल अन्नमय पार्थिव लोक हमें प्रान्ति प्रदान करे। हमें आत्मिक, मानसिक और शारीरिक शान्ति प्राप्त हो। और फिर यह पार्थिव लोक भी हमें अपने तीनों रूप में शान्ति प्रदान करे। ये सब आपः, ये सब रस, ये सव प्राण इस लोक के दिव्य रूप के लिए शान्तिदायक हों। ये सोमादि ओष-धियाँ रोगों को शमन करती हुई हृदय को, मध्य भाग को, शान्ति देनेवाली हों। और ये सब भोज्य वनस्पतियाँ हमारे शरीर के पार्थिव भाग का ठीक तरह पोषण करनेवाली हों। इस प्रकार तीनों लोकों के देव, तीनों लोकों के अन्दर फिर जो और तीन लोक हैं उनके भी सब देव, सव-के-सब देव, हमारे लिए शान्तिदायक हों। सव ज्ञानमय देव और उनका ज्ञान, सब ज्ञान, वेदज्ञान, परब्रह्म हमें शान्ति देनेवाला हो। इस प्रकार यह सभी 'ब्रह्म', ब्रह्माण्ड, यह सभी संसार, इस संसार का सब-कुछ हमें सदा शान्ति प्रदान करता रहे। परन्तु यह शान्ति भी वास्तव में शान्ति ही हो। यह झूठी या बनावटी शान्ति न हो। निर्जीवता में जो 'शान्ति' दिखाई देती है, यह मुर्दा शान्ति हमें नहीं चाहिये; और अशान्ति को छिपाने के लिए जो दिखा-वटी शान्ति बनाई जाती है वह झूठी शान्ति भी हमें नहीं चाहिये। हमें तो वही असली शान्ति चाहिये जो सच्ची शान्ति हो और जीवित शान्ति हो। इसलिए हे प्रभो ! तुम हमें सदा ऐसी ही शान्ति प्राप्त कराओ, ऐसी ही सच्ची और जीवित शान्ति प्राप्त कराओ।

शब्दार्थं - छौ: चुलोक शान्तिः शान्ति दे, अन्तरिक्षं अन्तरिक्ष शान्तिः शान्ति दे, पृथिवी पार्थिवलोक शान्तिः शान्ति दे, आपः जल, प्राण शान्तिः शान्ति दे, ओषधयः रोगनाशकं औषधियाँ शान्तिः शान्ति दें, वनस्पतयः भोज्य वनस्पतियाँ शान्तिः शान्ति दें, विश्वे देवाः सब-के-सब देव शान्तिः शान्तिदायक हों, ब्रह्म ज्ञान शान्तिः शान्ति दे, सर्वं सभी कुछ शान्तिः शान्ति दे, शान्तिः शान्ति भी शान्तिः एव सचमुच शान्ति ही हो, सा वह, ऐसी शान्तिः शान्ति मा मुझे एघि प्राप्त हो।

Digitized Ly Ary Samaj Foundarin Chernal and e Sangotri

अधिक फाल्गुन

द्वादंश मध्यंश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यांनि क उ तिच्चिकेत। तस्मिन् साकं त्रिशाता न शंकवी ऽर्णिताः ष्टिन् चेलाचलासंः॥

- ऋक्० १।१६४।४८; अथर्व० १०।८।४

ऋषिः औचथ्यो दीर्घतमाः । देवता संवत्सरकालचक्रम् । छन्दः व्रिष्टुप् ।

विनय-देखो, यह चक्र निरन्तर घूम रहा है, चक्कर लगा रहा है। इसमें बारह प्रधियां, बारह अरे लगे हुए हैं। इनमें तीन नभ्य, नाभि को जोड़नेवाली तीन धुरियाँ जुड़ी हुई हैं। इसमें ठुके हुए कीलकों की तरह, तीन सौ और साठ चलाचल 'अहोरात्र' अर्पित हुए डले हैं। क्या तुम समझे कि यह कौन-सा चक्र है ? फिर-फिर घूमकर आनेवाला यह कैसा चक्र है ? इतना तो स्पष्ट है कि यह उस सदा चलते हुए संवत्सर-चक्र का वर्णन है जिसमें बारह महीने बारह अरों की तरह, बार-बार घूमकर आ रहे हैं, जिसमें तीन 'चातुर्मास', गर्मी, वर्षा और सर्दी के तीन ऋतुकाल एक-के-बाद-एक आते जा रहे हैं, जिसमें तीन सौ साठ दिन-रात निरन्तर आते हुए अपना चलाचल कर रहे हैं। पर वास्तव में इस एक चक्र को तत्त्वतः कौन समझता है? यह 'काल-चक' किसलिए निरन्तर घूम रहा है ? इस चक्र पर चढ़ा हुआ यह समस्त संसार कहाँ पहुँचना चाह रहा है ? इस चक्र के इन रहस्यों को हम में से कौन जानता है ? इसलिए आओ ! हम इस चक्र के चलानेवाले कालदेव को जानें, इस चक्र के प्रवर्त्तक अपने प्रभु को पहचानें। वर्ष के ये तीन सौ साठ अहोरात्र इसी प्रयोजन के लिए प्रतिदिन हमारे पास आ रहे हैं, ये चैत्र-वैशाख आदि महीने इसीलिए हमारे जीवन में चक्कर लगा रहे हैं, ये तीनों ऋतु-युगल इसलिए बार-बार हमें अपना अनुभव करा रहे हैं। तो, आओ ! अब से हम आनेवाले इन तीनों वर्ष-खण्डों का ऐसी ही उच्च भावना से स्वागत करें, अपने प्रत्येक महीने में इसी पवित्र लक्ष्य से प्रवेश करें और अपने प्रत्येक अहोरात्र को इसी प्रकार से व्यतीत करें जिससे हम उस 'एक' को जान सकें, उस परम प्रभुको पहुँच सकें।

शब्दार्थ एकं एक चक्रं च है जिसमें द्वादश बारह प्रधयः अरे हैं, त्रीण तीन नभ्यानि नाभिस्थान हैं। तिस्मन् उस चक्र में साक्रं साथ ही शंकवों न कीलकों की तरह विशता षष्टिनं तीन सौ और साठ चलाचलासः चल और अचल, दिन और रात, चलते जानेवाले अहोरात्र अपिताः अपित हैं, पड़े हुए हैं कः उ कौन है जो तत् उस एक चक्र के रहस्य को चिकेत समझता है ?

808

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chemaionate Gangeri (532

एड-5 बार्य समाज प्रश्लोक विद्याप केल-पू विस्ती—110052 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

